अथ

आचार्यधर्मोत्तरविरचिता

न्यायबिन्दुटीका

[न्यायबिन्दुना सहिता]

[समीक्षात्मकभूमिका-भाषानुवाद-व्याख्यात्मकटिप्पणीयुता]

कुरुक्षेत्रविश्वविद्यालयाध्यापकेन

डा० श्रीनिवासशास्त्रिणा

सम्पादिता



साहित्य भण्डार

सुभाष बाजार, मेरठ-२







शिक्षा एवं समाजकल्याण मन्त्रालय, भारत सरकार
की वित्तीय सहायता से प्रकाशित

अथ
आचार्यधर्मोत्तरविरचिता

न्यायबिन्दुटीका

[न्यायबिन्दुना सहिता]

[समीक्षात्मकभूमिका-भाषानुवाद-व्याख्यात्मकटिप्पणीयुता]

कुरुक्षेत्रविश्वविद्यालयाध्यापकेन
डॉ० श्रीनिवासशास्त्रिणा
सम्पादिता

प्रकाशक

साहित्य भण्डार
सुभाष बाजार, मेरठ।

प्रथम संस्करण, १९७५ ई०
मकर संक्रान्ति २०३१ वि०

लेखक द्वारा सम्पादित कतिपय ग्रन्थ

१. काव्यप्रकाश हिन्दी-व्याख्या सहित
२. दशरूपक ,, ,,
३. तर्कभाषा ,, ,,
४. नारायणतीर्थप्रणीता कुसुमाञ्जलिकारिकाव्याख्या
५. वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का विवेचन

प्रकाशक :
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष :
साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ।

प्रथम संस्करण जनवरी १९७५ ई०
मूल्य सत्रह रुपये (१७·००) मात्र।

मुद्रक :
राजकिशोर शर्मा
अध्यक्ष :
सर्वोदय प्रेस,
जत्तीवाड़ा, मेरठ।
दूरभाष : ७४३५२।

EOREWORD

Interest in Buddhist logical thought has grown enormously in recent years. The publication of the later Buddhist writings on the system of logic specially of the school of Diṇnāga and his followers, especially of Dharmakīrti (c. 600-660 A.D.), is a landmark in the history of Buddhistic Studies. Dharmakīrti dominated the later school of Buddhist logical system and his **Pramāṇavārttika** is a fundamental work, although not so systematic. His **Pramāṇaviniscaya**, preserved in Tibetan version, is systematic in its presentation. But Dharmakīrti's logical acumen is also evident in his other manuals viz. **Nyāyabindu**, **Hetubindu** and **Vādanyāya** etc. In 1918 F. Th. Stcherbatsky, the great Russian Buddhologist, published the **Nyāyabindu** with Dharmottar's (c. 750-810 A. D.) Commentary. The present work by my esteemed colleague Dr. S. N. Shastri, Reader, Dept. of Sanskrit, Kurukshetra University is the first attempt in any Indian language to study a work of Dharmakīrti. When Stcherbatsky worked on **Nyāyabindu** much of the later works on Buddhist logic were not available to him. Some were available only in Tibetan but not Sanskrit. In recent years the Sanskrit text of Dharmakīrti's **Hetubindu** has been reconstructed with Arcata's (c. 730-790 A.D.) commentary and the sub-commentary called *Āloka* by Durvekamisra (ed. G. O. S. CXIII, Baroda 1949 & **Hetubindu** reconstructed from Tibetan by E. Steinkellner, Vienna, 1967) Durveka's **Pradīpa** commentary on Dharmottara's **Nyāyabindutīkā** and Vinītadeva's (c. 710-770 A. D.) commentary on **Nyāyabindu** have also been published. Kamlasīla's **Nyāyabindupūrvapakṣasamkṣipti** is preserved in the Tibetan Tripitaka. With the publication of these Sanskrit texts more new materials have come to light and Dr. Shastri has fully utilised these works in interpreting the texts of Dharmakīrti and Dharmottara. The **Nyāyabindu** is a work on Pramāṇa theory. Prof. Frauwallner in his scholarly study on the origin of Dharmakīrti's works (Asiatica, Weller Felicitation vol. Leipzig 1954) has made out that the **Nyāyabindu**, a sort of Introduction to **Pramāṇa** theory, in its form and essence closely follows the **Pramāṇaviniscaya.**

Dr. Shastri's translation and exhaustive critical and explanatory notes will definitely facilitate intensive study of this text. I am sure that the general as well as serious reader of Buddhist logic will find this book highly rewarding.

G. Bhattacharya
13:2:75

FOREWORD

Interest in Buddhist logical thought has grown [illegible] recent years. The publication of the late [illegible] writings on [illegible] of [illegible] of the school of Dignāga and his followers, especially of Dharmakīrti [illegible] in the history of Buddhist Studies. Dharmakīrti [illegible] later school of Buddhist logical system and his [illegible] is a fundamental work, [illegible] not too systematic. His [illegible], preserved in Tibetan version, is systematic in its presentation. But Dharmakīrti's logical acumen is also evident in his other [illegible] Nyāyabindu, Hetubindu and Vādanyāya etc. [illegible] Th. Stcherbatsky, the great Russian Buddhologist, published the Nyāyabindu with Dharmottara's Ṭīkā [illegible] Commentary. The present work by my esteemed colleague Dr. S. N. Shastri, Department of Sanskrit, Kurukshetra University is the first attempt in any Indian language to study a work of Dharmakīrti. When Stcherbatsky worked on Nyāyabindu much of the later works of Buddhist logic were not available to him [illegible] Sanskrit [illegible] Hetubindu [illegible] commentary [illegible] G. O. S. [illegible] Tibetan by [illegible] (1967) [illegible] commentary on [illegible] Vinītadeva's [illegible] commentary on Nyāyabindu have also been published. [illegible] With the publication of [illegible] Sanskrit [illegible] have come to light and Dr. Shastri has [illegible] the texts of [illegible] Nyāyabindu is a work on Pramāṇa theory. [illegible] scholars [illegible] on the origin of Dharmakīrti [illegible] [illegible] of Introduction to [illegible] [illegible] follows the Pramāṇa [illegible]

The [illegible] translation and exhaustive critical and explanatory notes will [illegible] I [illegible] sure that [illegible] this book highly rewarding.

[illegible]

प्राक्कथन

(१)

न्यायविन्दुटीका की यह हिन्दी-व्याख्या पाठकों की सेवा में प्रस्तुत की जा रही है। यह धर्मोत्तरकृत न्यायविन्दुटीका का सर्वप्रथम टिप्पणी-सहित हिन्दी अनुवाद है। न्यायविन्दुटीका बौद्धन्याय का ही नहीं अपि तु भारतीय तर्कशास्त्र का एक अद्वितीय ग्रन्थ है। आचार्य धर्मकीर्ति ने सूत्ररूप से न्यायविन्दु प्रकरण में जिन विषयों का प्रतिपादन किया था उनकी विशद व्याख्या इसी टीका में की गई है। किन्तु यह आश्चर्य एवं खेद का विषय है कि आज तक इस ग्रन्थ का कोई हिन्दी-अनुवाद भी नहीं हो सका है। इसी अभाव की पूर्ति के लिये प्रस्तुत प्रयास किया गया है।

बौद्धन्याय के अध्ययन में मेरी विशेष रुचि एवं प्रवृत्ति उत्पन्न करने का श्रेय मेरे गुरुवर डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री [भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मेरठ कालेज तथा कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, एवं निर्देशक भारतीय विद्यासंस्थान, दिल्ली] को ही है, जिनकी प्रेरणा से मैंने बौद्धदर्शन को अपने अनुसन्धान का विषय बनाया और १८ वर्षों से इस ग्रन्थ का अध्ययन करता रहा। न्यायविन्दुटीका के तात्पर्य को स्पष्ट करने में प्रो० श्चेरबात्स्की का 'बुद्धिस्ट लॉजिक' नामक ग्रन्थ मेरा मुख्य संबल रहा है। इस ग्रन्थ में बौद्धन्याय किं वा बौद्धदर्शन का विशद विवेचन ही नहीं है अपि तु न्यायविन्दु-टीका का टिप्पणी-सहित अंग्रेजी अनुवाद भी विद्यमान है। मेरे इस कार्य में दुर्वेक मिश्र के 'धर्मोत्तरप्रदीप' ने भी सतत मार्गदर्शन किया है, न्यायबिन्दुटीका-टिप्पणी तथा तात्पर्यनिबन्धन टिप्पण ने भी सहारा दिया है। इनके अतिरिक्त प्रमाणवार्त्तिक, हेतुविन्दुटीका तथा टीकालोक, मोक्षाकर गुप्त की तर्कभाषा एवं वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका आदि ग्रन्थों ने मेरा अत्यधिक उपकार किया है। इन सभी का आश्रय लेकर इस गुरुतर कार्य को करने का साहस किया गया है और यथावसर आदरणीय विद्वानों के मन्तव्यों की समीक्षा भी की गई है। इसमें जो भी ग्राह्य है वह उन्हीं विद्वानों की कृपा का प्रसाद है। मैं उन सभी के प्रति नतमस्तक हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय-प्रवेश में धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती बौद्धन्याय का संक्षिप्त विवरण देते हुए बौद्धन्याय के जनक दिङ्नाग तथा उनकी कृतियों का परिचय दिया गया है। तदनन्तर आचार्य धर्मकीर्ति एवं उनके ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण देकर धर्मोत्तर और उनकी कृतियों का निरूपण किया गया है। अन्त में न्यायविन्दुटीका की उपटीकाओं का उल्लेख करते हुए न्यायविन्दुटीका के प्रतिपाद्य विषय पर एक समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।

हिन्दी व्याख्या का क्रम यह रक्खा गया है—प्रथमत: ग्रन्थ का सरल हिन्दी में अनुवाद किया गया है फिर पदों तथा वाक्यों के तात्पर्य एवं बौद्धन्याय के मन्तव्यों को स्पष्ट करने के लिये व्याख्यात्मक टिप्पणियां दी गई हैं।[1] यहाँ अनुवाद की अविकलता तथा स्पष्टता दोनों का ध्यान रक्खा गया है। कहीं-कहीं आवश्यक शब्द या किसी शब्द की व्युत्पत्ति आदि कोष्ठक में रख दिये गये हैं। टिप्पणियों में विषय को स्पष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया गया है, मत-भेदों का उल्लेख करके युक्ति एवं प्रमाणों से उचित मन्तव्य का विवेचन किया गया है। संक्षेप में मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को स्पष्ट करना तथा इसकी विषयवस्तु का यथासम्भव समीक्षात्मक अनुशीलन करना प्रस्तुत व्याख्या का मुख्य उद्देश्य रहा है।

(२)

प्रस्तुत संस्करण में हिन्दी व्याख्या के साथ-साथ ग्रन्थ का आलोचनात्मक दृष्टि से सम्पादन भी किया गया है। आज तक न्यायबिन्दु एवं न्यायबिन्दुटीका के अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। उन सभी के आधार पर यह संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है। यहाँ वही पाठ रक्खा गया है जो व्याख्या की दृष्टि से सर्वोत्तम समझा गया है, अन्य पाठ पाद-टिप्पणी में दिखला दिये गये हैं। पाठान्तर मे निर्दिष्ट प्रतियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

[2]ए० तथा बी० (A. B.)—वे दो हस्तलिखित प्रतियां हैं जिनके आधार पर प्रो० पीटर्सन ने सर्वप्रथम इस ग्रन्थ का सम्पादन किया था। इनमें से प्रथम में केवल न्यायबिन्दुटीका उपलब्ध हुई थी, और द्वितीय में न्यायबिन्दु तथा न्यायबिन्दुटीका दोनों। इनका विवरण पीटर्सन-संस्करण के प्राक्कथन (Preface) में दिया गया है।

सी० (C.)—यह हस्तलिखित प्रति जैन ज्ञान-भण्डार जैसलमेर में (ताड़पत्र सं० ३६४) सुरक्षित है। इसमें न्यायबिन्दु तथा न्यायबिन्दुटीका दोनों विद्यमान हैं। इस प्रति का सर्वप्रथम उपयोग धर्मोत्तरप्रदीप के विद्वान् सम्पादक ने किया है (द्र०, धर्मोत्तरप्रदीप, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ii)

डी० (D.)—यह हस्तलिखित प्रति भी उपर्युक्त ग्रन्थ-भण्डार में सुरक्षित है (ताड़पत्र सं० ३७६)। इसमें भी न्यायबिन्दु तथा न्यायबिन्दुटीका दोनों हैं। इसका सर्वप्रथम उपयोग धर्मोत्तरप्रदीप के सम्पादन में किया गया है (वही, पृ० ii)।

पी० (P.)—यह सर्वप्रथम प्रकाशित प्रति है। प्रो० पीटर्सन ने न्यायबिन्दु तथा न्यायबिन्दुटीका का सम्पादन करके एशियाटिक सोसायटी बंगाल, विब्लोथिका इण्डिका से १८८९ ई० में इसका प्रथम संस्करण प्रकाशित कराया था। इसमें पहिले न्यायबिन्दुटीका दी गई है फिर न्यायबिन्दु और अन्त में ए० तथा बी० हस्तलिपियों के

१. अनुवाद-भाग कुछ स्थूल तथा गहरे काले अक्षरों में छपा है तथा टिप्पणी-भाग हल्के काले में।

२. पूर्व प्रकाशित प्रतियों से तुलना की सुविधा के लिये यहाँ **A. B.** इत्यादि संकेतों का ही प्रयोग कर दिया गया है।

पाठ-भेद दिखलाये गये हैं। इसका द्वितीय संस्करण विब्लोथिका इण्डिका से ही १९२५ ई० में प्रकाशित हुआ जो प्रथम संस्करण के समान ही है।

इ० (E.)—यह द्वितीय प्रकाशित प्रति है जिसे प्रो० श्चेरबात्स्की ने विब्लोथिका बुद्धिका, पेट्रोग्रेड से सन् १९१८ में प्रकाशित कराया था। इसमें न्यायविन्दु के वाक्यों को सूत्र रूप में रखकर उनके साथ ही तत्सम्बन्धी टीका दी गई है। सूत्रों पर क्रमसंख्या भी डाली गई है।

एच० (H.)—हरिदास संस्कृत सीरीज बनारस से 'न्यायविन्दु' नाम से प्रथम संस्करण १९२४ ई० तथा द्वितीय संस्करण १९५४ ई० में प्रकाशित हुआ है। इसमें प्रायः 'इ' प्रति की पद्धति का अनुसरण किया गया है किन्तु सूत्र-संख्या नहीं डाली गई। इसके अन्त में केवल न्यायविन्दु का हिन्दी-अनुवाद दिया गया है।

एन० (N.)—यह 'नूतन ग्रन्थमाला' अकोला (म० प्र०) से १९५२ ई० में प्रकाशित हुई है। इसमें प्रायः 'इ' प्रति का ही अनुसरण किया गया है।

टी० (T.)—यह तिब्वती संस्कृत सीरीज में 'धर्मोत्तरप्रदीपः, न्यायविन्दुना तट्टीकया च समन्वितः' इस शीर्षक से काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पटना से १९५५ ई० में प्रकाशित हुई है। सर्वप्रथम इसी संस्करण में न्यायविन्दुटीका की व्याख्या धर्मोत्तरप्रदीप प्रकाशित हुई है। इसके सम्पादक महानुभाव ने विस्तृत भूमिका, पादटिप्पणी, अन्य टिप्पण तथा परिशिष्ट में कई अनुक्रमणिकाएं जोड़कर इस ग्रन्थ की उपादेयता को बढ़ा दिया है।

प्रस्तुत संस्करण में प्रायः उपर्युक्त सभी प्रकाशित ग्रन्थों का उपयोग किया गया है; किन्तु इसका मुख्य आधार 'टी०' प्रति ही है। इसके पाठ का ही प्रायेण अनुसरण किया गया है। कहीं-कहीं व्याख्या की दृष्टि से अन्य पाठ भी अपना लिया गया है। अतः धर्मोत्तरप्रदीप के सम्पादक महानुभाव का मैं विशेष आभारी हूँ और उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस सन्दर्भ में अन्य अनेक महानुभावों का भी मैं आभारी हूँ। गत वर्षों में कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, संस्कृत-विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष डा० शिवराज शास्त्री ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये भारत के कितने ही प्रकाशकों से अनुरोध किया है। संस्कृत विभाग के वर्तमान अध्यक्ष डा० गोपिकामोहन भट्टाचार्य ने तो इस विषय में अत्यधिक प्रयास किया है। और, भारत सरकार के शिक्षा एवं समाज-कल्याण मन्त्रालय ने इसके प्रकाशन के लिये अनुदान की स्वीकृति देकर अनुगृहीत किया है। इन सभी के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इनके अतिरिक्त जिन महानुभावों ने इस कार्य में किसी प्रकार की भी सहायता की है उन सबके प्रति मेरा हार्दिक धन्यवाद है। एक शोध-छात्रा कु० विजयरानी ने उपयुक्त सुझाव आदि द्वारा इस कार्य में सहयोग दिया है वह भी साधुवाद की भाजन है।

अन्त में साहित्य भण्डार के अध्यक्ष श्री रतिराम शास्त्री तथा सर्वोदय प्रैस के

प्रबन्धक प्रिय राजकिशोर शर्मा को धन्यवाद देना भी मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आवश्यक धन ही नहीं लगाया है अपि तु अथक परिश्रम द्वारा इस कार्य को पूर्ण किया है।

ग्रन्थ को शुद्ध एवं उपयोगी बनाने का पूर्ण ध्यान रक्खा गया है। फिर भी साधनाभाव तथा दृष्टिदोष से कुछ त्रुटियां रह जाना सम्भव ही है। अनुग्रहशील विद्वानों के सत्परामर्श से उन त्रुटियों को दूर करने का सदा प्रयास किया जाता रहेगा। यदि इस ग्रन्थ से पाठकवृन्द का कुछ भी उपकार हो सका तो लेखक अपने परिश्रम को सफल समझेगा।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र — श्रीनिवास शास्त्री

मकर संक्रान्ति, सं २०३१ (१९७५ ई०)

प्रमुख सहायक ग्रन्थों के संकेत तथा विवरण

अकलङ्कग्रन्थत्रय; अकलङ्क, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद १९३९.

अभिधर्मकोश (अभि० अभि०, कोश); वसवन्धु, काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १९६७.

अष्टाध्यायी (अ०); पाणिनि, निर्णयसागर प्रैस, बम्बई।

आत्मतत्त्वविवेक, उदयन, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस १९२५, १९४०.

कुरुक्षेत्र यूनि० रिसर्च जरनल (KURJ), कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र.

ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि; ज्ञानश्रीमित्र, का० प्र० जा०, पटना, १९५९.

तत्त्वसंग्रह (तत्त्व० का०); शान्तरक्षित, बौद्धभारती ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६८.

तत्त्वसंग्रह पञ्जिका (तत्त्व० पं०); कमलशील, बौद्धभारती०, वाराणसी, १९६८.

तर्कभाषा; केशव मिश्र, ऑरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९४३.

तर्कभाषा (हिन्दी व्याख्या); साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७२.

तर्कभाषा (मो० तर्क०); मोक्षाकर गुप्त, गायकवाड़ ऑरियण्टल सीरीज बड़ोदा, १९४२.

तात्पर्यनिबन्धनटिप्पण (तात्पर्य०); अप्रकाशित धर्मोत्तरप्रदीप में उद्धृत.

धर्मोत्तरप्रदीप (धर्मो० प्र०), दुर्वेक मिश्र, का० प्र० जा०, पटना, १९५५.

न्यायकणिका; वाचस्पति मिश्र, मेडिकल हाल काशी, १९०७.

न्यायकन्दली; श्रीधर, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६३.

न्यायकारिकावली; विश्वनाथ, चौ० सं० सीरीज, बनारस, १९५१

न्यायबिन्दु (न्या० बि०); धर्मकीर्ति, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७५.

न्यायबिन्दुटीका (न्या० बि० टी०); धर्मोत्तर, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७५.

न्यायबिन्दुटीका-टिप्पणी (टिप्प०); बिब्लोथिका इण्डिका, सेन्ट पीटर्सवर्ग, १९०९.

न्याय भाष्य (न्या० भा०); वात्स्यायन, चौ० सं० सीरीज; बनारस, १९२०.

न्यायमञ्जरी (न्या० म०), जयन्त भट्ट, चौ० सं० सीरीज, बनारस १९३६.

न्यायलीलावती (न्या० ली०); वल्लभाचार्य, चौ० सं० सीरीज, बनारस, १९२७.

न्यायलीलावती-प्रकाश (न्या० ली० प्र०); चौ० सं० सीरीज, बनारस, १९२७.

न्यायवार्तिक (न्या० वा०); उद्योतकर, चौ० संस्कृत सीरीज, बनारस, १९१६.

न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका (न्या० वा० ता०); वाचस्पति मिश्र, चौ० संस्कृत सीरीज, बनारस, १९८२ वि०

न्यायसूत्र; गौतम, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९२०.

परमलघुमञ्जूषा; नागेश भट्ट,

पाणिनीयाष्टक (पा०), पाणिनि, निर्णयसागर प्रैस, बम्बई.

प्रबन्धक प्रिय राजकिशोर शर्मा को धन्यवाद देना भी मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आवश्यक धन ही नहीं लगाया है अपि तु अथक परिश्रम द्वारा इस कार्य को पूर्ण किया है।

ग्रन्थ को शुद्ध एवं उपयोगी बनाने का पूर्ण ध्यान रक्खा गया है। फिर भी साधनाभाव तथा दृष्टिदोष से कुछ त्रुटियां रह जाना सम्भव ही है। अनुग्रहशील विद्वानों के सत्परामर्श से उन त्रुटियों को दूर करने का सदा प्रयास किया जाता रहेगा। यदि इस ग्रन्थ से पाठकवृन्द का कुछ भी उपकार हो सका तो लेखक अपने परिश्रम को सफल समझेगा।

श्रीनिवास शास्त्री

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
मकर संक्रान्ति, सं २०३१ (१९७५ ई०)

प्रमुख सहायक ग्रन्थों के संकेत तथा विवरण

अकलङ्कग्रन्थत्रय; अकलङ्क, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद १६३६.
अभिधर्मकोश (अभि० अभि०, कोश); वसबन्धु, काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १६६७.
अष्टाध्यायी (अ०); पाणिनि, निर्णयसागर प्रैस, बम्बई।
आत्मतत्त्वविवेक, उदयन, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस १६२५, १६४०.
कुरुक्षेत्र यूनि० रिसर्च जरनल (KURJ), कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र.
ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि; ज्ञानश्रीमित्र, का० प्र० जा०, पटना, १६५६.
तत्त्वसंग्रह (तत्त्व० का०); शान्तरक्षित, बौद्धभारती ग्रन्थमाला, वाराणसी, १६६८.
तत्त्वसंग्रह पञ्जिका (तत्त्व० पं०); कमलशील, बौद्धभारती०, वाराणसी, १६६८.
तर्कभाषा; केशव मिश्र, ऑरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १६४३.
तर्कभाषा (हिन्दी व्याख्या); साहित्य भण्डार, मेरठ, १६७२.
तर्कभाषा (मो० तर्क०); मोक्षाकर गुप्त, गायकवाड़ ऑरियण्टल सीरीज बड़ोदा, १६४२.
तात्पर्यनिबन्धनटिप्पण (तात्पर्य०); अप्रकाशित धर्मोत्तरप्रदीप में उद्धृत.
धर्मोत्तरप्रदीप (धर्मो० प्र०), दुर्वेक मिश्र, का० प्र० जा०, पटना, १६५५.
न्यायकणिका; वाचस्पति मिश्र, मेडिकल हाल काशी, १६०७.
न्यायकन्दली; श्रीधर, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १६६३.
न्यायकारिकावली; विश्वनाथ, चौ० सं० सीरीज, बनारस, १६५१
न्यायबिन्दु (न्या० वि०); धर्मकीर्ति, साहित्य भण्डार, मेरठ, १६७५.
न्यायबिन्दुटीका (न्या० बि० टी०); धर्मोत्तर, साहित्य भण्डार, मेरठ, १६७५.
न्यायबिन्दुटीका-टिप्पणी (टिप्प०); बिब्लोथिका इण्डिका, सेन्ट पीटर्सवर्ग, १६०६.
न्याय भाष्य (न्या० भा०); वात्स्यायन, चौ० सं० सीरीज; बनारस, १६२०.
न्यायमञ्जरी (न्या० म०), जयन्त भट्ट, चौ० सं० सीरीज, बनारस १६३६.
न्यायलीलावती (न्या० ली०); बल्लभाचार्य, चौ० सं० सीरीज, बनारस, १६२७.
न्यायलीलावती-प्रकाश (न्या० ली० प्र०); चौ० सं० सीरीज, बनारस, १६२७.
न्यायवार्तिक (न्या० वा०); उद्योतकर, चौ० संस्कृत सीरीज, बनारस, १६१६.
न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका (न्या० वा० ता०); वाचस्पति मिश्र, चौ० संस्कृत सीरीज, बनारस, १६८२ वि०
न्यायसूत्र; गौतम, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, १६२०.
परमलघुमञ्जूषा; नागेश भट्ट,
पाणिनीयाष्टक (पा०), पाणिनि, निर्णयसागर प्रैस, बम्बई.

प्रमाणवार्तिक (प्र० वा०), धर्मकीर्ति, बिहार उड़ीसा रिसर्च जरनल, पटना, १९३७.
प्रमाणवार्तिक—मनोरथनन्दिवृत्ति (प्र० वा० मनो०); मनोरथनन्दी, बिहार उड़ीसा रिसर्च जरनल, पटना १९३७.
प्रमाणवार्तिक (स्ववृत्ति), कर्णगोमिटीकासहित (प्र० वा० स्वो०), किताब महल प्रयाग, १९४३.
प्रमाणसमुच्चय (प्र० स०); दिङ्नाग, तिब्बती से संस्कृत में पुनरुद्धारित केवल प्रथम परिच्छेद, मैसूर यूनिवर्सिटी १९३०.
प्रमेयकमलमार्तण्ड; प्रभाचन्द्र, निर्णयसागर प्रैस बम्बई, १९४१.
प्रशस्तपादभाष्य (प्रशस्त०); प्रशस्तपाद, संस्कृत विश्व० वाराणसी, १९६३.
फ्रेग्मेन्टस् फ्रॉम दिङ्नाग; रेन्डिल, रॉयल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९२६.
बुद्धिस्ट लॉजिक भाग १ (बु० लॉ० १), प्रो० श्चेरबात्स्की [Dover Publication, Inc., 180 Varick Street, New York, N. Y.], १९६२ ई०.
बुद्धिस्ट लॉजिक भाग २ (बु० लॉ० २); प्रो० श्चेरबात्स्की, न्यूयार्क १९६२.
भामती, वाचस्पति मिश्र, निर्णयसागर प्रैस, बम्बई, १९३८.
मानमेयोदय; नारायण; अड्यार लायब्रेरी अड्यार, मद्रास, १९३३.
रत्नकीर्ति निबन्धावलि (क्षणभङ्गसिद्धि); रत्नकीर्ति, का० प्र० जा०, पटना, १९५७.
वादन्याय; धर्मकीर्ति, महाबोधि सोसायटी, बनारस, १९३६.
वैशेषिक सूत्र (वै० सू०); कणाद, प्रशस्तपाद भाष्य तथा उपस्कारसहित, बनारस, १९२३.
व्याकरण महाभाष्य (महा०); पतञ्जलि.
व्याकरण वार्तिक (वा०); कात्यायन.
शास्त्रदीपिका (शास्त्र दी०); पार्थसारथि मिश्र, चौ० सं० सी० बनारस, १९१३.
श्लोकवार्तिक (श्लो० वा०); कुमारिल भट्ट; चौ० सं० सी० बनारस, १८९८, ९९.
सर्वदर्शनसंग्रह (सर्व० द०); माधव, भण्डारकर ऑ० रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९२४.
सांख्यतत्त्वकौमुदी (सां० त०); ऑरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९३७.
हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक (H I L); सतीशचन्द्र विद्याभूषण, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९२१.
हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म; बुस्टोन (Buston), इ० ओबरमिलर, हीडलबर्ग, १९३१.
हेतुबिन्दु (हेतु० बि०); धर्मकीर्ति, गायकवाड़ ऑरियन्टल सीरीज, बडोदा १९४९,
हेतुबिन्दुटीका (हेतु० बि० टी०, हेतु० टी०); अर्चट, गायकवाड़ ऑरियन्टल सीरीज, बडोदा, १९४९.

अन्य संकेत—टि० (टिप्पणी), पं० (पंक्ति), परि० (परिच्छेद), श्लो० (श्लोक).

विषय-क्रम

विषय-प्रवेश

१. धर्मकीर्ति से पूर्व बौद्धन्याय

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः ।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात् ॥

[तत्त्वसंग्रह, कारिका ३५८७]

भगवान् बुद्ध (५७० ई० पू० से ४९० ई० पू०) ने बुद्धत्व प्राप्त करके चार आर्य सत्यों की खोज की थी—दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और निरोधोपाय। इनके विविध पक्षों की उन्होंने लोकभाषा में सरल सुबोध रीति से देशना भी की थी। उनकी शिक्षाओं में जीवन और जगत् की चर्चा थी, उनमें दर्शन के संकेत भी विद्यमान थे। इस प्रकार बौद्धधर्म के साथ ही साथ बौद्धदर्शन का बीजवपन हो चुका था। यह बौद्धदर्शन लगभग १००० ई० तक भारत में फूलता फलता रहा। बौद्धदर्शन के इस १५०० वर्षों के समय को बौद्धदर्शन के विख्यात विद्वान् प्रो० श्चेरबात्स्की (१८६६–१९४२ ई०) ने तीन भागों में विभक्त किया है[1]—

१. [५०० ई० पू० से ई० शती के आरम्भ तक]—यह धर्मचक्रप्रवर्तन का युग था। इसका दार्शनिक मन्तव्य चार आर्य सत्यों के रूप में प्रकट होता है। इस युग में सभी संस्कृत धर्मों को हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न—अनित्य तथा अनात्म एवं दुःख-रूप माना गया। संसार के हेतुओं के रूप में अविद्या आदि भव-चक्र का विवेचन किया गया और यह भी बतलाया गया कि संस्कृत-धर्मों का प्रवाह अभीष्ट की ओर प्रेरित हो रहा है, वह अभीष्ट है दुःखनिरोध या निर्वाण। साथ ही दुःखनिरोध के उपायों पर भी विचार किया गया। इस प्रकार इस युग में नैतिक पक्ष की प्रधानता रही।

२. [ई० शती के आरम्भ से पञ्चम शती तक]—यह बौद्धधर्मदर्शन के हीनयान से महायान की ओर जाने का युग है। इस युग में आरम्भिक बौद्धदर्शन द्वारा सत्य रूप में स्वीकृत तत्त्वों की सापेक्षिकता सिद्ध की गई, वास्तविक हेतुवाद का निराकरण किया गया और प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या सापेक्षवाद=शून्यवाद आदि के रूप में की गई। इस युग के बौद्धदर्शन में धर्मनैरात्म्यवाद की प्रधानता रही, बुद्ध मनुष्य नहीं रहे अपि तु संभोगकाय के रूप में ईश्वर बन गये, न्याय आदि सम्प्रदायों के समान सृष्टिकर्ता तो नहीं बने, पूजनीय अवश्य हो गये।

३. [पञ्चम शती से दशम शती तक]—इस युग में बौद्धदर्शन की धारा एक नई दिशा में प्रवाहित होने लगी। सापेक्षवाद इत्यादि के मन्तव्यों में परिवर्तन हुआ।

---

१. बुद्धिस्ट लाजिक भाग १ (न्यूयार्क, १९६२ ई०), पृ० ३–१४।

संसार और निर्वाण के स्वरूप की नई व्याख्या की गई। सर्वधर्मशून्यता के स्थान पर बाह्यार्थशून्यता का सिद्धान्त अपनाया गया। ज्ञान का स्वसंवेदन स्वीकार किया गया। विज्ञानवाद में आलयविज्ञान तथा प्रवृत्तिविज्ञान नाम के दो प्रकार के विज्ञान माने गये तथा आलयविज्ञान में अनादि वासनाओं की परम्परा स्वीकार की गई। इसी युग में बौद्धन्याय का उद्‌भव और विकास हुआ।

देखना यह है कि बौद्धदर्शन के इन तीनों कालों में बौद्धन्याय का क्या स्थान रहा। 'न्याय' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। वात्स्यायन के अनुसार न्याय शब्द का अर्थ है प्रमाणों द्वारा अर्थ की परीक्षा करना-प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः (न्या० भा० १.१.१.)। दूसरे स्थल पर वात्स्यायन ने बतलाया है कि प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव ही परम न्याय है— 'सोऽयं परमो न्यायः' (न्या० भा० १.१.१.)। इस प्रकार न्याय शब्द का प्रयोग न्यायविद्या या तर्कशास्त्र के लिये होता है। इसमें प्रमाण-मीमांसा, तर्क तथा वाद का समावेश किया जा सकता है।

बुद्ध की शिक्षाओं में इस न्याय का संकेतमात्र मिलता है। जैसा कि 'तापाच्छेदात्०' इत्यादि शान्तरक्षित द्वारा उद्धृत[1] कारिका से ज्ञात होता है, बुद्ध की देशना थी कि विद्वज्जन को मेरा वचन केवल आदर की दृष्टि से ही न ग्रहण कर लेना चाहिये अपि तु इसी प्रकार परीक्षा करके ग्रहण करना चाहिये जिस प्रकार तपाकर, काटकर या कसौटी से परीक्षा करके सुवर्ण का ग्रहण किया जाता है। पालि-त्रिपिटक से यह भी विदित होता है कि बुद्ध अपने मन्तव्यों को स्पष्ट करने के लिये अनेक युक्तियों तथा दृष्टान्तों का प्रयोग करते थे। अपने विरोधियों के मतों का निराकरण करते हुए उनकी अनेक प्रकार से परीक्षा भी करते थे। कथावस्तु के तर्कपूर्ण विवेचन को देखकर यह सभावना की जा सकती है कि उस समय वाद-विद्या के कुछ नियम प्रचलित रहे होंगे।[2] किन्तु केवल इन संकेतों के आधार पर बौद्धदर्शन के प्रथम युग में बौद्धन्याय का उदभव नहीं माना सकता।

बौद्धदर्शन के द्वितीय युग में नागार्जुन ने केवल सर्वधर्मशून्यता का ही प्रतिपादन नहीं किया था अपि तु गौतम के न्याय में स्वीकृत प्रमाणों के स्वरूप का भी खण्डन किया था और यह सिद्ध किया था कि प्रमाण आदि सभी पदार्थ सापेक्षिक हैं इनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। इस विषय का निरूपण नागार्जुन की विग्रहव्यावर्तनी तथा वैदल्यसूत्र और प्रकरण[3] या प्रमाणविध्वंसन) नामक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। किन्तु इन ग्रन्थों में प्रमाण आदि का खण्डन करते हुए भी नागार्जुन ने तर्क एवं वाद-कला का पर्याप्त उपयोग किया था। इससे स्पष्ट है कि इस युग में बौद्धन्याय का अपना कोई स्वरूप तो नहीं बना था किन्तु बौद्धदर्शन में व्यावहारिक रूप से

१. तत्त्वसंग्रह (बौद्धभारतीग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६८), कारिका ३५८७।

२. मि०, डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृ० २२५–२५०।

३. मि०, बुद्धिस्ट लाजिक भाग १, पृ० २८।

नैयायिक के अभिमत वाद-सम्बन्धी नियमों का प्रयोग किया जाता था। नागार्जुन के पश्चात् शताब्दियों तक बौद्धदर्शन में प्रमाण आदि के प्रतिपादन या विध्वंसन का उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ।

पञ्चम शती में असङ्ग (लगभग ४०५–४७० ई०) तथा वसुबन्धु (४१०–४९० ई०) ने न्यायविद्या का अध्ययन करके प्रमाणमीमांसा के साथ-साथ वाद-विद्या का भी विवेचन किया। वसुबन्धु ने वाद-विधि, वाद-विधान और वाद-हृदय नामक तीन न्यायग्रन्थों की रचना की, जिनके कुछ अंशों का चीनी अनुवाद उपलब्ध है। उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र इत्यादि आचार्यों ने वसुबन्धु के प्रत्यक्ष,[1] अनुमान[2] तथा पक्ष[3] (प्रतिज्ञा) आदि के लक्षणों को उद्धृत करते हुए उनकी आलोचना भी की है। इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वसुबन्धु ने बौद्धदर्शन में व्यवस्थित प्रमाण-मीमांसा का सूत्रपात किया था। उन्होंने गौतमकृत लक्षणों का दोष दिखलाकर प्रतिज्ञा आदि के लक्षण भी प्रस्तुत किये थे। फिर भी वसुबन्धु का न्याय-सम्बन्धी विवेचन अधिकांश में वस्तुवादी (Realist) न्याय-सम्प्रदाय के समान ही था। इसलिये दिङ्नाग ने वसुबन्धुकृत प्रत्यक्ष आदि के लक्षण में दोष दिखलाये और बौद्धदर्शन की तत्त्वमीमांसा के अनुकूल बौद्धन्याय का प्रणयन किया।

दिङ्नाग (४५०—५२० ई०)—दिङ्नाग का जन्म दक्षिणी भारत में काञ्ची के निकट हुआ था। उन्होंने वात्सीपुत्रीय बौद्धसम्प्रदाय के एक आचार्य नागदत्त के द्वारा बौद्धधर्म की दीक्षा प्राप्त की। किन्तु उनसे सैद्धान्तिक मत-भेद होने के कारण उन्हें छोड़कर चले गये। फिर उन्होंने वसुबन्धु से बौद्धदर्शन का अध्ययन किया। दिङ्नाग के ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि वे न्याय-सम्बन्धी विषयों में वसुबन्धु से भी पूर्णतः सहमत न हो सके। उन्होंने वसुबन्धु के प्रत्यक्ष-लक्षण आदि की आलोचना की है।[4]

दिङ्नाग की अनेक कृतियों का उल्लेख मिलता है। उनकी दो आरम्भिक कृतियाँ हैं; एक 'अभिधर्मकोश-मर्मप्रदीप' और दूसरी 'अष्टसाहस्रिक-प्रज्ञापारमिता सूत्र' का पिण्डार्थ। इनमें से पहिली में अभिधर्मकोश का सारांश है और दूसरी में एकत्ववादी बौद्धदर्शन की प्रज्ञापारमिता का[5]। इनकी शेष कृतियाँ बौद्धन्याय के विषय में हैं। वे हैं—१. प्रमाणसमुच्चय (वृत्तिसहित), २. हेतुचक्रसमर्थन (या हेतुचक्र), ३. न्याय-द्वार (न्यायमुख), ४. आलम्बनपरीक्षा (वृत्तिसहित) और ५. त्रिकाल-परीक्षा। इन ग्रन्थों में प्रमाणमीमांसा, तर्कशास्त्र तथा तत्त्वमीमांसा-सम्बन्धी विवेचन किया गया है। इनमें कुछ तिब्बती तथा चीनी अनुवादों में सुरक्षित हैं। प्रमाण-

१. न्या० वा०, पृ० ४० पं० १६; न्या० वा० ता०, पृ० १५० पं० ७।
२. न्या० वा० पृ० ५४; न्या० वा० ता०, पृ० १८८।
३. न्या० वा० पृ० ११३; न्या० वा० ता०, पृ० २७३।
४. द्र० प्रमाणसमुच्चय (तथा वृत्ति), १.१४; बुद्धिस्ट लाजिक १, पृ० १७४–१७५।
५. बुद्धिस्ट लाजिक पृ० ३३।

समुच्चय के प्रथम परिच्छेद के संस्कृत रूप का पुनरुद्धार करने का भी प्रयास किया गया है।[1] कुछ समय पूर्व इसके प्रथम परिच्छेद का टिप्पणी सहित अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।[2]

दिङ्नाग की कीर्ति का मुख्य आधार प्रमाणसमुच्चय है। इसमें बौद्धन्याय का विशद निरूपण किया गया है। इसमें ६ परिच्छेद हैं—१. प्रत्यक्ष, २. स्वार्थानुमान, ३. परार्थानुमान, ४ हेतु-दृष्टान्त, ५. अपोह और ६. जाति। दिङ्नाग ने प्रमाण-मीमांसा को पृथक् शास्त्र का रूप प्रदान किया है। यहाँ प्रमाण-विवेचन प्रधान है, और तत्त्व-विवेचन गौण हो गया है। प्रमाणसमुच्चय की रचना से बौद्धन्याय का ही उदय नहीं हुआ; प्रत्युत भारतीय दर्शन में एक नवीन मार्ग का उद्‌घाटन हो गया। फलतः भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में इस प्रकार की रचनायें की जाने लगीं। मीमांसा जैसे कर्मकाण्ड-प्रधान दर्शन में भी प्रमाण मीमांसा को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। कुमारिल भट्ट का श्लोकवार्त्तिक और शालिकनाथ की प्रकरणपञ्चिका एवं पार्थसारथि-मिश्र की शास्त्रदीपिका इसके उजागर दृष्टान्त हैं। यद्यपि न्यायसम्प्रदाय में प्रमाणों को पहिले से ही प्रमुख स्थान प्राप्त था; फिर भी इस नवीन चेतना के उदय से वहाँ न्यायसार जैसे ग्रन्थ रचे गये और सम्भवतः गङ्गेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि आदि पर भी परम्परया इसका प्रभाव पड़ा।

वस्तुतः दिङ्नाग के उदय से भारतीय दर्शन में नवयुग का आरम्भ हो गया। अनुमान प्रमाण का महत्त्व बढ़ गया। बौद्धों के शून्यवाद तथा विज्ञानवाद भी अनुमान की कसौटी पर खरे किये गए। विविध सम्प्रदायों के साथ बौद्धों का संघर्ष हुआ। जिससे अन्य दर्शनों के मन्तव्यों में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ। न्याय-वैशेषिक और मीमांसा पर तो इसका अत्यन्त गहन प्रभाव पड़ा। न्या०-वै० में उद्योतकर, जयन्त भट्ट, वाचस्पति मिश्र और श्रीधर ने न्यायवादी दिङ्नाग के मन्तव्यों का खण्डन करने का प्रयास किया और अपने मन्तव्यों को अधिकाधिक परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया। इसी समय न्या०-वै० के सिद्धान्तों का वह स्वरूप निर्धारित हुआ जो आज स्वीकार किया जाता है। पूर्वमीमांसा में कुमारिलभट्ट ने दिङ्नाग के मन्तव्यों का बलपूर्वक विरोध किया और मीमांसा के मन्तव्यों की युक्ति तथा प्रमाणों के आधार पर व्याख्या की। प्रभाकर के मतों पर तो दिङ्नाग का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट रूप में दिखलाई देता है। जैसा कि श्चेरबात्स्की ने दिखलाया है,[3] प्रभाकर ने कुमारिल के प्रति यथार्थवाद का विरोध किया, ज्ञान का स्वसंवेदन स्वीकार किया और भ्रान्ति का निमित्त भेदाग्रह को माना, इत्यादि तथ्यों से सिद्ध होता है कि प्रभाकर अवश्य ही दिङ्नाग से प्रभावित थे।

---

१. एच० आर० आर० आयंगर, प्रमाणसमुच्चय. मैसूर यूनिवर्सिटी, मैसूर १९३० I

२. दिग्नाग आन परसेप्शन, ममाकी हातोरी Masaaki Hattori); हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (यू० एस० ए०), १९६८।

३. बुद्धिस्ट लाजिक भाग १, पृ० ५२।

प्रमाणसमुच्चय की रचना से बौद्धदर्शन में प्रमाणमीमांसा और तर्क का प्राधान्य हो गया, प्रमाणों की व्याख्या के प्रसङ्ग में ही तत्त्वसम्बन्धी विवेचन भी किया जाने लगा। इसके द्वारा ही बौद्धन्याय का सुव्यस्थित रूप प्रतिष्ठित हुआ। इसीलिये दिङ्नाग को बौद्धन्याय का जनक माना जाता है।

प्रमाणसमुच्चय के महत्त्व को तत्कालीन विद्वान् भी अनुभव करते थे। अतएव इसके आधार पर अनेक ग्रन्थों की रचना की गई। दिङ्नाग के शिष्य शङ्करस्वामी ने बौद्धन्याय पर 'न्यायप्रवेश' नामक ग्रन्थ लिखा।[1] दिङ्नाग के अन्य शिष्य ईश्वरसेन ने भी प्रमाणशास्त्र पर कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा था, जिसके मन्तव्यों का उल्लेख अर्चट तथा दुर्वेक मिश्र की कृतियों में उपलब्ध होता है।[2] ईश्वरसेन के शिष्य धर्मकीर्ति ने तो प्रमाणसमुच्चय के आधार पर विविध ग्रन्थ-रत्नों की रचना की तथा बौद्धन्याय को उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँचा दिया।

२. धर्मकीर्ति और उनकी कृतियाँ

धर्मकीर्ति का जीवनवृत्त तारानाथ ने तिब्बती में लिखा था। उसके आधार पर डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण[3] तथा श्चेरबात्स्की[4] ने लिखा। तदनुसार धर्मकीर्ति का जन्म दक्षिण भारत के त्रिमलय (तिरुमल्ला) नामक स्थान में एक ब्राह्मणकुल में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा परम्परागत रीति से हुई। वे अत्यन्त प्रतिभाशाली थे अतः अल्पकाल में ही विविध विद्याओं में पारंगत हो गये। तभी उनकी रुचि बौद्ध धर्म तथा दर्शन की ओर हो गई। बौद्ध मन्तव्यों का अध्ययन करने के लिये वे नालन्दा पहुँचे। वहाँ वसुबन्धु के शिष्य धर्मपाल विद्यमान थे जो अत्यन्त वृद्ध हो गये थे, उन्हीं से धर्मकीर्ति ने बौद्धधर्म की दीक्षा ग्रहण की। तत्पश्चात् वे दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन के पास गये और उनसे प्रमाण-समुच्चय का अध्ययन करने लगे। किन्तु वे प्रमाणशास्त्र में ईश्वरसेन से भी आगे बढ़ गये और उनकी आज्ञा से ही प्रमाण-समुच्चय पर एक विस्तृत ग्रन्थ की रचना की जो प्रमाणवार्त्तिक के नाम से प्रसिद्ध है।

तिब्बती-परम्परा के अनुसार कुमारिल और धर्मकीर्ति को समकालीन माना जाता है।[5] जनश्रुतियों के अनुसार यह भी कहा जाता है कि उन्होंने वेश बदलकर कुमारिल से विविध शास्त्रों का अध्ययन किया था और बाद में कुमारिल को शास्त्रार्थ में पराजित किया। दूसरी किंवदन्ती यह भी है कि कुमारिल भट्ट धर्मकीर्ति के चाचा थे। यदि ये किंवदन्तियाँ प्रमाणों के आधार पर परिपुष्ट हो सकतीं तो

---

१. न्यायप्रवेश. गायकवाड़ आरियण्टल सीरीज, बड़ौदा (१९३०, १९६८ ई०)।

२. दुर्वेक मिश्र ने ईश्वरसेन के 'चरकव्याख्यान' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। हेतुबिन्दु-टीकालोक, पृ० ३८०।

३. हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृ० ३०३, ३०४।

४. बुद्धिस्ट लाजिक भाग १. पृ० ३४–३६।

५. तत्त्वसंग्रह (गायकवाड़ आरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, १९२६), प्रस्तावना, पृ० ८०।

धर्मकीर्ति के समय-निर्धारण आदि में हमारी सहायता कर सकतीं। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर तो धर्मकीर्ति के समय के विषय में यह कहा जा सकता है :—

धर्मकीर्ति को धर्मपाल का शिष्य माना जाता है और ह्वेन्सांग के लेखों से विदित होता है कि धर्मपाल ६३५ ई० में विद्यमान थे। किन्तु ह्वेन्सांग ने धर्मकीर्ति का उल्लेख नहीं किया। अतः धर्मकीर्ति का समय इसके पश्चात् होना चाहिये। इस युक्ति की राहुल सांकृत्यायन ने आलोचना की है।[1] किञ्च, यह भी सम्भव है कि ६३५ तक धर्मकीर्ति नालन्दा में न पहुंचे हों, अथवा उस समय वे उल्लेख-योग्य न रहे हों। अतः ६३५ ई० को धर्मकीर्ति के समय की पूर्वसीमा नहीं माना जा सकता। धर्मकीर्ति के गुरु ईश्वरसेन का समय भी निश्चित नहीं। अतः ईश्वरसेन के समय से भी धर्मकीर्ति की पूर्वसीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। इसके विषय में अन्य साक्ष्य ही हमारा संबल हो सकता है। यह सुनिश्चित है कि कुमारिल ने दिङ्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन किया है धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष-लक्षण का नहीं। फलतः धर्मकीर्ति का समय कुमारिल के पश्चात् होगा। कुन्हन राजा ने कुमारिल का समय ५५० ई० माना है।[2] इसी प्रकार उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में दिङ्नाग के मतों का खण्डन किया है, धर्मकीर्ति के मतों का नहीं। इसके विपरीत धर्मकीर्ति ने उद्योतकर के तर्कों का खण्डन किया है। उद्योतकर का समय षष्ठ शती का अन्तिम चरण माना जाता है। इस प्रकार धर्मकीर्ति के समय की पूर्वसीमा षष्ठ शती ई० का अन्तिम चरण है।

उनके समय की अपर सीमा के विषय में यह कहा जा सकता है कि चीनी यात्री इत्सिंग, जिसने ६७१ से ६९५ ई० तक भारत की यात्रा की, धर्मकीर्ति का उल्लेख करता है। अतः धर्मकीर्ति का समय सप्तम शती के अन्तिम चरण से पूर्व ही होना चाहिये। इस प्रकार ५९५ ई० से ६७५ ई० के मध्य धर्मकीर्ति का समय निर्धारित किया जा सकता है। सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने इनका समय ६३५–६५० ई० के आस-पास रक्खा है,[3] राहुल जी ने ६२५ के[4] आस-पास तथा पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने ६२०–६९० ई० रक्खा है।[5]

धर्मकीर्ति की कृतियाँ—धर्मकीर्ति ने बौद्धन्याय पर अनेक ग्रन्थों की रचना की थी उनमें दिङ्नाग के ग्रन्थों की व्याख्या की गई थी। उनका ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक स्पष्टतः 'प्रमाणसमुच्चय' के वार्तिक रूप में प्रसिद्ध है। इसीलिये बौद्धन्याय में धर्मकीर्ति वार्तिककार नाम से विख्यात हैं। किन्तु धर्मकीर्ति के ग्रन्थों का इतना

---

१. वादन्याय, प्रस्तावना पृ० ५।

२. श्लोकवार्तिकतात्पर्यटीका (मद्रास विश्वविद्यालय, १९४०, १९७१), प्रस्तावना, पृ० १७।

३ हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृ० ३०३–३०५।

४. वादन्याय, प्रस्तावना, पृ० ५।

५. अकलङ्कग्रन्थत्रय (सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद—कलकत्ता, १९३९) प्रस्तावना, पृ० २१।

आदर एवं प्रचार हुआ कि इनके सामने दिङ्नाग के ग्रन्थों का अध्ययन समाप्तप्राय: हो गया। धर्मकीर्ति के ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है :—

(१) प्रमाणवार्त्तिक—धर्मकीर्ति की कृतियों में इसका प्रमुख स्थान है। यह माना जाता है कि शेष ६ ग्रन्थ इसके ६ पाद हैं।[1] प्रमाणवार्त्तिक की रचना कारिकाओं में की गई है। इसमें बौद्धदर्शन के प्राय: सभी मन्तव्यों का निरूपण है, प्रमाणमीमांसा के साथ-साथ तत्त्वमीमांसा भी है। कतिपय विद्वानों का विचार है कि यह विज्ञानवाद का प्रतिपादक ग्रन्थ है। ग्रन्थ के अनुशीलन से तो यह प्रतीत होता है कि बौद्धदर्शन की विविध विचार-धाराओं का यह आकर-ग्रन्थ है।[2] इस ग्रन्थ में चार परिच्छेद हैं जिनमें प्रमाण, प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान का निरूपण किया गया है। वास्तव में इन परिच्छेदों का क्रम क्या रक्खा गया था ? यह विवाद का विषय है।[3] स्वार्थानुमान पर धर्मकीर्ति की स्ववृत्ति उपलब्ध है, इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि धर्मकीर्ति ने स्वार्थानुमान को ही पहिले रक्खा था। किन्तु मनोरथनन्दिकृत वृत्ति में उपर्युक्त विषयों के अनुसार ही परिच्छेदों का क्रम है और यही स्वाभाविक भी प्रतीत होता है।

प्रमाणवार्त्तिक का महत्त्व इससे प्रकट होता है कि इस पर टीका, उपटीकाओं की एक लम्बी परम्परा उपलब्ध होती है, जिसका आगे उल्लेख किया जा रहा है। सौभाग्य से यह ग्रन्थरत्न अपने मूलरूप में उपलब्ध है और विभिन्न टीकाओं के साथ इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं,[4] जैसे—(i) स्वार्थानुमान परिच्छेद, स्ववृत्ति तथा कर्णगोमिकृत टीका सहित[5], (ii) (सम्पूर्ण) प्रमाणवार्त्तिक, मनोरथनन्दिकृतवृत्तिसहित,[6] (iii) प्रमाणवार्त्तिक, प्रज्ञाकरगुप्तकृत प्रमाणवार्त्तिकालङ्कारसहित[7], (iv) स्ववृत्ति, स्वार्थानुमान परिच्छेद,[8] (v) स्ववृत्ति, स्वार्थानुमान परिच्छेद (रोमन लिपि, Roma, Is. M. E. O, 1960), (vi) स्ववृत्ति, स्वार्थानुमान (कारिका ५१ पर्यन्त) अंग्रेजी अनुवाद नवनालन्दा महाविहार, पटना, १९६४).।

इनके अतिरिक्त प्रमाणवार्त्तिक पर देवेन्द्रमति की पञ्जिका, शाक्यमति की

---

१ बुद्धिस्ट लाजिक भाग १, पृ० ३७।

२. द्र०, प्रस्तुत लेखक की कृति, वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध दर्शन का विवेचन (कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, १९६८). पृ० ३७—४२।

३. द्र०, श्चेरबात्स्की, बुद्धिस्ट लाजिक भाग १, पृ० ३८, ३९।

४. बौद्धदर्शन के अन्य अनेक ग्रन्थों के समान प्रमाणवार्त्तिक को प्रकाश में लाने का श्रेय भी महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को ही है।

५. किताब महल, प्रयाग, 1943।

६. बिहार–उड़ीसा रिसर्च जरनल, पटना 1937; बौद्धभारतीप्रकाशन, वाराणसी 1968।

७. काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पटना, 1953।

८. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस, 1959।

टीका, शङ्करानन्द और रविगुप्त की टीकाएँ तिब्बती भाषा में हैं। प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार पर जयनाथ और यमारिकृत टीकाएँ भी तिब्बती में ही उपलब्ध हैं।

(२) प्रमाणविनिश्चय—इसकी रचना कारिकाओं तथा तदनुवर्ती गद्य में की गई है। इसमें प्रमाणवार्त्तिक में प्रतिपादित विषयों का संक्षेप से वर्णन है। यहाँ तीन परिच्छेद हैं—प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। यह अपने मूल संस्कृत रूप में उपलब्ध नहीं, केवल तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है। इसकी धर्मोत्तरकृत टीका तथा ज्ञानश्रीभद्रकृता टीका भी तिब्बती में उपलब्ध है।[2]

(३) न्यायबिन्दु—इसका विवरण आगे दिया जा रहा है।

(४) हेतुबिन्दु—यह एक प्रकरण ग्रन्थ है जो न्यायबिन्दु के समान गद्य में ही लिखा गया है। इसमें हेतु के स्वरूप तथा हेतु के प्रकारों (स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि) का निरूपण किया गया है। मूलसंस्कृत अनुपलब्ध है। राहुल सांकृत्यायन द्वारा तिब्बती से संस्कृत रूपान्तर किया गया है जो अर्चट (धर्माकरदत्त) की हेतुबिन्दुटीका तथा दुर्वेक मिश्र की हेतुबिन्दुटीकालोक सहित प्रकाशित हुआ है।[3]

(५) सम्बन्धान्तरपरीक्षा—मूलग्रन्थ कारिकाओं में था जो अपने संस्कृत रूप में उपलब्ध नहीं है। धर्मकीर्तिकृत स्ववृत्ति तथा विनीतदेव और शङ्करानन्दकृत टीका सहित तिब्बती में उपलब्ध है। इसकी प्रायः सभी कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ५०३–५११) और स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ८१२) में उद्धृत हैं राहुल जी ने प्रमाणवार्त्तिक-भाष्य की भूमिका में इन कारिकाओं को संकलित किया है।[4]

(६) वादन्याय (या चोदनाप्रकरण)—एक प्रकरण ग्रन्थ है। इस पर शान्तरक्षित की टीका है। इसमें परार्थानुमान तथा वाद-कला का निरूपण किया गया है। यह अपने संस्कृत रूप में प्रकाशित हो चुका है।[5]

(७) सन्तानान्तरसिद्धि—एक प्रकरणग्रन्थ है जिसमें यह निरूपण किया गया है कि विज्ञानवाद में अपने से भिन्न विज्ञान-सन्तानों की सिद्धि कैसे की जाती है। यह भी अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं। विनीतदेवकृत टीका सहित तिब्बती में उपलब्ध है।[6]

---

१. शङ्करानन्दकृतटीका का मूलसंस्कृत में अपूर्ण प्रथम परिच्छेद भी उपलब्ध है, बु० ला० १, पृ० ४२।

२. ध्वन्यालोकलोचन (काव्यमाला, पृ० २३३) से ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन ने धर्मोत्तरकृत प्रमाणविनिश्चय की टीका पर एक विवृति लिखी थी, जिसका नाम धर्मोत्तमा था, जो अनुपलब्ध है।

३. भट्टार्चटविरचिता हेतुबिन्दुटीका–दुर्वेकमिश्रकृतालोकालङ्कृता, पं० सुखलाल संघवी तथा मुनि श्री जिनविजय जी द्वारा सम्पादित; आरियण्टल इन्सटीट्यूट बड़ौदा, १९४९।

४. धर्मोत्तरप्रदीप–प्रस्तावना, पृ० ४४ टि० ३।

५. महाबोधि सोसायटी, बनारस, १९३६।

६. धर्मकीर्ति के ग्रन्थों के तिब्बती अनुवाद तञ्जूर के संग्रहों में सुरक्षित हैं, बु० ला० १, प्रस्तावना।

इनके अतिरिक्त तिब्बती संग्रहों में कतिपय अन्य ग्रन्थ भी हैं जिन्हें धर्मकीर्ति की रचना बतलाया जाता है।[1]

धर्मकीर्ति के सभी ग्रन्थों पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। प्रो० श्चेरबात्स्की ने धर्मकीर्ति के टीकाकारों को तीन वर्गों में रक्खा है। प्रथम वर्ग के टीकाकारों की व्याख्या शब्दार्थ पर विशेष ध्यान देती हैं। इन टीकाकारों में धर्मकीर्ति के शिष्य देवेन्द्रबुद्धि प्रमुख हैं। इन्होंने प्रमाणवार्त्तिक पर टीका लिखी। इनके शिष्य शाक्य-बुद्धि ने भी प्रमाणवार्त्तिक पर टीका लिखी। ये दोनों तिब्बती में उपलब्ध हैं। प्रभावुद्धि की टीका लुप्त हो गई है। प्रमाणवार्त्तिक की मनोरथनन्दिकृत वृत्ति तथा विनीतदेव और शान्तभद्र की टीकाएँ भी इसी वर्ग में रक्खी जा सकती हैं। द्वितीय वर्ग के टीकाकारों ने दार्शनिक विवेचन करते हुए मुख्य रूप से प्रमाण-मीमांसा की है। वस्तुतः यह बौद्धन्याय को समृद्ध बनाने वाला वर्ग है। इसका कार्यक्षेत्र विशेषकर कश्मीर है। इस वर्ग में धर्मोत्तर प्रमुख हैं जिनका आगे वर्णन किया जा रहा है। इसी वर्ग में आनन्दवर्धन तथा शङ्करानन्द की टीकाएँ हैं। तृतीय वर्ग धार्मिक दृष्टिकोण से व्याख्या करने वालों का है। ये प्रमाणवार्त्तिक को महायान सम्प्रदाय के मूलभूत तत्त्वों का प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं। इनमें प्रज्ञाकरगुप्त प्रमुख हैं। इन्होंने स्वार्थानुमान को छोड़कर प्रमाणवार्त्तिक के तीन परिच्छेदों की व्याख्या की है जो प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार या प्रमाणवार्त्तिक-भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। प्रज्ञाकर-गुप्त के अनुयायियों को भी तीन उपसम्प्रदायों में विभक्त किया गया है, जिनके प्रवर्तक जिन (जयानन्त, जयनाथ या जेतवान्), रविगुप्त और यमारि थे। इन्होंने विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रमाणवार्त्तिक तथा प्रमाणवार्त्तिकभाष्य की टीकाएँ की हैं।[2]

इनके अतिरिक्त तिब्बती में भी धर्मकीर्ति के ग्रन्थों पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं। यहाँ तो विशेष रूप से न्यायबिन्दु के विषय में विचार करना ही अभीष्ट है।

३. न्यायबिन्दु तथा इसकी टीकाएँ

धर्मकीर्ति का न्यायबिन्दु एक प्रकरण ग्रन्थ है।[3] यह लघु ग्रन्थ होते हुए भी बौद्धन्याय के अध्ययन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व रखता है। बुस्टोन का विचार है कि न्यायबिन्दु की रचना तीव्रबुद्धि जनों के लिये, प्रमाण-विनिश्चय की मध्यम बुद्धि वालों के लिये और प्रमाणवार्त्तिक की मन्द बुद्धि वालों के लिये की गई है।[4] चाहे यह कथन सर्वांश में सत्य न हो, तथापि न्यायबिन्दु के अनुशीलन से विदित होता है कि बौद्धन्याय के अनुसार प्रमाण-स्वरूप, प्रमाण-विषय, त्रिविध हेतु एवं हेत्वाभास आदि का जितना संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट विवेचन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है, उतना अन्यत्र नहीं। यह विवेचन सूक्ष्म एवं गहन भी है अतः इसे समझना तीव्र बुद्धि का ही कार्य

---

१. बु० ला० १, पृ० ३७।

२. मि०, बु० ला० १, पृ० ४४–४६।

३. द्र०, जागे, पृ० ३।

४. बुस्टोन (Buston) : हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म, पृ० ४९।

है। धर्मोत्तरप्रदीप के कर्ता दुर्वेक मिश्र कहते हैं कि संक्षिप्त विवेचन में रुचि रखने वाले प्राज्ञ जनों के लिये इस प्रकरण ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है।[1]

न्यायबिन्दु में तीन परिच्छेद हैं—प्रथम प्रत्यक्ष परिच्छेद, द्वितीय स्वार्थानुमान परिच्छेद और तृतीय परार्थानुमान परिच्छेद। इनमें प्रतिपादित विषय का आगे विवरण दिया जायेगा। न्यायबिन्दु बौद्धन्याय का द्वार है, इस तथ्य को भारत में ही नहीं तिब्बत में भी स्वीकार गया था। साथ ही इसकी संक्षिप्तता और गहनता का भी विद्वानों ने अनुभव कर लिया था। इसी हेतु इस पर अनेक टीका-उपटीकाएँ लिखी गईं, जिनमें से आज कुछ अपने मूल संस्कृत रूप में उपलब्ध हैं, कुछ तिब्बती अनुवाद में सुरक्षित हैं, कुछ के विषय में सन्दर्भमात्र ही मिलता है और न जाने कितनी काल के गर्त में विलीन हो गई होंगी। संक्षेप में न्यायबिन्दु के ज्ञात टीकाकारों एवं टीकाओं का विवरण इस प्रकार है—

(१) विनीतदेव की टीका—यह टीका तिब्बती अनुवाद में मिलती है।[2] तिब्बती से संस्कृत में इसका पुनरुद्धार किया गया है। विनीतदेव धर्मोत्तर के पूर्ववर्ती हैं। सम्भवतः धर्मोत्तर ने कहीं उनके नाम का तो उल्लेख नहीं किया, किन्तु, जैसा धर्मोत्तरकृत न्यायबिन्दुटीका की टीका-टिप्पणियों से विदित होता है,[3] धर्मोत्तर ने अनेक स्थलों पर विनीतदेव के मतों का खण्डन किया है। विनीतदेव ने प्रमाणवार्त्तिक तथा प्रमाणविनिश्चय के अतिरिक्त धर्मकीर्ति के सभी ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी थीं, जो तिब्बती में उपलब्ध हैं। डॉ० विद्याभूषण के अनुसार विनीतदेव का समय ७०० ई० के लगभग है।

(२) शान्तभद्र की टीका—यह टीका मूल संस्कृत या तिब्बती में उपलब्ध नहीं है। किन्तु न्यायबिन्दुटीका की उपटीकाओं से विदित होता है कि धर्मोत्तर ने कई स्थलों पर शान्तभद्र के मतों का खण्डन किया है।[4] इससे यह स्पष्ट है कि शान्तभद्र ने न्यायबिन्दु पर टीका लिखी थी और वे धर्मोत्तर के पूर्ववर्ती थे। इस प्रकार उनका समय ७०० ई० के लगभग ही होगा। दुर्वेक मिश्र कृत धर्मोत्तरप्रदीप आदि में कई स्थलों पर विनीतदेव तथा शान्तभद्र के मतों का समान रूप से उल्लेख किया गया है।[5] इससे यह भी अनुमान किया जाता है कि दोनों के अनेक मन्तव्य समान ही थे।

(३) धर्मोत्तर की न्यायबिन्दुटीका—इसके विषय में आगे विस्तार से लिखा जा रहा है।

---

१. संक्षिप्तरुचीन प्राज्ञान् अधिकृत्येदं प्रकरणं प्रणीतम्। धर्मोत्तरप्रदीप, पृ० ३५ पं० ११।
२. बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता, १९१३।
३. द्र०, धर्मोत्तरप्रदीप, पृ० ५, ३१, ३४,; न्यायबिन्दुटीका टिप्पणी, पृ० ३, १३, १६, १७, १८, २१, २३, २६, ३६ तथा तात्पर्यनिबन्धन, पृ० १५, १६, २५।
४. द्र०, धर्मोत्तरप्रदीप, पृ० ५, ३१, ३२, ६१ तथा न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी।
५. द्र०, धर्मोत्तरप्रदीप; पृ० ५; ३१।

(४) कमलशील का न्यायबिन्दु-पूर्वपक्ष-संक्षेप—यह अपने मूल संस्कृत रूप में उपलब्ध नहीं है, केवल तिब्बती अनुवाद में मिलती है। इसके कर्ता कमलशील हैं, जो शान्तरक्षित के शिष्य थे और जिन्होंने शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह पर तत्त्वसंग्रह-पञ्जिका नामक विशद व्याख्या की है। डा० भट्टाचार्य के अनुसार उनका समय ७१३ ई० है।[1]

(५) जिनमित्र का न्यायबिन्दुपिण्डार्थ—यह अपने मूलरूप संस्कृत में उपलब्ध नहीं है, केवल तिब्बती अनुवाद में सुरक्षित है। इसके नाम से ज्ञात होता है कि इसमें न्यायबिन्दु के तात्पर्य का संक्षेप में विवेचन किया गया है। जिनमित्र का समय राहुल जी के अनुसार ८२५ ई० है[2], और डा० विद्याभूषण के अनुसार १०२५ ई० है।[3]

इनके अतिरिक्त न्यायबिन्दु की अन्य टीकाएँ भी होंगी, जो अनुसन्धान से प्रकाश में आ सकेंगी।

४. धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका और इसकी उपटीकाएँ

आचार्य धर्मोत्तर का कार्यक्षेत्र कश्मीर माना जाता है। ये कल्याणरक्षित तथा धर्माकरदत्त (अर्चट) के शिष्य थे। सुखलाल जी ने धर्माकरदत्त का समय सप्तम शती के अन्तिम चरण तथा अष्टम शती के प्रथमचरण के मध्य में माना है।[4] धर्माकरदत्त का समय ही धर्मोत्तर के समय की पूर्वसीमा है। दूसरी ओर वाचस्पतिमिश्र ने धर्मोत्तर का नामतः उल्लेख किया है।[5] मल्लवादी ने न्यायबिन्दु-टीका पर धर्मोत्तर-टिप्पण लिखा है। डॉ० विद्याभूषण के अनुसार मल्लवादी का समय ८२७ ई० या ९६२ ई० हो सकता है।[6] किन्तु पं० दलसुखभाई ने कतिपय युक्तियों के आधार पर मल्लवादी का समय ७००–७५० ई० के मध्य रखना उचित समझा है।[7] इस प्रकार मल्लवादी का समय स्वयं ही विवादग्रस्त है अतः वह धर्मोत्तर की अपर सीमा के निर्धारण में विशेष सहायक नहीं हो सकता। इसका निश्चय अकलङ्क की तिथि से करना होगा। अकलङ्क ने धर्मोत्तर के मत का खण्डन किया है।[8] पं० महेन्द्रकुमार के अनुसार अकलङ्क का समय ७२०–७८० है।[9] इस प्रकार धर्मोत्तर के समय की अपरसीमा अष्टम शती का प्रथम चरण हो सकती है। अपने गुरु धर्माकरदत्त के कनिष्ठ समकालीन होने के कारण भी धर्मोत्तर का यही समय निर्धारित होता है। राहुल जी ने धर्मोत्तर का समय ७२५ ई० माना है। सम्भवतः उनका समय इससे पूर्व ही रहा होगा।

---

१. तत्त्वसंग्रह, प्रस्तावना, पृ० १९।
२. वादन्याय परिशिष्ट, पृ० ९।
३. हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृ० ३४०।
४. हेतुबिन्दुटीका, प्रस्तावना, पृ० १२।
५. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ० ४८५।
६. हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृ० १९५।
७. धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृ० ५४।
८. न्यायविनिश्चयविवरण, पृ० ५३०, ५३१।
९. अकलङ्कग्रन्थत्रय; प्रस्तावना, पृ० ३२।

धर्मोत्तर ने कई ग्रन्थों की रचना की थी। न्यायबिन्दुटीका के अतिरिक्त धर्मोत्तरकृत निम्नलिखित ५ ग्रन्थों का तिब्बती अनुवाद उपलब्ध होता है किन्तु मूल संस्कृत रूप उपलब्ध नहीं है :—

(i) प्रमाणविनिश्चयटीका, (ii) प्रामाण्यपरीक्षा[1], (iii) अपोहप्रकरण या अपोहनामप्रकरण, (iv) परलोकसिद्धि और (v) क्षणभङ्गसिद्धि।

न्यायबिन्दु की टीकाओं में धर्मोत्तर की न्यायबिन्दुटीका का सर्वोपरि स्थान है। इस टीका में धर्मकीर्ति के मन्तव्यों की विशद व्याख्या की गई है। धर्मोत्तर के पूर्ववर्ती टीकाकारों ने विशेष रूप से शब्दार्थपरक व्याख्याएँ की थीं, किन्तु धर्मोत्तर ने धर्मकीर्ति के अभिप्राय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। साथ ही पूर्ववर्ती टीकाकारों का दोष दिखलाकर नवीन व्याख्या की है, जिसका प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या में यथावसर निर्देश किया गया है। न्यायबिन्दुटीका के महत्त्व का विद्वानों ने अनुभव किया था और इसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अनेक टीकाएँ तथा टिप्पणियाँ लिखी थीं। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(१) मल्लवादिकृत धर्मोत्तरटिप्पण—इसकी हस्तलिखित प्रति जैसलमेर तथा पाटन के भण्डार में विद्यमान है। सम्भवत: इसके कर्ता मल्लवादी जैन थे और उनका समय ७००–७५० ई० के मध्य होगा।[2]

(२) दुर्वेकमिश्रकृत धर्मोत्तरप्रदीप—दुर्वेक मिश्र का समय पं० सुखलाल जी ने डा० विद्याभूषण के आधार पर दसवीं शती के अन्तिम चरण और एकादश के प्रथम चरण के मध्य माना है। धर्मोत्तर प्रदीप के अतिरिक्त इनकी तीन रचनाओं का पता चलता है—विशेषाख्यान, हेतुबिन्दुटीकालोक तथा स्वयूथ्यविचार। किन्तु अभी तक धर्मोत्तरप्रदीप तथा हेतुबिन्दुटीकालोक ही उपलब्ध हुई हैं। धर्मोत्तरप्रदीप न्यायबिन्दुटीका के साथ प्रकाशित हुई है।[3] यह न्यायबिन्दुटीका की एक विस्तृत व्याख्या है। इसमें प्रथमत: अवतरणिका के रूप में पूर्वपक्ष रक्खा गया है फिर धर्मोत्तर के पदों तथा वाक्यों का अर्थ दिखलाकर उनका तात्पर्यार्थ स्पष्ट किया गया है। स्थान-स्थान पर बौद्धन्याय के मन्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है और प्रसङ्गानुसार अन्य दर्शनों के मन्तव्यों का भी उल्लेख किया गया है। न्यायबिन्दु के जिन पूर्ववर्ती टीकाकारों का धर्मोत्तर ने नाम-निर्देश किये बिना ही दोष दिखलाया है अथवा उनकी व्याख्या में दोष देखकर दूसरी व्याख्या की है, उन टीकाकारों का नाम तथा यथासम्भव उद्धरण भी दुर्वेक मिश्र ने दिखला दिये हैं। दुर्वेक मिश्र ने धर्मकीर्ति तथा धर्मोत्तर के मन्तव्य

---

१. दुर्वेक मिश्र ने प्रामाण्यपरीक्षा का उल्लेख किया है (धर्मोत्तरप्रदीप पृ० २४); विद्याभूषण ने 'प्रमाणपरीक्षा' का (पृ० ३३०) और राहुल जी ने 'लघुप्रमाणपरीक्षा' का। पं० दलसुख जी की सम्भावना है कि तीनों नाम एक ही ग्रन्थ के हो सकते हैं (धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना पृ० ५३)।

२. द्र०, धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृ० ५६।

३. काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १९५५।

को स्पष्टतः दर्शाया है तथा कहीं-कहीं उनकी भूलों की ओर भी संकेत किया है।[1] दुर्वेक मिश्र की शैली भारतीय दर्शन की परम्परागत शैली है। भाषा प्राञ्जल तथा प्रवाहपूर्ण है। इसमें स्थान-स्थान पर संस्कृत के न्यायों तथा मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है। न्यायविन्दुटीका के अध्ययन के लिये धर्मोत्तरप्रदीप सच्चा मार्गदर्शक है, इसमें सन्देह नहीं।

(३) तात्पर्यनिबन्धनटिप्पण—इसकी एक ताडपत्र-प्रति श्री पुण्यविजय जी को प्राप्त हुई है। इस पर लेखक का नाम नहीं है। इसकी लिपि पर्याप्त प्राचीन है। इसमें न्यायविन्दुटीका पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ दी गई हैं। इसके अनेक सन्दर्भ धर्मोत्तर-प्रदीप की पादटिप्पणियों तथा अन्त में 'टिप्पणानि' शीर्षक के अन्तर्गत भी उद्धृत किये गये हैं (द्र० धर्मो० प्र०, प्रस्तावना, पृ० ५६)।

(४) न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी—प्रो० श्चेरबात्स्की ने इसके कुछ भाग का सम्पादन करके बिब्लोथिका बुद्धिका (नं० ११), सेन्ट पीटर्सबर्ग से १९०९ ई० में प्रकाशित कराया है। यह जैसलमेर तथा पाटन में सुरक्षित टिप्पण से भिन्न है। इस पर न लेखक का नाम है, न ही यहाँ आरम्भिक मङ्गल है, न परिच्छेद का अन्तिम भाग ही है। अतः यह कहना कठिन है कि यह किस लेखक की कृति है। यद्यपि प्रो० श्चेरबात्स्की ने प्रथमतः इसे मल्लवादिकृत बतलाया था तथापि बाद में तथ्य का उद्घाटन किया (धर्मो० प्र० प्रस्तावना पृ० ५७)। श्चेरबात्स्की ने अंग्रेजी अनुवाद की पादटिप्पणियों में इसके मत उद्धृत किये हैं। न्यायबिन्दुटीका के प्रत्यक्ष परिच्छेद को समझने में यह बहुत उपयोगी है।

५. न्यायबिन्दु-टीका के प्रतिपाद्य विषय पर एक दृष्टि

प्रथम परिच्छेद—न्यायबिन्दु तथा टीका के तीन परिच्छेदों में से प्रथम में प्रमाण का स्वरूप, प्रमाणों की संख्या, प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण, प्रत्यक्ष के प्रकार, प्रत्यक्ष तथा अनुमान का विषय तथा प्रमाण और फल की व्यवस्था का विशेषरूप से निरूपण किया गया है। इनके प्रसङ्ग से बौद्धन्याय के कुछ अन्य मन्तव्यों पर भी प्रकाश डाला गया है। न्यायबिन्दुटीका के अनुशीलन से विदित होता है कि न्यायबिन्दु के प्रत्यक्ष आदि के लक्षण सौत्रान्तिक तथा योगाचार दोनों पर ही घटित किये जा सकते हैं, किन्तु किन्हीं सन्दर्भों में टीकाकारों का मतभेद है।

यहाँ प्रमाण का लक्षण नहीं किया गया। केवल ग्रन्थ का प्रयोजन बतलाते हुए यह कहा गया है कि सम्यग्ज्ञान से ही सकल पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, अतः इस ग्रन्थ में सम्यग्ज्ञान का प्रतिपादन किया जाता है।[2] धर्मोत्तर ने इस वचन की विस्तृत व्याख्या की है और सम्यग्ज्ञान की व्याख्या करते हुए बौद्धन्याय के कई मन्तव्यों को स्पष्ट कर दिया है; जैसे—(१) ज्ञान दो प्रकार का है—सम्यग्ज्ञान और मिथ्या-

---

१. धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृ० ५९।

२. सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति तद् व्युत्पाद्यते। आगे, पृ० १।

ज्ञान, सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण कहलाता है। (२) सम्यग्ज्ञान या प्रमाण की मुख्यतः दो विशेषताएँ हैं। एक तो यह कि वह अपने द्वारा प्रदर्शित अर्थ को प्राप्त कराता है—अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्; भाव यह है कि वह अर्थक्रियासमर्थ अर्थ की प्रतीति करा देता है, उससे व्यक्ति उस अर्थ में प्रवृत्त हो जाता है और उसका ग्रहण कर लेता है या त्याग कर देता है, यही अर्थ की प्राप्ति है। दूसरी यह कि प्रमाण अज्ञात अर्थ का बोधक होता है—अनधिगतविषयंप्रमाणम्। प्रमाण का कार्य है अर्थ की प्राप्ति करा देना, और प्रथमज्ञान से ही अर्थ की प्रतीति हो जाने पर व्यक्ति की प्रवृत्ति हो जाती है तथा अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। फिर इस विषय में होने वाला दूसरा ज्ञान तो अर्थ की प्राप्ति नहीं कराता, अतः वह प्रमाण नहीं है। फलतः न्या०-वै० आदि के समान बौद्धन्याय में धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जाता। (३)जिस ज्ञान के द्वारा प्रदर्शित वस्तु से भिन्न वस्तु की प्राप्ति होती है वह असम्यक् (मिथ्या) ज्ञान है। वस्तु में आकार, देश तथा काल के भेद से भेद हो जाता है; जैसे किसी ज्ञान से 'शङ्ख पीला है' यह प्रतीति होती है, तत्पश्चात् श्वेत शङ्ख की प्राप्ति होती है तो वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं। इसी प्रकार भ्रान्ति, संशय तथा स्वप्नज्ञान इत्यादि मिथ्याज्ञान हैं।[1] (४) सम्यग्ज्ञान से ही पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, मिथ्याज्ञान से कदापि नहीं होती। यहाँ पुरुषार्थ का अभिप्राय है—व्यक्ति का ग्राह्य या त्याज्य अर्थ। न्या०-वै० ने ग्राह्य, त्याज्य और उपेक्षणीय तीन प्रकार के अर्थ माने हैं किन्तु बौद्ध-न्याय ने उपेक्षणीय का भी त्याज्य (हेय) में ही अन्तर्भाव कर दिया है।[2]

प्रमाण दो प्रकार का होता है प्रत्यक्ष तथा अनुमान। बौद्धन्याय की दृष्टि से दो प्रकार का ही प्रमेय है, एक, वस्तु का यथार्थ रूप जो स्वलक्षण कहलाता है और दूसरा, वस्तु का साधारण (व्यावहारिक) रूप जो सामान्यलक्षण कहलाता है। धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए बतलाया है—'कल्पनारहित एवं भ्रान्तिशून्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाता है।'[3] यहाँ प्रत्यक्ष की दो विशेषताओं का उल्लेख है—एक, वह निर्विकल्पक होता है; दूसरे, उसमें भ्रान्ति का लेश भी नहीं होता। विकल्प या कल्पना उस ज्ञान को कहते हैं जिसमें पदार्थ के नाम आदि का सम्पर्क हो सके (न्या० वि० १.१.५)। प्रत्यक्ष ज्ञान में उस विकल्प का सम्पर्क नहीं रहता, वह कल्पना के स्वभाव वाला नहीं होता। इसी प्रकार उसमें भ्रान्ति भी नहीं रहती। रतौंधी (तिमिर) आदि रोग के कारण किसी को एक चन्द्रमा के दो दिखलाई देने लगते हैं, यह द्विचन्द्रज्ञान भ्रान्ति है। इसे प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद रखना चाहिये या नहीं, इस विषय में बौद्धन्याय के आचार्यों का मतभेद रहा है।[4] किञ्च, 'अभ्रान्त' पद के आधार पर कुछ व्याख्याकारों का

१. द्र० आगे, पृ० १०–२०।
२. द्र० आगे, पृ० २२--२३।
३. तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्। न्यायबिन्दु १.१.४; पृ० ३२।
४. द्र० आगे, पृ० ३८--४०।

यह भी विचार है कि यह पद योगाचार की दृष्टि से सङ्गत नहीं, अतः प्रत्यक्ष का यह लक्षण वाह्यार्थवादी सौत्रान्तिक की दृष्टि से ही किया गया है।[1] इन दो विशेषताओं के अतिरिक्त धर्मोत्तर ने प्रत्यक्ष की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता का भी निरूपण किया है, वह है—प्रत्यक्षज्ञान के पश्चात् जो विकल्पज्ञान होता है उसमें इस प्रकार की प्रतीति होती है कि मैंने इस वस्तु का साक्षात्कार किया है।[2] इस प्रकार वह साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है जो विकल्परहित और भ्रान्तिशून्य होता है।

साक्षात्कारात्मक ज्ञान से भिन्न ज्ञान विकल्प कहे जाते हैं। अनुमान, संशय इत्यादि विकल्प ज्ञान हैं। इन विकल्प ज्ञानों में 'अनुमान' ज्ञान प्रमाण माना जाता है, अन्य ज्ञान प्रमाण नहीं। अनुमान प्रमाण कैसे है? अभी कहा जा चुका है कि बौद्ध-न्याय में सम्यग्ज्ञान या प्रमाण वह है जो अर्थक्रियासमर्थ वस्तु का प्रदर्शक है, अविसंवादक है तथा अज्ञात अर्थ का बोधक है। अनुमान ज्ञान में भी ये विशेषताएँ हैं ही। वह भी अर्थक्रियासमर्थ वस्तु का ज्ञान कराता है, उसे प्राप्त कराता है, और अज्ञात अर्थ का बोधक भी है। हाँ, प्रत्यक्ष तथा अनुमान के अर्थप्रदर्शन में एक अन्तर अवश्य है। प्रत्यक्ष तो साक्षात् रूप से अर्थक्रियासमर्थ वस्तु का प्रदर्शक है किन्तु अनुमान अर्थक्रियासमर्थ वस्तु के अविनाभावी लिङ्ग का दर्शन कराके अर्थक्रियाक्षम वस्तु का परम्परया निश्चायक होता है।[3] इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष के लक्षण में जो दो पद दिये गये हैं—'कल्पनापोढम्' और 'अभ्रान्तम्', ये दोनों भी प्रत्यक्ष तथा अनुमान का अन्तर स्पष्ट करते हैं। अनुमान तो विकल्पज्ञान है और बौद्धन्याय में उसे भ्रान्त भी माना जाता है।[4]

प्रत्यक्ष-प्रमाण के चार प्रकार हैं—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और योगि-प्रत्यक्ष। इनका विस्तारपूर्वक निरूपण न्यायबिन्दुटीका में किया गया है (पृ० ५५-६८)। इसी प्रसङ्ग में ज्ञान की उत्पत्ति के चार कारणों की ओर भी संकेत कर दिया गया है—आलम्बनप्रत्यय, अधिपतिप्रत्यय, समनन्तरप्रत्यय और सहकारी प्रत्यय (पृ० ५८, ११८)।

प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है। सौत्रान्तिक की दृष्टि से वस्तु का परमार्थसत् स्वरूप स्वलक्षण कहलाता है। यह क्षणिक है, अतः इसे क्षण या वस्तुक्षण भी कहा जाता है। इस प्रकार न्यायबिन्दु का यह सन्दर्भ विशेष रूप से सौत्रान्तिक-नय की दृष्टि से है। स्वलक्षण के स्वरूप का विशदविवेचन न्यायबिन्दुटीका में किया गया है(पृ० ६९-७८)। इसीप्रसङ्ग में यह भी बतला दिया गया है कि अनुमान का विषय सामान्य-

---

१. वाह्यनयेन सौत्रान्तिकमतानुसारेणाचार्येण लक्षणं कृतमित्यदोषः। न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी, पृ० १९।

२. न्यायबिन्दुटीका (आगे), पृ० ६३ पं० ३, ४।

३. द्र०, आगे, पृ० १२-१३।

४. द्र०, आगे, पृ० ३८-४०।

लक्षण है। वस्तु का सामान्य रूप ही सामान्यलक्षण कहलाता है (पृ० ७९-८०)। इस प्रकार प्रत्यक्ष तथा अनुमान का ग्राह्य विषय नियत है। इनमें से कोई एक किसी दूसरे के विषय का ग्रहण नहीं कर सकता। इसी को प्रमाण-व्यवस्था कहते हैं। इसके विपरीत वाद प्रमाण-संप्लव कहलाता है जो न्याय-वैशेषिक का अभिमत है।[1] बौद्धन्याय प्रमाण-व्यवस्था को मानता है। भाव यह है कि दोनों प्रमाणों के दो-दो प्रकार के विषय हैं—ग्राह्य और अध्यवसेय (पृ० ७३, ८१)। ग्राह्य विषय के सम्बन्ध में यह व्यवस्था है कि प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय स्वलक्षण होता है और अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण। यह व्यवस्था केवल ग्राह्य विषय के क्षेत्र में ही है अनुमान का अध्यवसेय विषय स्वलक्षण होता ही है इसी प्रकार प्रत्यक्ष का अध्यवसेय विषय क्षण-सन्तान होता है जो सामान्यलक्षण के अन्तर्गत है।[2]

इस परिच्छेद के अन्त में प्रमाण (पृ० ८४) और प्रमाणफल का स्वरूप (पृ० ८२) बतलाकर दोनों का वास्तविक दृष्टि से अभेद दिखलाया गया है। यहाँ ज्ञान में अर्थ के सारूप्य को प्रमाण कहा गया है (१·२०)। यह कथन सौत्रान्तिक तथा योगाचार दोनों दृष्टियों से सङ्गत है, हाँ, इसकी स्पष्ट व्याख्या सौत्रान्तिक दृष्टि से ही समझ में आती है (द्र०, पृ० ८५-८६)। ज्ञान में जो अर्थ का सारूप्य होता है वह वस्तुतः ज्ञान से भिन्न नहीं होता अपि तु ज्ञान का आकारमात्र ही होता है। अतः प्रमाण को ज्ञान रूप ही माना गया है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाण ही ज्ञानरूप हैं। न्या०-वै० में ज्ञान-भिन्न इन्द्रिय तथा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को भी प्रमा का करण (=प्रमाण) माना जाता है; किन्तु बौद्धन्याय में ज्ञानभिन्न को प्रमाण नहीं माना जाता। बौद्धन्याय में अर्थ की प्रतीति ही प्रमाण-फल है और ज्ञान और अर्थ का सारूप्य ही प्रमाण है। दोनों ज्ञान के ही आकार है। अतः वस्तुतः अभिन्न हैं केवल औपचारिक रूप से भेद माना जाता है।[3] इसी सन्दर्भ में प्रत्यक्ष की प्रक्रिया दिखला दी गई है यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाता है उसका पृष्ठभावी विकल्प ज्ञान नहीं (पृ० ९१-९५)।

द्वितीय परिच्छेद—इसमें स्वार्थानुमान का निरूपण किया गया है। यद्यपि श्चेरबात्स्की जैसे बौद्धन्याय के गम्भीर विद्वान् भी यह मानते दिखाई देते हैं कि दिङ्नाग सम्प्रदाय के अनुसार समस्त विकल्प ज्ञानों को अनुमान शब्द से कहा है तथापि यह धारणा ठीक नहीं प्रतीत होती। वस्तुतः दिङ्नाग सम्प्रदाय के अनुसार एक विशेष प्रकार का विकल्प—प्रमाण रूप विकल्प—ही अनुमान है (पृ० १६, ९६)।

---

१. विशेष द्र०, वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का विवेचन। पृ० १०३—१०६।

२. द्र० आगे, पृ० ८१।

३. द्र० आगे, पृ० ८६—९०; तथा मेरा लेख The Means of Right Cognition and Its Result According to the Buddhist Logic, KURJ, Vol. IV, No. 2, 1972.

अनुमान दो प्रकार का है स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। ये दोनों परस्पर भिन्न हैं। स्वार्थानुमान में अविनाभावी लिङ्ग द्वारा स्वयं ही परोक्ष अर्थ का ज्ञान किया जाता है. यह शुद्ध ज्ञानात्मक है। परार्थानुमान में शब्दों (अनुमानवाक्य) द्वारा दूसरों को परोक्ष अर्थ का ज्ञान कराया जाता है। अतः वह शब्दात्मक है, परम्परया ही ज्ञानरूप कहा जा सकता है (पृ० ९१, १८६-१८८)। त्रिरूप लिङ्ग के द्वारा जो अनुमेय विषय का ज्ञान होता है वही स्वार्थानुमान कहलाता है। अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण है। उसके साथ ज्ञान का जो सारूप्य है वही प्रमाण कहलाता और उसकी प्रतीति ही प्रमाणफल। सामान्यलक्षण के ग्रहण के पश्चात् स्वलक्षण, जो परमार्थसत् वस्तु है, उसका अध्यवसाय हुआ करता है। और, अनुमान द्वारा उसकी प्राप्ति करा दी जाती है। अतः अविसंवादक ज्ञान होने से अनुमान प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष में वस्तु का स्फुटाभास हुआ करता है और अनुमान में अस्फुटाभास (पृ० १०२)।

लिङ्ग या हेतु त्रिरूपसम्पन्न होता है। जो पक्ष में अवश्य रहता है, सपक्ष में रहता है, विपक्ष में कभी नहीं रहता, ऐसा लिङ्ग ही सद्हेतु होता है (पृ० १०२-१११)। त्रिरूपसम्पन्न लिङ्ग (हेतु) तीन ही प्रकार के माने गये हैं—१. स्वभाव, २. कार्य और ३. अनुपलब्धि। स्वभावहेतु—वह होता है जो अपनी सत्तामात्र से साध्यधर्म का बोध करा देता है। वस्तुतः वह साध्य का स्वभावमात्र होता है। जैसे 'यह वृक्ष है क्योंकि यह शिशपा (शीशम या अशोक) है"। यहाँ शिशपा एक वृक्ष का नाम है। शिशपा एक वृक्ष ही होता है अतः शिशपा होना (शिशपात्व) वृक्ष का अविनाभावी है। वृक्ष के अतिरिक्त अन्य तो शिशपा नहीं कहलाता। अतः शिशपा होने से वृक्ष होने का निश्चय हो जाता है (पृ० १२४, १२५)। कार्यहेतु—जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका कार्य होता है। अतः कार्य अपने कारण के बिना नहीं हो [सक]ता, वह कारण का अविनाभावी है। कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया [जा]ता है; जैसे यहाँ अग्नि है क्योंकि यहाँ धूम है (पृ० १२६, १२७)। तीसरे प्रकार का लिङ्ग अनुपलब्धि है। अनुपलब्धि का अर्थ है—दृश्यानुपलब्धि। जब वस्तु दर्शन के [योग्य] अर्थात् दृश्य होकर भी उपलब्ध नहीं होती तो दृश्यानुपलब्धि कहलाती है। [दृश्या]नुपलब्धि के लिये यह आवश्यक है कि वस्तु की उपलब्धि की सभी सामग्री विद्यमान हो और वह वस्तु दर्शनयोग्य (दृश्य) भी हो (पृ० १२२-१२५)। उदाहरणार्थ घट दर्शन के योग्य है तथा किसी स्थान पर प्रकाश आदि भी हैं, देखने वाले में दर्शन-शक्ति भी है—यही दर्शन की सामग्री है। इस सामग्री के होने का निश्चय हमें इस बात से हो रहा है कि जहाँ घट रक्खा होता वह भूतल दिखलाई दे रहा है। यदि वहाँ घट होता तो वह अवश्य दिखलाई देता। जब घट नहीं उपलब्ध हो रहा है तो उसकी अनुपलब्धि है। यह अनुपलब्धि घट के अभाव (घटाभाव) की अविनाभावी है, उसका लिङ्ग है। उसके द्वारा उस प्रदेश में घटाभाव का व्यवहार सिद्ध होता है। हम समझ

लेते हैं कि अमुक प्रदेश में घट नहीं है क्योंकि वह दृश्य होकर भी अनुपलब्ध है (पृ० ११७)।

बौद्धन्याय में व्याप्ति शब्द के स्थान पर स्वभावप्रतिबन्ध या अविनाभावनियम शब्द का प्रयोग किया गया है। यह भी बतलाया गया है कि जो जिसका अविनाभावी है वही लिङ्ग या हेतु होता है। इस अविनाभाव सम्बन्ध का निश्चय तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति से हुआ करता है (पृ० १२९–१३८)। फलतः न्या०–वै० आदि के अनुसार जो अव्यभिचारी सहचार-दर्शन से व्याप्ति का ग्रहण माना गया है, वह बौद्धन्याय को स्वीकार्य नहीं है तथा संयोग आदि सम्बन्ध से होने वाली व्याप्ति भी। किन्तु बौद्धन्याय में उपर्युक्त तीन प्रकार के लिङ्ग या हेतु ही माने जाते हैं उनसे कम या अधिक नहीं; क्योंकि भावात्मक पदार्थ की सिद्धि स्वभाव एवं कार्य हेतु से ही होती है और अभावात्मक की अनुपलब्धि हेतु से ही (पृ० १२७, १३८–१४१)।

इस परिच्छेद के अन्त में दृश्यानुपलब्धि के स्वरूप तथा कार्य का निरूपण करते हुए (पृ० १४२–१५२) अनुपलब्धि के ११ प्रकारों का उदाहरण सहित वर्णन किया गया है (पृ० १५२–१७२)। फिर यह दिखलाकर कि अनुपलब्धि के सभी प्रकारों का स्वभावानुपलब्धि में अन्तर्भाव हो जाता है (पृ० १७३–१८२) अदृश्यानुपलब्धि के स्वरूप तथा कार्य का उल्लेख किया गया है (पृ० १८३–१८५)।

तृतीय परिच्छेद—इसमें परार्थानुमान का विवेचन किया गया है। त्रिरूप लिङ्ग का कथन करके दूसरों को परोक्ष अर्थ का बोध कराना परार्थानुमान है। यह वचन रूप है किन्तु ज्ञान का साधन होने से इसके लिये औपचारिक रूप से अनुमान शब्द का प्रयोग किया गया है (पृ० १८६–१८८)। यह साधर्म्य तथा वैधर्म्य से दो प्रकार का होता है। इन दोनों में प्रयोग का भेद है, वस्तुतः कोई भेद नहीं (पृ० १९०–१९२)। अनुपलब्धि, स्वभाव तथा कार्य तीनों प्रकार के हेतुओं के साधर्म्यवत् प्रयोग होते हैं (पृ० १९४–२१८) तथा वैधर्म्यवत् भी (पृ० २१९–२२२)। इन दोनों प्रकार के प्रयोगों में त्रिरूप लिङ्ग का कथन किया जाता है। यद्यपि साधर्म्यवत् प्रयोग में व्यतिरेक (विपक्ष में कभी न होना) और वैधर्म्यवत् प्रयोग में अन्वय (सपक्ष में होना) दृष्टान्त द्वारा नहीं दिखलाया जाता, फिर भी उनकी प्रतीति हुआ ही करती (पृ० २२२–२३०)।

इसके अनन्तर कहा गया है कि अनुमान के उपर्युक्त दोनों प्रयोगों में ही पक्ष का निर्देश करना आवश्यक नहीं है (पृ० २३१)। यहाँ न्यायबिन्दु या टीका में यह नहीं बतलाया गया कि अनुमान-प्रयोग या अनुमान-वाक्य में कितने अवयव होते हैं और कौन से। केवल कुछ अवयवों की अनावश्यकता दिखलाई गई है; जैसे पक्ष-निर्देश (=प्रतिज्ञा) को अनुमान-वाक्य के लिये आवश्यक नहीं माना गया (पृ० २३१–२३५), और दृष्टान्त को त्रिरूपसम्पन्न हेतु से ही गतार्थ बतलाया गया है (पृ० ३३९)। संभवतः दिङ्नाग ने भी यह स्पष्ट नहीं बतलाया था। इसीलिये व्याख्याकारों ने इस

विषय में विभिन्न मत प्रकट किये हैं। मोक्षाकर गुप्त[1] तथा दुर्वेक मिश्र[2] के अनुसार बौद्धन्याय को अनुमानवाक्य के दो ही अवयव अभिमत हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता।[3] अनुमान-प्रयोग में आवश्यक न होते हुए भी यहाँ दिङ्नाग के अनुसार पक्ष का लक्षण विस्तार से दिखलाया गया है। (पृ० २३५–२५९)। क्यों? धर्मोत्तर बतलाते हैं कि साध्य क्या है और क्या नहीं है, इस विषय में जो वैमत्य है उसके निराकरण के लिये यहाँ पक्ष का लक्षण दिया गया है (पृ० २३६)। इसी प्रसङ्ग में चार पक्षाभासों का भी उल्लेख कर दिया गया है (पृ० २५७–२५८)।

तदनन्तर हेत्वाभासों का वर्णन है। बौद्धन्याय में सद्हेतु के जो तीन रूप माने गये हैं उनमें से (क) किसी एक रूप का भी कथन न करने पर, (ख) किसी रूप के असिद्ध हो जाने पर अथवा (ग) किसी रूप में सन्देह हो जाने पर हेत्वाभास हो जाता है (पृ० २६०–२६१)। हेत्वाभास तीन होते हैं–(i) 'पक्षेऽसत्त्वमेव' इस रूप के अनुक्त, असिद्ध या सन्दिग्ध होने पर असिद्ध हेत्वाभास होता है (पृ० २६१–२७२)। (ii) 'असपक्षे चासत्त्वमेव' इस रूप के अनुक्त, असिद्ध या सन्दिग्ध होने पर अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है (पृ० २७२–२८०)। (iii) किन्तु 'सपक्षे सत्त्वम्' और 'असपक्षे चाऽसत्त्वमेव' इन दो रूपों के असिद्ध होने पर विरुद्ध हेत्वाभास होता है (पृ० २९९–३०२)। दिङ्नाग ने जो 'इष्टविघातकृत्' नामक हेत्वाभास बतलाया था, उसका भी विरुद्ध में ही अन्तर्भाव माना गया है (पृ० ३०२–३०७)। इन दोनों रूपों में से एक की अनुक्ति और दूसरे का सन्देह होने पर अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है (पृ० ३०७–३१३)। इसी प्रकार अन्वय (सपक्ष-सत्त्व) तथा व्यतिरेक (विपक्षेऽसत्त्व) दोनों का सन्देह होने पर भी अनैकान्तिक होता है (पृ० ३१३–३१५)। इस प्रकार धर्मकीर्ति के मत में असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक तीन ही हेत्वाभास होते हैं (पृ० ३२५)।

दिङ्नाग ने विरुद्धाव्यभिचारी नामक एक अन्य हेत्वाभास भी बतलाया था। धर्मकीर्ति का कथन है कि वह स्वभाव, कार्य तथा अनुपलब्धि तीनों प्रकार के हेतुओं के विषय में नहीं हो सकता, वह तो आगमाश्रित अनुमानों में हुआ करता है; अतः यहाँ उसका हेत्वाभासों में निरूपण नहीं किया गया (पृ० ३२५–३३८)। इसी प्रकार यहाँ दिङ्नागोक्त (?) दृष्टान्तदोषों का उल्लेख करते हुए यह दिखलाया गया है कि हेतु के तीनों रूपों की अनिवार्यता से ही दृष्टान्तदोषों का निराकरण हो जाता है (पृ० ३४७–३६६)। अन्त में वाद में उपयोगी दूषणा तथा दूषणाभास (जाति) का उल्लेख मात्र करके ग्रन्थ को समाप्त कर दिया गया है।

---

१. व्याप्तिपक्षधर्मतासंज्ञकं द्वयवयवमेव साधनवाक्यं सौगतानाम्। मो० तर्कभाषा, पृ० १४।

२. अथ द्वयवयवे साधनवाक्ये दर्शयितव्ये व्याप्तिः पक्षधर्मता च दर्शनीया। धर्मोत्तरप्रदीप, पृ० १५५।

३. द्र०, वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध-दर्शन का विवेचन, पृ० १६१–१६३।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि न्यायबिन्दु तथा टीका मुख्य रूप से तर्कशास्त्र (न्याय) का ग्रन्थ है। फिर भी यहाँ बौद्धदर्शन के कुछ तत्त्वमीमांसा-विषयक मन्तव्यों का भी उल्लेख मिलता है; जैसे—बौद्धन्याय की दृष्टि में (१) परमार्थसत् वस्तु स्वलक्षण है जो अर्थक्रियासमर्थ है और उसका स्वरूप यह है—अर्थक्रियासमर्थं च वस्तुरूप सन्निवेशोपाधिवर्णात्मकम् (पृ० ३४)। इस स्वलक्षण की विशेषताओं का निरूपण भी किया गया है (पृ०६९–७८)। (२) सुख आदि ज्ञानरूप ही हैं (पृ० ६४)। (३) जो सत् है वह सब अनित्य है—यत्सत् तत्सर्वमनित्यम् (पृ० ११८)। (४) आत्मा नहीं है—बौद्धेनोक्तं नास्त्यात्मेति (पृ० २४५ पं० ३); बौद्धस्यात्मैव न सिद्धः (पृ० २७१ पं० ७)। ( ) विज्ञान, इन्द्रिय तथा आयु का निरोध ही मृत्यु है (पृ० २६२, सूत्र ३·५९)। (६) वृक्ष चेतन नहीं (पृ० २६३)। (७) असत् की उत्पत्ति और सत् का निरन्वय-विनाश होता है (पृ० २६७ पं० १,२)। (८) सन्तानी जो क्षण हैं वे परमार्थसत् हैं, उनका सन्तान परमार्थसत् नहीं (पृ० २८५ पं० १,२)। (९) सर्वज्ञता और वीतरागता का होना युक्तिसगत है (पृ० २७६–२९८)। इसी प्रकार अन्य मन्तव्य भी देखे जा सकते हैं।

हेत्वाभासों के सन्दर्भ में कतिपय अन्य दर्शनों के मन्तव्यों का भी उल्लेख किया गया है; जैसे—(i) सांख्य आत्मा की सत्ता में यह प्रमाण प्रस्तुत करता है—परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वात् शयनासनाद्यङ्गवत् (पृ० २४४–२४५)। (ii) दिगम्बर जैन वृक्षों को चेतन मानते हैं और उनकी मृत्यु स्वीकार करते हैं (पृ० २६२, २६३)। (iii) सांख्य के अनुसार सुख आदि अचेतन हैं (जड़ प्रकृति के विकार है) (पृ० २६५, २६६)। (iv) वैशेषिक परमाणु को नित्य मानता है—नित्यास्तु परमाणवो वैशेषिकैरभ्युपगम्यन्ते (पृ० २७५ पं० ६)। (v) पैलुक (पीलुपाकवादी), कणाद के शिष्य सामान्य को सर्वगत मानते हैं (पृ० ३३१–३३६), पैठर (पिठरपाकवादी) सामान्य को सर्वगत नहीं; अपि तु केवल स्व-सम्बन्धी व्यक्तियों में स्थित मानते हैं (पृ० ३३६–३३७)। (vi) कुछ स्थलों पर किसी दर्शन के मन्तव्य को स्पष्टतः रखते हुए भी उस दर्शन का नामनिर्देश नहीं किया गया। उदाहरणार्थ 'सर्वगत आत्मेति साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम्' (पृ० २७१, सूत्र ३·६५।, यहाँ न्यायबिन्दुटीका में न्या०–वै० के मन्तव्यों को स्पष्टतः बतलाया गया है किन्तु नाम-निर्देश नहीं किया गया।

इसके अतिरिक्त न्यायबिन्दु तथा टीका से कुछ दार्शनिक तथा ऐतिहासिक तथ्यों पर भी नवीन प्रकाश पड़ता है। जैसा अभी उल्लेख किया गया है, धर्मकीर्ति से पूर्व ही सामान्य की स्थिति के विषय में दो मत प्रचलित थे—(१) प्रत्येक सामान्य सर्वगत है और (२) सामान्य सर्वगत नहीं, किन्तु अपने विषय में सर्वत्र स्थित है। धर्मकीर्ति ने यह नहीं बतलाया कि ये मत किनके थे। धर्मोत्तर ने प्रथम मत को कणाद-शिष्य पैलुक का बतलाया और द्वितीय को 'पैठर' का (पृ० ३३१, ३३६)। इससे न्याय और वैशेषिक के भिन्न-भिन्न सामान्यविषयक मतों पर प्रकाश पड़ता है।[1]

---

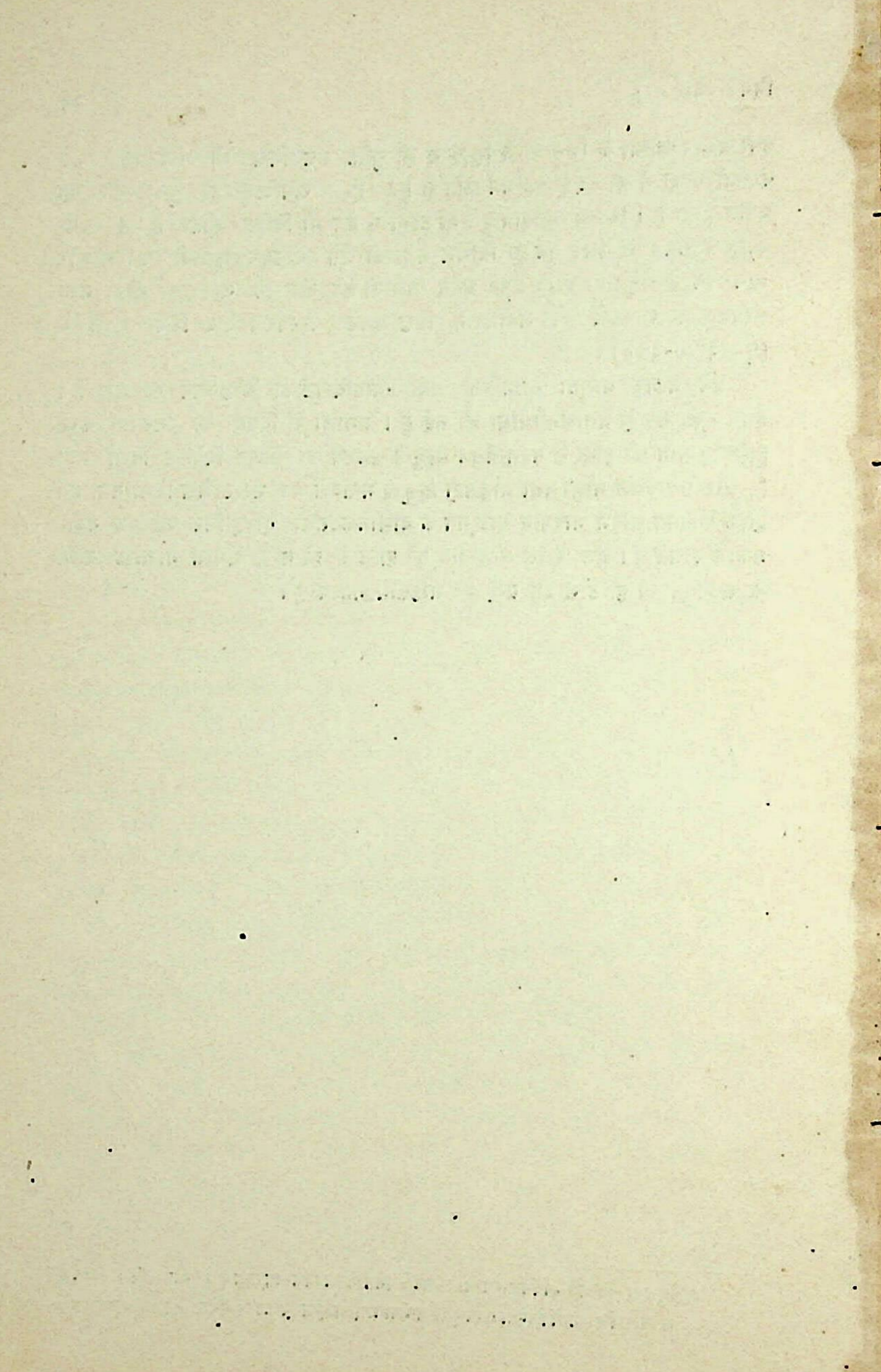
1. द्र०, वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का विवेचन, २०९–१२१।

इसी प्रकार आत्मा के विभुत्व की सिद्धि में जो युक्ति केशवमिश्र की तर्कभाषा[1] जैसे परवर्ती ग्रन्थों में दी गई है वह धर्मकीर्ति से पूर्व ही परिनिष्ठित हो चुकी थी, यह प्रतीत होता है। किञ्च, न्यायबिन्दु तथा टीका से यह भी विदित होता है कि धर्मकीर्ति के समय या उससे पूर्व ही विभिन्न मतवादी जैसे गोतममतानुयायी, कपिल और ऋषभदेव के अनुयायी आदि अपने अपने आचार्यों को वीतराग मानकर और अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों को अवीतराग सिद्ध करके परस्पर विवाद किया करते थे (पृ० ३५५–३६०)।

इस प्रकार वस्तुतः न्यायबिन्दु तथा न्यायबिन्दुटीका बौद्धन्याय का द्वार है। इसमें मुख्य रूप से प्रमाण-मीमांसा की गई है। प्रमाणों के विषय का निरूपण करते हुए बौद्धन्याय की दृष्टि से परमार्थसत् वस्तु के स्वरूप का विशद विवेचन किया गया है, और प्रसङ्गवश बौद्धों तथा बौद्धेतरों के कुछ मन्तव्यों का भी उल्लेख किया गया है। इसके कतिपय सन्दर्भ भारतीय वाङ्मय के दार्शनिक तथा ऐतिहासिक पक्ष पर नवीन प्रकाश डालते हैं। अतः केवल बौद्धन्याय की दृष्टि से ही नहीं, समस्त भारतीय दर्शन के अध्ययन की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अद्वितीय महत्त्व है।

---

१. तुलना कीजिये–सर्वगत आत्मेति साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम्। न्या० बि० ३·६५। स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः। तर्कभाषा (साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७२) पृ० १८१।



आचार्यधर्मकीर्तिप्रणीतो

न्यायबिन्दुः

प्रथमः परिच्छेदः

ॐ नमः सर्वज्ञाय ।[1]

सम्यग्ज्ञानपूर्विका पुरुषार्थसिद्धिरिति तद् व्युत्पाद्यते ॥१॥

आचार्यधर्मोत्तरविरचिता

न्यायबिन्दुटीका

जयन्ति जातिव्यसनप्रबन्धप्रसूतिहेतोर्जगतो विजेतुः ।
रागाद्यरातेः सुगतस्य वाचो मनस्तमस्तानवमादधानाः ॥

१. ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय तथा प्रयोजन आदि

सम्यग् इति—सभी पुरुषार्थ (=हेय तथा उपादेय अर्थ) की सिद्धि यथार्थ ज्ञान के निमित्त से होती है, अतः उस (यथार्थ ज्ञान) का प्रतिपादन किया जाता है ॥१॥

जयन्तीति—[जातिव्यसन-प्रबन्ध-प्रसूति-हेतोः जगतः विजेतुः रागाद्यरातेः सुगतस्य मनस्तमस्तानवम् आदधानाः वाचः जयन्ति; यह अन्वय है]

तृष्णा-जनित दुःखसन्तति की उत्पत्ति का हेतु जो संसार है, उसको जीतने वाले (=निर्वाण पद को प्राप्त), राग आदि (क्लेशों) के शत्रु (=वीतराग) भगवान् बुद्ध की—मन के अज्ञान रूपी अन्धकार को क्षीण करने वाली (सूत्र, अभिधर्म तथा विनय स्वरूप) वाणी की जय हो (वह वाणी सर्वोत्कृष्ट है, यह भाव है)।

जाति=तृष्णा; जायते संसरत्यनयेति जातिः तृष्णा; धर्मो० प्र०, पृ० ३। यहाँ धर्मोत्तराचार्य ने बुद्ध-वाणी का जयकार करके बुद्ध की स्तुति के रूप में मङ्गल क्रिया है। दुर्वेक मिश्र (धर्मो० प्र०, पृ० १–४) का कथन है कि धर्मोत्तर ने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति एवं शिष्टाचार का पालन करने के लिये भगवान् बुद्ध की स्तुति की है। यहाँ भगवान् बुद्ध की तीन सम्पदाओं का वर्णन किया गया है—स्वार्थसम्पदा, परार्थोपायसम्पदा और परार्थसम्पदा। 'जाति······सुगतस्य—इस अंश द्वारा स्वार्थ-

---

1. ओं ३ म् नमो वीतरागाय T.; नास्ति A. P.

सम्यग्ज्ञानपूर्विकेत्यादिनाऽस्य[1] प्रकरणस्याभिधेयप्रयोजनम् उच्यते। द्विविधं हि प्रकरणशरीरम्–शब्दः, अर्थश्च[2]। तत्र शब्दस्य[3] स्वाभिधेयप्रतिपादनम् एव प्रयोजनम्, नान्यत्। अतस्तन्न[4] निरूप्यते। अभिधेयं[5] तु यदि निष्प्रयोजनं[6] स्यात्, तदा तत्प्रतिपत्तये शब्दसन्दर्भोऽपि नारम्भणीयः स्यात्। यथा काकदन्त-

---

सम्पदा का वर्णन है। संसार को जीतने वाले वीतराग बुद्ध ही परार्थ-सम्पादन में समर्थ हैं; अतः इस स्वार्थ-सम्पदा का वर्णन आवश्यक है। 'वाचः' शब्द द्वारा परार्थोपायसम्पदा कही गई है; क्योंकि भगवान् वाणी द्वारा धर्म-देशना करके ही दुःख-संतप्त प्राणियों का उपकार करते हैं। 'मनस्तमस्तानवम् आदधानाः' इस पद द्वारा परार्थ-सम्पादन का ढंग बतलाकर परार्थसम्पदा का उल्लेख किया गया है। वाणी द्वारा उपदेश देकर भगवान् बुद्ध लोक के मानसिक अज्ञान को नष्ट करते हैं, यही परार्थ-सम्पदा है। वाणी की विजय का वर्णन करके भगवान् की विजय दिखलाना बौद्ध-आगमों की दृष्टि से अधिक संगत है, क्योंकि उनके अनुसार भगवान् बुद्ध निर्वाण धातु को प्राप्त हो गये, उनका प्रवचनकाय ही यहाँ विद्यमान है (धर्मो० प्र०, पृ० ५)।

वाचः—वाणियाँ, उपदेश, बौद्ध-परम्परा के अनुसार बुद्ध के उपदेशों का संग्रह त्रिपिटक (=तीन प्रकार के ग्रन्थ-समूहों) में है। इनमें से सुत्तपिटक में बौद्ध-सिद्धान्तों का मूल स्वरूप है, विनयपिटक में भिक्षुओं के लिये संयम और नियम की व्यवस्थाएँ की गई हैं, अभिधम्मपिटक में बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का विवेचन है।

सुगतस्य—सुगत शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है (धर्मो० प्र०, पृ० ३)। उनमें से 'प्रशस्तं गतः सुगतः'; अर्थात् नैरात्म्यदर्शन द्वारा संसार का अतिक्रमण करने वाला अथवा सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने वाला यह अर्थ यहाँ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

सम्यग्ज्ञानपूर्विकेति—सम्यग्ज्ञानपूर्विका इत्यादि (वाक्य) द्वारा इस प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय (सम्यक् ज्ञान) का प्रयोजन बतलाया गया है। प्रकरण का स्वरूप (शरीर) दो प्रकार का है–शब्द और अर्थ। उनमें (=तत्र) से अपने अर्थ का प्रतिपादन करना ही शब्दों का प्रयोजन है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसलिये शब्दों के प्रयोजन (तत्) का निरूपण नहीं किया जा रहा है। किन्तु इस (प्रकरण) का प्रतिपाद्य विषय (=अभिधेय) निष्प्रयोजन हो तो उसके प्रतिपादन के लिये शब्द-समुदाय रूप इस रचना (शब्द–सन्दर्भ) का भी आरम्भ न करना चाहिये, जैसे कोई बुद्धिमान् व्यक्ति काक-दन्त (कौए के दाँतों) की परीक्षा का आरम्भ नहीं करता;

---

१. ०पूर्विका सर्वेत्यादिना A. E. P.
२. श्चेति E. H. N. P.
३. शब्दस्याभिधेय B. C. D.
४. तन्निरूप्यते A.
५. अभिधेये तु निष्प्रयोजने तत्प्रति B. D.
६. स्यात्, इति नास्ति C.

प्रयोजनाभावात् न तत्परीक्षा आरम्भणीया प्रेक्षावता। तस्माद् अस्य प्रकरण-स्यारम्भणीयत्वं दर्शयता अभिधेयप्रयोजनम् अनेनोच्यते। यस्मात् सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः, तस्मात् तत्प्रतिपत्तये[1] इदम् आरभ्यत इत्ययम् अत्र वाक्यार्थः।

क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं होता। अतएव इस प्रकरण ग्रन्थ को आरम्भ करने की आवश्यकता दिखलाते हुए (ग्रन्थकार ने) इस वाक्य से (=अनेन) प्रतिपाद्य विषय का प्रयोजन बतलाया है। क्योंकि समस्त पुरुषार्थ की सिद्धि सम्यक् ज्ञान के द्वारा होती है अतः उस (सम्यक् ज्ञान) के प्रतिपादन के लिये इस (प्रकरण) का आरम्भ किया जाता है—यह इस वाक्य का अर्थ है।

प्रकरण—न्यायविन्दु एक प्रकरण ग्रन्थ है। प्रकरण की परिभाषा है—

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥

शास्त्र वह शब्द-सन्दर्भ है, जिसमें किसी विषय (विद्या) का सुव्यवस्थित, सर्वाङ्गीण निरूपण किया जाता है, जैसे न्यायशास्त्र आदि। शास्त्र के एक अंश का विशद विवेचन जिस रचना में होता है, वह प्रकरण ग्रन्थ कहलाता है। उसका विवेचन शास्त्र से भिन्न प्रकार का होता है। वह अधिक सुगठित, सुगम, संक्षिप्त एवं स्पष्ट तथा उस विषय के नवीनतम मन्तव्यों से युक्त होता है। आज की परिभाषा में उसे तद्विषयक निवन्ध कह सकते हैं। न्यायविन्दु में वौद्ध-दर्शन के प्रमाणों (सम्यक् ज्ञान) का विशद विवेचन किया गया है।

काकदन्त०=काकदन्तपरीक्षाप्रयोजनाभावात्; क्योंकि इस कथन का तात्पर्य है कि काक-दन्त की परीक्षा व्यर्थ है; यह अभिप्राय नहीं कि काकदन्त ही निष्प्रयोजन होते हैं।

वाक्यार्थः—विनीतदेव (पृ० ३१) की व्याख्या के अनुसार न्यायविन्दु के प्रथम वाक्य में इस ग्रन्थ के (i) विषय (अभिधेय=सम्यक् ज्ञान); (ii) प्रयोजन (व्युत्पत्ति); (iii) उनका सम्बन्ध तथा (iv) प्रयोजन का प्रयोजन (पुरुषार्थ की सिद्धि) दिखलाये गये हैं। इनमें से अन्तिम ही ज्ञान-सिद्धान्त के प्रतिपादन का मुख्य प्रयोजन है; क्योंकि प्रत्येक पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता है (मि०, बु० लॉ २, पृ० १ टि० २)। इस प्रकार पुरुषार्थसिद्धि को विनीतदेव ने 'प्रयोजनस्य प्रयोजनम्' (प्रयोजन=व्युत्पत्ति, उसका प्रयोजन=पुरुषार्थसिद्धि) कहा है तथा विनीतदेव और शान्तभद्र ने प्रयोजन का प्रयोजन बतलाना ही इस वाक्य का तात्पर्य माना है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ५ पं० ४)

धर्मोत्तर का अभिप्राय है—शब्द-सन्दर्भ रूप प्रकरण ग्रन्थ का प्रयोजन तो अपने वाच्य-अर्थ का प्रतिपादन करना है ही; अतः उसका यहाँ विचार नहीं करना है अपि तु ग्रन्थ का अभिधेय अर्थ (प्रतिपाद्य विषय) जो सम्यक् ज्ञान है, उसका ही प्रयोजन यहाँ बतलाया जा रहा है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान० इत्यादि वाक्य समुदित

---

१. तत्प्रतिपत्त्यर्थम् A. E. H. N. P.

अत्र च प्रकरणाभिधेयस्य सम्यग्ज्ञानस्य सर्वपुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वं प्रयोजनम् उक्तम्। अस्मिंश्चार्थे उच्यमाने सम्बन्धप्रयोजनाभिधेयानि उक्तानि भवन्ति। तथा हि—पुरुषार्थोपयोगि सम्यग्ज्ञानं व्युत्पादयितव्यम् अनेन प्रकरणेनेति ब्रुवता सम्यग्ज्ञानम् अस्य शब्दसन्दर्भस्याभिधेयम्, तद्व्युत्पादनं प्रयोजनम्, प्रकरणं चेदम् उपायो[1] व्युत्पादनस्येत्युक्तं भवति। तस्माद् अभिधेयभागप्रयोजनाभिधानसामर्थ्यात् सम्बन्धादीनि उक्तानि भवन्ति। न त्विदम् एकं वाक्यं सम्बन्धम्, अभिधेयम्, प्रयोजनं च वक्तुं साक्षात् समर्थम्। एकं तु वदत् त्रयं सामर्थ्याद् दर्शयति।

रूप से पुरुषार्थसिद्धि को सम्यक् ज्ञान का प्रयोजन बतलाता है। सम्यक् ज्ञान इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय (अभिधेय) है और पुरुषार्थसिद्धि उस सम्यक् ज्ञान का प्रयोजन है। अतः प्रयोजन के प्रयोजन की कल्पना करना उचित नहीं।

पुरुषार्थ-सिद्धि—मनुष्य के लिये त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थ ही पुरुषार्थ है, पुरुषार्थ सिद्धि का अभिप्राय है—त्यागने योग्य वस्तु का त्याग और ग्रहण करने योग्य वस्तु का ग्रहण (सिद्धि = अनुष्ठान)।

अत्र चेति—यहाँ 'सकल पुरुषार्थ की सिद्धि का कारण होना'—इस प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय अर्थात् सम्यक् ज्ञान' का प्रयोजन (साक्षात्) कहा गया है और इस अर्थ के कथन द्वारा (इस प्रकरण ग्रन्थ के) सम्बन्ध, प्रयोजन तथा प्रतिपाद्य विषय (अर्थात् या अर्थतः) प्रकट हो जाते हैं (उक्तानि = प्रकाशितानि)। क्योंकि (= तथा हि) इस प्रकरण के द्वारा पुरुषार्थ के साधन (= उपयोगी) यथार्थ ज्ञान का विवेचन करना है, यह बतलाते हुए (ग्रन्थकार ने) प्रकट कर दिया है (उक्तं भवति) कि इस ग्रन्थ (= शब्द-सन्दर्भ) का प्रतिपाद्य विषय यथार्थ ज्ञान है, उस (यथार्थ ज्ञान) का विवेचन करना इस (ग्रन्थ) का प्रयोजन है और यह (ग्रन्थ) उस (सम्यक् ज्ञान) के प्रतिपादन का साधन है। इस प्रकार (इस प्रकरण के) अभिधेय अंश (प्रतिपाद्य विषय = सम्यक् ज्ञान) के प्रयोजन का अभिधा (साक्षात् शब्द-शक्ति) द्वारा कथन करके सम्बन्ध आदि भी सामर्थ्य से (अप्रत्यक्ष रूप से, अर्थतः) प्रकट कर दिये गये हैं। यह एक ही वाक्य सम्बन्ध, अभिधेय (प्रतिपाद्य विषय) तथा प्रयोजन को साक्षात् रूप से बतलाने में समर्थ नहीं; अपि तु एक (अभिधेय के प्रयोजन) का साक्षात् कथन करते हुए सामर्थ्य से (अर्थतः) तीनों (सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन) को प्रकट करता है।

सर्वपुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वं प्रयोजनमुक्तम्—वस्तुतः सम्यक् ज्ञान का प्रयोजन 'सर्वपुरुषार्थसिद्धि' है, 'सर्वपुरुषार्थसिद्धिहेतुत्व' नहीं; अतः इस वाक्य का अर्थ विवादास्पद है। दुर्वेक मिश्र के अनुसार यहाँ 'च' शब्द 'यस्मात्' (= क्योंकि) के अर्थ में है तथा वाक्य का अर्थ है—यस्मात् प्रकरणाभिधेयस्य सम्यग्ज्ञानस्य पुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वम् उक्तम्, तस्मात् प्रयोजनम् उक्तम् इति द्विरावर्तनीयम्' = क्योंकि प्रकरण के अभिधेय

---

१. उपयोग्युत्पादनस्य B.

तत्र 'तद्' इति अभिधेयपदम् । 'व्युत्पाद्यत' इति प्रयोजनपदम् ।[1] प्रयोजनं चात्र वक्तुः प्रकरणकरणव्यापारस्य चिन्त्यते, श्रोतुश्च श्रवणव्यापारस्य । तथा हि—सर्वे प्रेक्षावन्तः प्रवृत्तिप्रयोजनम् अन्विष्य प्रवर्तन्ते । ततश्चाचार्येण[2] प्रकरणं किमर्थं कृतम्, श्रोतृभिश्च किमर्थं श्रूयत इति संशये[3] व्युत्पादनं प्रयोजनम् अभिधीयते । सम्याज्ञानं 'व्युत्पद्यमानानाम्[4] आत्मानं व्युत्पादकं कर्तुं प्रकरणम् इदं कृतम् । शिष्यैश्चाचार्यप्रयुक्ताम् आत्मनो व्युत्पत्तिम् इच्छद्भिः

सम्यक् ज्ञान को पुरुषार्थसिद्धि का हेतु कहा गया है इसलिये उस (सम्यक् ज्ञान) का प्रयोजन बतला ही दिया गया है। अन्य व्याख्याकारों ने इसके भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ किये थे, जिनका उल्लेख दुर्वेक मिश्र ने किया है (धर्मो० प्र०, पृ० ६)।

एकं तु वदत्—यहाँ धर्मोत्तर ने इस बात पर बल दिया है कि न्यायबिन्दु के प्रतिपाद्य विषय (सम्यक् ज्ञान) का प्रयोजन तो साक्षात् रूप में (अभिधा द्वारा) कहा गया है तथा सम्बन्ध, प्रतिपाद्य विषय एवं शब्द-सन्दर्भ रूप ग्रन्थ का प्रयोजन अप्रत्यक्ष रूप से सूचित किये गये हैं। यहाँ पुरुषार्थ-सिद्धि ही साध्य है, अतः वही प्रधान है तथा वही वाक्य का साक्षात् अर्थ है। धर्मोत्तर की व्याख्या से विनीतदेव के विचार का निराकरण हो जाता है। विनीतदेव के अनुसार यहाँ अभिधेय तथा प्रयोजन (सम्यक् ज्ञान का व्युत्पादन) साक्षात् रूप से कहे गये हैं और सम्बन्ध अप्रत्यक्ष रूप से। सम्यक् ज्ञान के व्युत्पादन का प्रयोजन है पुरुषार्थसिद्धि; जो प्रयोजन का प्रयोजन है (मि०, बु० लॉ २, टि० ४)।

सामर्थ्यात्—शब्द दो प्रकार से अर्थ का बोध कराता है—साक्षात् रूप से (Directly) और अप्रत्यक्ष रूप से (Indirectly) शब्द का जो अर्थ अभिधावृत्ति से जाना जाता है वह उसका साक्षात् या मुख्य अर्थ होता है। दूसरा अर्थ, जो शब्द-द्वारा साक्षात् रूप से नहीं कहा जाता, केवल प्रतीत होता है, वह सामर्थ्यलभ्य—लाक्षणिक अथवा प्रातीतिक (गम्यमान), अर्थापन्न (Implied) अर्थ कहलाता है। न्यायबिन्दु के प्रथम वाक्य द्वारा अभिधेय का प्रयोजन साक्षात् रूप से कहा गया है, अन्य सम्बन्ध आदि सामर्थ्य से जाने गये हैं अतः वे प्रकाशित (गम्यमान) अर्थ हैं।

तत्रेति—उन अभिधेय आदि में से (तत्र) 'तद्' यह शब्द अभिधेय का वाचक है। 'व्युत्पाद्यते' (=प्रतिपादन किया जा रहा है) यह शब्द (इस ग्रन्थ का) प्रयोजन बतलाता है। यहाँ ग्रन्थकर्ता के प्रकरण-रचना-कार्य तथा श्रोता (या पाठक) के अध्ययन-कार्य के प्रयोजन का विचार किया जा रहा है। क्योंकि सभी विचारशील व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्ति के प्रयोजन को जानकर (अन्विष्य=खोजकर) ही उसमें प्रवृत्त होते हैं, अतः यह सन्देह होने पर (संशये) कि आचार्य (धर्मकीर्त्ति) ने यह प्रकरण ग्रन्थ किस हेतु रचा और श्रोतागण इसका किसलिये अध्ययन करें, इस ग्रन्थ

---

१. प्रयोजनमिदम् A.H.P. २. तत आचार्येण A.P.
३. संशयव्यु० H.P. ४. व्युत्पाद्यमा० B.E.H.N.

प्रकरणम् इदं[1] श्रूयत इति प्रकरणकरणश्रवणयोः प्रयोजनं[2] व्युत्पादनम्। सम्बन्धप्रदर्शनपदं तु न विद्यते। सामर्थ्याद् एव तु स प्रतिपत्तव्यः। प्रेक्षावता हि सम्यग्ज्ञानव्युत्पादनाय प्रकरणम् इदम् आरब्धवता अयम् एवोपायो नान्यः' इति दर्शित एवोपायोपेयभावः प्रकरणप्रयोजनयोः सम्बन्ध इति।

का प्रयोजन (सम्यक् ज्ञान का) प्रतिपादन बतलाया गया है। अपने आपको सम्यक् ज्ञान का बोध करने वाले शिष्यों का निर्देशक (व्युत्पादक) बनाने के लिये (आचार्य ने) यह प्रकरण ग्रन्थ रचा है तथा आचार्य-प्रदत्त ज्ञान-प्राप्ति (व्युत्पत्ति) के इच्छुक शिष्यों के द्वारा यह ग्रन्थ पढ़ा जाता है। इस प्रकार इस प्रकरण ग्रन्थ की रचना तथा अध्ययन (दोनों) का प्रयोजन (सम्यक् ज्ञान का) प्रतिपादन है। यहाँ (प्रकरण और उसके प्रयोजन के) सम्बन्ध को दिखलाने वाला तो कोई पद नहीं है। वह तो सामर्थ्य से (=अर्थतः या प्रसङ्ग के अनुसार) ही समझ लेना चाहिये। क्योंकि विचारशील व्यक्ति ने सम्यक् ज्ञान के प्रतिपादन के लिये इस प्रकरण ग्रन्थ का आरम्भ करते हुए '(सम्यक् ज्ञान के व्युत्पादन का) यही उपाय है, अन्य नहीं'—इस प्रकार से प्रकरण तथा प्रयोजन (सम्यक् ज्ञान का व्युत्पादन) का उपाय एवं उपेय (साधन-साध्य) सम्बन्ध है, यह दिखला ही दिया है।

तद् इति अभिधेय पदम्—'अभिधेय' आदि इस वाक्य का साक्षात् अर्थ नहीं है; क्योंकि यह वाक्य साक्षात् रूप से (अभिधा द्वारा) एक ही अर्थ को कह सकता है और वह अर्थ है अभिधेय (प्रतिपाद्य विषय-सम्यक् ज्ञान) का प्रयोजन (पुरुषार्थसिद्धि)। फिर भी ये अभिधेय आदि इस वाक्य द्वारा प्रकट होते हैं, क्योंकि इनको प्रकट करने वाले शब्द वाक्य में विद्यमान हैं। यहाँ 'तद्' शब्द से इस प्रकरण ग्रन्थ के विषय (अभिधेय, सम्यक् ज्ञान) का बोध होता है और 'व्युत्पाद्यते' शब्द से इस ग्रन्थ के प्रयोजन (सम्यक् ज्ञान का व्युत्पादन) का। किन्तु इन दोनों के सम्बन्ध को प्रकट करने वाला यहाँ कोई पद नहीं है। यह सम्बन्ध तो अर्थतः जाना जाता है। विचारशील आचार्य ने सम्यक् ज्ञान का प्रतिपादन करने के लिये यह ग्रन्थ बनाया है अतः यह स्पष्ट है कि यह प्रकरण ग्रन्थ सम्यक् ज्ञान के व्युत्पादन का उपाय (साधन) है, सम्यक् ज्ञान का व्युत्पादन इस ग्रन्थ का उपेय (साध्य) है। यहाँ 'प्रेक्षावता' यह पद साभिप्राय है। प्रेक्षावान् व्यक्ति का प्रयास या कार्य कभी व्यर्थ नहीं होता। और, प्रेक्षावान् व्यक्ति ने सम्यक् ज्ञान के व्युत्पादन के लिये इस ग्रन्थ का आरम्भ किया है अतः सम्यक् ज्ञान का व्युत्पादन अवश्य ही इसका साध्य है।

अयम् एव०—यहाँ दुर्वेक मिश्र का कथन है कि 'एव' शब्द 'उपाय' शब्द से परे जानना चाहिये। अतः इसका तात्पर्य होगा—यह ग्रन्थ सम्यक् ज्ञान के व्युत्पादन का उपाय ही है, अर्थात् 'यह उपाय नहीं'—ऐसी शङ्का भी नहीं की जा सकती। यहाँ 'एव' शब्द अयोगव्यवच्छेद अर्थ में है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १२)। किन्तु यदि इस

---

१. प्रकरणं श्रूयते B. C. D. २. प्रयोजनव्यु० H. N.

ननु च प्रकरणश्रवणात् प्राग् उक्तान्यपि[1] अभिधेयादीनि प्रमाणाभावात् प्रेक्षावद्भिर्न गृह्यन्ते । तत् किम् एतैरारम्भप्रदेश उक्तैः ?

सत्यम् । अश्रुते प्रकरणे कथितान्यपि न निश्चीयन्ते । उक्तेषु त्वप्रमाणकेष्वप्यभिधेयादिषु संशय उत्पद्यते । संशयाच्च प्रवर्तन्ते । अर्थसंशयोऽपि प्रवृत्त्यङ्गं प्रेक्षावताम् । अनर्थसंशयोऽपि[2] निवृत्त्यङ्गम् । अत एव शास्त्रकारेणैव पूर्वं सम्बन्धादीनि युज्यन्ते वक्तुम् ।

वाक्य का यथाश्रुत अर्थ लिया जाये—'यही उपाय है, अन्य नहीं' उस दशा में 'एव' का अर्थ होगा—अन्ययोगव्यवच्छेद; अर्थात् सम्यक् ज्ञान के व्युत्पादन का इसके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं । विवेचकों ने 'एव' शब्द के तीन अर्थ बतलाये हैं—अयोगव्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद और अत्यन्तायोगव्यवच्छेद ।

अयोगमन्ययोगं च अत्यन्तायोगमेव च ।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः ॥

किञ्च—अयोगं योगमपरैरत्यन्तायोगमेव च ।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेचकः ॥ (प्र० वा०, ४.१९०)

विशेष—किसी ग्रन्थ के आरम्भ में विचारणीय चार तत्त्वों (विषय, प्रयोजन, सम्वन्ध तथा अधिकारी) को यहाँ प्रकारान्तर से प्रकट कर दिया गया है । ये विचारणीय तत्त्व ही अनुबन्ध-चतुष्टय के नाम से प्रसिद्ध हैं । अतः इस प्रकरण ग्रन्थ का १. विषय है—सम्यक् ज्ञान; २. प्रयोजन है—सम्यक् ज्ञान का व्युत्पादन; ३. विषय तथा ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव सम्वन्ध है, अर्थात् यह ग्रन्थ यथार्थ ज्ञान का प्रतिपादक है । और ४. पुरुषार्थसिद्धि का अभिलाषी व्यक्ति इसका अधिकारी है । इस प्रकार विषय, प्रयोजन आदि को जानकर पुरुषार्थसिद्धि का अभिलाषी इस ग्रन्थ के श्रवण या अध्ययन में प्रवृत्त हो जाये, इसी हेतु प्रथम वाक्य में विषय आदि का निरूपण किया गया है । विद्वानों का कथन है कि—

सिद्धार्थं सिद्धसम्वन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्वन्धः सप्रयोजनः ॥

यह प्रथम वाक्य विषय, प्रयोजन आदि को प्रकट करके इस ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्ति करा सकता है या नहीं—एतद्विषयक विचार आगे किया जा रहा है ।

ननु चेति—(शङ्का) अभिधेय आदि के बतला दिये जाने पर भी बुद्धिमान् व्यक्ति इस प्रकरण ग्रन्थ के अध्ययन से पूर्व (उचित) प्रमाण न होने से इनको स्वीकार न करेंगे; तब आरम्भ स्थल में इनके कथन से क्या (लाभ) होगा ?

(समाधान) यह ठीक है कि बतला देने पर भी इस प्रकरण ग्रन्थ का अध्ययन किये बिना (ये अभिधेय आदि) निश्चित रूप से नहीं जाने जाते; किन्तु इनके बतला

---

१. उक्तान्यभिधे० B.   २. संशयो निवृ० A.E.H.N.P.

'व्याख्यातृणां हि वचनं' क्रीडाद्यर्थम् अन्यथाऽपि सम्भाव्यते। शास्त्रकृतां तु प्रकरणारम्भे न विपरीताभिधेयाद्यभिधाने प्रयोजनम् उत्पश्यामो नापि प्रवृत्तिम्। अतस्तेषु संशयो युक्तः। अनुक्तेषु तु प्रतिपत्तृभिर्निष्प्रयोजनम् अभिधेयं सम्भाव्येतास्य प्रकरणस्य काकदन्तपरीक्षाया इव', अशक्यानुष्ठानं वा 'ज्वरहर-तक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशवत्, अनभिमतं वा प्रयोजनं मातृविवाहक्रमोपदेशवत्, अतो वा प्रकरणात् लघुतर उपायः' प्रयोजनस्य, अनुपाय एव वा प्रकरणं सम्भाव्येत।

दिये जाने पर, चाहे अभिधेय आदि अप्रामाणिक भी हों तो भी (अर्थ की) सम्भावना उत्पन्न हो जाती है और सम्भावना से ही (व्यक्ति) प्रवृत्त हो जाते हैं। वस्तुतः (हि) अर्थ की सम्भावना भी बुद्धिमानों की प्रवृत्ति का साधन (अङ्ग) होती है तथा अनर्थ की सम्भावना भी निवृत्ति का साधन होती है। इसलिये शास्त्रकार को ही पहले (ग्रन्थ के आरम्भ में) सम्बन्ध आदि बतलाना उचित है।

अर्थसंशयोऽपि—व्यक्ति की प्रवृत्ति केवल निश्चित ज्ञान से नहीं होती अपि तु अर्थ की सम्भावनामात्र से भी हो जाती है, जैसे यदि कोई व्यक्ति मरुमरीचिका में जल की सम्भावना कर लेता है तो वहाँ जल लेने के लिये प्रवृत्त हो जाता है। अतः प्रवृत्ति के लिये ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय आवश्यक नहीं है। वस्तुतः ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय प्रवृत्ति के पश्चात् अर्थक्रिया-संवाद से हुआ करता है (मि०, प्रामाण्यं व्यव-हारेण, प्र० वा०, १.७)।

शास्त्रकारेण—श्चेरबात्स्की के अनुसार शास्त्रकार शब्द का अर्थ है—The author of a scientific wo'k. सामान्यतः शास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति है—शिष्यते-ऽनेनेति शास्त्रम् (√शास् + ष्ट्रन्)। नागार्जुन के अनुसार शास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति है-शास्ति च त्रायते चेति शास्त्रम् (भीमाचार्य, न्यायकोश)। वस्तुतः किसी विषय के सुव्यवस्थित सर्वाङ्गीण निरूपण को शास्त्र कहते हैं। अतः शास्त्र = वैज्ञानिक (सुसम्बद्ध) रचना (scient fic work)।

व्याख्यतृणाम् इति—व्याख्याकारों का वचन तो मनोविनोद (क्रीड़ा) आदि के लिये मिथ्या (अन्यथा) भी हो सकता है। किन्तु प्रकरण ग्रन्थ के आरम्भ में विपरीत प्रतिपाद्य विषय आदि का कथन करने में तो हम शास्त्रकारों का कोई प्रयोजन नहीं समझते और न ही (इस प्रकार की) प्रवृत्ति ही देखते हैं। इसलिये (बतला देने पर) अभिधेय आदि के विषय में (= तेषु) संशय (सम्भावना) हो जाना उचित ही है। (और इस अर्थसंशय से प्रवृत्ति हो जाती है)। यदि इन अभिधेय आदि का कथन न

---

१. आख्यातॄणां हि E. N., आख्यातॄणां टीकाकाराणां हि B. २. क्रीडार्थम् A. E. P.
३. इव १ B. D., (इसी प्रकार आगे भी २, ३, ४, ५, संख्यावाचक अङ्क हैं।)
४. ज्वरहृतक्षक० B. ५. उपायोऽस्ति प्रयो० C.

एतासु चानर्थसम्भावनास्वेकस्याम् अप्यनर्थसम्भावनायां न प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते। अभिधेयादिषु तूक्तेष्वर्थसम्भावना[1] अनर्थसम्भावनाविरुद्धा उत्पद्यते। तया[2] प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते, इति प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यङ्गम् अर्थसम्भावनां कर्तुं सम्बन्धादीन्यभिधीयन्त इति स्थितम्।

किया जाये तो पाठकवृन्द (प्रतिपत्तृ=जानने वाले) इस प्रकरण ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को (१) काकदन्त की परीक्षा के समान निष्प्रयोजन समझने लगेंगे; अथवा (२) ज्वर को दूर करने के लिये नागराज (=तक्षक) की मणि का अलङ्कार धारण करने के समान (इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य अर्थ को) न कर सकने योग्य कार्य (अशक्यम् अनुष्ठानं यस्य तत्) समझने लगेंगे; अथवा (३) इसके प्रयोजन को ही माता के विवाह-क्रम के उपदेश के समान अनिष्ट समझेंगे; अथवा (४) प्रयोजन (सम्यक् ज्ञान का व्युत्पादन) की सिद्धि का इस प्रकरण ग्रन्थ से सुगमतर कोई उपाय; या (५) इस प्रकरण ग्रन्थ को (प्रयोजन की सिद्धि का) असाधन ही समझने लगेंगे।

एतासु इति—इन अनर्थ की सम्भावनाओं में से एक भी अनर्थ-सम्भावना होने पर बुद्धिमान् जन (किसी कार्य में) प्रवृत्त नहीं होते। ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय आदि बतला देने पर तो अनर्थ की सम्भावना के विपरीत अर्थ-सम्भावना हो जाती है। उस अर्थ सम्भावना से बुद्धिमान् जन प्रवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार बुद्धिमानों की प्रवृत्ति का निमित्त होने वाली (अङ्ग=निमित्त=साधन) अर्थ-सम्भावना को उत्पन्न करने के लिये सम्बन्ध आदि का कथन किया गया है, यह निश्चित होता है।

मातृ-विवाह०—इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि माता के विवाह-क्रम आदि का वर्णन सुनना शिष्टसमाज को अभिमत नहीं था, क्योंकि गुरुजनों का शृङ्गारिक वर्णन सुनना लज्जा-जनक समझा जाता है। दुर्वेक मिश्र ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"जिस शास्त्र के द्वारा माता के विवाह-क्रम का उपदेश दिया जाता है, उस पारसीक शास्त्र के समान (अनभिमत)। पारसीक शास्त्र में यह उपदेश दिया गया है कि पिता के मर जाने पर माता को प्रथम तो अग्रज पुत्र से विवाह करना चाहिये, उसके पश्चात् उसके अनुज से।" (धर्मो० प्र०, पृ० १५)। प्रो० श्चेरबात्स्की के अनुसार इस कथन से प्रकट होता है कि भारत के बौद्ध भी विधवा-विवाह को ब्राह्मण धर्मानुयायी हिन्दुओं के समान ही बुरा समझते थे (बु० लॉ० २, पृ० ४ टि० १)। इन व्याख्याओं के तथ्यातथ्य का निर्णय विवेचकों का कार्य है।

अनुक्तेषु ... प्रवर्त्तन्ते—अनर्थ की सम्भावना मनुष्य की प्रवृत्ति में बाधक है। यहाँ ५ प्रकार की अनर्थ-सम्भावना बतलाई गई है—(१) किसी कार्य को निष्प्रयोजन समझना, जैसे काक-दन्त-परीक्षा, (२) सप्रयोजन होते हुए भी किसी कार्य को

---

१. उक्तेषु त्वभिधेयादिष्वर्थसम्भावना E.; अभिधेयादिष्वर्थसं० H. P.; अभिधेयादिषु त्त क्तेष्वर्थसं० B.

२. तया तु A. H. N. P.

अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् संवादक उच्यते। तद्वज्ज्ञानमपि स्वयं[1] प्रदर्शितमर्थं प्रापयत् संवादकमुच्यते। प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्वम्, नान्यत्। तथा हि—न ज्ञानं जनयदर्थं प्रापयति, अपि त्वर्थे पुरुषं प्रवर्तयत् प्रापयत्यर्थम्। प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषय-प्रदर्शकत्वमेव। न हि पुरुषं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति[2] विज्ञानम्।

सामर्थ्य के वाहर जानना, जैसे ज्वर-हरण के लिये नागराज की मणि को लाना; (३) किसी कार्य को अभीष्ट न समझना; जैसे माता के विवाह-क्रम का वर्णन; (४) प्रयोजन-सिद्धि का कोई अन्य सुगम उपाय मिल जाने की आशा तथा (५) उपदिष्ट साधन को प्रयोजन-सिद्धि का उपाय न समझना।

इति स्थितम्—यहाँ तक 'सम्यग्ज्ञान' इत्यादि वाक्य का सामान्य अर्थ बतलाया गया है। इसके प्रत्येक पद की विशद व्याख्या आगे की जा रही है।

२. सम्यक् ज्ञान (=प्रमाण) का स्वरूप

अविसंवादकम् इति—अविसंवादक (अनुभव से बाधित न होने वाला) ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। लोक में पूर्व प्रदर्शित वस्तु को प्राप्त करा देने वाला व्यक्ति संवादक कहलाता है। उसी प्रकार ज्ञान भी अपने द्वारा बोधित वस्तु को प्राप्त करा देने के कारण संवादक (=अविसंवादक) कहलाता है। बोधित वस्तु में प्रवृत्ति करा देना ही (ज्ञान की) प्रापकता (प्राप्त कराने का सामर्थ्य) है, अन्य कुछ नहीं। वस्तुतः (तथा हि) ज्ञान किसी अर्थ को उत्पन्न करके (जनयत्) उसको प्राप्त नहीं कराता, अपि तु वस्तु में पुरुष की प्रवृत्ति करा देता है तथा वस्तु की प्राप्ति करा देता है। (ज्ञान की) प्रवर्तकता (प्रवृत्ति कराना) भी प्रवृत्ति के विषय का बोध कराना ही है; क्योंकि विज्ञान (=ज्ञान) मनुष्य को बलपूर्वक (किसी वस्तु में) प्रवृत्त नहीं करा सकता।

अविसंवादकं ज्ञानम्—धर्मकीर्ति के अनुसार यही प्रमाण का लक्षण है। प्रमाणवार्तिक (परि० १.३) में भी यही कहा गया है—'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्'। न्याय आदि के प्रमाण-लक्षणों से यह भिन्न है। न्याय के अनुसार 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' तथा मीमांसा के अनुसार 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' यह प्रमाण का लक्षण है। अविसंवादक का अर्थ है—उपदर्शित वस्तु को प्राप्त करा देने वाला=सम्यक् ज्ञान। इसका अर्थ अविपरीत ज्ञान नहीं है। अतः यह व्यावहारिक प्रमाण का लक्षण है जो योगाचार और सौत्रान्तिक दोनों दृष्टियों से संगत है। यदि इसका अर्थ अविपरीत ज्ञान किया जाये तो योगाचार का मत संगृहीत न होगा, क्योंकि उसका मत है—'सर्वमालम्बने भ्रान्तं मुक्त्वा ताथागतं ज्ञानम्'। साथ ही सौत्रान्तिक के अनुमान में भी यह लक्षण घटित न होगा; क्योंकि अनुमान भी अनर्थ में अर्थ का ग्राहक माना गया है (मि०, तात्पर्य०, पृ० ८)। न्या० टी० टिप्प० (=टिप्प० पृ० १८, १९)

---

१. स्वयम् इति नास्ति A. C. D. E. P. २. ज्ञानम् B. N.

अत एव[1] चार्थाधिगतिरेव प्रमाणफलम् । अधिगते चार्थे प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः । तथा च सत्यर्थाधिगमात् समाप्तः प्रमाण-व्यापारः । अत एव[2] चानधिगतविषयं प्रमाणम् । येनैव ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थः, तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः, प्रापितश्चार्थः । तत्रैव[3] चार्थे किमन्येन ज्ञानेनाधिकं कार्यम् । [4]ततोऽधिगतविषयमप्रमाणम् ।

के अनुसार तो यहाँ योगाचार के मत की ओर ध्यान न देकर केवल सौत्रान्तिक की दृष्टि से ही प्रमाण का लक्षण दिया गया है (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ४ टि० २)

जनयदर्थम्—इस प्रकार ज्ञान ज्ञापक हेतु है, कारक हेतु नहीं । श्चेरबात्स्की का कथन है कि सम्भवतः यह विनीतदेव पर आक्षेप है; क्योंकि उसने पुरुषार्थ = प्रयोजन, सिद्धि = साधक और पूर्वक = हेतु—यह अर्थ किया है । जिससे प्रतीत होता है कि ज्ञान कारक हेतु है (बु० लॉ० २, पृ० ४ टि० ३) ।

अत एवेति—इसलिये अर्थ का बोध होना (अधिगतिः) ही प्रमाण का फल है । क्योकि (=च) वस्तु का बोध हो जाने पर पुरुष की प्रवृत्ति हो जाती है तथा वस्तु की प्राप्ति हो जाती है । इस प्रकार अर्थ का बोध कराने से ही प्रमाण का कार्य समाप्त हो जाता है । इसी हेतु जिस ज्ञान का विषय अज्ञात अर्थ है (अनधिगतः अज्ञातः विषयः अर्थः यस्य तत्) वही प्रमाण है । क्योंकि (=हि) जिस ज्ञान के द्वारा प्रथमतः अर्थ का बोध होता है, उसके द्वारा ही पुरुष की प्रवृत्ति तथा अर्थ की प्राप्ति करा दी जाती है । फिर उस अर्थ में अन्य ज्ञान को इस (प्राप्ति) से अधिक क्या करना है । फलतः ज्ञात अर्थ का बोधक ज्ञान प्रमाण नहीं ।

अत एव–(i) क्योंकि ज्ञान किसी अर्थ को उत्पन्न करके उसे प्राप्त नहीं कराता, न ही बलपूर्वक किसी व्यक्ति को प्रवृत्त करता है (धर्मो०प्र०, पृ०१९पं०७), (ii) क्योंकि प्रवर्तक होना ही प्रापक होना है और प्रवर्तक होना भी प्रवृत्ति के विषय को दिखलाना मात्र ही है (धर्मो० प्र०, पृ० १९) । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मीमांसक के अनुसार दर्शन, प्रवर्तन और प्रापण—ये तीन ज्ञान के क्रमशः होने वाले व्यापार हैं, जिनमें अग्रिम अग्रिम कार्य पूर्व पूर्व का फल होता है । (श्लोक० वा०, प्रत्यक्ष० श्लो० ६०–७०) । किन्तु धर्मोत्तर के अनुसार ज्ञान केवल वस्तु का प्रदर्शक है तथा प्रवृत्ति के विषय का प्रदर्शन ही प्रवर्तन एवं प्रापण है । (टिप्प०, पृ० ८.५) । मि०, बु० लॉ० २, पृ० ५ टि० २ ।

इससे स्पष्ट है कि नैयायिक तथा मीमांसक के अनुसार प्रापण का अर्थ है—वस्तुतः सफल प्रवृत्ति; किन्तु यहाँ इसका अर्थ है प्रापणयोग्यीकरण (टिप्प०, पृ० ८.६) । मि०, बु० लॉ०२, पृ०५ टि० ४ ।

---

१. अत एवार्था० B. २. एव, इति नास्ति A. E. H. N.P.
३. तत्रैवार्थे A. E. H. N. P. ४. अतो T.

तत्र योऽर्थो दृष्टत्वेन ज्ञातः स प्रत्यक्षेण प्रवृत्तिविषयीकृतः[1]। यस्माद् यस्मिन्नर्थे प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारिव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते तस्य प्रदर्शकं प्रत्यक्षम्; तस्माद् दृष्टतया ज्ञातः प्रत्यक्षदर्शितः। अनुमानं तु लिङ्गदर्शनान्निश्चिन्वत् प्रवृत्तिविषयं दर्शयति। तथा[2] च प्रत्यक्षं प्रतिभासमानं नियतमर्थं दर्शयति। अनुमानं च लिङ्गसम्बद्धं नियतमर्थं दर्शयति। अत एते 'नियतस्यार्थस्य प्रदर्शके। तेन ते प्रमाणे। नान्यद् विज्ञानम्। प्राप्तुं शक्यमर्थमादर्शयत् प्रापकम्। प्रापकत्वाच्च प्रमाणम्।

अधिगतिः—बोध, निश्चय; परिच्छित्तिः (धर्मो० प्र०), Distinct cognition (बु० लॉ०२, पृ०५)

प्रमाणफलम्—प्रमाणफल के विषय में देखिये आगे (१.१८)।

अनधिगतविषयं प्रमाणम्—यह प्रमाण के एक विशेष गुण को बतलाता है। वस्तुतः बौद्धन्याय के अनुसार 'अनधिगतविषयम् अविसंवादकं ज्ञानम्'—यह समुदित रूप से प्रमाण का लक्षण है। जब कोई ज्ञान अविसंवादी होता है तभी उसके विषय में यह जाना जाता है कि यह अज्ञात अर्थ का बोधक है, विसंवादी ज्ञान तो अर्थ का प्रकाशक ही नहीं होता। दूसरी ओर धारावाही ज्ञान अविसंवादी होकर भी प्रमाण नहीं माना जाता, क्योंकि वह अज्ञात अर्थ का बोधक नहीं होता। इसीलिये मनोरथनन्दी टीका (प्र० वा०, १.७ पृ० ८.पं०१४) में कहा गया है—तस्मादुभयमपि परस्परसापेक्षमेव लक्षणं बोद्धव्यम्।

अधिगतविषयम् अप्रमाणम्—ज्ञातविषयक ज्ञान दो प्रकार का हो सकता है—एक सजातीय दूसरा विजातीय; दोनों प्रकार का ज्ञातविषयक ज्ञान पहले जानी हुई वस्तु के विषय में प्रमाण नहीं माना जाता; जैसे एक प्रत्यक्ष द्वारा जानी गई वस्तु में दूसरा प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता। अतः बौद्धन्याय के अनुसार धारावाहिक ज्ञान प्रमाण नहीं माना जाता। इसी प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात वस्तु में अनुमान नहीं जा सकता। इससे प्रकट होता है कि बौद्ध-दर्शन प्रमाण-सम्प्लव (=अनेक प्रमाणों द्वारा एक विषय का ग्रहण) को स्वीकार नहीं करता। भाव यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों का विषय भिन्न २ है, एक के क्षेत्र में दूसरा नहीं जा सकता—बौद्ध-न्याय इस प्रकार की प्रमाण-व्यवस्था को मानता है। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक प्रमाण-सम्प्लव मानते हैं, अर्थात् एक ही वस्तु अग्नि को हम प्रत्यक्ष से देख सकते हैं, उसका धूम से अनुमान भी कर सकते हैं (मि०,न्या० भा०, १.१.३)।

तत्रेति—उन (प्रत्यक्ष और अनुमान) में जो दृष्ट रूप में (साक्षात्) जाना जाता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा प्रवृत्ति का विषय होता है। क्योंकि जिस वस्तु में प्रत्यक्ष प्रमाण के साक्षात्कारी व्यापार का पश्चात् होने वाले विकल्प द्वारा (मैंने नील

---

१. विषयः कृतः B. C. D.
२, यथा च H.
३. नियतार्थस्य B.

का साक्षात्कार किया इत्यादि रूप से) अध्यवसाय किया जाता है। (अनुगम्यते = अनुम्रियते = अध्यवसीयते; धर्मो० प्र०, पृ० २०), उस (वस्तु) का प्रदर्शक प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। इसलिये साक्षात् रूप से (दृष्टतया) जाना गया पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रदर्शित होता है। अनुमान तो लिङ्ग (धूम आदि) के ज्ञान से (वस्तु का) निश्चय कराता हुआ (निश्चिन्वत्) प्रवृत्ति के विषय का बोध कराता है। इस प्रकार (तथा च) प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप से भासित होने वाली नियत वस्तु को दिखलाता है और वैसे ही (= च) अनुमान (धूम आदि) लिङ्ग से सम्बद्ध नियत वस्तु को दिखलाता है। इसलिये ये दोनों (प्रत्यक्ष तथा अनुमान) नियत वस्तु का बोध कराने वाले हैं अतः ये दोनों ही प्रमाण हैं। इनसे भिन्न (= जो नियत अर्थ का प्रदर्शक नहीं वह) ज्ञान प्रमाण नहीं। क्योंकि कोई ज्ञान प्राप्त करने योग्य वस्तु का बोध कराने से ही प्रापक होता है और प्रापक होने से ही प्रमाण होता है।

दृष्टत्वेन—साक्षात् रूप से। यहाँ 'दृष्ट' शब्द का अभिप्राय साक्षात्कार है, केवल चक्षु द्वारा होने वाला ज्ञान नहीं।

प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारिव्यापारः—दिङ्नाग सम्प्रदाय के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान का एक क्षण ही किसी वस्तु का साक्षात्कार करने वाला है वही प्रत्यक्ष है। इसके पश्चात् विकल्प (कल्पना, सविकल्पक ज्ञान या अध्यवसाय) होता है। उसी विकल्प के द्वारा वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान हुआ करता है। किन्तु प्रत्यक्ष का विषय वह वस्तु मानी जाती है जिसके बारे में पश्चाद्भावी विकल्प के द्वारा ऐसी प्रतीति होती है कि "मैंने इस वस्तु का साक्षात्कार किया है"। प्रत्यक्ष का वास्तविक स्वरूप या लक्षण यही है। न्यायबिन्दु में जो प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है वह तो विप्रतिपत्ति-निराकरण के लिये है (मि०, बु० लॉ२, पृ० ५ टि० ६)।

दर्शयति = बोधयति, बोध कराता है, (अनुमान पक्ष में) अध्यवसाय कराता है।

अनुमानं तु—यहाँ 'तु' शब्द द्वारा प्रत्यक्ष और अनुमान का वैधर्म्य दिखलाया गया है। प्रत्यक्षप्रमाण स्वयं निश्चय करके प्रवृत्ति के विषय का बोध नहीं कराता अपि तु प्रत्यक्ष के पृष्ठभावी विकल्प से निश्चय हुआ करता है; किन्तु अनुमान तो विषय का निश्चयात्मक बोध कराता है (धर्मो प्र०, पृ० २१ प०४) वस्तुतः, प्रवृत्ति का विषय जो वस्तु है, वह प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय है और अनुमान का अध्यवसेय विषय है (द्र० आगे सूत्र १.१२)।

प्रतिभास० = निर्भास, आभास, प्रतिबिम्बन (बु० लॉ०२, पृ०६ टि०२);

प्रतिभासमानं = स्वरूपेण प्रकाशमानम् (धर्मो० प्र०)। **नियतम्**—इस शब्द द्वारा संशय और भ्रान्ति के विषय की निवृत्ति हो जाती है। दुर्वेक मिश्र के अनुसार इसका अर्थ है—'अर्थक्रियाक्षमे भावरूपे एव व्यवस्थितम्, अर्थात् अर्थक्रिया में समर्थ भावरूप जो अर्थ है उसमें नियत। इसका तात्पर्य है कि न अनर्थ को दिखलाता है

आभ्यां प्रमाणाभ्यामन्येन च[1] ज्ञानेन [2]दर्शितोऽर्थः कश्चिदत्यन्तविपर्यस्तः, यथा मरीचिकासु जलम्। स चासत्त्वात् प्राप्तुमशक्यः। कश्चिद् अनियतो भावाभावयोः[3]; यथा संशयार्थः न च भावाभावाभ्यां युक्तोऽर्थो जगत्यस्ति। ततः प्राप्तुम् अशक्यस्तादृशः।

और न अनियत अर्थ को। इस प्रकार प्रथम विशेषण (अनर्थ) से भ्रान्ति की और दूसरे से संशय की निवृत्ति हो जाती है। अनुमान भी नियत अर्थ का अध्यवसाय कराता है अतः प्रमाण है। अन्य स्थलों पर 'नियत' शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है।

विज्ञानम्—यद्यपि अभिधर्म में विज्ञान शब्द का निर्विकल्पक ज्ञान के अर्थ में तथा विज्ञानवादी और माध्यमिक सम्प्रदायों में व्यावहारिक ज्ञान के अर्थ में प्रयोग किया गया है, तथापि यहाँ इस शब्द का सामान्यतः 'ज्ञान' अर्थ में ही प्रयोग हुआ है। (मि०, बु० लॉ२, पृ० ६ टि० २)

प्रापक—स्वप्रदर्शित अर्थ को प्राप्त कराने वाला (संवादक) ज्ञान या प्रमाण है। वस्तुतः अविसंवादक (=संवादक) शब्द की ही ये दो उपलब्धियाँ हैं—नियत अर्थ की बोधकता और अर्थ-प्रापकता। प्रमाण के ये दोनों स्वतन्त्र लक्षण नहीं हैं। नियत अर्थ को प्रदर्शित करने वाला तथा प्रदर्शित अर्थ को प्राप्त कराने वाला ज्ञान अविसंवादक या सम्यक् ज्ञान कहलाता है, वही प्रमाण है।

आभ्याम् इति—इन दोनों (प्रत्यक्ष और अनुमान) से भिन्न ज्ञान के द्वारा बोधित जो अर्थ होता है वह कोई तो अत्यन्त विपरीत होता है; जैसे मरुमरीचिका में जल। क्योंकि (=च) वह (अर्थ) विद्यमान नहीं (असत्) है अतः वह प्राप्त करने योग्य नहीं है। कोई (अर्थ) भाव तथा अभाव दोनों रूपों में अनिश्चित (अनियत) होता है (उसे निश्चित रूप से 'यह है' या 'यह नहीं है'—ऐसा नहीं कहा जा सकता); जैसे सन्देह का विषय होने वाली वस्तु। क्योंकि (=च) भाव तथा अभाव (दोनों विरुद्ध धर्मों) से युक्त कोई वस्तु संसार में नहीं है। इसलिये ऐसा (भाव और अभाव दोनों में अनियत) अर्थ प्राप्त नहीं किया जा सकता।

स चासत्त्वात्—यद्यपि विपर्यय ज्ञान नियत (निश्चित) अर्थ का प्रदर्शक होता है तथापि अनर्थ (अयथार्थ) का प्रदर्शक होने के कारण वह स्वप्रदर्शित अर्थ को प्राप्त नहीं कराता अतःप्रमाण नहीं होता (धर्मो प्र०, पृ० २२)।

संशयार्थः—संशयस्यार्थः। संशय का विषय होने वाला पदार्थ; जिस वस्तु के विषय में संशय हो रहा है, वह वस्तु, संशय का आलम्बन; जैसे जब स्थाणु में 'यह स्थाणु है या पुरुष' इस प्रकार का ज्ञान होता है तो 'स्थाणु' ही संशय का

---

१. ० ल्येन ज्ञानेन E. N. २. प्रदर्शितो A. C. N. P.

३. ० योः तद्व (च्च) यथा C.

सर्वेण चालिङ्गजेन[1] विकल्पेन नियामकमदृष्ट्वा प्रवृत्तेन भावाभावयोरनियत एवार्थो दर्शयितव्यः। स० च प्राप्तुमशक्यः। तस्मादशक्यप्रापणम्–अत्यन्तविपरीतम्, भावाभावानियतं चार्थं–दर्शयद् अप्रमाणम् अन्यज्ज्ञानम्।

आलम्बन है। वहाँ 'यह स्थाणु है' इसमें स्थाणु के भाव (सत्ता) का बोध होता है, 'या पुरुष है' इस ज्ञान में स्थाणु के अभाव का बोध होता है अतः स्थाणु का होना (भाव) या न होना (अभाव) नियत नहीं तथा संशय नामक ज्ञान नियत अर्थ का उपदर्शक न होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकता।

सर्वेणेति—जो (विकल्प) किसी अविनाभावी ज्ञापक (लिङ्ग) से उत्पन्न नहीं होते, नियत अर्थ का ग्रहण कराने वाले (अर्थ) को न देखकर ही उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे सभी विकल्पों के द्वारा भाव तथा अभाव में अनियत (=जो न सत् है न असत्) अर्थ का ही बोध कराया जाता है और वह अर्थ प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिये (वस्तु-स्वरूप के) अत्यन्त विपरीत तथा सत् अथवा असत् रूप में अनिश्चित इसी हेतु प्राप्त करने के अयोग्य पदार्थ की प्रतीति कराने वाला (प्रत्यक्ष तथा अनुमान से) अन्य प्रकार का ज्ञान प्रमाण नहीं।

अलिङ्गजेन०—लिङ्गज ज्ञान का अर्थ है—लिङ्ग से उत्पन्न अर्थात् अनुमान, उससे भिन्न विकल्प के द्वारा; **नियामकमदृष्ट्वा**–अर्थ ही ज्ञान का नियामक होता है; क्योंकि कोई ज्ञान अपने विषय (=अर्थ) के आधार पर ही नियत-अर्थ का ग्राहक है, इस विशेषण के द्वारा प्रत्यक्ष के पृष्ठभावी विकल्प की व्यावृत्ति की गई है; क्योंकि वह विकल्प नियामक को देखकर ही प्रत्यक्ष के द्वारा उत्पन्न किया जाता है।

सर्वेण–दर्शयितव्यः—वाक्य का अभिप्राय यह है कि अनुमान तथा प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्प को छोड़कर सभी विकल्पों का विषय ऐसे पदार्थ होते हैं जिनका होना (भाव) या न होना (अभाव) निश्चित नहीं।

विकल्प—इस शब्द का अर्थ है—द्वैधीकरण, दो रूपों में करना (Choice) और कल्पना का अर्थ है—योजना। बौद्ध-न्याय में इन दोनों शब्दों का प्रयोग मानस-व्यापार द्वारा कल्पित ज्ञान के लिये किया गया है।

अप्रमाणमन्यत् ज्ञानम् (।)—भाव यह है कि ज्ञान दो प्रकार का है सम्यक् ज्ञान और असम्यक् ज्ञान। नियत अर्थ का प्रदर्शक होने के कारण जो ज्ञान प्रदर्शित वस्तु को प्राप्त करा देता है, वही सम्यक् ज्ञान है। अज्ञात-विषयक (अनधिगतविषयम्) सम्यक् ज्ञान को ही प्रमाण कहते हैं। यह प्रमाण दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष और अनुमान। इसमें प्रत्यक्ष साक्षात्कारी (निर्विकल्पक) सम्यक् ज्ञान है और अनुमान विकल्पात्मक सम्यक् ज्ञान है। अप्रमाण ज्ञान अनेक प्रकार का होता है जैसे भ्रान्ति, संशय, स्वप्न, स्मृति- प्रत्यक्ष के पश्चात् होने वाले नाम-जाति आदि के विविध विकल्प इत्यादि।

---

१. अलिङ्गेन T.

अर्थक्रियार्थिभिश्चार्थक्रियासमर्थ[1]-वस्तुप्राप्तिनिमित्तं ज्ञानं मृग्यते यच्च तैर्मृग्यते तदेव[2] शास्त्रे विचार्यते। ततोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शकं सम्यग्ज्ञानम्। यच्च तेन प्रदर्शितं तदेव[3] प्रापणीयम्। अर्थाधिगमात्मकं[4] हि प्रापक[5]मित्युक्तम्।

(ii) दूसरी दृष्टि से ज्ञान के दो प्रकार हैं—साक्षात्कारी तथा विकल्प ये दोनों भी दो दो प्रकार के हैं—सम्यक् और असम्यक्। साक्षात्कारी सम्यक् ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। साक्षात्कारी असम्यक् ज्ञान इन्द्रियजन्य भ्रान्ति के स्थल में होता है, जिसका 'अभ्रान्त' पद की व्याख्या में विशद निरूपण किया जायेगा। विकल्प ज्ञानों में अनुमान एवं प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्प ये दोनों सम्यक् ज्ञान हैं—स्वप्रदर्शित वस्तु को प्राप्त कराने वाले हैं। किन्तु इनमें से अनुमान ही प्रमाण है, प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्प (=सविकल्पक प्रत्यक्ष) को बौद्धन्याय में प्रमाण नहीं माना जाता। शेष सभी विकल्प असम्यक् ज्ञान तथा अप्रमाण ही हैं।

इस प्रकार बौद्धन्याय के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं। न्याय तथा वेदान्त आदि के शब्द, उपमान एवं अभाव आदि का बौद्धन्याय के अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है। (मि०, बु० लॉ २, पृ० ७ टि० १)।

(iii) यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि साक्षात्कारी ज्ञान से भिन्न सभी ज्ञान विकल्प के अन्तर्गत आते हैं, वे सभी असाक्षात्कारी (Indirect) ज्ञान हैं। उनमें जो लिङ्गज सम्यक् ज्ञान है, वही अनुमान कहलाता है। इस प्रकार अनुमान तथा विकल्प-दोनों समानार्थक नहीं हो सकते। बौद्ध -न्याय ने निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान के बीच एक विभाजक रेखा खींची है और दोनों को पृथक् किया है, यह ठीक है। किन्तु जैसा प्रो० श्चेरबात्स्की ने (बु० लॉ० २, पृ० ३०१ टि०) कहा है कि निर्विकल्पक से भिन्न सभी (सविकल्पक conception) ज्ञानों का बौद्ध-न्याय के अनुमान में समावेश हो जाता है, यह कथन उचित नहीं, क्योंकि विकल्प एक व्यापक शब्द है उसका अवान्तर भेद ही अनुमान है द्र०, Shrinivas Shastri, The Theory of Cognition (Jnana) Propounded by Dignaga (KURJ, April, 1969)।

अर्थक्रियेति—(दाह पाक आदि) प्रयोजन की सिद्धि (अर्थस्य दाहादेः क्रिया निष्पत्तिः) के इच्छुक जनों के द्वारा अर्थक्रिया (दाह-पाक आदि की निष्पत्ति) में समर्थ (अग्नि आदि) वस्तु की प्राप्ति के लिये ज्ञान की खोज की जाती है। जिस (ज्ञान) की उनके द्वारा खोज की जाती है उसका ही शास्त्र में विचार किया जाता है। इसलिये अर्थ-क्रिया-समर्थ वस्तु का बोधक ही सम्यक् ज्ञान है और जो वस्तु उसके द्वारा दिखलाई जाती है, वही प्राप्त की जा सकती है। क्योंकि अर्थ का प्रदर्शक होता हुआ ही ज्ञान अर्थ का प्रापक होता है; यह बतलाया जा चुका है।

१. ० समर्थार्थप्रा० A. H. N. P. ० समर्थप्रा० B. E. २. तदेव तेन B. H. ३. तदेव तेन प्रा० C. D. ४. अर्थाधिगमात्मकत्वं हि प्रापकत्व० C. D., अर्थक्रियासमर्थवस्त्वधिगमात्मकत्वम् B. ५. प्रापणमि० N.

तत्र प्रदर्शितादन्यद् वस्तु भिन्नाकारम्, भिन्नदेशम्, भिन्नकालं च।

अर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शकम्—(i) दिङ्नाग सम्प्रदाय या बौद्धन्याय सम्प्रदाय में वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक सभी के मन्तव्यों का प्रसङ्गानुसार विवेचन किया गया है। यहाँ बाह्य अर्थ का विवेचन सौत्रान्तिक की दृष्टि से किया गया है (मि०, अस्त्येषां विदुषां वादो बाह्यं त्वाश्रित्य वर्ण्यते, प्र० वा०, २·३९८)। अतः अर्थक्रिया-समर्थ जो वस्तु का स्वरूप है तथा 'अर्थप्रदर्शन' जो ज्ञान का स्वरूप दिखलाया गया है, वह सब व्यावहारिक दृष्टि से ही है (मि० प्रामाण्यं व्यवहारेण, प्र० वा०, १.७) अथवा कहिये कि सौत्रान्तिक की दृष्टि से है।

(ii) यहाँ श्चेरवात्स्की का विचार है कि "व्यावहारिक ज्ञान का विवेचन एक न जानने योग्य (uncognizable) तथा परमार्थसत् (transcendental) वस्तु (स्वलक्षण, परमार्थसत् वस्तुतत्त्व thing-in-itself) की स्थापना की ओर ले जाता है।" ....। "इस प्रकार माध्यमिक सम्प्रदाय ने जो सभी न्यायों (प्रमाणों) का खण्डन किया था उसके विरोध में ही दिङ्नाग ने ज्ञान के प्रामाण्य की स्थापना की है" (बु० लॉ २, पृ० ७ टि० २)।

इस विषय में यही कहना है कि जैसा आगे निरूपित किया जायेगा, दिङ्नाग सम्प्रदाय के अनुसार स्वलक्षण (परमार्थसत् वस्तुतत्त्व) प्रत्यक्ष प्रमाण का ग्राह्य विषय है। अतः उसे uncognizable केवल इसीलिये कहा जा सकता है कि वह निश्चयात्मक ज्ञान (सविकल्पक) का ग्राह्य विषय नहीं है। इसी प्रकार यहाँ Transcendental शब्द का अर्थ है—'परमार्थसत्'। तभी इस शब्द का स्वलक्षण के लिये प्रयोग करना युक्तिसंगत है। यदि इस शब्द का अर्थ 'अतीन्द्रिय' किया जाता है तो इसका प्रयोग संगत न होगा; क्योंकि दिङ्नाग सम्प्रदाय में स्वलक्षण को अतीन्द्रिय पदार्थ नहीं माना जाता। [विशेष देखिये मेरा लेख—

The conception of external object in the school of Dignaga, Darshana International (Moradabad), April 1965, तथा "बौद्धन्याये बाह्यवस्तुनः स्वरूपम्" विश्वसंस्कृतम् [फरवरी १९६५]।

अर्थाधिगमात्मकम्०—अर्थाधिगमः=अर्थप्रदर्शनम् एव आत्मा स्वरूपं यस्य तादृशम्। अर्थात् ज्ञान में अर्थ की प्रापकता यही है कि वह अर्थ का प्रदर्शक होता है। इस भाव को 'अर्थाधिगमात्मकत्वं हि प्रापकत्वम्' यह पाठ अधिक स्पष्ट करता है किन्तु धर्मोत्तरप्रदीप तथा टिप्पणी आदि का अनुसरण करके उपरिलिखित पाठ ही रक्खा गया है।

उक्तम्—(=प्रकटितम्) 'प्रदर्शिते चार्थे......प्रदर्शकत्वमेव' इत्यादि अवतरण में ऊपर यह भाव प्रकट किया गया है। अथवा 'प्राप्तुं शक्यमर्थमादर्शयत् प्रापकम्' इस वाक्य द्वारा यह बात कही जा चुकी है। (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० २५)।

तत्रेति—उन जानी गई वस्तुओं में (तत्र) वह वस्तु प्रदर्शित वस्तु से भिन्न ही है जिसका आकार भिन्न है, या देश भिन्न है या काल भिन्न है। क्योंकि विरुद्ध

विरुद्धधर्मसंसर्गाद् धि-अन्यद् वस्तु । देशकालाकारभेदश्च विरुद्धधर्मसंसर्गः ।

तस्मादन्याकारवद्वस्तुग्राहि[1] नाकारान्तरवति वस्तुनि प्रमाणम् । यथा पीतशङ्खग्राहि शुक्ले शङ्खे । देशान्तरस्थग्राहि च न देशान्तरस्थे प्रमाणम् । यथा कुञ्चिका[2]विवरदेशस्थायां मणिप्रभायां मणिग्राहि ज्ञानं नापवरकदेशस्थे[3] मणौ । कालान्तरयुक्तग्राहि च न कालान्तरवति वस्तुनि प्रमाणम् । यथाऽर्द्धरात्रे मध्याह्नकालवस्तुग्राहि स्वप्नज्ञानं नार्धरात्रकाले[4] वस्तुनि प्रमाणम् ।

धर्म के संसर्ग से वस्तु भिन्न ही हो जाती है तथा देश, काल एवं आकार का भेद विरुद्ध-धर्म का संसर्ग ही है ।

अन्यद्वस्तु—यहाँ 'अन्यद्' शब्द विधेय है (धर्मो० प्र०, पृ० २५) । भाव यह है कि आकार आदि के भेद से वस्तु में भी भेद हो जाता है । बौद्ध दर्शन का मन्तव्य है—'यद् विरुद्धधर्मसंसृष्टं तन् नाना' । यह विरोध तथा भेद का सिद्धान्त (The law of contradic'ion and otherness) है । इस प्रकार यदि कोई ज्ञान किसी वस्तु का एक आकार में (उदाहरणार्थ नील वर्ण में) बोध कराता है किन्तु वहाँ अन्य आकार (लाल रङ्ग) की वस्तु प्राप्त होती है तो वह ज्ञान प्रमाण नहीं होगा ।

तस्माद् इति—इसलिये अन्य आकार वाली वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान दूसरे आकार वाली वस्तु में प्रमाण नहीं, जैसे पीत शङ्ख को ग्रहण करने वाला ज्ञान शुक्ल शङ्ख के विषय में प्रमाण नहीं होता । अन्य प्रदेश में स्थित वस्तु का ग्रहण करने वाला ज्ञान दूसरे प्रदेश में स्थित (वस्तु के विषय) में प्रमाण नहीं, जैसे—कुञ्चिका (घना ढका स्थान) के द्वार देश में स्थित मणि की प्रभा में मणि का बोध कराने वाला ज्ञान उसके भीतरी (अपवरक) प्रदेश में स्थित मणि के विषय में प्रमाण नहीं होता । इसी प्रकार (च) अन्य-काल-विशिष्ट वस्तु का ग्रहण करने वाला ज्ञान दूसरे काल वाली वस्तु के विषय में प्रमाण नहीं होता; जैसे अर्धरात्रि के समय मध्याह्न काल की वस्तु का ग्राहक स्वप्न-ज्ञान अर्धरात्रिकाल में स्थित वस्तु के विषय में प्रमाण नहीं होता ।

तस्माद्—क्योंकि सम्यक् ज्ञान द्वारा जो वस्तु दिखलाई जाती है वही प्राप्त की जाती है और आकार आदि के भिन्न होने पर वस्तु भी भिन्न हो जाती है इसलिये…… । यद्यपि 'अभ्रान्त' पद की व्याख्या के अवसर पर ही इन उदाहरणों को दिखलाना उचित था तथापि सम्यक् ज्ञान के प्रसङ्ग से इन्हें दिखला दिया गया है । (टिप्प०, पृ० ११.८) ।

अन्याकारवद्—आकार शब्द के दो अर्थ हैं—वर्ण और संस्थान । इनमें से यहाँ केवल वर्ण का ही उदाहरण दिया गया है । इससे प्रतीत होता है कि धर्मोत्तर के

---

१. ० न्याकारवस्तुग्राहि B. C. D.
२. कुंचिका A. कुञ्चिका T.
३. ० वरकस्थे T.
४. अर्धरात्रकालवस्तुनः N.

ननु च[1] देशनियतम्, आकारनियतं च प्रापयितुं शक्यम्। यत्कालं तु परिच्छिन्नं तत्कालं न शक्यं प्रापयितुम्। नोच्यते–यस्मिन्नेव काले परिच्छिद्यते तस्मिन्नेव काले प्रापयितव्यमिति। अन्यो हि दर्शनकालः, अन्यश्च प्राप्तिकालः। किन्तु यत्कालं परिच्छिन्नं तदेव तेन[2] प्रापणीयम्। अभेदाध्यवसायाच्च सन्तानगतमेकत्वं द्रष्टव्यमिति।

अनुसार आकार शब्द से केवल वर्ण का ही ग्रहण होता है। स्फुटार्थाभिधर्मकोश व्याख्या (१.१० पृ० २९) में बतलाया गया है कि सौत्रान्तिक की दृष्टि से 'आकार' का अर्थ वर्ण ही होता है, संस्थान नहीं। इससे प्रतीत होता है कि धर्मोत्तर सौत्रान्तिक थे। दूसरी ओर प्रमाणवार्त्तिक तथा उसकी मनोरथनन्दि-वृत्ति (२.१४२) में वर्ण और संस्थान दोनों का उल्लेख किया गया है। अतः इस विषय में धर्मकीर्ति का क्या मत है–यह विचारणीय ही है।

पीतशङ्खग्राहि—यद्यपि 'पीतशङ्ख' ज्ञान से भी श्वेतशङ्ख की प्राप्ति होती है तथापि 'पीतः शङ्खः' यह ज्ञान प्रमाण नहीं है। वस्तुतः यहाँ ज्ञान और अर्थक्रिया का संवाद नहीं होता अतः श्वेतशङ्ख की प्राप्ति अन्य ज्ञान के आधार पर ही होती है। धर्मोत्तर ने प्रमाणविनिश्चय की टीका में इस विषय का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ८ टि० ३)

अर्धरात्रकाले०— दुर्वेक मिश्र (धर्मो० प्र०, पृ० २५) ने इस उदाहरण को इस प्रकार स्पष्ट किया है— आधी रात में निद्रा-ग्रस्त व्यक्ति मध्याह्न के समय व्यापार से आये हुए पुत्र को देखता है और हर्षित होकर तुरन्त जाग उठता है। उसी समय अकस्मात् पुत्र को पा लेता है। फिर भी वह ज्ञान प्रमाण नहीं, क्योंकि उसका ज्ञान तो मध्याह्नकाल में आये हुए पुत्र के विषय में था। काकतालीय न्याय से उसे पुत्र की उपलब्धि हो जाती है।

स्वप्नज्ञानम्—धर्मकीर्ति ने सन्तानान्तरसिद्धि में स्वप्न का विशेष रूप से विवेचन किया है (बु० लॉ० २, पृ० ६ टि०)।

ननु चेति—(शङ्का) नियत देश में स्थित तथा नियत आकार वाली वस्तु तो ज्ञान द्वारा प्राप्त कराई जा सकती है; किन्तु जिस काल में वस्तु का ज्ञान किया जाता है (यः कालोऽस्य परिच्छेदनस्य तद् यथा भवति तथा परिच्छिन्नम्) उसी काल में वस्तु प्राप्त नहीं कराई जा सकती (सः कालो यस्य प्रापणस्य तद् यथा भवति तथा न शक्यं प्रापयितुम्)।

(समाधान) यह नहीं कहा गया कि जिस काल में वस्तु जानी जाती है उसी काल में वह प्राप्त करनी होती है; क्योंकि वस्तु के ज्ञान का काल भिन्न है और उसकी प्राप्ति का काल दूसरा ही है। केवल (=किन्तु) (यह भाव है कि) ज्ञान काल में विद्यमान जिस वस्तु को जाना जाता है वही वस्तु उस ज्ञान द्वारा प्राप्त की जाने योग्य है। (यहां वस्तु के पूर्व तथा अपर क्षण में) अभेद का निश्चय (=अध्यवसाय) होने से (क्षणों के) सन्तान में होने वाली एकता समझनी चाहिये।

---

१. च, इति नास्ति A. E. P. २. तेन, इति नास्ति A. D. E. P.

सम्यग्ज्ञानं पूर्वं कारणं यस्याः सा तथोक्ता। कार्यात् पूर्वं भवत् कारणं पूर्वमुक्तम कारणशब्दोपादाने[1] तु पुरुषार्थसिद्धेः साक्षात्कारणं गम्येत[2]। पूर्वशब्दे तु पूर्वमात्रम्।

ननु च०—शङ्का का आशय यह है कि जिस क्षण में वस्तु का ज्ञान होता है उसी क्षण में प्राप्ति नहीं हो सकती तथा पदार्थों के क्षणिक होने के कारण अग्रिम क्षण में वही वस्तु नहीं रहती। काल-भेद से वस्तु-भेद हो जाता है। इस प्रकार 'कालान्तर-युक्तग्राहि च न कालान्तरवति वस्तुनि प्रमाणम्' यह कथन उचित नहीं, क्योंकि सभी ज्ञान इस प्रकार के होते हैं। (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० २६ तथा टिप्प०, पृ० ११)

नोच्यते०—सिद्धान्तवादी का अभिप्राय यह है कि यहाँ सांव्यावहारिक प्रमाण का लक्षण किया गया है। क्षण की अपेक्षा से यह प्रमाण का लक्षण नहीं किया गया, अपि तु सन्तान की अपेक्षा से। इस प्रकार नील ज्ञान के द्वारा जो नीलसन्तान जाना जाता है वही प्राप्त करा दिया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से क्षण-सन्तान को एक समझा जाता है अतः जिस वस्तु का बोध होता है उसकी ही प्राप्ति होती है तथा नील ज्ञान प्रमाण ही है। (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० २७ तथा टिप्प०, पृ० ११)

यत्कालं परिच्छिन्नम्—धर्मो० प्रदीप के अनुसार 'यत्कालम्' का अर्थ है– येन कालेन सम्बद्धम्; तथा इस वाक्य का तात्पर्य है यद् वस्तु येन कालेन सम्बद्धं परिच्छिन्नं तदेव तेन कालेन सम्बद्धं स्वरूपेण प्रापणीयं तदाऽन्यदा वा। परिच्छेदस्य यादृशः कालः तस्मिन् काले यद् विद्यमानं तदेव प्रापणीयमिति यावत्; अर्थात् ज्ञान के समय जो वस्तु विद्यमान है यदि वही प्राप्त की जाती है तो सम्यक् ज्ञान या प्रमाण है। अत एव ज्ञान काल में अविद्यमान वस्तु का बोध कराने वाला ज्ञान प्रमाण नहीं (धर्मो० प्र०, पृ० २७)

द्रष्टव्यमिति—यहाँ 'इति' शब्द सूचित करता है कि सम्यग्ज्ञान पद की व्याख्या समाप्त हो गई।

३. सम्यग्ज्ञानादिवाक्य की व्याख्या

सम्यग्ज्ञानमिति—सम्यक् ज्ञान है पूर्व अर्थात् कारण जिसका वह (पुरुषार्थ-सिद्धि) वैसी अर्थात् सम्यग्ज्ञानपूर्विका कही गई है। कारण कार्य से पूर्व होता है इसलिये उसे (कारण को) 'पूर्व' शब्द से कहा गया है। यदि यहाँ 'कारण' शब्द का ग्रहण किया जाता तो पुरुषार्थ-सिद्धि का साक्षात्कारण होने वाला (सम्यक् ज्ञान) समझ लिया जाता (गम्येत)। पूर्व शब्द का प्रयोग करने पर तो (पुरुषार्थ-सिद्धि से) पूर्वमात्र (साक्षात् तथा व्यवहित कारण) को समझा जाता है।

---

१. शब्दापादाने A. B.　　२. मन्यते A. H. गम्यत B.

द्विविधं च सम्यग्ज्ञानम्—अर्थक्रियानिर्भासम्, अर्थक्रियासमर्थे च प्रवर्तकम्। [1]तयोर्मध्ये यत् प्रवर्तकं तदिह परीक्ष्यते। तच्च पूर्वमात्रम्। न तु साक्षात्कारणम्। सम्यग्ज्ञाने हि सति पूर्वदृष्टस्मरणम्। स्मरणादभिलाषः। अभिलाषात् प्रवृत्तिः। प्रवृत्तेश्च प्राप्तिः। ततो न साक्षाद्धेतुः।

अर्थक्रियानिर्भासे[2] तु यद्यपि साक्षात्[3] प्राप्तिः, तथापि तन्न परीक्षणीयम्। यत्र हि प्रेक्षावन्तोऽर्थिनः साशङ्काः, तत् परीक्ष्यते। अर्थक्रियानिर्भासे च ज्ञाते[4] सति सिद्धः पुरुषार्थः। तेन तत्र न साशङ्का अर्थिनः[5]। अतस्तन्न परीक्षणीयम्। तस्मात् परीक्षार्हमसाक्षात् कारणं सम्यग्ज्ञानमादर्शयितुं कारणशब्दं परित्यज्य पूर्वग्रहणं कृतम्।

कारणशब्दोपादाने०—भाव यह है कि जो कार्य को उत्पन्न करता है, वह कारण कहलाता है– करोतीति कारणं न तु अकुर्वद्रूपम्। जो कार्य को साक्षात् रूप से नहीं करता, किन्तु कारण का कारण होता है, उसके लिये 'कारण' शब्द का प्रयोग औपचारिक होता है। नियम यह है कि यदि मुख्य अर्थ सम्भव हो तो औपचारिक अर्थ का ग्रहण करना उचित नहीं। इस प्रकार यदि यहाँ पूर्व शब्द के स्थान पर कारण शब्द का प्रयोग किया जाता तो जो सम्यक् ज्ञान पुरुषार्थ-सिद्धि का साक्षात् कारण होता है, उसका ग्रहण होता। पूर्व शब्द का प्रयोग करने से तो व्यवहित कारण होने वाला जो सम्यक् ज्ञान है उसका भी ग्रहण होता है।

कौन सम्यक् ज्ञान पुरुषार्थ का साक्षात् कारण है और कौन परम्परया या व्यवहित का कारण है, यह बतलाते हैं—

द्विविधं चेति –सम्यक् ज्ञान दो प्रकार का है—अर्थक्रिया (अथवा अर्थक्रिया के साधन) की प्रतीति कराने वाला और अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु में प्रवृत्ति कराने वाला। उन दोनों में से जो प्रवृत्ति कराने वाला है उसकी यहाँ परीक्षा की जाती है। वह (पुरुषार्थ-सिद्धि के) केवल पहले होता है, उसका साक्षात् कारण नहीं होता। क्योंकि सम्यक् ज्ञान होने पर पूर्व दृष्ट का स्मरण होता है। स्मरण होने से (उसकी प्राप्ति की) अभिलाषा होती है और अभिलाषा से (किसी वस्तु के ग्रहण या त्याग के लिये) प्रवृत्ति होती है। तब प्रवृत्ति से (वस्तु की) प्राप्ति होती है (यही पुरुषार्थ-सिद्धि है)। इस प्रकार (यह सम्यक् ज्ञान पुरुषार्थसिद्धि) का साक्षात् कारण नहीं है। अर्थक्रिया (अथवा अर्थक्रिया-साधन) का सम्यग्ज्ञान हो जाने पर तो साक्षात् ही (अर्थ की या पुरुषार्थ-सिद्धि की) प्राप्ति हो जाती है तथापि उसकी यहाँ परीक्षा नहीं करनी है। क्योंकि (हि) जिस (ज्ञान) के विषय में अर्थाभिलाषी बुद्धिमान् जनों की शङ्का है, उसकी यहाँ परीक्षा की जा रही है। अर्थक्रिया (अथवा अर्थक्रिया के साधन) के ज्ञात हो जाने पर तो पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है। इसलिये उसके विषय में (तत्र) अर्थाभिलाषी सन्देहयुक्त (शङ्काग्रस्त) नहीं होते। अतः उसकी परीक्षा नहीं करनी है। इस प्रकार (पुरुषार्थसिद्धि के) परम्परया कारण (प्रवर्त्तक) सम्यक् ज्ञान को परीक्षा के योग्य दिखलाने के लिये (यहाँ) 'कारण' शब्द को छोड़कर 'पूर्व' शब्द का ग्रहण किया गया है।

---

१. तयोर्यत् A. E. H. N. P.

२. ०निर्भासात्तु B. D. E., ०निर्भासं तु T.

३. प्रवृत्तिस्तथापि A. H. P. ०प्राप्तहेतुः तथापि C.　　४. ज्ञाने B. H. P.

५. साशङ्का अर्थे ज्ञाते A. H. P.

पुरुषस्यार्थः 'पुरुषार्थः'। अर्थ्यतः इत्यर्थं काम्यत इति यावत्। हेयोऽर्थः, उपादेयो वा। हेयो ह्यर्थो हातुमिष्यते, उपादेयोऽपि उपादातुम्। न च हेयोपादेयाभ्यामन्यो राशिरस्ति। उपेक्षणीयो[2] ह्यनुपादेयत्वात् हेय एव। तस्य सिद्धिः—हानम्, उपादानं च। हेतुनिबन्धना हि सिद्धिरुत्पत्तिरुच्यते। ज्ञाननिबन्धना तु सिद्धिरनुष्ठानम्। हेयस्य च[3] हानमनुष्ठानम्, उपादेयस्य चोपादानम्। ततो हेयोपादेययोर्हानोपादानलक्षणानुष्ठितिः [4]सिद्धिरित्युच्यते।

अर्थक्रियानिर्भासम्—इसके दो अर्थ किये गये हैं—(१) दाह आदि अर्थक्रियाविषयक सम्यक् ज्ञान– 'अर्थक्रियायाः निर्भासोऽस्मिन् इति'। इस पक्ष में हेयोपादेय-अनुष्ठान (व्यवहार), ही फल है और यह ज्ञान उस फल का अव्यवहित (साक्षात्) कारण है। यहाँ साधन (दाह आदि के साधन) विषयक सम्यक् ज्ञान प्रवर्तक ज्ञान है और वह अर्थक्रिया-विषयक ज्ञान से व्यवहित है अतः फल का साक्षात् कारण नहीं।

(२) दाह आदि अर्थक्रिया के साधन का सम्यक् ज्ञान'अर्थक्रियाया निर्भासो यस्मात् तत् तया। यतः साधनज्ञानादनन्तरं दाहादिप्रतिभासज्ञानमुत्पद्यते तदेवमुच्यते'। इस पक्ष में अर्थक्रिया का ज्ञान ही फलज्ञान है। उसका साक्षात् कारण है—साधन-ज्ञान। प्रवर्तक ज्ञान, जो इस रूप में होता है कि "दाह-पाक आदि अर्थक्रिया मेरी प्रवृत्ति का विषय है," यह पुरुषार्थसिद्धि का व्यवहित (परम्परया) कारण है।

अर्थक्रियासमर्थं च प्रवर्तकम्—यत् प्रवृत्तिसमधिगम्यार्थक्रियागोचरं तदेवमुक्तम् (धर्मो० प्र०, पृ० २८ तथा मि०, टिप्प०, पृ० १२)

अर्थिनः—अभिलापी जन

पूर्वं—विनीतदेव ने 'पूर्व' का अर्थ हेतु किया है। (बु० लॉ० २, पृ० १० टि० ४)।

सर्वपुरुषार्थसिद्धि पद की व्याख्या

पुरुषस्येति—पुरुष का अर्थ पुरुषार्थ है। जिसकी अर्थना अर्थात् कामना की जाती है, वह अर्थ होता है। यह अर्थ हेय या उपादेय (दो प्रकार का) होता है। क्योंकि हेय अर्थ के त्यागने की इच्छा की जाती है और उपादेय अर्थ का ग्रहण करने की। हेय तथा उपादेय से भिन्न कोई और (अर्थ का) प्रकार (राशि) नहीं है; क्योंकि जो उपेक्षणीय (=उपेक्षा के योग्य) है, वह भी ग्राह्य न होने के कारण हेय ही है। उस अर्थ का त्याग करना या ग्रहण करना ही सिद्धि है। क्योंकि हेतु के निमित्त से होने वाली (हेतुः निबन्धनम् अस्या इति) सिद्धि तो उत्पत्ति कहलाती है; किन्तु ज्ञान के निमित्त से होने वाली सिद्धि अनुष्ठान कहलाती है। हेय वस्तु का त्याग तथा उपादेय (वस्तु) का ग्रहण ही अनुष्ठान है। इस प्रकार हेय वस्तु का त्याग और उपादेय वस्तु का ग्रहण करना रूपी अनुष्ठान को ही सिद्धि कहा गया है।

---

१. A. B.D. E. N. H. P. पुरुषार्थः, इति नास्ति।

२. ०णीयोऽनु० A. ०णीयोप्यनु B. H. N. ०णीयोपि ह्यनु C. D.

३. च, इति नास्ति A. B. E. H. N. P. ४. सिद्धिरुच्यते B.

सर्वा चासौ पुरुषार्थसिद्धिश्चेति । सर्वशब्द इह द्रव्यकार्त्स्न्ये 'वृत्तो न'[1] तु प्रकारकार्त्स्न्ये । ततो नायमर्थः द्विप्रकारापि सिद्धिः सम्यग्ज्ञाननिवन्धनैवेति[2] । अपि त्वयमर्थः—या काचित् सिद्धिः सा सर्वा कृत्स्नैवासौ सम्यग्ज्ञाननिवन्धनेति[3] । मिथ्याज्ञानाद्धि काकतालीयाऽपि नास्त्यर्थसिद्धिः । तथा हि–यदि

अर्थ्यते—यह शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है । √'अर्थ याच्ञायाम्' धातु के णिजन्त रूप से कर्म में अच् प्रत्यय है (धर्मो० प्र०, पृ० ३०), अथवा √अर्थ धातु से कर्म में घञ् प्रत्यय है (टिप्प० १३,१) । पाणिनि व्याकरण में तो √'ऋ' धातु से उणादि 'थन्' प्रत्यय द्वारा 'अर्थ' शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है ।

न च अन्यो······राशिरस्ति—नैयायिकों के अनुसार तीन प्रकार का अर्थ होता है– हेय, उपादेय तथा उपेक्षणीय । किन्तु बौद्धों के अनुसार दो प्रकार का ही अर्थ है– हेय तथा उपादेय । उपेक्षणीय अर्थ का भी हेय में ही अन्तर्भाव हो जाता है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ३१ तथा न्या० वा० ता०, पृ० १०३) ।

ज्ञाननिबन्धना तु सिद्धिरनुष्ठानम्—अनुष्ठान=आचरण, किसी कार्य का करना । धर्मोत्तर के अनुसार 'पुरुषार्थसिद्धि' शब्द में 'सिद्धि' का अर्थ अनुष्ठान है । इस अर्थ से विनीतदेव तथा शान्तभद्र की व्याख्या का दोष प्रकट हो जाता है । उनके अनुसार (अर्थः=प्रयोजनं दाहादि, तस्य दाहादेः निष्पत्तिः) अर्थसिद्धि का अर्थ है—प्रयोजननिष्पत्ति =दाह आदि की निष्पत्ति । किन्तु दाह आदि की निष्पत्ति तो अग्नि आदि हेतु से होती है, सम्यक् ज्ञान से नहीं । सम्यक् ज्ञान तो ज्ञापक हेतु है, कारक हेतु नहीं । अतः हेयोपादेय-अर्थविषयक अनुष्ठान सम्यक् ज्ञानपूर्वक होता है—यही अर्थ ठीक है । (मि०,धर्मो०प्र०, पृ० ३१; टिप्प०, पृ० १३) ।

सर्वेति—सर्व है जो पुरुषार्थ सिद्धि (=सर्वपुरुषार्थसिद्धि) । यहाँ 'सर्व' शब्द (पुरुषार्थसिद्धिरूप) वस्तु की पूर्णता (द्रव्यस्य कार्त्स्न्ये) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, प्रकार की पूर्णता के अर्थ में नहीं । इस लिये यह अर्थ नहीं है कि दोनों प्रकार (के पुरुषार्थ हान तथा उपादान) की सिद्धि सम्यग्ज्ञान-निमित्तक होती है; किन्तु यह अर्थ है—जो कोई भी (पुरुषार्थ की) सिद्धि है, वह सभी सम्यक् ज्ञान के निमित्त से होती हैं । मिथ्याज्ञान से तो अकस्मात् भी अर्थ की सिद्धि नहीं होती । वस्तुतः (=तथाहि) यदि (कोई ज्ञान) प्रदर्शित अर्थ को प्राप्त कराता है तब उससे अर्थ-सिद्धि होती है । प्रदर्शित अर्थ को प्राप्त कराने वाला ज्ञान तो सम्यक् ज्ञान ही है तथा प्रदर्शित अर्थ को प्राप्त न कराने वाला मिथ्या ज्ञान ही (=च) है । और जो ज्ञान अर्थ का प्रापक

---

१. प्रवृत्तः D. २. न च प्र० B. H., न प्रकार C. E. P.
३. निबन्धनेति A. B. D. E. H. P. ४. निबन्धनैवेति A. E. H. P.

प्रदर्शितमर्थं प्रापयत्येवं ततो भवत्यर्थसिद्धिः। प्रदर्शितं च प्रापयत् सम्यग्ज्ञानमेव। प्रदर्शितं चाप्रापयत् मिथ्याज्ञानम्। अप्रापकं च कथमर्थसिद्धिनिबन्धनं स्यात्? तस्माद् यन् मिथ्याज्ञानं न ततोऽर्थसिद्धिः। यतश्चार्थसिद्धिस्तत् सम्यग्ज्ञानमेव। अत एव सम्यग्ज्ञानं यत्नतो व्युत्पादनीयम्। यतस्तदेव पुरुषार्थसिद्धि[1]-निबन्धनम्। ततो यावद् ब्रूयात्[2] 'या काचित् पुरुषार्थसिद्धिः 'सा[3] सम्यग्ज्ञाननिबन्धनैवेति तावद् उक्तं सर्वा सा[4] सम्यग्ज्ञानपूर्विकेति।

नहीं है, वह अर्थसिद्धि का निमित्त कैसे हो सकता है? इसलिये जो मिथ्याज्ञान है, उससे अर्थ की सिद्धि ही नहीं हो सकती और जिससे अर्थ की सिद्धि होती है, वह सम्यक् ज्ञान ही है। अत एव सम्यग्ज्ञान का यत्नपूर्वक प्रतिपादन करना चाहिये; क्योंकि वही पुरुषार्थसिद्धि का निमित्त है। इस प्रकार जो यह कहना था कि जो कोई पुरुषार्थ की सिद्धि होती है वह सम्यग्ज्ञान के निमित्त से ही होती है, उसके स्थान पर यह कह दिया कि समस्त पुरुषार्थसिद्धि (= सा) सम्यक्-ज्ञान-पूर्वक होती है।

सर्वा चासौ०—यहाँ समासविग्रह करके दिखलाया गया है कि इस पद में सर्वा और पुरुषार्थसिद्धि शब्दों का कर्मधारय समास है। साथ ही इस व्युत्पत्ति से विनीतदेव एवं शान्तभद्र की व्याख्या का दोष प्रकट किया गया है। विनीतदेव की व्याख्या है– 'सर्वश्चासौ लौकिको लोकोत्तरश्च आसन्नदेशो दूरदेशश्च पुरुषार्थश्चेति तथा तस्य सिद्धिरिति'। शान्तभद्र की व्याख्या है– 'सर्वश्चासौ पुरुषार्थश्च, सर्वेषां वा पुरुषाणामर्थः, तस्य सिद्धिरिति'। (धर्मो० प्र०, पृ० ३१-३२)।

द्रव्य—यहाँ 'द्रव्य' शब्द का वैशेषिक शास्त्र में प्रसिद्ध अर्थ नहीं है, अपि तु वस्तु या पदार्थमात्र है। इदम् (यह) तद् (वह) आदि शब्दों से जिसका व्यवहार किया जाता है वही यहाँ 'द्रव्य' कहा गया है (धर्मो० प्र०, पृ० ३२)।

ततो नायमर्थ :०–इस कथन द्वारा विनीतदेव और शान्तभद्र की व्याख्या दिखलाई गई है। उन्होने निम्न शङ्का उठाकर 'द्विप्रकारापि' इत्यादि रीति से उसका समाधान किया था। शङ्का इस प्रकार थी—"यह कहना ठीक नहीं कि समस्त पुरुषार्थ की सिद्धि सम्यक् ज्ञान से होती है क्योंकि कभी-२ अकस्मात् मिथ्याज्ञान से भी अर्थसिद्धि देखी जाती है; जैसे, किसी ने अग्नि के ऊपर भाप आदि को देखकर धूम समझ लिया और उससे अग्नि का अनुमान करके लेने के लिए प्रवृत्त हुआ तथा अग्नि प्राप्त कर ली। इस शङ्का का समाधान करते हुए विनीतदेव आदि ने बतलाया—ठीक है, कभी-२ मिथ्याज्ञान से भी अथसिद्धि देखी जाती है (सत्यम्)। फिर भी कोई दोष नहीं, क्योंकि सर्वपुरुषार्थ-सिद्धि में 'सर्व' शब्द प्रकारवाची है अतः अर्थ यह है कि सब प्रकार की (अर्थात् हान तथा उपादान दोनों प्रकार की, अथवा लौकिक एवं अलौकिक दोनों प्रकार की) अर्थसिद्धि प्रायः (बाहुल्येन) सम्यक् ज्ञान से ही होती है। (मि०, टिप्प०, पृ० १३, १४ तथा धर्मो० प्र०, पृ० ३३)।

---

१. सिद्धेः B.
२. ब्रूयात् पुरु० B. C. E. H. P.
३. ०सा, इति नास्ति A. C. E. H. P.
४. सा, इति नास्ति D.

इतिशब्दस्तस्मादित्यस्मिन्नर्थे। यत्तदोश्च नित्यमभिसम्बन्धः। तदयमर्थः—'यस्मात सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः, तस्मात् तत्[1] सम्यग्ज्ञानं व्युत्पाद्यते। यद्यपि च[3] समासे गुणीभूतं सम्यग्ज्ञानं तथापीह प्रकरणे व्युत्पादयितव्यात् प्रधानम्। ततस्तस्यैव तच्छब्देन सम्बन्धः। व्युत्पाद्यते' इति विप्रतिपत्तिनिराकरणेन प्रतिपाद्यते[4] इति ॥१॥

अपि त्वयमर्थः—इस कथन से धर्मोत्तर ने अपना मत प्रकट किया है और 'तथाहि' इत्यादि अवतरण द्वारा उसका स्पष्टीकरण किया है। भाव यह है कि यहाँ सर्व शब्द कात्स्र्न्य=पूर्णता अर्थ में है अतः जो भी पुरुषार्थसिद्धि होती है, वह सम्यग्ज्ञान-पूर्वक होती है। सम्यक् ज्ञान के विना कभी भी पुरुषार्थसिद्धि नहीं होती। ऊपर के उदाहरण जैसे स्थलों में भी मिथ्याज्ञान को अर्थ का प्रापक नहीं कहा जा सकता अपि तु वहाँ अन्य ज्ञान से ही अर्थ की प्राप्ति होती है। इस मन्तव्य का 'प्रमाणविनिश्चय' की टीका में विशद विवेचन किया गया है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ३३ तथा बु० लॉ० २, पृ० ११ टि० १)।

काकतालीया—काक और ताल सम्बन्धी घटना के समान आकस्मिकी घटना (काकतालयोः संयोग इवाकस्मिकी काकतालीया), एक काक ताल पर बैठा ही था कि अकस्मात् उसके सिर पर ताल-फल गिर गया और वह मर गया। इस घटना के समान आकस्मिकी घटना ही काकतालीया कहलाती है।

इतिशब्द इति—यहाँ 'इति' शब्द 'तस्मात्' (=उससे=उस हेतु से=इसलिये) इस शब्द के अर्थ में है। और यद् (=जो) तद् (=वह) इन दोनों शब्दों का सदा ही परस्पर-सम्बन्ध होता है। इस प्रकार यह अर्थ हो जाता है—क्योंकि सकल पुरुषार्थ की सिद्धि सम्यक्-ज्ञान-निमित्तक होती है। इसलिये उसका विशेषतः प्रतिपादन किया जाता है। यद्यपि 'सम्यग्ज्ञान' शब्द (सम्यग्ज्ञानपूर्विका इस) समास में गौण हो गया है तथापि वह यहाँ प्रधान ही है; क्योंकि इस प्रकरण ग्रन्थ में वही प्रतिपाद्य विषय है। इसलिये उस (सम्यक् ज्ञान) का ही 'तद्' शब्द से ग्रहण (सम्बन्ध=स्वीकारः) होता है। 'व्युत्पाद्यते' इस (शब्द) का अर्थ है—मतभेदों का निराकरण करके (शिष्य जन को उस सम्यक् ज्ञान का) बोध कराया जाता है॥ १ ॥

अभिसम्बन्धः—व्यपेक्षा, आकाङ्क्षा। यद् (जो) और तद् (वह) के अर्थों में परस्पर आकाङ्क्षा होती है। यदि कहीं एक का प्रयोग किया गया हो तो दूसरे का अध्याहार कर लिया जाता है। यहाँ 'इति' शब्द का अर्थ है=तस्मात् (इसलिए), जो कि तद् का ही (पञ्चमी विभक्ति एकवचन) रूप है अतः यहाँ 'यस्मात्' (यद् के पञ्चमी विभक्ति के एक वचन) का अध्याहार कर लिया जाता है।

---

१. तस्मात् P.　　२. तद्व्युत्पा० A. E. H. P.

३. च, इति नास्ति C.　　४. प्रतिपाद्यते व्युत्पाद्यत इति E. P.

चतुर्विधा चात्र विप्रतिपत्तिः संख्या-लक्षण-गोचर-फल-विषया । तत्र संख्या विप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह—

द्विविधं सम्यग्ज्ञानम् ।। २ ।।

द्विविधम्[1] इति-द्वौ[2] विधौ प्रकारावस्येति द्विविधम्। संख्याप्रदर्शनद्वारेण च व्यक्तिभेदो दर्शितो भवति। द्वे[3] एव सम्यग्ज्ञानव्यक्ती इति। व्यक्तिभेदे च[4]

समासे गुणीभूतम्—सम्यक् ज्ञानं पूर्वं यस्याःसा सम्यग्ज्ञानपूर्विका—यह बहुव्रीहि समास है। समस्त पद पुरुषार्थसिद्धि का विशेषण है। अतः यहाँ अन्य अर्थ (पुरुषार्थ-सिद्धि) प्रधान है तथा 'सम्यक् ज्ञान' अप्रधान या गौण है। नियम यह है कि 'तद्' (वह) शब्द द्वारा प्रधान का ही परामर्श किया जाता है फिर यहाँ तद् के द्वारा सम्यक् ज्ञान का ग्रहण कैसे हो सकता है? इसका समाधान करते हुए 'तथापि' इत्यादि वाक्य कहा गया है। भाव यह है कि प्राधान्य दो प्रकार से होता है– शब्द से तथा अर्थ से। यहाँ 'सम्यक् ज्ञान' शब्द (समास) की दृष्टि से तो प्रधान नहीं है; किन्तु अर्थ की दृष्टि से तो प्रधान है ही, क्योंकि इस प्रकरण ग्रन्थ में उसका ही प्रतिपादन करना है। इस प्रकार 'तद्' शब्द द्वारा 'सम्यक् ज्ञान' का परामर्श उचित ही है।

विप्रतिपत्ति०—विरुद्धा नाना वा प्रतिपत्तिः विप्रतिपत्तिः (एक ही विषय में भिन्न-२ प्रकार का मन्तव्य ही विप्रतिपत्ति कहलाता है) तस्याः निराकरणेन।

४. सम्यक् ज्ञान (प्रमाण) के प्रकार

चतुर्विधेति—इस (सम्यक् ज्ञान के) विषय में (अत्र) चार प्रकार के मतभेद हैं—(१) संख्या, (२) लक्षण, (३) विषय और (४) फल के सम्बन्ध में। उनमें से संख्या-विषयक मत-भेद का निराकरण करने के लिये कहा है—

सम्यक् ज्ञान दो प्रकार का है ।।२।।

दो विधा अर्थात् प्रकार हैं जिससे वह द्विविध कहलाता है। यहाँ संख्या-प्रदर्शन के द्वारा (सम्यक् ज्ञान का) प्रकार-भेद (=व्यक्ति—भेद) दिखला दिया गया है। सम्यक् ज्ञान के दो ही प्रकार होते हैं। व्यक्ति-भेद दिखला देने पर प्रत्येक व्यक्ति में नियत (निश्चित रूप से घटित होने वाला) जो सम्यक् ज्ञान का लक्षण है, उसको

---

१. 'द्विविधम् इति'—नास्ति, H.

२. द्वे विधे B.

३. एव, इति नास्ति A. E. P.

४. व्यक्तिभेदे प्रद० A. E. H. N. P. व्यक्ति-भेदे च दर्शिते D.

प्रदर्शिते प्रतिव्यक्तिनियतं सम्यग्ज्ञानलक्षणमाख्यातुं शक्यम्। अप्रदर्शिते तु व्यक्तिभेदे सकलव्यक्त्यनुयायि सम्यग्ज्ञानलक्षणमेकं न शक्यं वक्तुम्। ततो [1]लक्षणकथनाङ्गमेव संख्याभेदकथनम्। अप्रदर्शिते तु[2] व्यक्तिभेदात्मके संख्याभेदे लक्षणभेदस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्। लक्षणनिर्देशाङ्गत्वादेव च प्रथमं संख्या-भेदकथनम् ॥२॥

बतलाया जा सकता है। व्यक्ति-भेद न दिखलाने पर तो समस्त व्यक्तियों में अनुगत (घटित होने वाला) सम्यक् ज्ञान का एक लक्षण नहीं बतलाया जा सकता। इसलिये यह (सम्यक् ज्ञान की) संख्या के भेद का कथन लक्षण-कथन का ही अङ्ग है। क्योंकि व्यक्ति-भेदरूप जो संख्या-भेद है यदि उसे न दिखलाया जाये तो (प्रत्येक व्यक्ति का) भिन्न लक्षण (=लक्षण-भेद) दिखलाया नहीं जा सकता; अतः (=च) यह संख्या का भेदकथन लक्षण-कथन का ही अङ्ग है ॥२॥

चतुर्विधा—यहाँ धर्मोत्तर ने प्रमाण (=सम्यक् ज्ञान) के सम्बन्ध में जिन चार प्रकार के मत-भेदों का उल्लेख किया है, उनका धर्मोत्तरप्रदीप (पृ० ३५) में निम्न प्रकार से विवेचन किया गया है—

(१) संख्या-विषयक मतभेद—चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। सांख्य–प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन को; प्राचीन वैशेषिक—प्रत्यक्ष, अनुमान और आर्ष ज्ञान (या प्रातिभ ज्ञान) को; नैयायिक—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द को। प्राभाकर अर्थापत्ति को जोड़कर पाँच और कुमारिलमतानुयायी अभाव प्रमाण सहित ६ प्रमाण मानते हैं। इनके अतिरिक्त पौराणिक जो सम्भव और ऐतिह्य की कल्पना करके आठ प्रमाण मानते हैं, उनका धर्मोत्तरप्रदीप में उल्लेख नहीं किया गया है।

(२) लक्षण-विषयक मतभेद—जैसे वैयाकरण और बृहस्पति के अनुयायी केवल सविकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानते हैं। नैयायिक तथा मीमांसक सविकल्पक तथा निर्विकल्पक दोनों प्रकार का प्रत्यक्ष मानते हैं। कतिपय दार्शनिक (अंश-संवादवादी ?) पीतशङ्ख आदि ज्ञान को भ्रान्त होते हुए भी प्रत्यक्ष मानते है। इसी प्रकार अनुमान के लक्षण के विषय में भी मतभेद हैं।

(३) विषय-सम्बन्धी मतभेद—जैसे, नैयायिक और मीमांसक आदि के अनुसार वस्तु का सामान्य रूप प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों का विषय है (सामान्यविषये प्रत्यक्षा-नुमाने, धर्मो० प्र०, पृ० ३५)—यह कथन विचारणीय है। (द्र०, आगे १.१२)।

(४) फलविषयक मतभेद—भारतीय दर्शन के प्रायः सभी सम्प्रदाय प्रमा रूप फल को प्रमाण से भिन्न ही मानते हैं। किन्तु बौद्ध न्याय प्रमाण तथा उसके फल को अभिन्न मानता है।

---

१. लक्षणभेदकथ० A. B. D. E. H. N. P.

२. च C. अप्रदर्शिते व्य० A. E.

किं पुनस्तद् द्वैविध्यमित्याह—

प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति[1] ।।३।।

प्रत्यक्षमिति प्रतिगतमाश्रितम् अक्षम् । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' (वा० २.२.१८) इति समासः । प्राप्तापन्नालङ्गतिसमासेषु परवल्लिङ्ग-प्रतिषेधाद् अभिधेयवल्लिङ्गे सति सर्वलिङ्गः प्रत्यक्षशब्दः सिद्धः । अक्षाश्रितत्वं च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य, न प्रवृत्तिनिमित्तम् । अनेन [2]त्वक्षाश्रितत्वेनैकार्थ-समवेतम् अर्थसाक्षात्कारित्वं [3]लक्ष्यते । तदेव शब्दस्य प्रवृत्तिनिमितम् । ततश्च यत्किञ्चिद् अर्थस्य साक्षात्कारि ज्ञानं तत् प्रत्यक्षमुच्यते । यदि त्वक्षाश्रितत्व-

---

इन विप्रतिपत्तियों का निराकरण करके यहाँ सम्यक् ज्ञान का प्रतिपादन किया जा रहा है ।

व्यक्तिभेदे तु—यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि धर्मकीर्ति को सम्यक् ज्ञान का लक्षण बतलाकर ही उसके भेदों को दिखलाना चाहिये था । इसके समाधान में ही यह कहा गया है कि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों का लक्षण भिन्न २ बतलाना आवश्यक है । सम्यक् ज्ञान के दो भेदों को दिखलाकर ही वह बतलाता जा सकता है अतः लक्षण बतलाने के लिये ही ये भेद दिखलाये गये हैं ।

द्विविधम्—'प्रत्यक्षम् अनुमानञ् च' इस निर्देश से ही यह ज्ञात हो जाता के कि प्रमाण दो प्रकार का है । फिर 'द्विविधम्' शब्द का ग्रहण इस अवधारण के लिए किया गया है कि प्रमाण दो ही प्रकार का है तीन गा चार आदि प्रकार का नहीं । यदि 'द्विविधम्' का ग्रहण न किया जाता तो यह शङ्का हो सकती थी कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान तो प्रमाण हैं किन्तु और भी तो प्रमाण हो सकते हैं (मि०, टिप्प०, पृ० १५) ।

किं पुनस्तदिति—सम्यक् ज्ञान के वे दो प्रकार कौन से हैं, यह बतलाते हैं—

प्रत्यक्ष और अनुमान ।।३।।

प्रत्यक्ष का अर्थ है—इन्द्रिय को प्राप्त या आश्रित । (प्रत्यक्ष शब्द में प्रति और अक्ष शब्द का) 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इस (वार्त्तिक) से समास होता है । प्राप्त, आपन्न, अलम् और गति समास में (द्वन्द्व और तत्पुरुष में) उत्तरपद के समान लिङ्ग होने (के नियम) का निषेध किया गया है । इसलिये अभिधेय (वाच्य अर्थ) के समान लिङ्ग होकर ऐसा प्रत्यक्ष शब्द सिद्ध होता है, जिसका सभी लिङ्गों (पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग) में प्रयोग किया जाता है । (सर्वलिङ्गः) । इन्द्रियाश्रित होना (प्रत्यक्ष) शब्द की व्युत्पत्ति (=निर्वचन, निरुक्ति) का निमित्त है, प्रवृत्ति (=शब्द-प्रयोग) का निमित्त नहीं । इस इन्द्रियाश्रित होने से एक वस्तु (इन्द्रिय ज्ञान)

---

१. B. E. H. N. P. 'इति' पदं नास्ति । २. अनेन त्वलक्षाश्रि० A.
३. लभ्यते B. N.

मेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्याद् इन्द्रियविज्ञानमेव[1] प्रत्यक्षमुच्येत, न मानसादि। यथा 'गच्छतीति गौः' इति गमनक्रियायां व्युत्पादितोऽपि गोशब्दो गमनक्रियोपलक्षितम् एकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति। तथा च गच्छत्यगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति।

में साथ रहने वाला (=समवेत) अर्थ का साक्षात्कार लक्षित होता है। वही (साक्षात्कार या साक्षात्कारित्व) 'प्रत्यक्ष' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है। इस प्रकार जो कोई अर्थ का साक्षात्कार करने वाला ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है। यदि इन्द्रियाश्रित होना ही ('प्रत्यक्ष' शब्द की) प्रवृत्ति का निमित्त होता तो इन्द्रिय-ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा जा सकता, मानस ज्ञान आदि को नहीं (क्योंकि वह केवल इन्द्रिय के आश्रित नहीं है)। जैसे 'गच्छति इति गौः'—जो जाती है वह गौ है—यहाँ 'गो' शब्द गमन-क्रिया (जाना) के अर्थ में व्युत्पन्न माना गया है (व्युत्पादितः), तथापि गमन-क्रिया द्वारा उपलक्षित, एक अर्थ में साथ रहने वाले 'गोत्व' को प्रवृत्ति-निमित्त बनाता है। इस प्रकार जाने वाली अथवा न जाने वाली (दोनों प्रकार की) गौ में 'गो' शब्द का प्रयोग बन जाता है।

प्रतिगतम्०—(i) इस विग्रह द्वारा दिखलाया गया है कि 'प्रत्यक्ष' शब्द में गतिसमास है, अव्ययीभाव नहीं (अत एव आचार्य दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय में जो 'अक्षमक्षं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम्'—यह कहा है वह अर्थमात्र का कथन है, समासप्रदर्शन नहीं)। यदि यहाँ अव्ययीभाव समास माना जाये तो 'प्रत्यक्ष' शब्द नित्यनपुंसक लिङ्ग होगा और 'प्रत्यक्षा बुद्धिः, प्रत्यक्षो घटः' इत्यादि प्रयोग न हो सकेंगे। गतिसमास होने पर तो 'प्रत्यक्ष' शब्द का तीनों लिङ्गों में प्रयोग हो सकता है। (ii) गतिसमास मानने में शङ्का यह है कि गतिसमास भी तत्पुरुष के अन्तर्गत है और तत्पुरुष समास में उत्तरपद के समान लिङ्ग हुआ करता है ('परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः' पा० २.४.२६)। इसका समाधान यह किया गया है कि गति-समास में उत्तरपद के समान लिङ्ग नहीं होता यह भी पाणिनि व्याकरण में कह दिया गया है (द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः, वा०, पा० २.४.२६)। इस प्रकार गति समस में विशेष्य के समान लिङ्ग होता है और 'प्रत्यक्षं ज्ञानम्, प्रत्यक्षा बुद्धिः, प्रत्यक्षो घटः'—सभी प्रयोग होते हैं।

अक्षाश्रितत्वम्०—यहाँ शङ्का हो सकती है कि यदि 'प्रत्यक्ष' शब्द का अर्थ होगा—'इन्द्रिय के आश्रित ज्ञान' तो केवल इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष (=इन्द्रिय ज्ञान) को ही प्रत्यक्ष कहा जा सकता है, मानसज्ञान, योगिज्ञान और आत्मसंवेदन को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकेगा। इसका समाधान करने के लिये बतलाया गया है कि 'प्रतिगतं अक्षम्'—इन्द्रिय के आश्रित होना यह तो प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है;

---

१. इन्द्रियज्ञान० A. E. H. P.

मीयतेऽनेनेति मानम् । करणसाधनेन मानशब्देन सारूप्यलक्षणं प्रमाण-मभिधीयते । लिङ्गग्रहणसम्बन्धस्मरणस्य पश्चात् मानम् अनुमानम् । गृहीते[1] पक्षधर्मे स्मृते च साध्यसाधनसम्बन्धेऽनुमानं प्रवर्तत इति पश्चात्कालभा-व्युच्यते ।

यह 'प्रत्यक्ष' शब्द का अर्थ नहीं है । शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न २ हो सकता है—यह आगे दिखलाया गया है—

व्युत्पत्तिनिमित्तम्—पाणिनि आदि वैयाकरणों तथा यास्क आदि निरुक्तकारों के अनुसार प्रत्येक शब्द की किसी धातु से उत्पत्ति होती है (सर्वं धातुजाः शब्दाः) अर्थात् सभी शब्द यौगिक हैं। किसी शब्द के यौगिक अर्थ को दिखलाने के लिए उसके प्रकृति, प्रत्यय आदि का विभाग करके शब्द की सिद्धि करना ही शब्द-व्युत्पत्ति (Etymological analysis) कहलाती है (प्रकृत्यादिविभागेन शब्दस्य निष्पत्तिः व्युत्पत्तिः, धर्मो० प्र०, पृ० ३६. ८)। 'व्युत्पत्ति' शब्द प्रायः निरुक्ति और निर्वचन आदि शब्दों का समानार्थक है। जैसे पाणिनि व्याकरण के अनुसार गो शब्द की व्युत्पत्ति $\sqrt{}$गम् धातु से मानी जाती है—'गच्छतीति गौः' जो जाती है, वह गौ है। इसी प्रकार 'प्रतिगतम् अक्षम्'—यह प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति है। अतः 'इन्द्रिय के आश्रित होना'—प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति का निमित्त है।

प्रवृत्तिनिमित्तम्—किसी अर्थ के लिये शब्द के प्रयोग (प्रवृत्ति) का निमित्त, अथवा शब्द के संकेत का विषय; जैसे गो शब्द का सकेत मीमांसक के अनुसार गोत्व जाति में है अतः गोत्व ही 'गो' शब्द का प्रवृत्तिनिमित है। इसी प्रकार यहाँ 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त साक्षात्कारित्व है अर्थात् जो ज्ञान अर्थ का साक्षात्कार करता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। मानसप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष और आत्मसवेदन नामक जो प्रत्यक्ष के भेद हैं, उनमें भी अर्थ का साक्षात्कार होता है अतः उनको भी प्रत्यक्ष कहना संगत ही है।

एकार्थसमवेतम्०—इन्द्रियाश्रितत्व (=अक्षाश्रितत्व) और अर्थसाक्षात्कारित्व—ये दोनों एक इन्द्रियज्ञान से सम्बद्ध (=समवेत) हैं अतः इन्द्रियाश्रितत्व के द्वारा लक्षणा से साक्षात्कारित्व का बोध हो जाता है और साक्षात्कारित्व ही प्रत्यक्ष शब्द की प्रवृत्ति का निमित बन जाता है।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि बौद्ध-न्याय के अनुसार वस्तुतः समवाय और समवायी आदि नहीं होते, न ही 'गोत्व' आदि कोई ऐसे भावात्मक (Positive) धर्म हैं जो किसी वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले (=समवेत) हों। अतः अक्षाश्रितत्व और साक्षात्कारित्व तथा गमनक्रिया और गोत्व के एकार्थ-समवेतत्व का तात्पर्य है—एक वस्तु से सम्बद्ध होना। यह एकार्थ-समवाय कल्पित ही है, परमार्थसत् नहीं अथवा कहिये कि न्याय आदि की दृष्टि से ऐसा कहा गया है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ३६)।

मीयते इति—जिससे ज्ञान किया जाता है, वह मान कहलाता है। इस प्रकार करणार्थक 'मान' शब्द से प्रमाण कहा गया है, जिस (प्रमाण) का स्वरूप (=लक्षण)

---

१. गृहीतपक्ष० B.

चकारः प्रत्यक्षानुमानयोस्तुल्यबलत्वं समुच्चिनोति। यथा अर्थाविनाभावित्वाद् अर्थं प्रापयत् प्रत्यक्षं प्रमाणम्, तद्वद् अर्थाविनाभावित्वाद् अनुमानमपि परिच्छिन्नमर्थं प्रापयत् प्रमाणम् इति ॥३॥

है ज्ञान का अर्थ के साथ सारूप्य। लिङ्ग (धूम आदि) के ग्रहण तथा प्रतिबन्ध (=अविनाभावी सम्बन्ध या व्याप्ति) के स्मरण के पश्चात् होने वाला प्रमाण अनुमान है। पक्ष (पर्वत आदि के) धर्म (धूम आदि) का ग्रहण हो जाने पर तथा साध्य (अग्नि आदि) और साधन (धूम आदि) के सम्बन्ध का स्मरण होने पर अनुमान की प्रवृत्ति होती है, इसलिये इसे पश्चात् काल में होने वाला कहा जाता है।

सारूप्यलक्षणम्—सारूप्यं लक्षणं स्वभावो (characteristic, essence) यस्य तत् (प्रमाणम्)। बौद्धन्याय में ज्ञान ही प्रमाण है तथा ज्ञान ही प्रमाण का फल (प्रमा) है। प्रमाण और फल-व्यवस्था इस प्रकार होती है कि ज्ञान का जो अर्थ के साथ सारूप्य है, वही प्रमाण है और जो अर्थ-प्रतीति है, वही फल है। अतः प्रमाण का स्वरूप या स्वभाव है—सारूप्य। यह प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाणों के विषय में समान ही है जिसका विशद विवेचन आगे किया जायेगा (द्र०—'अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्' १.२० तथा 'प्रमाणफलव्यवस्थाऽत्रापि प्रत्यक्षवत्' २.४)।

अभिधीयते—अभिधीयते=अभिधया उच्यते, वाच्यम् इति यावत्; अर्थात् 'मान' शब्द का वाच्यार्थ प्रमाण है, अथवा 'मान' शब्द प्रमाण का वाचक है।

पश्चात् मानम्—यह 'अनुमान' शब्द का अर्थ दिखलाया गया है। वस्तुतः यहाँ पश्चात् अर्थवाची 'अनु' शब्द का 'मान' शब्द के साथ गतिसमास होता है, अव्ययीभाव समास नहीं। अव्ययीभाव समास मानने पर तो 'मानस्य पश्चात्' यह विग्रह होगा, जिससे अभीष्ट अर्थ की प्रतीति न हो सकेगी। बौद्धन्याय में तो लिङ्गदर्शन और सम्बन्ध-स्मरण के पश्चात् होने वाला, जो ज्ञान का अर्थ के साथ सारूप्य (=मान) है, वही, अनुमान कहलाता है। यहाँ किसी मान (प्रमाण) के पश्चात् वह ज्ञान (अनुमान) नहीं होता। जैसा कि न्याय आदि में प्रत्यक्ष प्रमाण के पश्चात् होने वाला प्रमाण अनुमान माना जाता है। अव्ययीभाव समास मानने में दूसरा दोष यह है कि 'अनुमानस्य' इत्यादि में षष्ठी विभक्ति न होगी (मि०, धर्मो० प्र०, पृ०,४० तथा टिप्प०, पृ० १६)।

चकार इति—(प्रत्यक्षम् अनुमानं च) यहाँ च (=और) शब्द प्रत्यक्ष तथा अनुमान के सामर्थ्य की समानता का समुच्चय करता है। जिस प्रकार अर्थ के विना न होने के कारण अर्थ को प्राप्त कराता हुआ प्रत्यक्ष प्रमाण है, उसी प्रकार अर्थ के विना न होने के कारण अनुमान भी अपने द्वारा बोधित (=परिच्छिन्न=अध्यवसित) अर्थ को प्राप्त कराता है अतः प्रमाण है ॥३॥

तत्र प्रत्यक्षं कल्पोनापोढमभ्रान्तम् ।।४।।

तत्रेति सप्तम्यर्थे वर्तमानो निर्धारणे वर्तते। ततोऽयं वाक्यार्थः तत्र तयोः प्रत्यक्षानुमानयोरिति समुदायनिर्देशः। प्रत्यक्षम् इत्येकदेशनिर्देशः[1]। तत्र समुदायात् प्रत्यक्षत्वजात्यैकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम्। तत्र प्रत्यक्षमनूद्य[2] कल्पनापोढत्वम्, अभ्रान्तत्वं च[3] विधीयते। यत् तत् भवताम् अस्माकं चार्थेषु साक्षात्कारि ज्ञानं प्रसिद्धं तत कल्पनाऽपोढाभ्रान्तत्वयुक्तं द्रष्टव्यम्।

समुच्चिनोति = जोड़ता है। च (= और) समुच्चयबोधक अव्यय है। 'प्रत्यक्षम् अनुमानं च' में जो 'च' का प्रयोग किया गया है वह इस अधिक अर्थ का समुच्चय करने के लिये है कि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों समान रूप से प्रमाण हैं। भाव यह है कि अविसंवादक ज्ञान ही प्रमाण कहलाता है अविसंवादक ज्ञान उसे कहते हैं जो स्वप्रदर्शित अर्थ को प्राप्त करा देता है स्वप्रदर्शित अर्थ को वही ज्ञान प्राप्त कराता है जो अर्थ का अविनाभावी होता है; अथवा जो अर्थ मे उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थ का अविनाभावी होने के कारण अर्थ को प्राप्त कराता है इसलिये वह प्रमाण कहा जाता है। इसी प्रकार अनुमान भी अर्थ का अविनाभावी होने से अर्थ को प्राप्त कराता है अतः वह भी प्रयत्क्ष के समान ही प्रमाण है। इतना अन्तर अवश्य है कि प्रत्यक्ष ज्ञान साक्षात् रूप से अथ का अविनाभावी है और अनुमान परम्परया अर्थ का अविनाभावी होता है।

इस कथन के द्वारा चार्वाक के प्रति अनुमान की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है (मि०, प्रमाणवार्त्तिक २.६६)। साथ ही अनुमान को प्रत्यक्ष के समान सामर्थ्यवाला (तुल्य-बल) बतलाकर मीमांसक के इस मत का निराकरण किया गया है कि अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष की अपेक्षा कनिष्ठ होता है। (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ४०, ४१ तथा टिप्प०, पृ० १६)।

५. प्रत्यक्ष का लक्षण

तत्रेति—उन दोनों (प्रत्यक्ष और अनुमान) में से प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो कल्पना-रहित तथा निर्भ्रान्त होता है ।।४।।

यहाँ 'तत्र' (= वहाँ) शब्द सप्तमी के अर्थ में है जो (सप्तमी) निर्धारण अर्थ में है। इसलिये वाक्य का अर्थ यह है—तत्र = तयोः = उन दोनों प्रत्यक्ष और अनुमान में से, इस प्रकार ('तत्र' शब्द द्वारा) समुदाय का निर्देश किया गया है। 'प्रत्यक्ष' इस शब्द से (उस समुदाय के) एकदेश का निर्देश किया गया है। उस समुदाय में से प्रत्यक्षत्व जाति के द्वारा एकदेश (प्रत्यक्ष) का पृथक् करना ही निर्धारण है। इस प्रकार (तत्र = ऐसा होने पर) 'प्रत्यक्ष' को उद्देश्य करके (अनूद्य = अनुवाद करके)

---

१. इत्येकदेशः A. C. E. H. P.
२. प्रत्यक्षत्वमनूद्य B. D. E. H. N. P.
३. च, इति नास्ति B.

न चैतन्मन्तव्यम कल्पनाऽपोढाऽभ्रान्तत्वं चेद् अप्रसिद्धम् किम्, अन्यत् प्रत्यक्षस्य ज्ञानस्य रूपमवशिष्यते यत् प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सद् अनूद्येतेति।

कल्पना-रहित होना (कल्पनापोढत्व) और भ्रान्तिरहित होना (अभ्रान्तत्व) का विधान किया गया है। (वाक्य का अर्थ यह है) आपको तथा हमें जो वस्तुओं में साक्षात्कारी ज्ञान प्रसिद्ध है, उसे कल्पना-रहित और भ्रान्ति-शून्य ज्ञान समझना चाहिये।

निर्धारणे—जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा-द्वारा किसी समुदाय से उसके अंश को पृथक् करना ही निर्धारण कहलाता है (जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायाद् एकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम्)। यहाँ 'यतश्च निर्धारणम्' (पा० २.३. ४१) के अनुसार निर्धारण में सप्तमी विभक्ति है।

प्रत्यक्षत्वजात्या—क्योंकि प्रत्यक्ष बहुत से हैं अतः उनमें रहने वाली प्रत्यक्षत्व जाति के कारण प्रत्यक्ष का प्रमाणों में निर्धारण किया गया है (प्रत्यक्षाणां बहुत्वात् तज्जात्या निर्धार्यते, टिप्प० पृ० १७.·)। यहाँ वैयाकरणों की दृष्टि से ही निर्धारण का विवेचन किया गया है अतः उनके अनुसार ही जाति का उल्लेख है। अथवा 'प्रत्यक्षत्व' आदि कल्पित जातियों की दृष्टि से कहा गया है। बौद्ध के मत में तो जाति या सामान्य परमार्थसत् वस्तु नहीं है।

प्रत्यक्षमनूद्य = प्रत्यक्ष का अनुवाद करके। उक्त या ज्ञात वस्तु का पुनः कथन ही अनुवाद कहलाता है (उक्तस्य पुनर्वचनमनुवादः) भाव यह है कि यहाँ प्रत्यक्ष उद्देश्य है और कल्पनापोढत्व एवं अभ्रान्तत्व विधेय हैं। जैसा कि उपर्युक्त अर्थ से स्पष्ट है, साक्षात्कारी ज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष सभी को प्रसिद्ध है, उस प्रत्यक्ष की दो विशेषताओं का विधान किया गया है—कल्पनारहित होना और भ्रान्ति-शून्य होना।

इस कथन द्वारा विनीतदेव की व्याख्या पर आक्षेप किया गया है। विनीतदेव की व्याख्या है—"प्रत्यक्षमिति संज्ञा कल्पनापोढत्वादि संज्ञेव। तेन संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः प्रतिपाद्यते।" इस व्याख्या के द्वारा प्रत्यक्ष का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता अतः इससे प्रत्यक्ष के स्वरूप के विषय में जो मत-भेद हैं उनका निराकरण न हो सकेगा क्योंकि संज्ञा मात्र करने से लक्षण की प्रतीति नहीं होती। (मि०, टिप्प०, पृ० १७.४ तथा आगे)।

दूसरे व्याख्याकारों का कथन है—"प्रदेशान्तरप्रसिद्धयोः कल्पनापोढत्वाऽभ्रान्तत्वयोरनुवादेन प्रत्यक्षत्वं विधीयते"—यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जहाँ लक्ष्य लक्षणभाव प्रसिद्ध होता है वहाँ लक्षण को उद्देश्य करके लक्ष्य का विधान किया जा सकता है जैसे 'जो शिखावान् है वह परिव्राजक है।' किन्तु प्रत्यक्ष के विषय में तो ऐसा नहीं है धर्मोत्तर ने इस विषय का विशद विवेचन प्रमाण-विनिश्चय की टीका में किया है (दे० धर्मो० प्र०, पृ० ४१ तथा टिप्प० पृ० १७-१८)।

न चैतन्मन्तव्यमिति—(शङ्का) यदि कल्पनारहित होना और निर्भ्रान्त होना अप्रसिद्ध (अज्ञात) है, तो इनसे भिन्न (अन्यत्) प्रत्यक्ष ज्ञान का क्या रूप शेष रहता है,

यस्मादिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यर्थेषु साक्षात्कारिज्ञानं प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सर्वेषां[1] प्रसिद्धम्, तदनुवादेन कल्पनाऽपोढाभ्रान्तत्वं[2] विधिः ।

कल्पनाया अपोढम् अपेतं कल्पनापोढम् । कल्पनास्वभावरहितमित्यर्थः । अभ्रान्तमर्थक्रियाक्षमे वस्तुरूपेऽविपर्यस्तमुच्यते । अर्थक्रियाक्षमं च[3] वस्तुरूपं सन्निवेशोपाधिवर्णात्मकम्[4] । तत्र यन्न भ्राम्यति तद् अभ्रान्तम् ।

जो प्रत्यक्ष शब्द का वाच्य होगा और जिसका उद्देश्य रूप में कथन किया जा सकेगा (अनूद्येत) ?

(समाधान) यह शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वस्तुओं में इन्द्रियों के अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण करने वाला साक्षात्कारी ज्ञान होता है, जिसे प्रत्यक्ष शब्द से कहा जाता है (वाच्य), यह सभी को ज्ञात है। उस (साक्षात्कारी ज्ञान = प्रत्यक्ष) को उद्देश्य रूप में रखकर (अनुवादेन) कल्पनापोढत्व और अभ्रान्तत्व का विधान किया गया है।

इन्द्रियान्वय-व्यतिरेक० —इन्द्रियों के होने पर ही ज्ञान होता है—अन्वय (तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्); इन्द्रियों के विना वह ज्ञान नहीं होता—व्यतिरेक (तदभावे तदभावः)। इस प्रकार का साक्षात्कारी ज्ञान (= प्रत्यक्ष ज्ञान) लोकप्रसिद्ध है। यद्यपि 'प्रत्यक्ष' शब्द इन्द्रिय-साक्षात्कार की अपेक्षा व्यापक है; क्योंकि वह योगि-प्रत्यक्ष आदि के लिये भी प्रयुक्त होता है तथापि कोई व्यक्ति इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के उदाहरण से सभी साक्षात्कारी ज्ञानों के स्वरूप को सहज ही समझ सकता है। यह साक्षात्कारी ज्ञान वादी-प्रतिवादी सभी को अभिमत भी है। अत उसको उद्देश्य रूप में रखकर उसकी दो विशेषताओं का उल्लेख किया गया है कि वह कल्पनारहित एवं अभ्रान्त होना चाहिये। इस प्रकार प्रत्यक्ष का स्वरूप है साक्षात्कारी ज्ञान और उसके अन्यव्यावर्त्तक लक्षण हैं—कल्पनापोढत्व और अभ्रान्तत्व, वे ही यहाँ विधेय हैं।

कल्पनाया इति—कल्पना से अपोढ = अपेत अर्थात् रहित कल्पनापोढ कहलाता है। कल्पना के स्वभाव से रहित—यह अर्थ है। 'अभ्रान्त' वह कहा गया है जो वस्तु के अर्थक्रिया-समर्थ रूप से विपरीत नहीं होता (अविपर्यस्तम्)। और, वस्तु का अर्थ-क्रियासमर्थ रूप सन्निवेश-विशिष्ट-वर्णात्मक ही होता है। उस (वस्तुरूप) में जो भ्रान्त नहीं होता, वह अभ्रान्त कहलाता है।

कल्पनायाः० (i) जब हम नेत्र आदि इन्द्रिय के द्वारा 'नील' आदि का साक्षात्कार करते हैं तो यही ज्ञान साक्षात्कारी ज्ञान है। इसमें नाम आदि कल्पनाओं का सम्बन्ध नहीं होता। नील का आभास तो होता है, पर इस रूप में नहीं कि 'यह नील है'। इसलिये इस ज्ञान को निर्विकल्पक (= कल्पनाऽपोढ) ज्ञान कहते हैं। किन्तु इसके अनन्तर विकल्पात्मक = सविकल्पक = निश्चयात्मक ज्ञान होता है। जिसका स्वरूप है—'यह नील है' इत्यादि। बौद्धदर्शन में निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों

---

१. ०षां सिद्धं A. C. E. H. P.
२. ०पोढत्वाभ्रा० C. D.
३. ० च, नास्ति A.E.P.
४. ० धर्मात्मकम्० H. P.

प्रकार का ज्ञान माना गया है। इसी प्रकार न्यायदर्शन में भी। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि बौद्धदर्शन में निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है, सविकल्पक को नहीं।

(ii) प्रो० श्चेरवात्स्की ने पहिले यह सिद्ध किया था कि बौद्धदर्शन में निर्विकल्पक और सविकल्पक का भेद सर्वप्रथम दिङ्नाग ने ही किया। किन्तु बाद में प्रो० श्चेरवात्स्की ने स्वीकार किया है कि विज्ञान-स्कन्ध और संज्ञास्कन्ध के रूप में निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान का भेद बौद्ध दर्शन में दिङ्नाग से पूर्व ही विद्यमान था। न्यायदर्शन में इन दोनों के अन्तर का संकेत वात्स्यायन भाष्य तथा उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक में उपलब्ध हो सकता है तथापि इनका स्पष्ट रूप से प्रतिपादन वाचस्पति मिश्र ने ही किया है (देखिये, प्रत्यक्षसूत्र. न्या० वा० ता०)। हां, समस्त वैदिक दर्शन की दृष्टि से तथ्य यह है कि कुमारिल भट्ट ने सर्वप्रथम इन दोनों का स्पष्ट विवेचन किया है। (श्लो० वा०, १. १. ४ श्लोक ११२, १२०)। (समस्त टि० के लिये, मि०. बु० लॉ २, पृ० १५, टि० २)।

कल्पनास्वभावरहितम्—यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि एक ज्ञान के भीतर दूसरा ज्ञान तो हो नहीं सकता और कल्पना भी एक ज्ञान है, अतः किसी ज्ञान में कल्पना-युक्त या कल्पना-रहित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसका समाधान करने के लिये 'कल्पनापोढ' शब्द का विवक्षित अर्थ बतलाया गया है। यहाँ कल्पना = कल्पनात्व (भावप्रधानो निर्देशः), अतः यह अर्थ है कि जो ज्ञान कल्पनारूप या कल्पना के स्वभाव वाला नहीं होता। अथवा जिस ज्ञान में कल्पनात्व = अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्व (वाचक शब्द के संसर्ग की योग्यता) नहीं होता है। इस अर्थ से उद्योतकर आदि द्वारा दिखलाये दोषों का निराकरण हो जाता है। (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ४२)।

सन्निवेशोपाधि०—सन्निवेशः उपाधिः विशेषणं यस्य वर्णस्य वस्तुशब्दवाच्यस्य शुक्लादिपरमाणुसंघातस्य स एव आत्मास्वभावो यस्य (धर्मो० प्र०)। इस पद द्वारा अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु का स्वरूप बतलाया गया है। यहाँ सन्निवेश का अर्थ है—रचना-विशेष, या चार कोणों वाली या किसी अन्य आकार वाली होना। यह वस्तु का वास्तविक धर्म नहीं. अपि तु प्रतिभास का धर्म है, वस्तु में भासित मात्र होता है (सन्निवेशश्चतुरस्रत्वादिः प्रतिभासधर्मः, धर्मो० प्र०) विशेष प्रकार के सन्निवेश (arrangement) के कारण रूप आदि परमाणु ही घट आदि के रूप में जल-लाना आदि अर्थ-क्रिया में समर्थ होते हैं। अतः सन्निवेश-विशिष्ट परमाणु-संघात ही वस्तु का अर्थक्रिया-समर्थ रूप है, इससे भिन्न नहीं (सन्निवेशविशिष्टस्यैव वर्णस्यान्वयव्यतिरेकाभ्याम् अर्थक्रियायाम् उपयोगदर्शनात्, धर्मो० प्र०, पृ० ४२)। इस कथन से दिङ्नाग सम्प्रदाय की दृष्टि से बाह्य वस्तु के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। यहाँ अवयवी रूप वस्तु नहीं है, अपि तु रूप आदि जो वर्ण या हीनयान सम्प्रदाय के धर्मनामक तत्त्व हैं (वर्णात्मकम् के स्थान पर धर्मात्मकम् पाठ भी मिलता है), वे जब सन्निवेश-विशेष के कारण जल लाना आदि

एतच्च लक्षणद्वयं विप्रतिपत्तिनिरासार्थम्[1], न त्वनुमाननिवृत्त्यर्थम। यतः कल्पनापोढग्रहणेनैवानुमानं निर्वर्तितम्। तत्रासत्यभ्रान्तग्रहणे गच्छद्वृक्षदर्शनादि प्रत्यक्षं कल्पनापोढत्वात् स्यात्। ततो हि प्रवृत्तेन वृक्षमात्रम् अवाप्यते

अर्थ-क्रिया में समर्थ होते हैं तो वही घट आदि वस्तु कहलाती है। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने बौद्धदर्शन का निम्न उद्धरण देकर निरूपण किया है—'घट इत्यपि च रूपादय एवैकार्थक्रियाकारिणस्तथा व्यपदिश्यन्ते (न्या० वा० ता०, पृ० २२६)। दुर्वेक मिश्र ने भी (धर्मो० प्र०, पृ० ४२) लिखा है—"अनेन परमाणुप्रचयस्यैवार्थक्रियाकारित्वम्, नावयविनस्तस्यासत्त्वादिति सूचितम्"। (दिङ्नाग सम्प्रदाय के वस्तुस्वरूप के विषय में द्रष्टव्य, मेरा लेख—The Conception of external object in the school of Dignāga. Darshana International; April, 1965 तथा "बौद्धन्याये बाह्यवस्तुनः स्वरूपम्" विश्वसंस्कृतम्, फर्वरी १९६५)

तत्र यन्न भ्राम्यति—अर्थक्रियाक्षमे वस्तुरूपे (आलम्बने) यन्न भ्राम्यति तदभ्रान्तशब्देन गृह्यते (टिप्प०, पृ० १९.९)। यहाँ शङ्का यह है कि योगाचार के मतानुसार तो तथागत के ज्ञान के अतिरिक्त सभी ज्ञान आलम्बन में भ्रान्त होते हैं (सर्वमालम्बने भ्रान्तं मुक्त्वा तथागतज्ञानम्) फिर प्रत्यक्ष का यह लक्षण योगाचार की दृष्टि से संगत न होगा। इसके उत्तर में यही कहा गया है कि यह लक्षण सौत्रान्तिक की दृष्टि से ही है। योगाचार के अनुसार तो 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' इतना ही लक्षण है। सम्यग्ज्ञान का प्रकरण होने से द्विचन्द्रदर्शन आदि में प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं जायेगा। यद्यपि सौत्रान्तिक के मत में भी यही बात कही जा सकती है तथापि विप्रतिपत्तिनिराकरण के लिये अभ्रान्त पद प्रत्यक्ष के लक्षण में रक्खा गया है—यह आगे निरूपण किया जा रहा है। (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ४४ तथा टिप्प०, पृ० १९)। धर्मोत्तर ने इस विषय का प्रमाण-विनिश्चय में विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। जिनके अनुसार यहाँ 'अभ्रान्त' शब्द का अर्थ अविसंवादी है उनकी दृष्टि से तो 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् अभ्रान्तम्'—यह समस्त लक्षण सौत्रान्तिक और योगाचार दोनों मतों के अनुकूल है (मि०, तत्त्वसं पं०, का० १३१२)।

एतच्चेति—ये दो लक्षण मत-भेदों (विप्रतिपत्ति) का निराकरण करने के लिये ही हैं (केवल) अनुमान की निवृत्ति के लिये ही नहीं। क्योंकि कल्पनापोढ शब्द का ग्रहण करने से ही अनुमान की निवृत्ति हो जाती है (अर्थात् अनुमान में प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं जाता)। यहाँ अभ्रान्त पद का ग्रहण न करने पर चलते हुए वृक्ष का दर्शन आदि भी प्रत्यक्ष होने लगेगा, क्योंकि वह कल्पना-रहित ज्ञान है। उस ज्ञान से (ततः) प्रवृत्त होने वाले (व्यक्ति) को वृक्षमात्र (गमन-क्रिया से शून्य, केवल वृक्ष) प्राप्त होता है, इस प्रकार अर्थ का संवादक होने से वह सम्यक् ज्ञान है और कल्पना-

---

1. निराकरणार्थम् A. C. E. H. N. P.

इति संवादकत्वात् सम्यग्ज्ञानम्, कल्पनापोढत्वाच्च प्रत्यक्षमिति स्याद् आशङ्का। तन्निवृत्त्यर्थम् अभ्रान्तग्रहणम्। तद्धि भ्रान्तत्वात् न प्रत्यक्षम। त्रिरूपलिङ्गजत्वाभावाच्च नानुमानम्। न च प्रमाणान्तरमस्ति। अतो गच्छद्वृक्षदर्शनादि मिथ्याज्ञानमित्युक्तं भवति।

यदि मिथ्याज्ञानं कथं ततो वृक्षावाप्तिरिति चेत्; न ततो वृक्षावाप्तिः। नानादेशगामी हि[1] वृक्षस्तेन परिच्छिन्नः। एकदेशनियतश्च वृक्षोऽवाप्यते। ततो यद्देशो गच्छद्वृक्षो दृष्टः, तद्देशो नावाप्यते। यद्देशश्चा-

---

रहित होने से वह प्रत्यक्ष है—यह शङ्का हो सकती है। उसके निवारण के लिये अभ्रान्त शब्द दिया गया है। वह (चलते हुए वृक्ष का दर्शन) भ्रान्तियुक्त होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं है। त्रिरूप लिङ्ग से उत्पन्न (ज्ञान) न होने के कारण अनुमान नहीं है। और, इन दोनों से भिन्न कोई प्रमाण है नहीं। इसलिये चलते हुए वृक्ष का दर्शन आदि मिथ्या ज्ञान है—यह कहा जा सकता है।

एतच्चः—इस कथन द्वारा विनीतदेव की व्याख्या पर आक्षेप किया गया है। विनीतदेव के अनुसार—"अभ्रान्तमिति यद्विसंवादि न भवति। एवं सत्यनुमानस्यापि प्रत्यक्षलक्षणं प्राप्नोतीति कल्पनापोढग्रहणं तन्निवृत्त्यर्थम्' (टिप्प०, पृ० १८)—अर्थात् 'अभ्रान्त वह है जो विसंवादी नहीं होता (=अविसंवादक) केवल इतना लक्षण करने से अनुमान में भी प्रत्यक्ष का लक्षण चला जायेगा अतः उसकी निवृत्ति के लिये 'कल्पनापोढ' शब्द का ग्रहण किया गया है"। धर्मोत्तर ने इस पर यह कहा है कि ये दोनों पद विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के अभिप्राय से रक्खे गये हैं केवल अनुमान की निवृत्ति के लिये ही नहीं। अनुमान की निवृत्ति गौण प्रयोजन है। (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ४४)।

संवादकत्वात्—दिङ्नाग की दृष्टि से ऐसा ज्ञान प्रमाण है। तत्त्वसंग्रह (पृ० ३९४) में "भ्रान्ति भी कहीं कहीं प्रमाण होती है" (विभ्रमेऽपि प्रमाणता)—इस मत का उल्लेख करते हुए इसे दिङ्नाग का मन्तव्य बतलाया गया है। (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १७ टि० ३)।

त्रिरूपलिङ्गज०—हेतु के तीन रूपों के विषय में देखिये अनुमान (परि० २.५)।

मिथ्याज्ञानम्—चलते हुए वृक्ष का ज्ञान इत्यादि मिथ्याज्ञान होते हैं, इसी कथन को 'यदि' इत्यादि अवतरण में स्पष्ट किया गया है—

यदि मिथ्याज्ञ नमिति—(शङ्का) यदि वह मिथ्याज्ञान है तो उससे वृक्ष की प्राप्ति कैसे हो जाती है? (समाधान) केवल उस (ज्ञान) से वृक्ष की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि (=हि) भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जाता हुआ वृक्ष उस ज्ञान के द्वारा जाना गया था और एक स्थान पर नियत वृक्ष प्राप्त होता है। इसलिए (ततः) जिस

---

१. हि, नास्ति C.

वाप्यते[1] स न दृष्ट इति न तस्मात् कश्चिदर्थोऽवाप्यते । ज्ञानान्तरादेव तु[2] वृक्षादिरर्थोऽवाप्यते । इत्येवम् अभ्रान्तग्रहणं विप्रतिपत्तिनिरासार्थम् ।

स्थान में जाता हुआ वृक्ष देखा गया था उस स्थान पर वह (वृक्ष) प्राप्त नहीं किया जाता और जिसमें स्थित वृक्ष प्राप्त किया जाता है वह देखा नहीं गया था । अतः उस (मिथ्याज्ञान) से कोई वस्तु प्राप्त नहीं की जाती है । (उस स्थान पर जाने के पश्चात् होने वाले स्थितवृक्ष-विषयक) अन्य ज्ञान से ही वृक्ष आदि वस्तु प्राप्त होती है । इस प्रकार 'अभ्रान्त' शब्द का ग्रहण विरुद्ध मन्तव्यों के निराकरण के लिये किया गया है ।

यद्देशो—यो देशो यस्य (धर्मो० प्र०, पृ० ४६ टि० २) जिस देश वाला; जिस देश में होता हुआ । यह 'वृक्ष' का विशेषण है इसी प्रकार तद्देशः 'सः देशो यस्य' उस देश में स्थित ।

अभ्रान्तग्रहणं विप्रतिपत्तिनिरासार्थम्—प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण करना आवश्यक है या नहीं, यह बौद्धदर्शन में विवाद का विषय रहा है । असङ्ग ने प्रत्यक्ष के लक्षण में अभ्रान्त पद का ग्रहण किया था । दिङ्नाग ने उसे अनावश्यक समझकर छोड़ दिया । साथ ही न्याय-सूत्र के प्रत्यक्ष लक्षण में स्थित अव्यभिचारिपद की भी आलोचना की । दिङ्नाग ने बतलाया कि भ्रान्ति सदा मानसिक होती है (प्र० स०, १.१९) तथा प्रत्यक्षाभास अथवा भ्रान्ति कल्पनाजन्य होती है (प्र० स०, १.८) (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १७, टि० ३) । इसके अतिरिक्त अन्य दो कारणों से भी दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद नहीं रक्खा । एक तो यह कि दिङ्नाग अपने प्रत्यक्ष-लक्षण को वाह्यार्थवादी एवं वाह्यार्थ–विरोधी दोनों मतों के उपयुक्त बनाना चाहते थे । इसी हेतु उन्होंने वसुबन्धु के 'ततोऽर्थादुत्पन्नं ज्ञानम्'—इस प्रत्यक्ष-लक्षण का विरोध किया था, क्योंकि यह वाह्यार्थ में ही घटित होता है । 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' ऐसा लक्षण तो विज्ञानवादी के मत में भी संगत हो जाता है । किन्तु यदि इस लक्षण में 'अभ्रान्त' पद रख दिया जाये तो इसमें विज्ञानवादी के मत का संग्रह न होगा; क्योंकि उसके अनुसार सभी ज्ञान (आलम्बन में) भ्रान्त होते हैं ; दूसरे यह कि 'अभ्रान्त' पद के अनेक अभिप्राय लगाये जा सकते हैं अतः प्रत्यक्ष-लक्षण मे इस पद का ग्रहण लक्षण के आत्मघात के लिये ही होगा । इस प्रकार उपर्युक्त तीन कारणों से दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष के लक्षण में अभ्रान्त पद नही रक्खा (मि०, बु० लॉ० १, पृ० १५५-१५७) ।

दिङ्नाग भ्रान्ति को मानने से इन्कार नहीं करते । उनके अनुसार चार प्रकार के प्रत्यक्षाभास होते हैं, उनमें इन्द्रियाँ भी कारण अवश्य होती हैं किन्तु भ्रान्ति की उत्पत्ति मन से ही होती है । वे चार प्रत्यक्षाभास दिङ्नाग ने निम्न कारिका द्वारा दिखलाये हैं—

---

१. प्यते न स दृष्ट इति C.

२. 'तु' इति नास्ति B D.

भ्रान्तिः संवृतिसज् ज्ञानम् अनुमानानुमानिकम् ।
स्मार्ताभिलापिकञ्चेति, प्रत्यक्षाभं सतैमिरम् ॥

अर्थात् चार प्रत्यक्षाभास हैं—(१) भ्रान्ति; जैसे—मरुमरीचिका में जलज्ञान (२) संवृतिसत् ज्ञान; जैसे—'यह एक बड़ा काला घड़ा है।' इस प्रकार की सभी प्रतीतियाँ प्रत्यक्षाभास हैं; क्योंकि दिङ्नाग-सम्प्रदाय के अनुसार प्रत्यक्ष तो केवल स्वलक्षण (विशेष) का होता है, सामान्य-विशेषवद् वस्तु तो कल्पित है—संवृतिसत् है, अतः उसका ज्ञान प्रत्यक्षाभास है। (३) अनुमानानुमानिक (अनुमान तथा अनुमानजन्य ज्ञान)—धूम होने से यहाँ अग्नि है, इस प्रकार का अनुमान तथा इसके द्वारा होने वाला अग्नि का ज्ञान, यह भी प्रत्यक्षाभास है। इसी प्रकार समस्त स्मृतिजन्य ज्ञान तथा शाब्द ज्ञान (अथवा 'आभिलापिक' यह पाठ है, जिसका अर्थ है—इच्छाजन्य ज्ञान) भी प्रत्यक्षाभास है। चतुर्थ प्रकार का प्रत्यक्षाभास है—(४) सतैमिर—जब नेत्र तिमिर (=रतौंधी) रोग से आक्रान्त हो जाते हैं तो दो चन्द्रमा हैं इस प्रकार का प्रतिभास होने लगता है।

धर्मकीर्त्ति ने इन चारों प्रत्यक्षाभासों का दो वर्गों में विभाजन किया है—सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्षाभास। इनमें से पहिले तीन को सविकल्पक तथा चतुर्थ को निर्विकल्पक बतलाया है (प्र० वा०, २·२८८)। साथ ही यह भी सिद्ध किया है कि इस चतुर्थ प्रत्यक्षाभास का आधार नेत्र ही है मानस कल्पना नहीं (प्र० वा० २·२९३,२९४)। यहाँ प्रमाणवार्तिक के टीकाकार मनोरथनन्दी का कथन है कि 'सतैमिर' जो प्रत्यक्षाभास का उदाहरण दिया गया है वह प्रकट करता है कि 'अभ्रान्त' पद प्रत्यक्ष-लक्षण का अङ्ग है—"अभ्रान्तत्वस्य लक्षणैकदेशत्वोपलक्षकत्वम्" (प्र० वा० म०, २. २९३)। यद्यपि धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के प्रत्यक्ष-लक्षण में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण नहीं किया तथापि 'सतैमिर' इत्यादि प्रत्यक्षाभास का विवेचन करते हुए अभ्रान्त पद की उपयोगिता अवश्य दिखला दी है। इसकी उपयोगिता समझकर ही धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु के प्रत्यक्ष-लक्षण में इस पद का ग्रहण किया है। धर्मोत्तर ने न्यायबिन्दु (परि० १.६) की टीका में 'अभ्रान्त' पद की उपयोगिता दिखलाई है तथा प्रमाण-विनिश्चय की टीका में इस समस्या का विशद विवेचन किया है।

प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद का क्या कार्य है इस विषय में व्याख्याकारों का मत-भेद रहा है। वाचस्पति मिश्र का कथन है कि अभ्रान्त विशेषण रखने से वस्तु के बिना होने वाली मिथ्या प्रतीति (hallucination) में प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं जाता (एतेनाभ्रान्त-विशेषणोपादानेन निरधिष्ठाने केशादिज्ञाने भ्रान्तत्वमप्रत्यक्षतया व्याख्यातम्। न्यायकणिका पृ०, १९२)। वस्तुतः यहाँ 'अभ्रान्त' पद के ग्रहण में धर्मकीर्ति का अभिप्राय यह प्रतीत होता है—मानसिक भ्रान्ति और इन्द्रिय-जन्य भ्रान्ति में हमें अन्तर करना होगा। उदाहरणार्थ जब हमें रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होती है तो यह रज्जु है सर्प नहीं ऐसा बाध-ज्ञान होने पर भ्रान्ति दूर हो जाती है। किन्तु जब तिमिर रोग के कारण दो चन्द्रमा दिखलाई देते हैं तो बुद्धि से यह स्वीकार

'तथा अभ्रान्तग्रहणेनाप्यनुमाने निवर्तिते कल्पनापोढग्रहणं विप्रतिपत्ति-निराकरणार्थम्'। भ्रान्तं हि अनुमानं स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात। प्रत्यक्षं तु ग्राह्ये रूपे न विपर्यस्तम्।

करते हुए भी कि चन्द्रमा एक है दो नहीं, तिमिररोगी को दो दिखलाई दिया करते हैं। अवश्य ही यह दूसरे प्रकार की भ्रान्ति इन्द्रिय-जन्य है। यह निर्विकल्पक ज्ञान है और इससे चन्द्रमा की प्राप्ति भी होती है अतः यह अविसंवादक भी है। यदि प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद न रक्खा जाये तो इस मिथ्या-ज्ञान में भी प्रत्यक्ष का लक्षण चला जायेगा। इससे यह भी विदित होता है कि धर्मकीर्ति के मतानुसार भ्रान्ति केवल मनोजन्य ही नहीं होती अपि तु इन्द्रिय-जन्य भी होती है। इस विषय का धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक (२.२९३–३००) में विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

तथेति—इसी प्रकार 'अभ्रान्त' पद के ग्रहण से भी अनुमान की निवृत्ति हो जाती. तब 'कल्पनापोढ' शब्द (भी) विरुद्ध मन्तव्यों के निराकरण के लिये दिया गया है। वस्तुतः अनुमान भी भ्रान्त ज्ञान है; क्योंकि वह अपने द्वारा गृहीत (सामान्यात्मक) मिथ्या या कल्पित वस्तु (अनर्थे) में परमार्थसत् या वस्तु (अर्थ) का अध्यवसाय करके प्रवृत्त होता है। किन्तु प्रत्यक्ष तो वस्तु के ग्राह्य रूप के विपरीत नहीं होता।

कल्पनापोढ०—श्चेरवात्स्की का कथन है कि अभि० कोश (१.३०) के अनुसार प्रत्येक इन्द्रिय-ज्ञान में स्वरूप-वितर्क (=विकल्प) का योग रहता है (इसी हेतु यहाँ कल्पनापोढ शब्द का ग्रहण किया गया है) मि०, बु० लॉ० २, पृ० १७ टि० ५। वस्तुतः यहाँ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाले 'यह घट है' इस प्रकार के सविकल्पक ज्ञान में प्रत्यक्ष का लक्षण न चला जाये इसी हेतु 'कल्पनापोढ' शब्द का ग्रहण किया गया है, क्योंकि यह ज्ञान अभ्रान्त है और संवादक भी (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ४६)। इस प्रकार जो मीमांसक कहते हैं—

ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया।
बुद्ध्यावसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता॥

(श्लो० वा०, १.१.४, श्लो० १२०)

तथा जो वैयाकरण और नैयायिक आदि ने सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है, उस मन्तव्य का निराकरण हो जाता है। (टिप्प०, पृ० १९,२०)।

भ्रान्तं हि०—बौद्धन्याय के अनुसार अर्थक्रिया-समर्थ वस्तुक्षण ही परमार्थसत् है। लोक में जो घट आदि वस्तु समझी जाती है वह क्षण-सन्तान है, जो अनेक वस्तु क्षणों, वर्णों तथा आकारों आदि का कल्पित समुदाय मात्र है, वस्तु का सामान्यरूप है, वह परमार्थसत् वस्तु (=अर्थ) नहीं। इसी हेतु उसे अनर्थ (कल्पित वस्तु) कहा गया है। प्रत्यक्ष द्वारा वस्तुक्षण (=स्वलक्षण, परमार्थसत् वस्तु) का ग्रहण होता है

---

१. तथा .... विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थम्, इति नास्ति A. E. H. P.
२. विप्रतिपत्तिनिरासार्थम् B. C. D. N.

'न तु अविसंवादकम् = अभ्रान्तमिह गृहीतव्यम् । यतः सम्यग्ज्ञानमेव प्रत्यक्षम्, नान्यत् । तत्र सम्यग्ज्ञानत्वादेवाऽविसंवादकत्वे लब्धे पुनरविसंवादकग्रहणं[2] निष्प्रयोजनमेव । एवं हि वाक्यार्थः स्यात्-प्रत्यक्षाख्यं यदविसंवादकं ज्ञानं तत् कल्पनापोढमविसंवादकं चेति । न चानेन द्विरविसंवादकग्रहणेन किञ्चित् । तस्माद् ग्राह्येऽर्थक्रियाक्षमे वस्तुरूपे यद् अविपर्यस्तं तद् अभ्रान्तमिह वेदितव्यम् ।

और प्रत्यक्ष के पृष्ठभावी विकल्प (=सविकल्पक ज्ञान) द्वारा लोक-प्रसिद्ध वस्तु के सामान्यरूप (=सामान्यलक्षण) का अध्यवसाय (निश्चयात्मक ज्ञान) होता है । किन्तु अनुमान की प्रक्रिया इसके विपरीत है । जब हम धूम द्वारा अग्नि का अनुमान करते हैं तो अग्नि के सामान्य रूप का अनुमान होता है । अनुमित अग्नि को वस्तु का परमार्थसत् रूप नहीं माना जा सकता; क्योंकि वह दाह-पाक आदि अर्थक्रिया में समर्थ नहीं । अतः अनुमान द्वारा ग्राह्य अग्नि को अनर्थ कहा गया है । अनुमान द्वारा इस सामान्य अग्नि का ग्रहण करने के पश्चात् परमार्थसत् अग्नि (=स्वलक्षण) का अध्यवसाय किया जाता है, तभी अर्थ में प्रवृत्ति होती है । इसका विशद विवेचन आगे (१.१२) किया जायेगा ।

स्वप्रतिभास—'स्वप्रतिभास' शब्द का अर्थ है—अपने द्वारा ग्राह्य; क्योंकि बौद्ध दर्शन में अर्थ का ग्रहण वस्तुतः नहीं होता अपि तु व्यावहारिक दृष्टि से ही कहा जाता है इसी हेतु धर्मोत्तर प्रदीप में 'स्वस्य प्रतिभास इव प्रतिभासः (पृ० ७२) यह व्याख्या की गई है । प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों के ही दो प्रकार के विषय होते हैं—स्वप्रतिभास (=ग्राह्य) और अध्यवसेय इनका आगे (१.१२ में) विवेचन किया जायेगा ।

न तु इति—यहाँ अभ्रान्त शब्द का अर्थ अविसंवादक नहीं लेना चाहिये; क्योंकि प्रत्यक्ष तो सम्यक् ज्ञान ही है, सम्यक् ज्ञान से भिन्न नहीं । तब सम्यक् ज्ञान होने से ही प्रत्यक्ष का अविसंवादक होना सिद्ध है, (लब्धे = प्राप्ते = सिद्धे) फिर अविसंवादक (अर्थ में अभ्रान्त पद) का ग्रहण निष्प्रयोजन ही होगा । तब तो वाक्य का अर्थ इस प्रकार होने लगेगा—प्रत्यक्ष नामक जो अविसंवादक (सम्यक्) ज्ञान है, वह कल्पना-रहित और अविसंवादक (=अभ्रान्त) होता है । और, इस दो बार 'अविसंवादक' कहने से कोई लाभ नहीं । इसलिये (प्रत्यक्ष का) ग्राह्य जो अर्थक्रिया में समर्थ वस्तु का रूप है, उसमें जो (ज्ञान) विपरीत नहीं होता(अविपर्यस्तम्) उसे यहां अभ्रान्त समझना चाहिए ।

न तु—विनीतदेव आदि की व्याख्या का दोष दिखलाने के लिए 'न तु' इत्यादि कहा गया है । विनीतदेव (पृ० ४०·१४) ने अभ्रान्त पद का अर्थ अविसंवादक

---

१. अपि त्वविसंवादकम् H.

२. वादग्रह० E. ०वादकत्वग्रह० C.

कीदृशी पुनः कल्पनेह गृह्यत इत्याह—

अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा[1] प्रतीतिः कल्पना ।।५।।

[2]अभिलापेत्यादि । [3]अभिलप्यतेऽनेनेति अभिलापः वाचकः शब्दः । अभिलापेन संसर्गः—[4]अभिलापसंसर्गः—एकस्मिन् ज्ञानेऽभिधेयाकारस्याभिधाना-कारेण सह ग्राह्याकारतया मिलनम् । ततो यदैकस्मिन् ज्ञाने[5]ऽभिधेयाभिधान-

---

किया है तथा कमलशील (पृ० ३९२.५) ने भी । यहाँ धर्मोत्तर ने अभ्रान्त तथा अविसंवादक दोनों शब्दों का तात्पर्य-भेद दिखलाया है । (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १८, टि० १) ।

अभ्रान्तमिह वेदितव्यम्—यहाँ धर्मोत्तर ने 'अभ्रान्त' शब्द का अर्थ किया है कि जो ज्ञान अर्थक्रिया-क्षम वस्तु के रूप से विपरीत नहीं होता, वह अभ्रान्त है । साथ ही यह भी दिखलाया है कि अनुमान भी भ्रान्त ज्ञान है, क्योंकि उसका ग्राह्य विषय वस्तु का परमार्थसत् रूप नहीं (अनर्थ ही उसका ग्राह्य है) । किन्तु पहले अनुमान को सम्यक् ज्ञान एवं प्रमाण बतलाया गया है । इस प्रकार यह प्रकट होता है कि अनुमान (व्यावहारिक दृष्टि से) सम्यक् ज्ञान है, क्योंकि वह अर्थ का अविसंवादक है । साथ ही अनुमान परमार्थतः भ्रान्त ज्ञान है, क्योंकि वह वस्तु के अर्थक्रियाक्षम रूप के विपरीत होता है ।

दूसरी ओर धर्मोत्तर ने कल्पनापोढ शब्द को भी विप्रतिपत्ति-निराकरण के लिये बतलाया है । यद्यपि यहाँ उस विप्रतिपत्ति का उल्लेख नहीं किया तथापि धर्मोत्तरप्रदीप एवं न्यायविन्दुटीका-टिप्पणी से स्पष्ट है कि सविकल्पक ज्ञान की व्यावृत्ति के लिये ही कल्पनापोढ शब्द दिया गया है । किन्तु प्रश्न यह है कि सविकल्पक ज्ञान भी वस्तु के अर्थक्रियाक्षम रूप के विपरीत होता है अतः भ्रान्त है तथा 'अभ्रान्त' पद से ही उसकी भी व्यावृत्ति हो जाती है फिर कल्पनापोढ शब्द की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यक्षपृष्ठभावी सविकल्पक ज्ञान अभ्रान्त ही है (व्यावहारिकलोकाध्यवसायेना-भ्रान्तस्य, धर्मो० प्र०, पृ० ४६) । इस प्रकार यहाँ धर्मोत्तर ने व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से 'अभ्रान्त' पद की व्याख्या की है । सविकल्पक ज्ञान वस्तु–स्वरूप के विपरीत होता है, यह आगे विवेचन किया जायेगा ।

६. कल्पना का स्वरूप

कीदृशी इति— इस प्रत्यक्ष के लक्षण में (इह) किस प्रकार की कल्पना का ग्रहण किया गया है, यह बतलाते हैं—

वाचक शब्द (=अभिलाप) से संसर्ग के योग्य है, (अभिधेय का) आभास जिसमें वह प्रतीति कल्पना है ।

---

१. भासप्र० B. E. H. N. P.
२. अभिलापेति E. P. नास्ति A. E. H. P.
३. अभिलाप्यते A. E. H. P.
४. 'अभिलापसंसर्गः'–इति नास्ति A. E. P.
५. ज्ञानेऽभिधानाभिधेययोः B.

योराकारौ 'सन्निविष्टौ भवतस्तदा संसृष्टे अभिधानाभिधेये भवतः। अभिलापसंसर्गाय योग्योऽभिधेयाकाराभासो' यस्यां प्रतीतौ सा तथोक्ता।

जिसके द्वारा (अर्थ का) अभिधान किया जाता है वह अभिलाप कहलाता है, अर्थात् वाचक शब्द। अभिलाप के साथ संसर्ग (=सम्बन्ध) =अभिलाप-संसर्ग; अर्थात् एक ज्ञान में वाच्य अर्थ के आकार का वाचक शब्द के आकार के साथ ग्राह्य रूप में मिल जाना। इस प्रकार जब एक ज्ञान में वाच्य और वाचक दोनों के आकार भासित (सन्निविष्ट) होते हैं तब वाचक तथा वाच्य सम्पृक्त (=संसृष्ट=संसर्गयुक्त) हो जाते हैं। जिस प्रतीति में वाच्य अर्थ के आकार का आभासवाचक शब्द के संसर्ग के योग्य होता है वह वैसी अर्थात् अभिलाप-संसर्गयोग्य-प्रतिभासा कही गई है।

कीदृशी—कल्पना के स्वरूप के विषय में विविध मत हैं। वैभाषिक के अनुसार वितर्क, विचार इत्यादि से युक्त इन्द्रियज्ञान ही कल्पना है। योगाचार के मत से तथागत के ज्ञान से भिन्न ग्राह्य-ग्राहक भाव से होने वाले सभी ज्ञान कल्पना हैं। अन्यों के अनुसार नाम–जाति आदि से संसृष्ट ज्ञान कल्पना है। अतः यहाँ कल्पना के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। (मि०, टिप्प०, पृ० २१)।

अभिलाप; वाचकः—विनीतदेव (पृ० ५१, ६) ने अभिलाप शब्द का अर्थ किया है—वाच्य अर्थ सामान्य इत्यादि (अभिलप्यते इत्यभिलापः वाच्यः सामान्यादिः)। धर्मोत्तर ने अभिलाप शब्द को करणार्थक मानकर 'वाचक' अर्थ किया है। यहां केवल वाचक या नाम का शब्द द्वारा कथन किया गया है, जाति इत्यादि प्रतीतिगम्य (Implied) हैं। (मि०, टिप्प०, पृ० २१ तथा बु० लॉ २, पृ० १९ टि० ४)

प्रतिभास=ग्राह्य के आकार का आभास=आभास।

अभिलापेन संसर्गः—इस टीका द्वारा शब्द का अर्थ दिखलाया गया है। वस्तुतः यहाँ षष्ठी समास है (अभिलापस्य संसर्गः) देखिये, धर्मो० प्र०, पृ० ४८।

कल्पना= योजना= नाम आदि से संयुक्त ज्ञान=विकल्प। यह वैभाषिकों के वितर्क(= विकल्प) से भिन्न है। उनके अनुसार तो स्वभाव-वितर्क का प्रत्येक इन्द्रिय-ज्ञान के साथ योग रहता है (देखिये, अभि० १.३०)। यह कल्पना योगाचार के ग्राह्य–ग्राहक–भाव विकल्प से भी भिन्न है। दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय (१.३) में कल्पना शब्द द्वारा 'नाम-जाति गुण-क्रिया-द्रव्य-कल्पना' अर्थ को प्रकट किया है। नाम-का अर्थ है—यदृच्छा शब्द, जैसे किसी का नाम देवदत्त आदि रख दिया जाता है। यह नाम स्वलक्षण का वाचक नहीं होता अपि तु अन्य-व्यावृत्ति रूप सामान्य का ही वाचक होता है। 'यह नीला है' इस प्रकार की गुण-कल्पना होती है 'यह गाय है' इस प्रकार की जाति-कल्पना होती है। 'वह चलती है'—यह क्रिया-कल्पना है। इसी प्रकार नाम-जाति

---

१. ०कारौ निविष्टौ B. २. अभिधेयाभासो A. E. H. P. अभिधेयाकारभासो B. T.

तत्र काचित् प्रतीतिरभिलापसंसृष्टाभासा[1] भवति; यथा व्युत्पन्नसङ्केतस्य घटार्थकल्पना घटशब्दसंसृष्टार्थावभासा[2] भवति। काचित्त्वभिलापेनासंसृष्टापि अभिलापसंसर्गयोग्याभासा भवति; यथा बालकस्याव्युत्पन्नसङ्केतस्य कल्पना। तत्र 'अभिलापसंसृष्टाभासा[3] कल्पना' इत्युक्तावव्युत्पन्नसङ्केतस्य 'कल्पना न[4] संगृह्येत[5]। योग्यग्रहणे[6] तु सापि संगृह्यते। यद्यपि अभिलापसंसृष्टाभासा[7] न भवति तदहर्जातस्य बालकस्य[8] कल्पना, अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा तु भवत्येव। या चाभिलापसंसृष्टा सापि योग्या। तत उभयोरपि योग्यग्रहणेन संग्रहः।

आदि से विशिष्ट द्रव्य की कल्पना की जाती है। दिङ्नाग द्वारा निरूपित कल्पना का विशद विवेचन तत्त्वसंग्रह (का० १२१४–१३११) में किया गया है। इनमें से नाम (=अभिलाप) का धर्मकीर्ति ने साक्षात् रूप से ग्रहण किया है और जाति आदि की अर्थतः प्रतीति हो जाती है। इन कल्पनाओं से रहित जो साक्षात्कारी ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है। वह निर्विकल्पक होता है। उसमें तो वस्तु का स्वरूप मात्र भासित होता है। उसमें केवल 'नील' आदि वस्तु का भास होता है। वह भास 'इदं नीलम्' इस रूप में नहीं होता, अपि तु 'नील' वस्तु के नेत्रों के सामने उपस्थित होने पर नीलकारक ज्ञान उत्पन्न होता है, वही प्रत्यक्ष है। उसके पृष्ठभावी विकल्प द्वारा यह जाना जाता है कि यह नील का ज्ञान है। इस का विशद विवेचन आगे (१.२१, अध्यवसायं कुर्वद् एव प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति—टि०) किया जायेगा।

अभिलाप-योग्यः—इस टीका द्वारा शब्द का अर्थ दिखलाया गया है। वस्तुतः यहाँ षष्ठी समास है (अभिलापसंसर्गस्य योग्यः), क्योंकि तादर्थ्य में जो चतुर्थी होती है उसका प्रकृति-विकृतिभाव में ही समास होता है। (धर्मो० प्र०, पृ० ४८)

यदैकस्मिन्—भाव यह है कि जब एक ही ज्ञान में अर्थ का आकार वाचक शब्द के आकार से सम्पृक्त होता है तब वाच्य तथा वाचक का संसर्ग कहलाता है।

तत्र काचिद् इति—अब (=तत्र) कोई प्रतीति तो वाचक शब्द से सम्पृक्त आकार वाली होती है, जैसे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध (संकेत) को जानने वाले व्यक्ति को जो घट वस्तु की कल्पना होती है उसमें घट वस्तु का आभास घट शब्द के संसर्ग-सहित होता है। कोई प्रतीति तो वाचक शब्द से सम्पृक्त नहीं होती तथापि उसका आभास (आकार) वाचक शब्द के संसर्ग-योग्य होता है, जैसे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को न जानने वाले बालक की कल्पना। यदि 'अभिलाप-संसृष्टाभासा कल्पना' इतना ही कहा जाता तो उन कल्पनाओं में से (तत्र) शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को न

---

१. लापेन संसृ० A. E. H. N. P.
२. 'भवति' इति नास्ति B. D.
३. ०सृष्टप्रतिभासा D. संसृष्टप्र(ति) भासा B.
४. 'कल्पना' इति नास्ति A. B. E. H. N. P.
५. संगृह्यते C.
६. ग्रहणेन तु C.
७. सृष्टप्रतिभासा A. C.
८. 'बालकस्य' इति नास्ति A. E. P.

असत्यभिलापसंसर्गे कुतो 'योग्यतावसितिरिति चेत्। अनियतप्रतिभासत्वात्। अनियतप्रतिभासत्वं च प्रतिभासनियमहेतोरभावात्। ग्राह्यो ह्यर्थो विज्ञानं जनयन्नियतप्रतिभासं कुर्यात। यथा रूपं चक्षुर्विज्ञानं जनयन्नियतप्रतिभासं जनयति। विकल्पविज्ञानं त्वर्थान्नोत्पद्यते। ततः प्रतिभासनियमहेतोरभावाद् अनियतप्रतिभासम्।

जानने वाले (बालक) की कल्पना का ग्रहण न होता। योग्य शब्द का ग्रहण करने पर तो वह भी संगृहीत हो जाती है। यद्यपि उसी दिन उत्पन्न हुए बालक की कल्पना वाचक शब्द से सम्पृक्त आकार वाली नहीं होती; किन्तु (तु) उसका आकार (=प्रतिभास) वाचक शब्द के संसर्ग के योग्य तो होता ही है। और, जो (कल्पना) वाचक शब्द के संसर्ग से युक्त है वह भी अभिलाप-संसर्ग-योग्य है ही। इस प्रकार दोनों कल्पनाओं का 'योग्य' शब्द के ग्रहण से संग्रह हो जाता है।

तत्र काचित्०—इत्यादि ग्रन्थ द्वारा न्यायबिन्दु के कल्पना के स्वरूप में 'योग्य' शब्द को रखने का प्रयोजन दिखलाया गया है। भाव यह है कि जो व्यक्ति शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानते हैं उनकी 'यह घट है' इस प्रकार की प्रतीति में वाचक शब्द (घट आदि) का सम्बन्ध रहता ही है। किन्तु जो नवजात शिशु इत्यादि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नहीं जानते उनकी कल्पना में वाचक शब्द का सम्बन्ध नहीं होता। अतः यदि 'अभिलापसंसर्गप्रतिभासा' इतना ही कहा जाता, यहाँ 'योग्य' पद न रक्खा जाता तो प्रथम प्रतीति में ही कल्पना का लक्षण घटित होता, बालक की कल्पना में नहीं। 'योग्य' पद रखने से तो दोनों का ग्रहण हो जाता है; क्योंकि बालक की कल्पना में भी वाचक शब्द के संसर्ग की योग्यता है। कैसे? यह आगे विवेचन किया जा रहा है।

व्युत्पन्नसङ्केतस्य—व्युत्पन्नः ज्ञातः सङ्केतो येन तस्य; शब्द और अर्थ का सम्बन्ध-निर्देश ही सङ्केत कहलाता है जो इस प्रकार होता है—"घट शब्द इस वस्तु का वाचक है या यह वस्तु घट शब्द की वाच्य है।" इस सङ्केत को जानने वाला व्यक्ति व्युत्पन्नसङ्केत कहलाता है।

अव्युत्पन्न०—अव्युत्पन्नः सङ्केतो येन; शब्द और अर्थ के सङ्केत को न जानने वाला।

घटशब्दसंसृष्टार्थावभासा—घटशब्देन संसृष्टः अर्थावभासो यस्यां सा प्रतीतिः जिसमें अर्थ (घट) का आकार (अवभास) 'घट' शब्द से सम्पृक्त है, ऐसी प्रतीति।

असतीति—(प्रश्न) यदि कहो कि वाचक शब्द का संसर्ग न होने पर (बालक की कल्पना में) वाचक के संसर्ग की योग्यता का निश्चय (अवसिति) कैसे होगा? (उत्तर) उसके नियत आकार वाला न होने से (निश्चय हो जायेगा)। क्योंकि (=च) आकार के नियामक हेतु का अभाव होने से वह (विकल्प ज्ञान) अनियत आकार वाला होता है। यदि ग्राह्य अर्थ किसी ज्ञान को उत्पन्न करेगा तो वह नियत आकार वाले

---

१. योग्यत्वावसितिः B. C. D.

कुतः पुनरेतद् विकल्पोऽर्थान्नोत्पद्यत इति ? अर्थसन्निधिनिरपेक्षत्वात् । बालोऽपि यावद् दृश्यमानं स्तनं 'स एवायम्' इति पूर्वदृष्टत्वेन न प्रत्यवमृशति तावन्नोपरतरुदितो मुखमर्पयति स्तने । पूर्वदृष्टापरदृष्टं चार्थमेकीकुर्वद् विज्ञान-

---

ज्ञान को ही उत्पन्न करेगा; जैसे—जब रूप (नील आदि) चाक्षुष ज्ञान को उत्पन्न करता है, तो नियत आकार वाले (ज्ञान) को ही उत्पन्न करता है। किन्तु विकल्प (कल्पना-युक्त) ज्ञान तो वस्तु से उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार वहाँ आकार के नियामक हेतु का अभाव है अतः वह नियत आकार वाला नहीं होता।

प्रतिभासनियम—प्रतिभास = ज्ञान का आकार, नियम = ज्ञान का प्रतिभास रूप या रस आदि के आकार में ही होता है, यह नियम है। यह नहीं कि एक ही इन्द्रिय-ज्ञान रूपाकार में भी हो तथा रसाकार में भी हो।

ग्राह्यो ह्यर्थः—ज्ञान दो प्रकार का है—निर्विकल्पक और सविकल्पक (= विकल्प)। चाक्षुष ज्ञान आदि निर्विकल्पक ज्ञान हैं। इनका ग्राह्य विषय परमार्थसत् वस्तु (स्वलक्षण) है। परमार्थसत् वस्तु के साथ उसके नाम, जाति आदि का ग्रहण चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा नहीं होता। अतः इन्द्रियज्ञान नियत—परिमित (limited) वस्तु का ग्राहक है। वह नियतप्रतिभास = नियताकारक है। किन्तु विकल्पज्ञान तो अर्थ (परमार्थसत् वस्तु) से उत्पन्न नहीं होता। वह तो विना वस्तु के ही मानसिक कल्पना से उत्पन्न हो जाता है। इसलिये उसकी नियामक कोई परमार्थसत् वस्तु नहीं तथा वह नियत-आकार वाला नहीं होता, अनियत-प्रतिभास होता है। इस प्रकार इन्द्रिय-ज्ञान का ग्राह्य विषय 'अर्थ, (परमार्थसत् वस्तु) है और विकल्प का ग्राह्य विषय 'अनर्थ' (कल्पित वस्तु) है। यहाँ 'ग्राह्योऽर्थः' से ग्राह्य अनर्थ का भेद दिखलाया गया है। ग्राह्य और अध्यवसेय का नहीं, जैसा कि श्चेरवात्स्की ने बतलाया है (बु० लॉ २, पृ० २१ टि० २)। नियत = परिमित (limited)। वस्तु के एक क्षण का जो इन्द्रिय-ज्ञान होता है वह उस क्षण में ही नियत होता है, किन्तु विकल्पों द्वारा वस्तु के नाम, जाति आदि का ज्ञान होता है जिसके लिये पूर्व का स्मरण आदि हुआ करते हैं अतः वह ज्ञान नियताकारक नहीं होता। ऊपर (प्रत्यक्षं प्रतिभासमानं नियतम् अर्थं दर्शयति; १·१) जो नियत शब्द आया है, उसका अर्थ है—निश्चित। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों नियत अर्थ का ग्रहण कराते हैं, वहाँ इस कथन से संशय और भ्रान्ति की व्यावृत्ति की गई है।

विकल्प विज्ञान—अभिधर्म में विकल्प को संज्ञा कहा गया है, विज्ञान नहीं (बु० लॉ २, पृ० २१ टि० ४) विकल्प ज्ञान अनियतप्रतिभास क्यों होता है, यह बतलाते हैं—

कुतः पुनरेतद् इति—(शङ्का) ऐसा क्यों कि विकल्प ज्ञान अर्थ (स्वलक्षण) से उत्पन्न नहीं होता ? (समाधान) क्योंकि यह अर्थ के सान्निध्य की अपेक्षा नहीं रखता। बालक भी जब तक दृश्यमान स्तन को 'यह वही है' इस प्रकार पहिले देखे गये रूप में नहीं पहचानता तब तक रोना बन्द करके स्तन में मुख नहीं लगाता। और, पहिले देखी गई तथा पश्चात् देखी गई वस्तु को एक दिखलाने वाला ज्ञान उपस्थित-वस्तु-

मसंनिहितविषयम्, पूर्वदृष्टस्यासंनिहितत्वात्। असंनिहितविषयंचार्थनिरपेक्षम्। अनपेक्षं च प्रतिभासनियमहेतोरभावाद् अनियतप्रतिभासम्। तादृशं चाभिलापसंसर्गयोग्यम्।

विषयक नहीं होता; क्योंकि पहिले देखी गई वस्तु वहाँ उपस्थित नहीं है। जिस (ज्ञान) का विषय उपस्थित नहीं है, वह (ज्ञान) अर्थ-निरपेक्ष होता है (अर्थात् वह वस्तु पर निर्भर नहीं होता)। वस्तु की अपेक्षा न रखने वाला ज्ञान आकार के नियामक (वस्तुरूपी) कारण के न होने से अनियत आकार वाला होता है। उस प्रकार का ज्ञान वाचक शब्द से संसर्ग के योग्य होता है।

प्रत्यवमृशति—प्रत्यभिजानाति, एकीकरोति=पहचानता है।

उपरत०—उपरतं रुदितं यस्य यस्माद् वा सः तथाभूतः, रोना रोक कर।

बालोऽपि०—सामान्यतः यह प्रतिपादन किया गया है कि विकल्पज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता इसलिये वह अनियतप्रतिभास होता है। अब बालक का विकल्प अर्थनिरपेक्ष कैसे है? यह निरूपण करते हैं—क्योंकि बालक भी पूर्वदृष्ट रूप में स्तन को पहचानता है। यहाँ स्तन उसके पूर्वदर्शन का विषय होता है। पूर्वदर्शन तो उसी समय नष्ट हो गया फिर इस समय विद्यमान वस्तु (स्तन) उसका विषय (ग्राह्य) कैसे हो सकती है? इसलिये 'यह वही है' इस ज्ञान में सान्निध्य के विना ही वस्तु (स्तन) को पूर्वदर्शन का विषय समझा जाता है (धर्मो० प्र०, पृ० ५१)। इस प्रकार स्मरण आदि विकल्प ज्ञान अर्थ-निरपेक्ष होते हैं, वे विद्यमान अर्थ से उत्पन्न नहीं होते। 'स एव अयम्' इसके द्वारा विकल्प का स्वरूपनिर्देश किया गया है—अनेन विकल्पस्यावस्थोच्यते (टिप्प०, पृ० २३.४)।

पूर्वदृष्टा०—पूर्वदृष्ट रूप से परामर्श को अभिलाप-संसर्ग-योग्यता में परम्परया हेतु बतलाया गया है—

(i) पूर्वदृष्ट वस्तु उपस्थित (सन्निहित) नहीं होती, इसलिये पूर्वदृष्ट और अपरदृष्ट को एक दिखलाने वाला ज्ञान असन्निहित-वस्तुविषयक होता है।

(ii) जो ज्ञान असन्निहित-वस्तु-विषयक होता है, वह अर्थनिरपेक्ष होता है (अर्थात् वह अर्थ से उत्पन्न नहीं होता)।

(iii) जो ज्ञान अर्थ-निरपेक्ष होता है, उसमें आकार का नियामक हेतु नहीं होता (प्रतिभासनियमहेतोः अभाव)।

(iv) जिस ज्ञान में आकार का नियामक हेतु (अर्थ) नहीं होता वह अनियत आकार वाला (अनियत-प्रतिभास) होता है।

(v) जो ज्ञान अनियत आकार वाला है, वह वाचक शब्द के संसर्ग-योग्य होता है।

पूर्वदृष्ट रूप में ज्ञात होने के कारण बालक का ज्ञान भी अनियत आकार वाला है तथा वाचक शब्द के संसर्ग-योग्य है अतः वह भी कल्पना या विकल्प है—यह स्वभाव हेतु है।

इन्द्रियविज्ञानं तु [1]सन्निहितार्थमात्रग्राहित्वात् अर्थसापेक्षम्। अर्थस्य च प्रतिभासनियमहेतुत्वान्नियतप्रतिभासम्। ततो नाभिलापसंसर्गयोग्यम्।

अत एव स्वलक्षणस्यापि वाच्यवाचकभावमभ्युपगम्य एतद् अविकल्पकत्वमुच्यते। यद्यपि हि स्वलक्षणम् एव वाच्यं वाचकं च भवेत् तथापि अभिलापसंसृष्टार्थं विज्ञानं सविकल्पकम्। न चेन्द्रियविज्ञानम् अर्थेन नियमितप्रतिभासत्वाद् अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासं भवतीति निर्विकल्पकम्।

इन्द्रियविज्ञानमिति—इन्द्रियज्ञान तो केवल सन्निहित अर्थ का ग्राहक है, इसलिये अर्थसापेक्ष है (उसकी उत्पत्ति अर्थ के सान्निध्य पर निर्भर है)। क्योंकि अर्थ (वस्तु) ज्ञान के आकार को नियत करने का हेतु है, इसलिये वह (इन्द्रिय ज्ञान) नियत आकार वाला होता है। इसी से (=नियत आकार वाला होने से) वह वाचक शब्द से संसर्ग के योग्य नहीं होता।

इन्द्रियविज्ञानम्—संक्षेपतः भाव यह है—

(i) इन्द्रियज्ञान अभिलापसंसर्ग-योग्य नहीं।
क्योंकि वह नियत आकार वाला (नियत-प्रतिभास) होता है।

(ii) इन्द्रियज्ञान नियत आकार वाला होता है।
क्योंकि वह केवल उपस्थित अर्थ से ही उत्पन्न होता है।

कुमारिल भट्ट ने आलोचन नामक इन्द्रिय-ज्ञान को बालक और मूक (गूंगे) के समान बतलाया है—

अस्ति ह्यालोचनात्मकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजमिति।

श्लो० वा० १. १.४ श्लो० ११२।

यहाँ धर्मोत्तर ने इन्द्रियज्ञान का बालक के ज्ञान से भेद दिखलाते हुए कुमारिल के मत में दोष दिखलाया है। इन्द्रिय-ज्ञान तो सदा ही निर्विकल्पक होता है किन्तु बालक का ज्ञान वाचक शब्द के संसर्ग-योग्य होता है अतः सविकल्पक होता है, यह भेद स्पष्ट ही है।

अत एव इति—(क्योंकि इन्द्रियविज्ञान वस्तुमात्र से उत्पन्न होने के कारण निर्विकल्पक होता है) इसलिये स्वलक्षण का भी वाच्य-वाचक-भाव स्वीकार करके (प्रत्यक्ष का) कल्पना-रहित होना कहा गया है। यदि स्वलक्षण को ही वाच्य तथा वाचक माना जाये तो भी वह ज्ञान सविकल्पक होता है, जिसमें वाचक शब्द से सम्पृक्त (संसृष्ट) अर्थ हुआ करता है। क्योंकि इन्द्रियविज्ञान अर्थ के द्वारा नियत आकार वाला होने के कारण वाचक शब्द से संसर्ग के योग्य आकार वाला नहीं होता। इसलिये वह निर्विकल्पक ही होता है।

---

१. संनिहितमात्रग्रा० A. E. H. N. P.

श्रोत्रज्ञानं[1] तर्हि 'शब्दस्वलक्षणग्राहि शब्दस्वलक्षणं च[2] किञ्चिद् वाच्यं किञ्चिद् वाचकम् इत्यभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासं स्यात् । तथा च सविकल्पकं स्यात् ।

अत एव—इस ग्रन्थ से विनीतदेव की व्याख्या (पृ० ८१.६) पर आक्षेप किया गया है। विनीतदेव का कथन है कि अर्थ-स्वलक्षण वाच्य नहीं होता, न ही शब्द-स्वलक्षण वाचक होता है अपि तु सामान्य ही वाच्य तथा वाचक होते हैं। इस प्रकार अवाच्य एवं अवाचक जो स्वलक्षण है उसका ग्राहक होने से इन्द्रियज्ञान निर्विकल्पक होता है (विनीतदेवेन सामान्ययोर्वाच्यवाचकभावमङ्गीकृत्य निर्विकल्पकत्वम् इन्द्रियविज्ञानस्य प्रतिपादितम्, टिप्प० पृ० २३–२४)। विनीतदेव का अभिप्राय यह है—मानस आकार (सामान्य लक्षण) में ही शब्द से संसर्ग की योग्यता होती है। अतः शब्द का सामान्य रूप ही अर्थ के सामान्य रूप से सम्बन्ध रखता है। इन दोनों के सामान्य रूप में ही अन्वयव्यतिरेक बन सकता है, शब्द-स्वलक्षण और अर्थ–स्वलक्षण में नहीं। क्षणरूप जो स्वलक्षण है, उसका शब्द से सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार शब्द स्वलक्षण का भी अर्थ से सम्बन्ध होना सम्भव नहीं (मि०, तत्त्वसंग्रह, पृ० ३७८.७—'न हि स्वलक्षणे सङ्केतः नापि शब्दस्वलक्षणे')।

विनीतदेव की व्याख्या पर आक्षेप करने में धर्मोत्तर का अभिप्राय यह प्रतीत होता है—अवाच्य तथा अवाचक जो स्वलक्षण है उसका ग्राहक होने के कारण इन्द्रियज्ञान निर्विकल्पक नहीं होता अपि तु वस्तुमात्र से उत्पन्न होने के कारण ही वह निर्विकल्पक होता है; क्योंकि स्वलक्षण भी वाच्य तथा वाचक हो सकता है। यद्यपि शब्द-क्षण का अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता तथापि किसी शब्द-सन्तान का संकेत काल में स्थित जो शब्द-स्वलक्षण है उसका तत्कालीन अर्थ-क्षण के साथ सम्बन्ध होना सम्भव है। इस प्रकार स्वलक्षण को वाच्य-वाचक मानने पर भी इन्द्रियज्ञान की निर्विकल्पकता सिद्ध हो सकती है। (मि०, बु०, लॉ० २, पृ० २३, टि० २)

अभ्युपगम्य—यहाँ अभ्युपगमवाद से ही विनीतदेव की व्याख्या का दोष दिखलाया गया है। वस्तुतः धर्मोत्तर के मतानुसार भी शब्द-क्षण और अर्थ-क्षण का सम्बन्ध नहीं होता। बौद्धन्याय के सिद्धान्तानुसार सामान्यों का ही वाच्य-वाचक सम्बन्ध होता है अर्थात् गोत्व आदि शब्दसामान्य (अपोह) ही गौ आदि अर्थ–सामान्य (अन्य–व्यावृत्ति रूप अर्थ) के वाचक होते हैं (मि०, परमार्थतः सामान्ययोरेव वाच्यवाचकत्वं नार्थशब्दविशेषस्य, टिप्प०, पृ० २३. १५-१६)। धर्मकीर्ति ने भी कहा है—'न विशेषेषु शब्दानां प्रवृत्तावस्ति सम्भवः' प्र० वा० २. १२७।

श्रोत्रज्ञानम् इति--(शङ्का) इस प्रकार तो (तर्हि) शब्द-स्वलक्षण का ग्रहण करने वाला श्रोत्रज्ञान भी वाचक शब्द के संसर्ग-योग्य होने लगेगा; क्योंकि (च) कोई शब्द-स्वलक्षण तो वाच्य है और कोई वाचक है, और वह (श्रोत्र-ज्ञान) सविकल्पक हो जायेगा।

---

१. श्रोत्रविज्ञानं B· D. N. २. तर्हि स्व० B. ३. 'च' नास्ति A. E. H. P.

नैष दोषः। सत्यपि स्वलक्षणस्य वाच्यवाचकभावे सङ्केतकालदृष्टत्वेन गृह्यमाणं स्वलक्षणं वाच्यं वाचकं च गृहीतं स्यात्। न च सङ्केतकालभावि दर्शनविषयत्वं वस्तुनः सम्प्रत्यस्ति। यथा हि सङ्केतकालभावि दर्शनमद्य निरुद्धम्, तद्वत् तद्विषयत्वमपि अर्थस्याद्य नास्ति। ततः पूर्वकालदृष्टत्वम् अपश्यच्छ्रोत्रज्ञानं[1] न वाच्यवाचकभावग्राहि ।

अनेनैव न्यायेन योगिज्ञानमपि सकलशब्दार्थावभासित्वेऽपि सङ्केतकालदृष्टत्वाग्रहणान्निर्विकल्पकम् ॥५॥

(समाधान) यह दोष नहीं होगा। क्योंकि स्वलक्षण में वाच्य-वाचकभाव मानने पर भी यदि स्वलक्षण का सङ्केत काल में देखे गये रूप से ग्रहण होगा तभी उसका वाच्य तथा वाचक रूप में ग्रहण हो सकेगा। इस समय (श्रोत्र-ज्ञान के समय) गृह्यमाण वस्तु (शब्दस्वलक्षण आदि) सङ्केत-काल में होने वाले बोध का विषय नहीं है। क्योंकि सङ्केत-काल में होने वाला ज्ञान (दर्शन) अब नष्ट हो चुका, उसी प्रकार अब वह वस्तु उस ज्ञान का विषय भी नहीं है। इस प्रकार (शब्दस्वलक्षण को) पूर्व देखे गये रूप से न जानने वाला श्रोत्रज्ञान वाच्य वाचकभाव का ग्रहण नहीं करता।

शब्दस्वलक्षणं न किञ्चिद् वाच्यं किञ्चिद् वाचकम्—मोहन कहता है कि "सोहन ने घट कहा"—ऐसे स्थलों पर श्रोता जो मोहन द्वारा उच्चारित 'घट' (शब्द) को सुनते हैं वह घट शब्द वाचक है, उसका वाच्य है सोहन द्वारा कहा गया 'घट' शब्द। इस प्रकार यहाँ एक (मोहन द्वारा कहा गया) 'घट' शब्द वाचक है और दूसरा (सोहन द्वारा कहा गया) घट शब्द वाच्य है। (मि०, 'यदा घटशब्दः शब्दशब्दो वा शब्दं शब्देन प्रतिपाद्यते' टिप्प०, पृ० २४.४–यह पाठ अस्पष्ट है)।

धर्मोत्तर प्रदीप के अनुसार इसे निम्न प्रकार समझा जा सकता है:—पाणिनि का सूत्र है 'तरप्तमपौ घः' (१.१.२२)। इसका अर्थ है कि तरप् और तमप् (लघुतरः, लघुतमः इत्यादि में प्रयुक्त) प्रत्ययों की 'घ' संज्ञा होती है। जब एक व्यक्ति ने 'तरप्-तमपौ' इन (संज्ञी) का उच्चारण किया और दूसरे ने 'घ' इस (संज्ञा) का उच्चारण किया। इन दोनों को एक श्रोत्रज्ञान से जानने वाले व्यक्ति का श्रोत्रज्ञान सविकल्पक हो जायेगा।

सविकल्पकं स्यात्—शङ्का का आशय यह है कि यदि स्वलक्षण को वाच्य तथा वाचक मान लिया जाये और कल्पना का अर्थ 'वाचक शब्द के संसर्ग की योग्यता' समझा जाये तो उपर्युक्त स्थलों पर, जहाँ शब्दस्वलक्षण ही वाच्य है तथा वही वाचक है, श्रोत्रज्ञान में वाचक शब्द का संसर्ग होगा, इसलिये वह श्रोत्रज्ञान सविकल्पक होने लगेगा (जिसे सविकल्पक मानना अभीष्ट नहीं है)।

ततः पूर्वकालदृष्टत्वम् अपश्यत् श्रोत्रज्ञानं न वाच्यवाचकभावग्राहि—इस वाक्य में शङ्का के समाधान का सारार्थ निहित है। भाव यह है कि स्वलक्षण में वाच्य-

---

1. श्रोत्रविज्ञानं B, D. N.

तया रहितं तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।।६।।

तया कल्पनया कल्पनास्वभावेन रहितं शून्यं सज्ज्ञानं यद् अभ्रान्तं तत् प्रत्यक्षम् इति परेण[1]सम्बन्धः। कल्पनापोढत्वाभ्रान्तत्वे परस्परसापेक्षे

वाचक-भाव मानने पर भी श्रोत्रज्ञान में वाच्य-वाचक-भाव का भास न होगा, अपि तु शुद्ध शब्द-स्वलक्षणों का ही भास होगा; क्योंकि श्रोत्रज्ञान शब्दों की उपस्थिति से उत्पन्न होता है। जो शब्द श्रोत्रज्ञान में उपस्थित होते हैं उनका वाच्य-वाचक-सम्बन्ध तब तक नहीं जाना जा सकता जब तक कि सङ्केतकाल में जाने गये (तरप् तमप् को 'घ' कहते हैं—इस) रूप में उन शब्दों का स्मरण न हो जाये। श्रोत्रज्ञान के द्वारा पूर्वदृष्ट रूप में स्मरण हो नहीं सकता। स्मरण तो इन्द्रिय-ज्ञान का कार्य ही नहीं, वह मनोजन्य है। इस प्रकार वह श्रोत्र-ज्ञान सविकल्पक नहीं होगा।

अनेनैव न्यायेनेति—इसी न्याय से योगी का ज्ञान भी निर्विकल्पक होता है, यद्यपि उसमें समस्त शब्दों तथा अर्थों का आभास होता है तथापि उनका सङ्केत काल में जाने गये रूप में ग्रहण नहीं होता।

योगिज्ञानमपि०—प्रत्यक्ष के चार प्रकारों में 'योगि-ज्ञान' (योगी का प्रत्यक्ष) भी बतलाया जायेगा। योगी के ज्ञान में एक साथ ही शब्दों तथा उनके अर्थों का भान हुआ करता है। अतः यह शङ्का हो सकती है कि धर्मोत्तर की व्याख्या के अनुसार तो योगि-ज्ञान भी सविकल्पक होने लगेगा। इस शङ्का का समाधान उपर्युक्त युक्ति (=न्याय) से ही कर दिया गया है। न्याय (=युक्ति) यह है—जो ज्ञान गृह्यमाण वस्तु का सङ्केतकाल में देखे गये रूप से ग्रहण नहीं करता, वह वाच्य-वाचक-भाव का ग्राहक नहीं होता' (यज्ज्ञानं सङ्केतकालविषयत्वं गृह्यमाणस्य न गृह्णाति, न तद् वाच्य-वाचक-भाव-ग्राहि; धर्मो० प्र०, पृ० ५४)। योगी के ज्ञान में सङ्केतकाल में दृष्ट रूप से शब्दों और अर्थों का ग्रहण नहीं होता अतः वह सविकल्पक नहीं होता, अपि तु निर्विकल्पक होता है।

७. भ्रान्ति का स्वरूप

तया रहितमिति—उस (कल्पना) से रहित ज्ञान, जिसमें तिमिर (रतौंधी) शीघ्रता से घूमना, नाव से जाना तथा (वात आदि के) प्रकोप (=संक्षोभ) द्वारा भ्रम उत्पन्न नहीं किया जाता, प्रत्यक्ष है ।।६।।

उस कल्पना से (तया) अर्थात् कल्पना के स्वभाव से रहित (=शून्य) होते हुए जो ज्ञान भ्रान्तिशून्य है, वह प्रत्यक्ष है—इस प्रकार आगे कहे गये (अनाहित-विभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्) से अन्वय है। कल्पनापोढत्व और अभ्रान्तत्व—ये दोनों परस्पर सापेक्ष होकर (एक दूसरे के साथ मिलकर, समुदित रूप से) प्रत्यक्ष का लक्षण हैं,

---

1. परेण सूत्रेण B.

प्रत्यक्षलक्षणम्, न प्रत्येकम् इति दर्शयितुं तया रहितं यद् अभ्रान्तं तत् प्रत्यक्षमिति लक्षणयोः परस्परसापेक्षयोः प्रत्यक्षविषयत्वं दर्शितम् इति।

तिमिरम् अक्ष्णोर्विप्लवः। इन्द्रियगतमिदं[1] विभ्रमकारणम्। आशुभ्रमणम् अलातादेः। मन्दं हि[2] भ्राम्यमाणेऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते। तदर्थम् आशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम्। एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम्। नावा गमनं नौयानम्। गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य गच्छद्वृक्षादिभ्रान्तिरुत्पद्यते इति यानग्रहणम्। एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम्। संक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम्। वातादिषु हि क्षोभं गतेषु [3]ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते। एतच्चाध्यात्मगतं[4] विभ्रमकारणम्।

इनमें से प्रत्येक प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं—यह दिखलाने के लिए "उस कल्पना से रहित जो भ्रान्तिशून्य ज्ञान वह प्रत्यक्ष है"—इस प्रकार परस्पर सापेक्ष इन दोनों (कल्पना-रहित होना तथा अभ्रान्त होना) लक्षणों का लक्ष्य प्रत्यक्ष है, यह बतलाया गया है।

कल्पनास्वभावेन—क्योंकि कल्पना (विकल्प) में भी दूसरी कल्पना नहीं होती, फिर तो वह भी निर्विकल्पक होगी ? इस शङ्का का निराकरण करने के लिये कल्पनारहित ज्ञान का अभीष्ट अर्थ इस शब्द द्वारा स्पष्ट किया गया है। यहाँ कल्पना का अर्थ है—कल्पनात्व = कल्पना-स्वभाव। कल्पना का स्वभाव क्या है ? यही कि उसमें वाचक शब्द के संसर्ग की योग्यता होती है। यह कहा जा सकता है कि जिस ज्ञान में वाचक शब्द के संसर्ग की योग्यता होती है, वही कल्पना है। इससे भिन्न—इस स्वभाव से शून्य ज्ञान ही निर्विकल्पक होता है। (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ५४)।

प्रत्यक्षविषयत्वम्—प्रत्यक्षं विषयः ययोः तथाभूतयोः (लक्षणयोः) भावः प्रत्यक्षविषयत्वम्; अभिप्राय यह है कि कल्पनापोढ एवं अभ्रान्त दोनों लक्षणों का समुदित रूप से प्रत्यक्ष ही लक्ष्य है, ये दोनों पृथक्-२ लक्षण नहीं हैं।

तिमिरम् इति—नेत्रों का विकार (=विप्लव) तिमिर (रतौंधी) है। यह इन्द्रिय में स्थित भ्रान्ति का कारण है। अलात (मशाल) आदि का शीघ्र घूमना; अलात आदि के मन्द गति से घुमाये जाने पर चक्र की भ्रान्ति नहीं उत्पन्न होती; इसलिये भ्रमण का विशेषण 'आशु' (=शीघ्र) शब्द दिया गया है। यह विषय में स्थित भ्रान्ति का कारण है। 'नौयान' का अर्थ है—नाव से जाना। चलती हुई नाव में बैठे हुए व्यक्ति को चलते हुए वृक्ष की भ्रान्ति हो जाती है, इसलिये 'यान' (=गमन) शब्द का ग्रहण किया गया है। यह बाह्य आश्रय में स्थित भ्रान्ति का कारण है। संक्षोभ का अर्थ है—वात, पित्त और कफ का प्रकुपित होना। वात आदि के क्षोभ को प्राप्त (कुपित) होने पर जलते हुए खम्भे आदि की भ्रान्ति हो जाती है। यह आभ्यन्तर (शरीर में स्थित) भ्रान्ति का कारण है।

---

१. ०मिदं भ्रम० B. २. मन्दं भ्रम्य० A. मन्दं हि भ्राम्य० T.
३. ज्वलितरूपस्त० B. D. ४. ०ध्यात्मिकं भ्रान्ति० B. D.

सर्वैरेव च विभ्रमकारणैर् इन्द्रियविषयबाह्याध्यात्मिकाश्रयगतैर् इन्द्रियमेव विकर्तव्यम् । अविकृते इन्द्रिये[1] इन्द्रियभ्रान्त्ययोगात् ।

एते संक्षोभपर्यन्ता आदयो येषां ते तथोक्ताः । आदिग्रहणेन काचकामलादय इन्द्रियस्था गृह्यन्ते । आशुनयनानयनादयो विषयस्थाः । आशुनयनानयने

वातपित्तश्लेष्मणाम्—वात, पित्त और कफ का । भारत के प्राचीन शरीर-विज्ञान की दृष्टि से शरीर में तीन दोष माने गये हैं—वात, पित्त और कफ । इन तीनों की साम्यावस्था ही स्वस्थता है और इनकी विषमावस्था रोगों का कारण है । जब कोई वात आदि कुपित हो जाता है अर्थात् सामान्य दशा से अधिक बढ़ जाता है तभी किसी रोग का आविर्भाव हो जाता है ।

आशु—मशाल को शीघ्रता से घुमाने पर प्रकाश का एक चक्र सा प्रतीत होने लगता है, उसी का उल्लेख यहाँ किया गया है । 'आशु' शब्द को नौयान का भी विशेषण समझना चाहिये; क्योंकि मन्दगति से चलती हुई नाव में बैठे व्यक्ति को यह भ्रान्ति नहीं होती कि वृक्ष चल रहे हैं । (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ५५) ।

अब प्रश्न यह है कि इन्द्रिय का उपघातक होने से 'तिमिर' भ्रान्ति का हेतु हो सकता है, 'नौयान' इत्यादि से तो इन्द्रिय पर कोई प्रभाव पड़ता नहीं, फिर वे इन्द्रिय-भ्रान्ति के निमित्त कैसे हैं ? इस पर कहते हैं—

सर्वैरेवेति—इन्द्रिय, विषय, बाह्य तथा आध्यात्मिक आश्रयों में होने वाले इन सभी भ्रान्ति के कारणों से इन्द्रिय ही विकृत होती है, क्योंकि इन्द्रिय के विकृत न होने पर इन्द्रियज्ञान में भ्रान्ति नहीं हो सकती ।

इन्द्रियमेव—'तिमिर' आदि साक्षात् रूप से इन्द्रिय को विकृत करते हैं और अलात आदि परम्परा से । इसका प्रमाणविनिश्चय की टीका में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है (मि०, टिप्प०, पृ० २५) ।

अविकृते०—इससे प्रकट होता है कि इन्द्रियज भ्रान्ति में इन्द्रिय की विकृति अवश्य निमित्त होती है । केवल मानसिक कारणों से ही भ्रान्ति वहाँ नहीं होती । इस विषय में अनुमान का प्रयोग होगा—

जो इन्द्रियज भ्रान्ति का कारण है वह अवश्य ही इन्द्रिय को विकृत करता है; जैसे तिमिर आदि (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ५५-५६) ।

यदि केवल इन्द्रिय भी भ्रान्ति का निमित्त है तो प्रत्यक्ष के लक्षण में अभ्रान्त पद की आवश्यकता है ही (देखिये, ऊपर पृ० ३८ टिप्पणी) ।

एते इति—ये संक्षोभ पर्यन्त हैं आदि में जिनके वे ऐसे (अर्थात् तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभादयः) कहे जाते हैं । 'आदि' शब्द के द्वारा काच (रोगविशेष) तथा कामला (पीलिया) आदि इन्द्रिय-स्थित (भ्रान्ति के कारणों) का ग्रहण किया जाता है इसी प्रकार शीघ्रता से ले जाना और लाना आदि विषय में रहने वाले (भ्रान्ति के कारणों) का भी । अलात (मशाल) के शीघ्रता से ले जाने तथा लाने पर अग्नि के

---

१. अविकृते इन्द्रिये भ्रान्त्ययोगात् B.

हि[1] कार्यमाणेऽलाते[2]ऽग्निवर्णदण्डाभासा भ्रान्तिर्भवति। हस्तियानादयो बाह्याश्रयस्थाः, गाढमर्मप्रहारादय आध्यात्मिकाश्रयस्था विभ्रमहेतवो गृह्यन्ते।

[3]तैरनाहितो विभ्रमो यस्मिंस्तथाविधं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।।६।।

तदेवं लक्षणमाख्याय यैरिन्द्रियमेव द्रष्टृ कल्पितं मानसप्रत्यक्षलक्षणे च दोष उद्भावितः, स्वसंवेदनं च नाभ्युपगतम्, योगिज्ञानं च; तेषां विप्रति-

---

रंग के दण्डाकार की भ्रान्ति हो जाती है। इसी प्रकार ('आदि' शब्द से) हाथी पर जाना आदि बाह्याश्रय में स्थित तथा मर्मस्थल में गहरी चोट आदि आभ्यन्तर आश्रय में होने वाले भ्रान्ति के कारण संगृहीत हो जाते हैं।

उन (सब) के द्वारा जिसमें भ्रम नहीं उत्पन्न किया जाता है ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष है ।।६।।

आदिग्रहणेन—यहाँ यदि 'तिमिरादि' ऐसा ही कहते आशुभ्रमण आदि का ग्रहण भी नहीं करते तो इन्द्रियगत काच, कामला इत्यादि का ही 'आदि' शब्द से ग्रहण होता, अन्यों का नहीं। अब 'आशुभ्रमण' आदि का ग्रहण करने पर तो 'आदि' शब्द से आश्रयगत इत्यादि भ्रम के कारणों का भी ग्रहण हो जाता है। (मि०, टिप्प०, पृ० २६)।

तथाविधं ज्ञानं प्रत्यक्षम्—यहाँ टिप्प० (यद्यपि सूत्रे ज्ञानग्रहणं नास्ति, पृ० २६) तथा धर्मो० प्रदीप (ज्ञानाधिकारेण लक्षणविधानात् लब्धं ज्ञानम्, तेन ज्ञानमित्युक्तम् पृ० ५६) के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि सूत्र १·६ में 'ज्ञानम्' यह पद नहीं है; धर्मोत्तर द्वारा ही व्याख्या में यह पद रक्खा गया है। श्चेरवात्स्की का कथन है—विनीतदेव (पृ० ४३·९) ने भी इस ओर ध्यान दिलाया है कि सूत्र ४ में 'ज्ञान' पद नहीं है। (बु० लॉ० २, पृ० २५ टि० ३)।

वस्तुतः यहाँ 'ज्ञान' अथवा सम्यग्ज्ञान का प्रकरण ही है अतः प्रकरण से ही यह प्रतीत हो जाता है कि कल्पनापोढ तथा अभ्रान्तज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। इसलिये यहाँ 'ज्ञान' पद के न होने से जो प्रतिपक्षियों ने यह आक्षेप किया है कि फिर तो प्रत्यक्ष अज्ञान स्वरूप होगा (अज्ञानस्वभावम्············प्रत्यक्षम्, मि० तत्त्वसंग्रह पृ० ३६६.२१ तथा कमलशील ३६७.१); वह युक्तिसंगत नहीं। (मि०, बु० लॉ० २, पृ० २५ टि० ३)।

८. प्रत्यक्ष के प्रकार

तदेवम् इति—इस प्रकार प्रत्यक्ष का लक्षण बतलाकर जिन (वैभाषिकों) ने इन्द्रिय को ही द्रष्टा मान लिया है; जिन (मीमांसकों) ने मानस प्रत्यक्ष के लक्षण में

---

१. हि नास्ति B. D. N.
२. लातादौ A. H. N. P.
३. एतैर० B. D.

पत्तिनिराकरणार्थं[1] प्रकारभेदं प्रत्यक्षस्य दर्शयन्नाह—

तत् चतुर्विधम् ।। ७ ।।

तत् चतुर्विधमिति ।।७।।

इन्द्रियज्ञानम् ।। ८ ।।

इन्द्रियस्य ज्ञानम् इन्द्रियज्ञानम् । इन्द्रियाश्रितं यत् तत् प्रत्यक्षम् ।।८।।

दोष दिखलाया है; जिन (नैयायिक आदि ने) स्वसंवेदन एवं (चार्वाक आदि ने) योगि-ज्ञान को स्वीकार नहीं किया; उनके वैमत्य का निराकरण करने के लिये प्रत्यक्ष के प्रकार दिखलाते हुए कहा है—

वह (प्रत्यक्ष) चार प्रकार का है ।।७।।

वह चार प्रकार का है ।। ७ ।।

इन्द्रियमेव द्रष्टृ०—वैभाषिकों का कथन है कि चक्षु ही रूप को देखती है (चक्षुः पश्यति रूपाणि) । इन्द्रिय ही द्रष्टा है । यदि ज्ञान को द्रष्टा माना जाये तो ज्ञान के द्वारा व्यवहित वस्तु को भी देखा जाना चाहिये; क्योंकि ज्ञान तो अमूर्त है वह किसी व्यवधान से रुकता नहीं । (धर्मो० प्र०, पृ० ५६) ।

मानसप्रत्यक्षलक्षणे०—मीमांसक (कुमारिल आदि) ने दिङ्नाग के मानस प्रत्यक्ष के लक्षण में दोष दिखलाया है (श्लो० वा० प्रत्यक्ष०) कि गृहीतग्राही होने से मानस प्रत्यक्ष प्रमाण ही नहीं हो सकता ।

स्वसंवेदनम्०—मीमांसक (कुमारिल) और न्याय वैशेषिक ज्ञान का स्वसंवेदन नहीं मानते; क्योंकि अपने द्वारा ही अपना ग्रहण (संवेदन) नहीं हो सकता । मीमांसक (कुमारिल) का कथन है कि ज्ञान का ग्रहण अर्थापत्ति द्वारा होता है और न्याय-वैशेषिक का मन्तव्य है कि अनुव्यवसाय द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है ।

योगिज्ञानम्०—चार्वाक तथा मीमांसकों का कथन है कि योगी के होने में ही कोई प्रमाण नहीं फिर योगी का ज्ञान कैसे होगा । इन सभी विप्रतिपत्तियों का निराकरण करने के लिये प्रत्यक्ष के प्रकार दिखलाये गये हैं (धर्मो० प्र०, पृ० ५६) ।

इन्द्रियेति—(उनमें से प्रथम है) इन्द्रिय ज्ञान ।।८।।

इन्द्रिय का ज्ञान इन्द्रियज्ञान है । जो इन्द्रिय के आश्रित (=इन्द्रिय-जन्य) है, वह प्रत्यक्ष (इन्द्रिय-ज्ञान कहलाता है) । ८ ।।

इन्द्रियज्ञानम्०—इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है, यह बतलाकर धर्मकीर्ति ने 'नेत्र ही द्रष्टा है', वैभाषिक के इस मत का निराकरण कर दिया । क्योंकि ज्ञान का ही रूप के ज्ञान में सामर्थ्य है, नेत्र का नहीं; अतः ज्ञान ही प्रमाण है, नेत्र नहीं । और, वह ज्ञान व्यवहित वस्तु को नहीं देखता; क्योंकि योग्य देश में स्थित वस्तु से वह ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है, व्यवहित वस्तु से नहीं—यह अनुभव से जाना जाता है ।

इस कथन से इन्द्रिय को प्रमाण मानने वाले मीमांसक (यद्वेन्द्रियं प्रमाणं स्यात् तस्य वार्थेन संगतिः, श्लो० वा० १.१.४.६०)आदि के मत का भी निराकरण हो जाता

---

१. निरासार्थम् B. C. D.

'मानसप्रत्यक्षे परैर्यो' दोष उद्भावितस्तं निराकर्तुं मानसप्रत्यक्ष-लक्षणमाह—

स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम् ॥९॥

स्व आत्मीयो विषय इन्द्रियज्ञानस्य' तस्य अनन्तरः—न विद्यतेऽन्तर-मस्येति'। अन्तरं च' व्यवधानं विशेषश्चोच्यते। ततश्चान्तरे प्रतिषिद्धे समानजातीयो द्वितीयक्षणभाव्युपादेयक्षण इन्द्रियविज्ञानविषयस्य गृह्यते। तथा च सति इन्द्रियज्ञान'विषयक्षणादुत्तरक्षण एकसन्तानान्तर्भूतो गृहीतः। स सहकारी यस्येन्द्रियज्ञानस्य' तत् तथोक्तम्।

द्विविधश्च सहकारी-परस्परोपकारी एककार्यकारी च। इह च क्षणिके

है। बौद्धन्याय के सिद्धान्तानुसार ज्ञान ही प्रमाण है, इन्द्रिय आदि नहीं—धीप्रमाणता, प्रवृत्तेस्तत्प्रधानत्वाद्धेयोपादेयवस्तुनि (प्र० वा०, १.५)। (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ५७)।

मानसप्रत्यक्षे इति—मानस प्रत्यक्ष में दूसरों (मीमांसक आदि) ने जो दोष दिखलाया है, उसका निराकरण करने के लिये मानस प्रत्यक्ष का लक्षण बतलाते हैं—

अपने (स्व=इन्द्रिय के) विषय (क्षण) के अनन्तर होने वाला (समानजातीय द्वितीय क्षण) है सहकारी जिसका ऐसे इन्द्रियज्ञान द्वारा समनन्तर प्रत्यय के रूप से उत्पादित ज्ञान (तत्) मनोविज्ञान (नामक प्रत्यक्ष) है ॥९॥

स्व=आत्मीय=अपना विषय, अर्थात् इन्द्रियज्ञान का विषय, उसके अनन्तर होने वाला। नहीं है अन्तर जिसमें वह अनन्तर (कहलाता है)। 'अन्तर' शब्द के दो अर्थ हैं—व्यवधान (बीच में समय या दूरी का होना) और भेद (=विशेष)। इस लिये अन्तर का प्रतिषेध किये जाने पर इन्द्रिय-ज्ञान के विषय (प्रथम क्षण, का समान जातीय, द्वितीय क्षण में होने वाला, (प्रथम क्षण का) कार्यरूप जो (वस्तु का) क्षण (उपादेय क्षण) है, उसका ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार इन्द्रियज्ञान के विषय-क्षण का उसी एक सन्तान में होने वाला अग्रिम क्षण लिया जाता है। जिस इन्द्रिय-ज्ञान का सहकारी वह (वस्तु का द्वितीय क्षण) है, ऐसा इन्द्रिय-ज्ञान (स्वविषयानन्तरविषय-सहकारि) कहा गया है।

द्विविधश्चेति—सहकारी दो प्रकार का होता है—एक तो एक दूसरे में किसी गुण (उपकार) को करने वाला और दूसरा (साथ २) एक कार्य को करने वाला।

---

१. मानसे च प्रत्य० B D. २. परैर्दोष० D. ३. इन्द्रियविज्ञान० B.
४. स्येति अनन्तर : B. D. ५. 'च' नास्ति C. ६. इन्द्रियविज्ञान C.
७. इन्द्रियविज्ञान० A B. D. E. H. N. P.

वस्तुन्यतिशयाधानाऽयोगादेककार्यकारित्वेन सहकारी गृह्यते । विषयविज्ञानाभ्यां[1] हि मनोविज्ञानमेकं क्रियते यतस्तदनयोः[2] परस्परसहकारित्वम्[3] ।

ईदृशेनेन्द्रियविज्ञानेनालम्बनप्रत्ययभूतेनापि[4] योगिज्ञानं जन्यते । तन्निरासार्थं समनन्तरप्रत्ययग्रहणं [5]कृतम् । समश्चासौ ज्ञानत्वेन, अनन्तरश्चासौ[6] अव्यवहितत्वेन, स चासौ प्रत्ययश्च हेतुत्वात् समनन्तरप्रत्ययः, तेन जनितम् ।

यहाँ (इस मानस ज्ञान की उत्पत्ति के विषय में) एक कार्य को करने वाला सहकारी लिया जाता है; क्योंकि क्षणिक वस्तु में किसी अतिशय (गुणविशेष, उपकार) की उत्पत्ति (आधान =स्थापना) नहीं की जा सकती। विषय (द्वितीय क्षण) तथा (इन्द्रिय) विज्ञान के द्वारा एक मनोविज्ञान को उत्पन्न किया जाता है, इसलिये इन दोनों की एक दूसरे के प्रति सहकारिता है।

द्विविधश्च सहकारी—बौद्धदर्शन में कारणवाद का सूक्ष्मता से विचार किया गया है। जब सभी वस्तु क्षणिक हैं तो वे एक दूसरी का उपकार नहीं कर सकतीं। परस्पर उपकार (या एक वस्तु द्वारा दूसरी में गुणाधान) के लिये आवश्यक है कि वे वस्तुएँ उत्पत्ति के अग्रिम क्षण अथवा कइ क्षणों में साथ २ रहें। किन्तु क्षणिक वस्तुओं में यह सम्भव नहीं है। इस प्रकार क्षणिकवाद में वस्तुतः परस्परोपकारिता से सहकारी नहीं हो सकता। फिर भी क्षण-सन्तान को एक मानकर परस्परोपकारी रूप सहकारी को गौणरूप से माना जा सकता है। मुख्यतः तो 'एककार्यकारी' नामक सहकारी ही क्षणिकवाद में होता है। इसका आशय यह है कि दो क्षण-सन्तानों के प्रवाह में जब एक सन्तान का कोई क्षण दूसरी सन्तान के किसी क्षण के साथ मिलकर एक कार्य को करता है तो वे दोनों एक-कार्यकारी कहलाते हैं। (मि० धर्मो० प्र०, पृ० ५८ तथा बु० लॉ० २, पृ० २६ टि० २)।

इह=मानसक्रियायाम् (धर्मो० प्र०, पृ० ५८)। इन्द्रियज्ञान से जो मनोज्ञान उत्पन्न होता है उसमें गौणरूप से भी परस्परोपकारी नामक सहकारी नहीं माना जा सकता; क्योंकि इन्द्रियज्ञान के क्षणों का सजातीय प्रवाह समाप्त हो जाता है उसका उपादेय ज्ञानक्षण तो मनोविज्ञान हो जाता है। इस प्रकार यहाँ एककार्यकारी रूप सहकारी ही हो सकता है। (मि० धर्मो० प्र०, पृ० ५९)

ईदृशेनेति—आलम्बन प्रत्यय होने वाले इस प्रकार के इन्द्रियज्ञान से योगिज्ञान भी उत्पन्न होता है। उसका निराकरण करने के लिये यहाँ 'समनन्तर प्रत्यय' शब्द का ग्रहण किया गया है। जो (इन्द्रियज्ञान) ज्ञान रूप में (मनोविज्ञान के) समान है तथा अव्यवहित (एक दम पूर्व) होने के कारण अनन्तर है (वह 'समनन्तर' है)। और वह हेतु होने से प्रत्यय (=कारण) भी है अतः वह समनन्तर प्रत्यय है। उससे उत्पन्न

---

१. 'हि नास्ति' B. D.
२. ०नयोर्न परस्पर० A. C. E. H. N. P.
३. परस्परस्य सह० B. D.
४. आलम्बनभूतेनापि. T.
५. 'कृतम्' नास्ति B. D.
६. श्चाव्यव० B. D.

तदनेनैकसन्तानान्तर्भूतयोरेवेन्द्रियज्ञान[1]-मनोविज्ञानयोर्[2] जन्यजनकभावे मनोविज्ञानं 'प्रत्यक्षमित्युक्तं'[3] भवति। ततो योगिज्ञानं परसन्तानवर्ति निरस्तम्।

यदा चेन्द्रियज्ञानविषयादन्यो विषयो मनोविज्ञानस्य तदा गृहीतग्रहणाद् आसञ्जितोऽप्रामाण्यदोषो निरस्तः। यदा चेन्द्रिय[4]विज्ञानविषयोपादेयभूतः क्षणो[5]

किया गया ज्ञान (यह अर्थ है)। इस प्रकार इस 'समनन्तरप्रत्यय' शब्द के द्वारा (अनेन) यह प्रकट किया गया है (उक्तं भवति) कि एक ज्ञान-सन्तान में होने वाले इन्द्रिय-ज्ञान और मनोविज्ञान में जन्य-जनक भाव होने पर (अर्थात् यदि एक ही ज्ञान सन्तान में इन्द्रियज्ञान उपादान = जनक होता है और मनोज्ञान उपादेय = जन्य होता है तब) मनोविज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। इस प्रकार अन्य ज्ञानसन्तान में होने वाले योगि-ज्ञान की व्यावृत्ति हो गई (उसमें मानस प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं गया)।

ईदृशेन······निरस्तम्—(i) किसी ज्ञान के चार प्रत्यय (कारण) माने जाते हैं—आलम्बन प्रत्यय, सहकारी प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय और समनन्तर प्रत्यय। जब नील का चाक्षुष ज्ञान होता है, उसमें 'नील' जो ज्ञान का विषय है, आलम्बन प्रत्यय कहलाता है, प्रकाश सहकारी प्रत्यय है, प्रकाश होने पर ही चक्षु नील (रूप) को देख सकती है, अन्यथा नहीं। चक्षु इन्द्रिय, जिससे चाक्षुष ज्ञान होता है, वह अधिपति प्रत्यय है। उसी के द्वारा ज्ञान का नामकरण किया जाता है, जैसे चाक्षुष ज्ञान, श्रोत्र-ज्ञान इत्यादि। नील के चाक्षुष ज्ञान का चतुर्थ कारण विज्ञान है। जब विज्ञान में नील का सारूप्य होता है तभी नील का बोध होता है। अभिधर्म के अनुसार विज्ञान = चित्त = मन को एक पृथक् अन्तःकरण के रूप में माना गया है (देखिए, अभिधर्मकोश १.१६, १७) किन्तु दिङ्नाग-सम्प्रदाय में विज्ञान को अन्तःकरण के रूप में नहीं माना जाता। यहाँ तो पूर्वक्षण में उत्पन्न ज्ञान ही अग्रिम विज्ञान का कारण बनता है। वही पूर्वज्ञान समनन्तर प्रत्यय कहलाता है। इस प्रकार पूर्वज्ञानक्षण उपादान है और उत्तर-ज्ञान-क्षण उपादेय है (समनन्तरप्रत्ययशब्दः स्वसन्तानवर्तिन्युपादाने ज्ञाने रूढ्या प्रसिद्धः मोक्षाकर गुप्त, तर्कभाषा, पृ० ९)। 'समनन्तरप्रत्यय' शब्द में कर्मधारय समास है। समश्च असौ अनन्तरश्च; यहाँ शकन्ध्वादि गण में पाठ मानने से सम + अनन्तर में पररूप हो जाता है।

(ii) मानस ज्ञान में इन्द्रियज्ञान समनन्तर प्रत्यय है; किन्तु योगी अपने योगि-ज्ञान द्वारा जब अन्यजनों के इन्द्रिय-ज्ञान का प्रत्यक्ष करता है तब वह इन्द्रिय-ज्ञान योगी के प्रत्यक्ष (योगि-ज्ञान) का आलम्बन प्रत्यय होता है। समनन्तर शब्द के ग्रहण से यह अर्थ निकलता है कि जहाँ किसी एक ज्ञान-सन्तान का इन्द्रिय-ज्ञान ही मानस ज्ञान का उपादान होता है वहाँ मानस ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। किन्तु योगि-ज्ञान में तो अन्य जनों का इन्द्रियज्ञान उपादान नहीं है अपि तु आलम्बन (विषय) प्रत्यय है अतः वहाँ मानसप्रत्यक्ष का लक्षण नहीं जाता।

यदा चेति—जब इन्द्रियज्ञान के विषय (= वस्तु का प्रथम क्षण) से मनो-

---

१. ०न्द्रियविज्ञान C.

२. मनोज्ञान A. B. E. H. P.

३. प्रत्यक्षमुक्तं B.

४. ०न्द्रियज्ञान A. B. C. E. H. N. P.

५. क्षण एको गृहीतः D.

गृहीतः, तदेन्द्रियज्ञानेनागृहीतस्य विषयान्तरस्य ग्रहणादन्धबधिराद्यभावदोषप्रसङ्गो[1] निरस्तः ।

एतच्च मनोविज्ञानमुपरतव्यापारे चक्षुषि प्रत्यक्षम् इष्यते । व्यापारवति तु चक्षुषि यद् रूपज्ञानं तत् सर्वं चक्षुराश्रितमेव । इतरथा चक्षुराश्रितत्वानुपपत्तिः कस्यचिदपि विज्ञानस्य[2] ।

ज्ञान का विषय (वस्तु का द्वितीय क्षण) भिन्न है, तब ज्ञात वस्तु का ग्रहण करने के कारण लगाया गया (आसञ्जितः=आरोपित) अप्रमाणता का दोष भी दूर हो गया । और, जब इन्द्रियज्ञान के विषय (प्रथम क्षण) से उत्पन्न (उपादेयभूतः=जन्य) वस्तु का (द्वितीय) क्षण ही (=च) मनोज्ञान का विषय स्वीकार किया गया है (गृहीतः)तो इस दोष के प्रसङ्ग का भी निराकरण कर दिया गया कि (मानस ज्ञान के द्वारा) इन्द्रियज्ञान से अगृहीत अन्य वस्तु (=विषयान्तर) का ग्रहण हो जाने से कोई अन्धा या बहरा आदि न रहेगा ।

यदा······निरस्तः—मीमांसक (कुमारिल) आदि ने दिङ्नाग द्वारा निरूपित मानसज्ञान में दो दोष दिखलाये थे—(१) यदि इन्द्रिय द्वारा गृहीत विषय का ही मनोज्ञान द्वारा ग्रहण होता है तो गृहीत का ग्राहक होने से वह प्रमाण न होगा, क्योंकि बौद्धन्याय के अनुसार (अनधिगतविषयं प्रमाणम्) अज्ञात का ग्राहक ही प्रमाण होता है । (२) यदि इन्द्रिय द्वारा अगृहीत विषय का मनोज्ञान द्वारा ग्रहण माना जाये तो कोई भी अन्धा या बहरा न रहेगा, क्योंकि मनोज्ञान द्वारा बाह्य वस्तु (नील आदि) का भी ग्रहण हो जायेगा । इन दोनों आक्षेपों का परिहार इस अवतरण में किया गया है । (मि०, टिप्प० पृ० २६·११ तथा आगे, धर्मो० प्र०, पृ० ६१) ।

अप्रामाण्यदोषो निरस्तः—वस्तु का पूर्वक्षण (उपादान क्षण) तो इन्द्रियज्ञान का विषय है और द्वितीयक्षण (उपादेय क्षण) मनोज्ञान का विषय है । इसप्रकार मनोज्ञान अगृहीतग्राही है और वह प्रमाण है ही ।

०दोषप्रसङ्गो निरस्तः—इन्द्रियज्ञान के विषय-क्षण से उत्पन्न द्वितीय क्षण ही मनोज्ञान का विषय माना गया है । जिस व्यक्ति को किसी वस्तु के विषय में इन्द्रियज्ञान ही नहीं होगा, उसे मानस-ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता । अतः अन्धबधिरादि के न होने का दोष देना युक्तिसङ्गत नहीं । मिलाइये—

तस्मादिन्द्रियविज्ञानान्तरप्रत्ययोद्भवः ।
मनोऽन्यमेव गृह्णाति विषयं नान्धदृक् ततः ।। प्र० वा०, २.२४३ ।।

एतच्चेति—यह मनोज्ञान चक्षु का व्यापार समाप्त हो जाने पर ही (च=एव) प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है (इष्यते) । चक्षु का व्यापार होने पर तो जो रूपज्ञान होता है, वह सब चक्षु के आश्रित (चक्षुजन्य) ही है (अतः इन्द्रियज्ञान ही है) । अन्यथा किसी ज्ञान का भी चक्षु-जन्य होना नहीं बन सकता (अनुपपत्तिः) ।

---

१. प्रसंङ्गोऽपि निर० D.
२. ज्ञानस्य B. D.

एतच्च सिद्धान्तप्रसिद्धं मानसं प्रत्यक्षम् । न त्वस्य प्रसाधकमस्ति प्रमाणम् । एवंजातीयकं तद् यदि स्यात् न कश्चिद् दोषः स्याद् इति वक्तुं लक्षणमाख्यातम् अस्येति ॥९॥

एतच्च—यहाँ शान्तभद्र ने सौत्रान्तिक का मत दिखलाते हुए कहा है—"पूर्वं चक्षूरूपे चक्षुर्विज्ञानं ततस्तेनेन्द्रियविज्ञानेन सहजक्षणसहकारिणा तृतीयस्मिन् क्षणे मानस-प्रत्यक्षं जन्यते ।" इस पर आक्षेप करते हुए धर्मोत्तर ने 'एतच्च' इत्यादि कहा है। भाव यह है कि प्रथमक्षण में इन्द्रियज्ञान उत्पन्न होता है और इन्द्रिय का व्यापार समाप्त हो जाने पर द्वितीय क्षण में मनोज्ञान उत्पन्न हो जाता है। यदि चक्षु (आदि इन्द्रिय) का अर्थ-दर्शन का व्यापार समाप्त न होगा तो द्वितीयक्षण में भी चाक्षुष ज्ञान ही होगा। यदि दूसरे ज्ञान को विज्ञानजन्य होने के कारण मानस-ज्ञान माना जाये तब तो कोई ज्ञान भी चाक्षुष ज्ञान न होगा, क्योंकि कोई ज्ञान केवल चक्षु से उत्पन्न नहीं होता, विज्ञान तो सर्वत्र ही ज्ञानोत्पत्ति का कारण है। (धर्मो० प्र०, पृ० ६१)

चक्षुषि यद् रूपज्ञानम्—यद्यपि यहाँ रूपविषयक मानस ज्ञान का ही उल्लेख किया गया है तथापि समस्त वाह्य इन्द्रियों के विषय में मानस ज्ञान होता है जैसा कि आगम है—'द्विविधज्ञानविज्ञेयाः पञ्च वाह्यविषयाः' (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ६२) तथा 'पञ्च वाह्या द्विविज्ञेयाः' अभिधर्मकोश १.४८।

अब प्रश्न यह है कि जिन घट आदि शब्दों का उच्चारण किया जाता है वे तो श्रोत्रज्ञान होते ही नष्ट हो जाते हैं' बौद्धमत के अनुसार 'घट' आदि शब्दों का प्रवाह-वाही सन्तान नहीं होता, अतः श्रोत्रज्ञान-द्वारा स्वविषयानन्तरविषय क्षण के सहकार से मानस ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जब घण्टा आदि से शब्द उत्पन्न होता है तो उसका कुछ काल तक अनुरणन रूप में प्रवाहवाही सन्तान चलता है। वहाँ श्रोत्रज्ञान द्वारा स्वविषयानन्तर-विषय क्षण के सहकार से मानस ज्ञान उत्पन्न होता है। पाँचों वाह्य विषयों का जो मानस ज्ञान कहा गया है वह रूप आदि जाति की दृष्टि से ही है। उसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्येक (व्यक्तिगत) रूप या शब्द आदि का ही मानस ज्ञान होता है। जैसा कि अभिधर्मकोश (?) में कहा गया है—

रूपादिजात्यभिसम्बन्धिवचनात्। (मि० धर्मो० प्र०, पृ० ६२)।

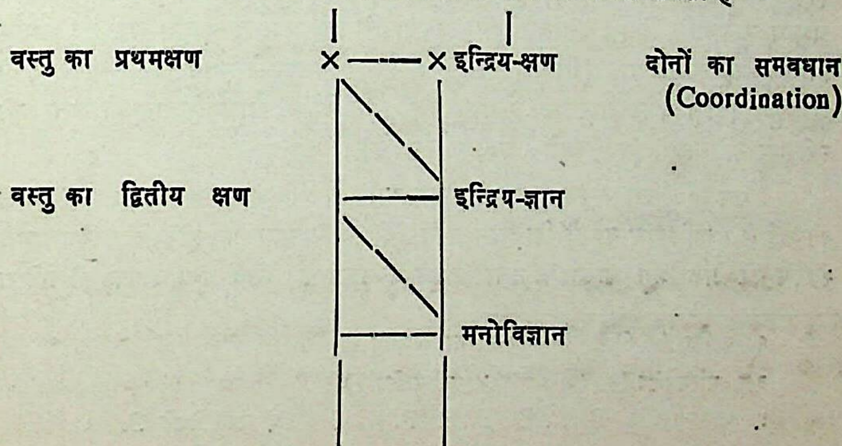
एतच्चेति—यह (बौद्ध) सिद्धान्त में प्रसिद्ध ही (च=एव) मानस प्रत्यक्ष कहा गया है। इसका साधक कोई प्रमाण तो नहीं है। यदि वह (मनोज्ञान) इस प्रकार का होवे तो कोई दोष नहीं, यह बतलाने के लिये इस का लक्षण दिखलाया गया है ॥ ९ ॥

एतच्च सिद्धान्तप्रसिद्धम्—ज्ञानगर्भ और उसके अनुयायियों ने मानस प्रत्यक्ष की सिद्धि के लिये युक्तियाँ दी थीं। उनको लक्ष्य करके ही यह आक्षेप किया गया है। उनका कथन था कि चक्षु का व्यापार रहते ही इन्द्रिय-ज्ञान तथा मानस-ज्ञान साथ २ उत्पन्न होते हैं। यद्यपि उस मानस ज्ञान की भिन्न रूप में प्रतीति नहीं होती तथापि उसको स्वीकार करना आवश्यक है। यदि मानस ज्ञान न होगा तो प्रत्यक्ष के पश्चात् होने वाला ('यह नील है' इस प्रकार का नीलादिविषयक विकल्प भी न होगा। कारण यह है कि समानजातीय मानस ज्ञान से ही विकल्प की उत्पत्ति हो सकती है, विजातीय इन्द्रियज्ञान से नहीं। धर्मोत्तर इस युक्ति का विरोध करते हैं। उनके अनुसार चक्षु का व्यापार रहते मानस ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। अनुभव से यह भी नहीं जाना जाता कि दो निर्विकल्पक ज्ञान नील आदि के विषय में होते हैं। नितान्त भिन्न कारण से भी किसी कार्य की उत्पत्ति हो सकती है अतः निर्विकल्पक इन्द्रिय ज्ञान से भी विकल्प ज्ञान की उत्पत्ति होना सम्भव है। इस प्रकार मानस प्रत्यक्ष की स्वीकृति के लिये आगम ही पर्याप्त प्रमाण है। इसके लिये अन्य युक्तियों की आवश्यकता नहीं। यहां यही प्रकट किया गया है कि इस प्रकार का मानस प्रत्यक्ष मानने में कोई दोष नहीं। इससे आगम का अनुसरण भी हो जाता है। (मि० टिप्प०, पृ० ३०, ३१ तथा धर्मो० प्र०, ६२, ६३)।

श्चेरवात्स्की का विचार है कि धर्मोत्तर का कथन दिङ्नाग के सिद्धान्त के अनुरूप नहीं। दिङ्नाग ने इन्द्रियज्ञान और विकल्प में नितान्त भेद किया है अतः दोनों के बीच में कोई ऐसा ज्ञान होना चाहिए जो अंशतः इन्द्रियजन्य हो तथा अंशतः मनोजन्य हो। इस प्रकार दिङ्नाग ने अवश्य ही ऐसे मानस प्रत्यक्ष की स्थापना की होगी जो आज के पाश्चात्य दर्शन में माने गये मानसज्ञान के समान होगा। (मि०, बु० लॉ २, पृ० २८ टि० ३)।

सिद्धान्तप्रसिद्धम्—सिद्धान्त = आगम। यथोक्तं भगवता द्वाभ्यां भिक्षवो रूपं गृह्यते चक्षुषा तदाकृष्टेन च मनसा। (मो० तर्क भाषा, पृ० ९ तथा धर्मो प्र०, पृ० ६२)।

मानस प्रत्यक्ष को निम्न रेखा-चित्र द्वारा प्रकट किया जा सकता है—



स्वसंवेदनम् आख्यातुम् आह—

सर्वचित्त-चैत्तानामात्मसंवेदनम् ॥१०॥

सर्वचित्तेत्यादि[1] ।चित्तम् अर्थमात्रग्राहि[2] । चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिणः सुखादयः । सर्वे च ते चित्तचैत्ताश्च सर्वचित्तचैत्ताः । सुखादय एव स्फुटानुभवत्वात् स्वसंविदिताः, नान्या चित्तावस्थेत्येतदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं सर्वग्रहणं कृतम् । नास्ति सा काचित् चित्तावस्था यस्याम् आत्मनः[3] संवेदनं न प्रत्यक्षं स्यात् । येन हि रूपेणात्मा संवेद्यते तद्‌रूपम् आत्मसंवेदनं प्रत्यक्षम् । इह[4] च रूपादौ वस्तुनि दृश्यमान[5] आन्तरः सुखाद्याकारस्तुल्यकालं[6] संवेद्यते ।

स्वसंवेदनम् इति—स्वसंवेदन को बतलाते हुए कहते हैं–सर्वचित्त इत्यादि ।

समस्त चित्त तथा चैत्त पदार्थों का आत्मसंवेदन (या स्वसंवेदन) प्रत्यक्ष होता है ॥१०॥

केवल अर्थ (वस्तु) का ग्राहक चित्त (=विज्ञान) है । (विज्ञान की) विशेष अवस्था का ग्रहण करने वाले सुख आदि चैत्त हैं । समस्त चित्त और चैत्त ही सर्वचित्त चैत्त (कहे गये) हैं । यहाँ इस शङ्का की निवृत्ति के लिये सर्व शब्द का ग्रहण किया गया है कि—"सुख आदि का स्पष्ट अनुभव होने के कारण उनका ही स्वसंवेदन होता है, अन्य चित्त की अवस्थाओं का नहीं" । वस्तुतः ऐसी कोई चित्त की अवस्था नहीं है, जिसका स्वसंवेदन रूप प्रत्यक्ष नहीं होता; क्योंकि जिस रूप से (ज्ञान आदि के द्वारा) अपना अनुभव किया जाता है, उस रूप में ही आत्मसंवेदन प्रत्यक्ष होता है । यहाँ रूप आदि वस्तु के दृष्टिगोचर होने पर उसी समय (हमारे) भीतर सुख आदि के रूप में संवेदन होता है (यही सुख आदि का आत्मसंवेदन है) ।

नास्ति०—इससे प्रकट होता है कि धर्मोत्तर के अनुसार चित्त की शुद्धावस्था (जिसमें कोई अर्थविषयक ज्ञान आदि नहीं होता) का संवेदन नहीं होता, अतः उसका अभाव जानना चाहिए । इसलिये निरोधसमापत्ति की अवस्था में शुद्धचित्त का अभाव होता है यह अभिप्राय है (मि०, टिप्प०, पृ० ३१) । तात्पर्यनिबन्धन टिप्प० (पृ० ३१) के अनुसार इस कथन से स्पष्ट होता है कि सौत्रान्तिक आलयविज्ञान की सत्ता को स्वीकार नहीं करते (द्र०, धर्मो० प्र०, पृ० २६६) ।

येन हि०–इस कथन द्वारा मीमांसक आदि के प्रति स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की सिद्धि की गई है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दीपक प्रकाशरूप होने के कारण अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है तथा अपनें प्रकाशन के लिये अन्य दीपक की अपेक्षा

---

१. नास्ति A. C. २. मात्रावग्राहि C.
३. ०मात्मसंवेद D. ४. 'च' नास्ति D.
५. मानेऽन्तरः A. B. C. D. E. H. P. ६. कालं वेद्यते C.

न च गृह्यमाणाकारो नीलादिः 'सातादिरूपो वेद्यते इति'शक्यं वक्तुम् । यतो नीलादिः 'सातादिरूपेणानुभूयते इति न निश्चीयते । यदि 'सातादिरूपोऽयं नीलादिरनुभूयते' इति निश्चीयेत, स्यात्' तदा तस्य सातादिरूपत्वम् । यस्मिन् रूपे प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते तत् प्रत्यक्षम् । न च नीलस्य 'सातरूपत्वमनुगम्यते । तस्माद् असाताद् नीलाद्यर्थाद्' अन्यद् एव सातमनुभूयते' नीलानुभवकाले ।

नहीं रखता, उसी प्रकार विज्ञान (चित्त) आदि भी संविद् रूप होने के कारण अपने रूप का संवेदन करते हैं और अपने आपको जानने के लिये अन्य ज्ञान की अपेक्षा नही रखते । मीमांसक आदि की यह शङ्का भी ठीक नहीं कि एक ज्ञान ही कर्ता और कर्म कैसे हो सकता है; क्योंकि ज्ञान में प्रकाशक-प्रकाश्य-भाव कल्पित ही है । वस्तुतः बोध की बोधरूपता से उत्पत्ति ही उसकी स्वप्रकाशता कहलाती है और ज्ञान बोधरूप है यह प्रत्यक्ष से ही अनुभव होता है (मि०, टिप्प०, पृ० ३२) ।

आन्तरः—अन्तरे भवः आन्तरः, अध्यात्मपरिस्पन्दी । सुख आदि आन्तरिक है बाह्य नहीं—यह सांख्य को लक्ष्य करके कहा गया है । इसका ही विवेचन 'न च' इत्यादि अवतरण में किया गया है—

न चेति—यह तो कहा नहीं जा सकता कि वही नील आदि, जिसका आकार (चक्षु द्वारा) ग्राह्य है, सुख आदि के रूप में जाना जाता है । क्योंकि 'नील आदि का सुख आदि के रूप में अनुभव होता है' ऐसा (प्रत्यक्ष के पृष्ठभावी विकल्प द्वारा) निश्चय (=अध्यवसाय) नहीं किया जाता । यदि (विकल्प द्वारा) यह निश्चय किया जाता कि "इस नील आदि का सुख आदि के रूप में अनुभव किया जा रहा है" तब तो नील आदि का सुख आदि रूप (सुख-स्वभाव-वाला) में होना सम्भव था (स्यात्) । वस्तुतः प्रत्यक्ष के साक्षात्कारी व्यापार का (उसके पृष्ठभावी) विकल्प द्वारा जिस रूप में अनुव्यवसाय (अनुगमन) किया जाता है वह (रूप) ही प्रत्यक्ष है । क्योंकि (च=यस्मात्) नील की सुखरूपता का अनुव्यवसाय नहीं होता, इसलिये नील आदि के अनुभव काल में सुख-भिन्न (असात) जो नील आदि पदार्थ हैं उनसे अन्य सुख का ही अनुभव किया जाता है ।

न नीलादिः सातरूपः—सांख्य के अनुसार प्रकृति सुखदुःखमोहात्मक है अतः

---

१. सातरूपो० T.   २. इति वक्तुं शक्यम् A. E. H. P.

३. सातरूपेण T. सातानुरूपेण B.

४. सातरूपोऽयं D. T.   ५. स्यात् तस्य A. C. E. P.

६. सातादिरूप० C.   ७. नीलाद्यर्था० C. D.   ८. सातरूपत्वमनु० D.

तच्च ज्ञानमेव । ततोऽस्ति[1] ज्ञानानुभवः । तच्च [2]ज्ञानरूपवेदनमात्मनः साक्षात्कारि निर्विकल्पकम् अभ्रान्तं च । [3]ततः प्रत्यक्षम् ।।१०।।

बाह्य नील आदि ही सुखदुःखात्मक हैं । सांख्य के मत का निराकरण करते हुए यहाँ बतलाया गया है कि प्रत्यक्ष द्वारा नील आदि का सुख आदि से भिन्न रूप में अनुभव होता है, वे आन्तरिक हैं अतः सुख आदि को बाह्य नील आदि जड़ पदार्थों का धर्म नहीं कहा जा सकता (मि० टिप्प०, पृ० ३२, ३३) ।

तच्चेति—और निस्सन्देह वह (सुख) ज्ञान ही है । इसलिये वहाँ ज्ञान का ही अनुभव होता है । और वह ज्ञान के रूप का अनुभव (=वेदनम्) अपने (ज्ञान के) स्वरूप का साक्षात्कार कराता है, कल्पनारहित है एवं निर्भ्रान्त है । इसलिये वह प्रत्यक्ष ज्ञान है ।। १० ।।

तच्च ज्ञानमेव—बौद्धों के अनुसार सुख आदि विज्ञान की ही विशेष अवस्थायें हैं इसी से ये चैत्त कहलाते हैं । जिस प्रकार विज्ञान का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार सुख आदि का भी । ये सुख आदि ज्ञान के आकार हैं, इसको सिद्ध करने के लिये बौद्ध-दर्शन में अनेक युक्तियाँ दी गई हैं । द्रष्टव्य—

> तस्मात् सुखादयोऽर्थानां स्वसंक्रान्तावभासिनाम् ।
> वेदकाः स्वात्मनश्चैषामर्थेभ्यो जन्म केवलम् ।। प्र० वा०, २.२६६ ।।
> तस्मात्त आन्तरा एव संवेद्यत्वाच्च चेतनाः । प्र० वा०, २. २७४ ।

सुख आदि की ज्ञानरूपता का खण्डन न्या० म० (पृ० ७४) तथा न्या० वा० ता० (पृ० ८०) में देखा जा सकता है ।

ज्ञानरूपवेदनम्—ज्ञानरूपस्य वेदनम् । यद् वा ज्ञान रूपं च तद् वेदनञ्चेति तथा (धर्मो० प्र०, पृ० ६६) ।

ततः प्रत्यक्षम्—प्रत्यक्ष ज्ञान की तीन विशेषतायें हैं—अर्थ का साक्षात्कार करना, कल्पना-रहित होना और निर्भ्रान्त होना । ये तीनों बातें स्वसंवेदन में हैं अतः यह प्रत्यक्ष है । मिलाइये—

> अशक्यसमयो ह्यात्मा रागादीनामनन्यभाक् ।
> तेषामतः स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषङ्गिणी ।। प्र० वा०, २.२४९ ।।
> अथात्मरूपं नो वेत्ति पररूपस्य वित् कथम् । प्र० वा०, २.४४४ ।

---

१. विज्ञा० D.
२. ज्ञानरूपं वेदनं A. B. E. H. N. P., ज्ञाने-स्वरूपवेदनं C. D.
३. तस्मात् A. B. C. E. H. N. P.

योगिप्रत्यक्षं व्याख्यातुमाह[1]—

भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति ।।११।।

भूतः सद्भूतोऽर्थः । प्रमाणेन दृष्टश्च सद्भूतः । यथा चत्वार्यार्यसत्यानि । भूतस्य भावना पुन: पुनश्चेतसि विनिवेशनम् । भावनायाः प्रकर्षो भाव्यमानार्थाभासस्य[2] ज्ञानस्य स्फुटाभत्वारम्भः । प्रकर्षस्य पर्यन्तो यदा स्फुटाभत्वमीषदसम्पूर्णं भवति । यावद्धि स्फुटाभत्वमपरिपूर्णं तावत तस्य प्रकर्षगमनम्[3] । सम्पूर्णं तु यदा तदा नास्ति प्रकर्षगतिः । ततःसम्पूर्णावस्थायाः प्राक्तन्यवस्था [4]स्फुटाभत्वप्रकर्षपर्यन्त उच्यते । तस्मात् पर्यन्ताद् यज्जातं[5] भाव्यमानस्यार्थस्य[6] सन्निहितस्येव स्फुटतराकारग्राहि ज्ञानं योगिनः प्रत्यक्षम् ।

योगिप्रत्यक्षम् इतिः—योगि-प्रत्यक्ष की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

यथार्थवस्तु की भावना के प्रकर्ष-पर्यन्त से उत्पन्न होने वाला योगियों का ज्ञान भी (चतुर्थ प्रकार का) प्रत्यक्ष है ।।११।।

भूत शब्द का अर्थ है—वस्तुतः विद्यमान अर्थ । प्रमाण से निश्चित अर्थ ही वस्तुतः विद्यमान है; जैसे चार (दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध, निरोधोपाय) आर्यसत्य हैं । भूतार्थ की भावना का अभिप्राय है—उसको बार २ चित्त में स्थापना करना (विनिवेशनम्) । भाव्यमान (बार २ चित्त में स्थापित) अर्थ को भासित करने वाले ज्ञान में स्फुटाकारता का आरम्भ होना ही भावना का प्रकर्ष है । प्रकर्ष-पर्यन्त (प्रकर्ष की चरमावस्था से पहली अवस्था) वह है जब (भाव्यमान अर्थ की) स्फुटाकारता में थोड़ी सी कमी होती है (ईषद् + असम्पूर्णम् = कुछ अंश में अपूर्ण) । क्योंकि स्फुटाभास जब तक अपूर्ण रहता है तभी तक उसमें प्रकर्ष (तारतम्य = प्रगति) होता रहता है । जब स्फुटाभास पूर्ण हो जाता है तब प्रगति नहीं होती । इस प्रकार पूर्णावस्था से पहली अवस्था को स्फुटाभास-प्रकर्ष-पर्यन्त कहा गया है । उस प्रकर्षपर्यन्त से जो भाव्यमान वस्तु का, विद्यमान (सन्निहित = उपस्थित) वस्तु के समान, स्फुटतर आकार को भासित करने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है; वह योगि-प्रत्यक्ष है ।

सद्भूतोऽर्थः—प्रमाणों द्वारा निश्चित अर्थ को भूतार्थ या सद्भूत अर्थ कहते हैं । भिन्न-भिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के अनुसार भूतार्थ के अनेक स्वरूप और नाम हो सकते हैं । बौद्धों के हीनयान सम्प्रदाय के अनुसार दुःख (क्लेशसहित पञ्चस्कन्ध), दुःखसमुदय (तृष्णा इत्यादि दुःख के हेतु), दुःखनिरोध (क्लेशादि का नाश, चित्तस्य निष्क्लेशावस्था, निरोधोपाय (आर्याष्टाङ्गिक मार्ग अथवा नैरात्म्यसाक्षात्कार इत्यादि)—ये चार आर्यसत्य ही भूतार्थ हैं ।

---

१. ०ख्यातुकाम आह C. D.   २. ०र्थावभासस्य B. N.
३. प्रकर्षगतिः A. E. H. N. P.   ४. त्वं प्रक० E.
५. जातं ज्ञानं भाव्य० C. D.   ६. भाव्यमानस्य स० A. B. E. H. P.

तदिह स्फुटाभत्वारम्भावस्था भावनाप्रकर्षः। अभ्रकव्यवहितमिव यदा भाव्यमानं वस्तु पश्यति सा प्रकर्षपर्यन्तावस्था। करतलामलकवद् भाव्यमानस्यार्थस्य यद् दर्शनं तद् योगिनः प्रत्यक्षम्।

तद्धि स्फुटाभम्। स्फुटाभत्वादेव च निर्विकल्पकम्। विकल्पविज्ञानं हि सङ्केतकालदृष्टत्वेन वस्तु गृह्णच्छब्दसंसर्गयोग्यं गृह्णीयात्। सङ्केतकालदृष्टत्वं च सङ्केतकालोत्पन्नज्ञानविषयत्वम्। यथा च पूर्वोत्पन्नं विनष्टं ज्ञानं सम्प्रत्यसत्, तद्वत् पूर्वविनष्टज्ञानविषयत्वमपि सम्प्रति नास्ति वस्तुनः। तद्

श्चेरबात्स्की का कथन है कि यहाँ 'भूतार्थ' शब्द से महायान सम्प्रदाय की परमार्थसद् वस्तु का भी ग्रहण होता है। उनके अनुसार दो प्रकार का सत्य है—संवृतिसत् और परमार्थसत्। यहाँ 'भूतार्थ' शब्द द्वारा 'परमार्थसत्' का ग्रहण होता है, वही प्रमाणों द्वारा निर्धारित किया गया है, जैसे वस्तुओं की क्षणिकता आदि का ज्ञान (क्षणिकत्वग्राहि मनोविज्ञानम्, टिप्प०, पृ० ३३) है। (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ३१. टि० १)।

भावना = वस्तु को इस प्रकार वार-वार मन में लाना कि बीच में अन्य वस्तु का ध्यान ही न आवे—'सत्यचतुष्टयविषयो विजातीयाव्यवहितः सदृशचित्तप्रवाहो भावनेति यावत्' (धर्मो० प्र, पृ० ६७)। द्र०, भावना का निमित्त (प्र० वा०, १.३४,३६), भावनामार्ग (अभिधर्म ६.१ तथा आगे)।

सन्निहितस्येव—भावना के बल से व्यक्ति अविद्यमान वस्तु को भी सामने उपस्थित के समान देखा करता है (मि०, प्र० वा० २.२८२, २८४)।

तदिहेति—इस प्रकार यहाँ स्फुटाभास के आरम्भ की अवस्था भावना-प्रकर्ष है। जब योगी भाव्यमान वस्तु को अभ्रक से व्यवहित के समान देखता है, वह प्रकर्षपर्यन्त अवस्था है। जो भाव्यमान वस्तु का हस्तामलकवत् स्पष्ट दर्शन है वह योगी का प्रत्यक्ष है।

स्फुटत्वारम्भावस्था०—यहाँ योगी के ज्ञान की तीन अवस्थाएँ दिखलाई गई हैं १. भावनाप्रकर्ष की अवस्था, २. प्रकर्षपर्यन्तावस्था, ३. भाव्यमान अर्थ का हस्तामलकवत् दर्शन (मि०, टिप्प०, पृ० ३३)।

तद्धि स्फुटाभम् इति—निश्चय ही वह (योगिज्ञान) स्पष्ट आकार वाला (स्फुटाभास) होता है। स्पष्ट आकार वाला होने से ही वह निर्विकल्पक है। क्योंकि विकल्पज्ञान तो वस्तु का सङ्केत-काल में देखे गये रूप से ग्रहण करता है अतः शब्द के संसर्ग के योग्य अर्थ का ग्रहण कर सकता है (गृह्णीयात् = गृहीतुमर्हति)। सङ्केतकाल में देखे गये रूप का अर्थ है—सङ्केत-काल में उत्पन्न होने वाले ज्ञान का विषय

असद्रूपं वस्तुनो गृह्णत्, असन्निहितार्थ[1]ग्राहित्वाद् अस्फुटाभम्। [2]अस्फुटाभत्वादेव च[3] सविकल्पकम्। ततः स्फुटाभत्वान्निर्विकल्पकम्। प्रमाणशुद्धार्थग्राहित्वाच्च संवादकम्। अतः प्रत्यक्षम्, इतरप्रत्यक्षवत्।

होना। 'जिस प्रकार पहले उत्पन्न हुआ ज्ञान नष्ट हो गया तथा वह इस समय नहीं है (असत्), उसी प्रकार इस समय वह वस्तु पहले नष्ट हो जाने वाले ज्ञान का विषय भी नहीं है। अतः वह (विकल्प) वस्तु के अविद्यमान रूप को ग्रहण करता है तथा अविद्यमान (असन्निहित = अनुपस्थित) अर्थ का ग्राहक होने के कारण अस्पष्ट आकार वाला (अस्फुटाभ) है। अस्फुट आकार वाला होने से ही वह सविकल्पक है। इस प्रकार योगी का ज्ञान स्फुट आकार वाला होने के कारण निर्विकल्पक है और प्रमाण द्वारा निश्चित (= शुद्ध) अर्थ का ग्राहक होने से अभ्रान्त (एवं संवादक) है। इसलिये अन्य (इन्द्रियज्ञान आदि) प्रत्यक्ष के समान यह भी प्रत्यक्ष है।

अस्फुटाभत्वादेव च सविकल्पकम्—यहाँ 'अस्फुटाभ' शब्द ऊपर अभिलाप इत्यादि सूत्र (१.५) की टीका में प्रयुक्त 'अनियतप्रतिभास' शब्द के समानार्थक है। जिस प्रकार अर्थसन्निधि-निरपेक्ष होने के कारण वहाँ विकल्प-ज्ञान में अभिलाप-संसर्ग-योग्यता दिखलाई गई है, इसी प्रकार यहाँ भी समझनी चाहिये।

जो ज्ञान सङ्केतकाल में देखे गये रूप से वस्तु का ग्रहण करता है वह असन्निहित वस्तु का ग्राहक होता है; क्योंकि वस्तु का सङ्केतकाल में दृष्ट रूप तो इस समय अविद्यमान ही है। असन्निहित वस्तु का ग्राहक ज्ञान अस्फुटाभ होता है तथा सविकल्पक होता है, (देखिये ऊपर सूत्र ५ की टीका 'स्वलक्षणस्य वाच्यवाचकत्वं' इत्यादि)।

स्फुटाभत्वात् निर्विकल्पकम्—श्चेरबात्स्की का कथन है कि योगी का प्रत्यक्ष नितान्त मानसिक ज्ञान है इसमें इन्द्रियों का तनिक भी योग नहीं होता। इसको प्रत्यक्ष कोटि में लाने वाला मुख्य कारण इसकी स्फुटाभता है। इसमें चित्त से भाव्यमान वस्तु का स्फुटतया आभास होता है। विकल्प ज्ञान और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में यही मुख्य अन्तर है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में स्फुटाभता होती है। यहाँ स्फुटाभता नामक प्रत्यक्ष की एक नवीन विशेषता का निर्देश किया गया है। इससे पूर्व 'कल्पना रहित होना' और 'अभ्रान्तता' ये दो प्रत्यक्ष के विशेष धर्म कहे गये हैं तथा अविसंवादकता (प्रमाण की) सामान्य विशेषता कही गई है। उनकी भी किसी प्रकार ऐसी व्याख्या की जा सकती है कि योगी के प्रत्यक्ष में भी वह लक्षण घटित हो जाये किन्तु वह क्लिष्ट-कल्पना ही होगी। (मि०, बु० लॉ २, पृ० ३०, टि० २)।

---

१. ०हितग्राहि० B.C.

२. अस्फुटाभम विकल्पकम् T., ०ग्राहित्वादस्फुटाभं सविकल्पकम् C.

३. एव च' नास्ति A. P.

योगः समाधिः। स यस्यास्ति[1] स योगी। तस्य ज्ञानं प्रत्यक्षम्। इतिशब्दः परिसमाप्तिवचनः[2]। इयद् एव प्रत्यक्षम् इति ॥११॥

वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ 'स्फुटाभता' के रूप में प्रत्यक्ष की कोई नवीन विशेषता नहीं दिखलाई गई है अपि तु निर्विकल्पकता (=कल्पनापोढत्व) को सिद्ध करने के लिये ही स्फुटाभता का उल्लेख किया गया है; जैसा कि "स्फुटाभत्वादेव च निर्विकल्पकम्"—इस विवेचन से प्रकट होता है। टिप्प० (पृ० ३४, ३५) तथा धर्मोत्तर प्रदीप (पृ० ६९) की व्याख्या से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। प्रमाणवार्त्तिक (२.२८३) में भी कहा गया है—"न विकल्पानुबद्धस्यास्ति स्फुटार्थावभासिता"।

किन्तु प्रश्न यह हो सकता है कि योगी का जो भाव्यमान अर्थ होता है वह तो वाच्य-वाचकभाव से युक्त होता है फिर विकल्प सहित होने के कारण वह स्फुटाभ नहीं हो सकता। इसके उत्तर में यही कहना पर्याप्त है कि योगी का प्रत्यक्ष एक ऐसा ज्ञान है जिसमें विकल्पों का स्वभाव ही बदल जाता है और उस अवस्था में ज्ञान में स्फुटाभता आ जाती है। ज्ञान का केवल संविद् रूप शेष रह जाता है। वाच्य-वाचकभाव का संसर्ग जो उसमें आरोपित कर लिया गया था, वह दूर हो जाता है। (मि०, टिप्प०, पृ० ३४; बु० लॉ० २, पृ० ३० टि० २)।

प्रमाणशुद्धार्थग्राही = प्रमाणेन शुद्धमर्थं गृह्णाति अथवा प्रमाणेन शुद्धार्थं गृह्णाति। प्रथम विग्रह में अर्थ होगा—प्रमाण से निश्चित भूतार्थ का ग्रहण करता है। द्वितीय विग्रह में अर्थ होगा—शुद्ध अर्थ = अर्थक्रियाक्षम स्वलक्षण को प्रमाण से ग्रहण करता है। श्चेरबात्स्की का सुझाव है कि यहाँ द्वितीय अर्थ ही टिप्प० को अभिमत है ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि टिप्प० पृ० २४.५ और २४.९ में शुद्ध शब्द का स्वलक्षण के अर्थ में प्रयोग किया गया है (बु० लॉ० २, पृ० ३३ टि० १)। धर्मोत्तर प्रदीप (पृ० ७०) के अनुसार प्रथम विग्रह ही ठीक है—"प्रमाणाधिगतोऽर्थः प्रमाणशुद्ध उच्यते, सत्य चतुष्टयं चैवमात्मकम्"। तदेव शुद्धत्वेन विवक्षितम्"।

संवादकम्—प्रमाण से शुद्ध अर्थ का ग्राहक होने के कारण योगी का ज्ञान संवादक है—यहाँ 'प्रमाण से शुद्ध अर्थ की ग्राहकता' बतलाकर उसकी अभ्रान्तता प्रकट की गई है क्योंकि अभ्रान्त का अर्थ है—'वस्तुस्वरूपे अविपर्यस्तम्'। प्रमाणों द्वारा वस्तु का जैसा रूप निश्चित हुआ है वैसा ही योगी के प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है अतः वह अभ्रान्त है। अविसंवादकं च—इस प्रकार वह अविसंवादक भी है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ७०, चः संवादकमित्यतः परः)। इस प्रकार यहाँ योगी के ज्ञान में प्रत्यक्ष की तीनों विशेषताएँ अविसंवादित्व, कल्पनापोढत्व तथा अभ्रान्तत्व दिखलाई गई हैं।

---

१. यस्यास्तीति स C.   २. परिसमाप्त्यर्थः A. E. H. N. P.

तदेवं प्रत्यक्षस्य कल्पनापोढत्वाभ्रान्तत्वयुक्तस्य प्रकारभेदं प्रतिपाद्य विषयविप्रतिपत्तिं निराकर्तुम् आह—

तस्य विषयः स्वलक्षणम् ।।१२।।

तस्येत्यादि । तस्य चतुर्विधस्य[1] प्रत्यक्षस्य विषयो बोद्धव्यः स्वलक्षणम् । स्वम् असाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम् । वस्तुनो ह्यसाधारणं च तत्त्वमस्ति सामान्यं च । तत्र[2] यदसाधारणं तत् प्रत्यक्षस्य[3] ग्राह्यम् ।

योग इति—योग का अर्थ है—समाधि (चित्त की एकाग्रता) । वह योग जिसके होता है वह योगी है, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष है । ('चेति' में) इति शब्द समाप्ति का बोधक है अर्थात् इतना (चार प्रकार का) ही प्रत्यक्ष है (इससे भिन्न नहीं) ॥११॥

योगी—यहाँ विनीतदेव (पृ० ४८, ४९) ने योगी के प्रत्यक्ष में कुछ दिव्य-ज्ञानों तथा भविष्य-द्रष्टृत्व आदि की भी गणना की है किन्तु धर्मोत्तर ने उसे बिल्कुल छोड़ दिया है (बु० लॉ० २. पृ० ३३ टि० २) ।

९. प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय—स्वलक्षण

तदेवम् इति—इस प्रकार कल्पना-रहित एवं निर्भ्रान्त जो प्रत्यक्ष है उसके (चार) प्रकारों का प्रतिपादन करके विषय-सम्बन्धी मत-भेदों का निराकरण करने के लिये कहा है—

उस (प्रत्यक्ष) का विषय स्वलक्षण है ।।१२।।

उस चार प्रकार के प्रत्यक्ष का विषय अर्थात् बोद्धव्य (जिसका प्रत्यक्ष द्वारा बोध कराया जाता है वह = ग्राह्य), स्वलक्षण है । स्व = निजी (आत्मीय = अपना अर्थात् असाधारण (= विलक्षण, अन्यतोव्यावृत्त) स्वरूप (= तत्त्व) ही स्वलक्षण कहलाता है । (दृश्यमान) वस्तु का असाधारण स्वरूप भी होता है और साधारण (रूप) भी । इनमें से (तत्र) जो (वस्तु का) असाधारण स्वरूप है, वह प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय है ।

विषयविप्रतिपत्तिम्—प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों का विषय क्या है ? इस विषय में मत-भेद हैं । मीमांसक आदि (न्याय-वैशेषिक भी) मानते हैं कि प्रत्यक्ष का विषय सामान्य और विशेष (व्यक्ति) दोनों ही हैं किन्तु अनुमान का विषय केवल सामान्य (अग्निसामान्य आदि है), व्यक्ति (विशेष) नहीं । सांख्य के अनुसार दोनों प्रमाणों का विषय विशेष (व्यक्ति) ही है; क्योंकि सामान्य कुछ है ही नहीं । वेदान्त का मत है कि दोनों प्रमाणों का विषय सामान्य ही है; क्योंकि आत्माद्वैत मानने के कारण समस्त दृश्यमान जगत् एक ही है अतः प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों व्यक्ति (विशेष) का

---

१. तस्य प्रत्यक्षस्य C. तस्य चतुर्विधप्रत्य० A E. H. N. P.
२. 'तत्र' नास्ति A. B. D. E. H. P. ३. प्रत्यक्षग्राह्यम् A. B. E. H. P.

द्विविधो हि विषयः[1] प्रमाणस्य—ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति। अन्यो हि ग्राह्योऽन्यश्चाध्यवसेयः। प्रत्यक्षस्य हि क्षण एको

परमार्थतः ग्रहण नहीं करते विशेष-विषयक भ्रान्ति ही इनके द्वारा होती है। (मि०; टिप्प०, पृ० ३५.५ तथा आगे)

असाधारणम्=स्वम्, स्वम् शब्द से लक्षणा द्वारा 'असाधारण' अर्थ का बोध होता है (यस्य यत् स्वं तत् तस्यैव नान्यस्येति लक्षणया स्वशब्देनासाधारणमुक्तम्, धर्मो० प्र०, पृ० ७०)।

वस्तुनो हि०—दिङ्नाग ने वस्तुओं के दो रूप बतलाये हैं—१. सामान्य और २. विशेष। यहाँ इन्हीं को सामान्य (सामान्यलक्षण) तथा असाधारण (स्वलक्षण) शब्दों द्वारा कहा गया है। जनसाधारण के व्यवहार में जो वस्तु घट इत्यादि के रूप में समझी जाती है, वहाँ रूप-रंग तथा नाम ('घट' शब्द) आदि से युक्त वस्तु का रूप भासित होता है। घट का वह रूप सर्वघटसाधारण है अतः वह घट का सामान्य रूप या सामान्य लक्षण है। किन्तु प्रत्येक घट वस्तु का अपना एक विलक्षण निजी रूप भी होता है जो अन्य समस्त घटों से व्यावृत्त होता है। वह रूप घटेतर गौ इत्यादि से भी भिन्न होता है, वह किसी के समान नहीं होता (सर्वतो व्यावृत्त)। वही वस्तु का असाधारण स्वरूप है उसे ही स्वलक्षण कहते हैं। स्वलक्षण=वस्तु का अपना निजी स्वरूप। दिङ्नाग-सम्प्रदाय में यही 'परमार्थसत्' माना गया है। दिङ्नाग ने इस परमार्थसत् वस्तु की स्थापना माध्यमिक के आपेक्षिक सत्य 'शून्यता' का निराकरण करने के लिए की थी जो इस 'परमार्थसत्' वस्तु को भी आपेक्षिक मानता था। इस विषय में दिङ्नाग और चन्द्रकीर्त्ति का रोचक विवाद माध्यमिक वृत्ति में दिखलाया गया है (मि० बु० लॉ० २, पृ० ३३ टि० ३)। दूसरी ओर दिङ्नाग ने इसके द्वारा नितान्त बाह्यार्थवादी नैयायिक आदि के मत का निराकरण किया था। जो नैयायिक आदि 'घट' इत्यादि पदार्थ को अवयवी के रूप में मानते हैं तथा उसके समान ही सामान्य आदि की यथार्थता (पारमार्थिक सत्ता) को स्वीकार करते हैं।

तत्स्वम्—लक्षणम्, वस्तु का निजी स्वरूप। (टिप्प०, पृ० ३५)

सामान्यम्—वस्तु का आरोपित रूप, वस्तु (स्वलक्षण) तो क्षण रूप है। पहले और बाद में होने वाले क्षणों को एक समझकर यह घट है, इस प्रकार की प्रतीति होती है। इसका विशद निरूपण आगे किया जा रहा है।

१०. प्रमाणों का दो प्रकार का विषय—(ग्राह्य तथा अध्यवसेय)

द्विविधो हि इति—वस्तुतः प्रमाण का विषय दो प्रकार का होता है—(एक) ग्राह्य, जिसके आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है; और (दूसरा) प्रापणीय, जिसका (प्रमाण) अध्यवसाय (=निश्चयात्मक ज्ञान) करता है। ग्राह्य विषय भिन्न है तथा अध्यवसेय विषय भिन्न होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण का एक वस्तुक्षण (स्वलक्षण) ग्राह्य

---

१. हि प्रमाणस्य विषयः A. H. N. P.

ग्राह्यः। अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षबलोत्पन्नेन निश्चयेन सन्तान एव। सन्तान एव च प्रत्यक्षस्य प्रापणीयः। क्षणस्य प्रापयितुम् अशक्यत्वात्।

विषय है, किन्तु प्रत्यक्ष के आधार पर उत्पन्न होने वाले ('यह नील है' इत्यादि) निश्चय के द्वारा क्षण-सन्तान ही प्रत्यक्ष का अध्यवसेय विषय है और क्षणसन्तान ही प्रत्यक्ष का प्रापणीय (प्राप्त कराने योग्य) है, क्योंकि क्षण को प्राप्त नहीं कराया जा सकता।

द्विविधो हि विषयः—प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों का विषय दो २ प्रकार का है १ ग्राह्य और अध्यवसेय। जिस विषय के आकार वाला ज्ञान उत्पन्न होता है वह विषय ग्राह्य है, (यत्प्रतिभासं ज्ञानम् उत्पद्यते)। यह ग्राह्य विषय भी दो प्रकार का होता है परमार्थसत् और आरोपित। प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय परमार्थसत् वस्तु होती है और अनुमान का आरोपित वस्तु। दोनों प्रकार के ग्राह्य विषय का अपने ज्ञान - प्रतिभास (=प्रकाशन) हुआ करता है (धर्मो० प्र०, पृ० ७१)। वस्तुतः बौद्ध-न्याय में ग्राह्य विषय वह है जो ज्ञान का हेतु है—आलम्बन प्रत्यय है। हेतुभावाद् ऋते नान्या ग्राह्यता नाम काचन। तत्र बुद्धिर्यदाकारा तस्यास्तद् ग्राह्यमुच्यते ॥ प्र० वा०, २.२२४। यह अभी आगे दिखलाया जा रहा है। अध्यवसेय विषय वह है जिसका ज्ञान में प्रतिभास तो नहीं होता, किन्तु वह प्रवृत्ति का विषय हुआ करता है। इसी हेतु उसे प्रापणीय विषय भी कहा जाता है; क्योंकि ज्ञान द्वारा जिस वस्तु में व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है वही वस्तु उस ज्ञान का प्रापणीय विषय कहलाता है।

यदाकारम्—यहाँ अव्ययीभाव समास है—यस्य आकारमनतिक्रम्य (बु० लां० २, पृ० ३४ टि० १)

निश्चयेन=कल्पनया=अध्यवसायेन cp. Tatp. P. 87. 25. (बु लां० २, पृ० ३४ टि० २)। किन्तु इन सभी शब्दों को समानार्थक मानना उचित नहीं है। केवल यह कहा जा सकता है—निश्चयेन=अध्यवसायेन तथा कल्पनया=विकल्पेन। विकल्प को निश्चय या अध्यवसाय का समानार्थक मानने से अनेक अनर्थों की आशङ्का है। 'विकल्प' का अर्थ है—कल्पना=संसर्ग-योग्य ज्ञान (विकल्पशब्दः शब्दादियोजना-निमित्तकः, (ज्ञानश्री० नि०, पृ० २२६) और 'अध्यवसाय' शब्द का अर्थ है—ज्ञान में प्रतिभासित न होने वाली वस्तु को भी प्रवृत्ति का विषय बना देना (अध्यवसायस्त्व-गृहीतेऽपि प्रवर्तनयोग्यतानिमित्तः, ज्ञानश्री नि०, पृ० २२६ तथा अस्फुरणेऽपि प्रवृत्ति-विषयीकरणम्............अध्यवसायो भाष्यमतः, वही पृ० ३३२)।

प्रत्यक्षस्य हि०—यहाँ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की दृष्टि से प्रत्यक्ष के दो विषय दिख-लाये गये हैं, स्वसंवेदन आदि प्रत्यक्ष में ये दो प्रकार के विषय नहीं होते (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ७१)

तथाऽनुमानमपि स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन[1] प्रवृत्तेरनर्थग्राहि । स पुनरारोपितोऽर्थो गृह्यमाणः स्वलक्षणत्वेनावसीयते[2] यतः[3], ततः स्वलक्षण-मध्यवसितं[4] प्रवृत्तिविषयोऽनुमानस्य[5] । अनर्थस्तु ग्राह्यः ।

क्षण एको ग्राह्य.—दिङ्नाग-सम्प्रदाय में परमार्थसत वस्तु (स्वलक्षण) क्षण मात्र है । यह देश में विस्तार नहीं रखती (देशाननुगत) और काल में स्थिरता नहीं रखती । यही परमार्थसत् वस्तु है । यह प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय है । किन्तु एक क्षण को कोई व्यक्ति प्राप्त तो नहीं कर सकता । इसलिये होता यह है कि कारण-कार्य-भाव से व्यवस्थित जो क्षणों का प्रवाह है जिसे क्षण-सन्तान कहते हैं उसका प्रत्यक्ष के पष्ठभावी विकल्प द्वारा अध्यवसाय किया जाता है । यद्यपि क्षण-सन्तान प्रत्यक्ष में भासित नहीं होता तथापि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद होने वाले निश्चयात्मक ज्ञान द्वारा उस (क्षण-सन्तान) को प्रवृत्ति का विषय बना दिया जाता है । इसीलिये क्षण-सन्तान प्रत्यक्ष का अध्यवसेय विषय है तथा वही प्रापणीय भी है । वस्तुतः औपचारिक रूप से ही क्षण-सन्तान को प्रत्यक्ष का विषय समझना चाहिये । (मि०, टिप्प०, पृ० ३६.१) ।

अनुमान के दो प्रकार के विषय आगे बतलाये जा रहे हैं—

तथाऽनुमानमपि इति—उसी प्रकार अनुमान भी अपने द्वारा बोधित (ग्राह्य) मिथ्या अर्थ (=अनर्थ=आरोपित वस्तु, सामान्यलक्षण) में अर्थ (परमार्थसत् वस्तु, स्वलक्षण) का अध्यवसाय कराकर प्रवृत्ति कराता है (प्रवृत्तेः=प्रवर्तनात्, धर्मो० प्र०) तथा अनर्थ (आरोपित अर्थ, सामान्य) का ग्राहक है । क्योंकि वह आरोपित (कल्पित) अर्थ (अनुमान द्वारा) ग्राह्य होता हुआ (गृह्यमाणः) स्वलक्षण के रूप में अध्यवसित होता है, इसलिये अध्यवसाय का विषय होने वाला (अध्यवसित) स्वलक्षण अनुमान (प्रमाण) से होने वाली प्रवृत्ति का विषय है । किन्तु उसका ग्राह्य विषय आरोपित वस्तु (=अनर्थ) ही है ।

तथा—जिस प्रकार प्रत्यक्ष का ग्राह्य तथा अध्यवसेय विषय भिन्न भिन्न है उसी प्रकार अनुमान का भी ग्राह्य विषय अन्य है तथा अध्यवसेय विषय अन्य है (धर्मो० प्र०, पृ० ७२) ।

स्वप्रतिभासे—स्वस्य प्रतिभास इव प्रतिभासः; 'प्रतिभास' शब्द का अर्थ है वस्तु का स्फुटाभास, स्पष्ट रूप से ज्ञान का ग्राह्याकार होना; अतः 'प्रतिभास' मुख्य रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान में ही होता है, अनुमान ज्ञान में नहीं ।

---

१. ऽनर्थेऽनर्थाध्य० A.H.P. २. ०नाध्यवसी० C.D.N.
३. सीयते ततश्च स्व० D. ४. ०मवसितम् C. T.
५. ०षयोऽस्यानुमा० C.D.

तदत्र प्रमाणस्य ग्राह्यं विषयं दर्शयता प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणं विषय उक्तः ।

अनुमानस्यापि—अनुमान का ग्राह्य विषय वस्तु का सामान्य रूप है जो कल्पित (आरोपित) है, उसकी वस्तुतः जगत् में सत्ता नहीं है न ही वह अर्थक्रिया में समर्थ है, अतः उसे अनर्थ (=जो अर्थ नहीं) कहा गया है। उस काल्पनिक, आरोपित, वस्तु (=अर्थः=अर्थ इव अर्थः) में वस्तु या अर्थ (स्वलक्षण) का अध्यवसाय कर लिया जाता है। भाव यह है कि आरोपित (कल्पित) अर्थ का बाह्य अर्थ से विवेक नहीं होता। इसलिये अनुमान द्वारा आरोपित वस्तु का ग्रहण करने के पश्चात् व्यक्ति बाह्य अर्थ को ही प्रवृत्ति का विषय समझ लेता है, यही अनर्थ में अर्थ का अध्यवसाय कहलाता है। वस्तुतः स्वलक्षण (परमार्थसत् वस्तु) अध्यवसाय का विषय नहीं होता अतः यहाँ स्वलक्षण शब्द का प्रयोग औपचारिक है। (द्र०, न्या० वा० ता०, पृ० ४८८ पं० १५)।

तदत्रेति—इस प्रकार यहाँ प्रमाण का ग्राह्य विषय दिखलाते हुए प्रत्यक्ष का (ग्राह्य) विषय स्वलक्षण कहा गया है ॥१२॥

ग्राह्यं—ग्राह्य विषय के बारे में ही मतभेद हैं, प्राप्य विषय के बारे में नहीं अतः प्रत्यक्ष के ग्राह्य विषय को ही धर्मकीर्ति ने दिखलाया है।

स्वलक्षणम्—धर्मकीर्ति ने स्वलक्षण शब्द का कई अर्थों में प्रयोग किया है जैसे (i) सत्तामात्र, जिसमें ज्ञान और ज्ञेय रूप से भेद नहीं किया जा सकता (ग्राह्य ग्राहक-कल्पनापोढ), यही योगाचार की परमार्थसत् वस्तु है। (ii) विशेष—जो कि 'किञ्चिद् इदम्' इस प्रत्यक्ष का विषय (आलम्बन) है, देश काल में नियत है तथा नाम-जाति आदि की कल्पना से रहित है। यह अर्थक्रियाक्षम वस्तु का एक क्षण है जो ज्ञान में स्फुटाभास उत्पन्न करने में समर्थ है। (iii) औपचारिक, प्रत्येक मूर्तिमान् वस्तु (व्यक्ति) के लिए, क्योंकि उसका आधारभूत तत्त्व स्वलक्षण ही होता है। (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ३४ टि० ६)

ग्राह्यं विषयं दर्शयता—यहाँ बौद्धन्याय के प्रमाण-व्यवस्था के सिद्धान्त को सूचित किया गया है। भारतीय दर्शन में प्रमाण-संप्लव और प्रमाण-व्यवस्था को लेकर न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय तथा बौद्धन्याय का विवाद रहा है। न्याय-वैशेषिक का मत है कि एक ही अग्नि आदि पदार्थ का प्रत्यक्ष से भी ग्रहण हो सकता है, अनुमान द्वारा भी और आप्तोदेश रूप शब्दप्रमाण द्वारा भी। इस प्रकार एक ही विषय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति हो जाती है, इस मन्तव्य को प्रमाणसंप्लव कहते हैं (न्यायसुत्र, वात्स्यायनभाष्य १. १. ३.)। इसके विपरीत बौद्धन्याय का मत है कि केवल दो प्रमाण हैं प्रत्यक्ष और अनुमान तथा दो प्रकार के विषय हैं—स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। इनमें से स्वलक्षण का प्रत्यक्ष से ही ग्रहण होता है और सामान्यलक्षण का अनुमान से ही ग्रहण होता है। प्रत्यक्ष द्वारा सामान्यलक्षण का ग्रहण नहीं हो सकता और न ही

कः पुनरसौ विषयो ज्ञानस्य यः स्वलक्षणं प्रतिपत्तव्य इत्याह—

यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम् ।१३।

यस्यार्थस्येत्यादि[1] । अर्थशब्दो विषयपर्यायः । यस्य ज्ञानविषयस्य । सन्निधानं निकटदेशावस्थानम । असन्निधानं दूरदेशावस्थानम् । तस्मात सन्निधानाद् असन्निधानाच्च ज्ञानप्रतिभासस्य ग्राह्याकारस्य भेदः स्फुटत्वास्फुटत्वाभ्याम् । यो हि ज्ञानविषयः[2] सन्निहितः सन्[3] स्फुटाभासं ज्ञानस्य करोति, असन्निहितस्तु योग्यदेशस्थ[4] एवास्फुटं करोति तत् स्वलक्षणम् । सर्वाण्येव हि वस्तूनि दूराद् अस्फुटानि दृश्यन्ते, समीपे स्फुटानि । तान्येव[5] स्वलक्षणानि ॥१३।

अनुमान द्वारा स्वलक्षण का ग्रहण हो सकता है । अथवा कहिये कि वस्तु के दो रूप हैं असाधारण और साधारण इनमें से असाधारण रूप प्रत्यक्ष प्रमाण का ही ग्राह्य है और साधारण रूप अनुमान का ही ग्राह्य है (मि०, तस्य स्वपररूपाभ्यां गतेर्मेयद्वयं मतम्; प्र० वा०, २.५४) । यहाँ वस्तु का असाधारण रूप ही उसका निजी स्वरूप है, स्वलक्षण है और साधारण रूप ही पररूप या आरोपित रूप (सामान्यलक्षण) है। इस प्रकार एक प्रमाण का ग्राह्य विषय दूसरे का ग्राह्य नहीं हो सकता, यह मन्तव्य ही प्रमाण-व्यवस्था कहा जाता है । इस प्रमाण-व्यवस्था का सम्बन्ध प्रमाणों के ग्राह्य विषय से ही है, अध्यवसेय विषय से नहीं । एक प्रमाण का ग्राह्य विषय दूसरे का अध्यवसेय तो हो ही सकता है, जैसा कि ऊपर विवेचन किया गया है ।

११. स्वलक्षण का स्वरूप

कः पुनरिति—तब वह (प्रत्यक्ष) ज्ञान का विषय क्या है, जिसे स्वलक्षण समझना चाहिए; यह बतलाते हैं—

जिस वस्तु के निकट अथवा दूर स्थित होने से ज्ञान के प्रतिभास (=ग्राह्याकार होना) में (स्फुटता या अस्फुटता का) भेद होता है, वह (वस्तु) स्वलक्षण है ॥१३॥

यस्यार्थस्येत्यादि—यहाँ 'अर्थ' शब्द 'विषय' शब्द का समानार्थक है; जिस ज्ञान के विषय का—(यह भाव है) । 'सन्निधान' का अर्थ है—निकटदेश में स्थिति और असन्निधान का अर्थ है—दूर देश में स्थिति । उस निकट देश में स्थिति तथा दूर देश में स्थिति से ज्ञानप्रतिभास, अर्थात् ज्ञान के ग्राह्याकार में स्फुटता तथा अस्फुटता का भेद । (अभिप्राय यह है कि) ज्ञान का जो विषय निकट देश में स्थित होकर ज्ञान में स्पष्ट रूप से ग्राह्याकारता (=आभास) उत्पन्न करता है; किन्तु दूर देश में स्थित होकर, प्रत्यक्ष के योग्य स्थल में रहता हुआ ही (इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होकर भी), अस्पष्ट (ग्राह्याकारता) उत्पन्न करता है; वह स्वलक्षण है । सभी वस्तुएं दूर से अस्पष्ट दिखलाई देती हैं और समीप से स्पष्ट । वे ही स्वलक्षण हैं ॥१३॥

---

१. नास्ति H. N.
२. ज्ञानस्य विषयः A. E. H. N. P.
३. स स्फुटा० B. C. D.
४. ०देशावस्थित A. B. C. E. H. N. P.
५. तान्येव हि C.

ज्ञानप्रतिभास-भेदः---ज्ञान-प्रतिभास = ज्ञान का स्पष्ट रूप से ग्राह्याकार होना; यह भी अर्थ क्रियाक्षमता का एक रूप है, जो इस वाक्य द्वारा धर्मकीर्ति ने बतलाया है। नियम यह है कि जो वस्तु ज्ञान में अपना आकार समर्पित करती है; उसमें स्फुटाकार उत्पन्न करती है, वही अर्थक्रियासमर्थ है, परमार्थसत् है, मि० मनोरथनन्दी, "अन्त्या हीयं भावानामर्थक्रिया यदुत स्वज्ञानजननम्" प्र० वा० वृ०, २·५०। यहाँ प्रतिभास-भेद का तात्पर्य है, प्रतिभास की स्फुटता में तारतम्य, अर्थात् वस्तु के दूर होने से कम स्फुट ग्राह्यकारता होती है और समीप होने से अधिक स्फुट ग्राह्याकारता होती है। वैसे तो प्रत्यक्ष में सदा ही वस्तु का स्फुट आकार भासित होता है। ग्रन्थ के पूर्वापरानुशीलन से यही तात्पर्य संगत प्रतीत होता है। धर्मोतर की टीका का भी इसमें ही तात्पर्य मानना चाहिये।

असन्निधानं दूर-देशावस्थानम्—यहाँ विनीतदेव की व्याख्या पर आक्षेप किया गया है। विनीतदेव (पृ० ५०) के अनुसार "सर्वेण रूपेण वस्तुनोऽभावोऽसन्निधानम्" (टिप्प०, ३६·१०) यह अर्थ है। तब सूत्र में सन्निधान का अर्थ उपस्थिति और असन्निधान का अर्थ वस्तु की अनुपस्थिति होगा। श्चेरबात्स्की का विचार है कि वही अर्थ वरीयान् प्रतीत होता है (बु० लॉ० २, पृ० ३५ टि० १)। किन्तु उस मत में दोष यह है कि वस्तु के उपस्थित न होने पर तो ज्ञान-प्रतिभास (ज्ञान में अर्थ का स्फुटाभास) ही नहीं होता, फिर प्रतिभास-भेद की तो बात ही क्या है? यहाँ 'यत्र वस्तु नास्ति तत्र ज्ञानमेव न जायते' (धर्मो० प्र०, पृ० ७४) तथा 'वस्तुनःतत्राभावे ज्ञानमेव न भवति' (टिप्प०, पृ० ३६)—इस प्रकार की व्याख्या का भी यही तात्पर्य है कि वस्तु के न होने पर स्फुटाभास ही नहीं होता; क्योंकि वस्तु की अनुपस्थिति में भी विकल्पज्ञान (अनुमान आदि) का होना सम्भव ही है।

विनीतदेव के अनुसार 'अस्फुट' का अर्थ है धुंधला अर्थात् कल्पनाजन्य आकार। मि०, बु० लॉ०, पृ० ३५-३६ टि० २)।

तान्येव स्वलक्षणानि—(i) धर्मकीर्ति के अनुसार लोक में जो अग्नि आदि पदार्थ समझे जाते हैं, वे वस्तु के साधारण रूप हैं। उनके जिस रूप का हम अनुभव करते हैं, वह मानसिक कल्पनाओं के आधार पर आयोजित किया गया है। वस्तुतः उनका परमार्थसत् स्वरूप तो अर्थक्रियासमर्थ रूप ही है, अर्थात् जो अग्नि-क्षण दहन पाचन में समर्थ है वही यथार्थ है, वस्तुसत् है। जब नेत्र के द्वारा विज्ञान क्षण का उस यथार्थ वस्तुक्षण के साथ समवधान हो जाता है तो उसका स्फुटाभास (=प्रतिभास) होता है, किन्तु जब वह वस्तुक्षण अनुपस्थित रहता है तो उसका प्रतिभास नहीं होता। हां, स्मरण या अनुमान द्वारा उसके आरोपित रूप का ग्रहण हुआ करता है।

(ii) ज्ञान की स्पष्टता और अस्पष्टता से ही निकटस्थ और दूरस्थ वस्तु की स्पष्टता और अस्पष्टता हो जाती है, पारमार्थिक दृष्टि से वस्तु में स्पष्टता और अस्पष्टता नहीं होती, इसलिये यह शङ्का करना भी उचित नहीं—कि यदि दूर और

कस्मात् पुनः प्रत्यक्षविषय एव स्वलक्षणम् । तथा हि विकल्पविषयोऽपि वह्निर्दृश्यात्मक[1] एवावसीयते । इत्याह —

तदेव परमार्थसत् ॥१४॥

तदेव परमार्थसदिति[2] । 'परमोऽर्थोऽकृत्रिममनारोपितं[3] रूपम् । तेनास्ति—

समीप होने से स्वलक्षण का अस्पष्ट या स्पष्ट प्रतिभास होगा तो उसके दो रूप (रूपद्वयं) होने लगेंगे । (मि०, टिप्प० पृ० ३७)

वस्तु के सामान्य रूप के निकट या दूर होने से ज्ञान में स्फुटाभासता और अस्फुटाभासता नहीं होती, अतः उसका स्वलक्षण से अन्तर स्पष्ट ही है ।

(iii) यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जिस वस्तु के सन्निधान और असन्निधान से ज्ञान-प्रतिभास में भेद होता है, यदि वही स्वलक्षण है तो स्पर्श तथा रस स्वलक्षण न होंगे, क्योंकि वे तो असन्निहित होकर ज्ञान ही नहीं उत्पन्न करते । इसी प्रकार विज्ञान भी स्वलक्षण न होगा, क्योंकि उसमें दूर या समीप होना नहीं बन सकता । धर्मोत्तर प्रदीप (पृ० ७५) के अनुसार इस शङ्का का समाधान यह है कि यहाँ सन्निधान और असन्निधान से ज्ञान-प्रतिभास का भेद बतलाना उपलक्षण मात्र है; इसके द्वारा असाधारणता लक्षित होती है । कैसे ? चाक्षुष ज्ञान के विषय जो नील आदि हैं उनमें सन्निधान और असन्निधान के कारण ज्ञान-प्रतिभास का भेद देखा जाता है । उसके साथ ही उन नील आदि में असाधारणता भी है अतः यहाँ सन्निधान-असन्निधान होने वाले ज्ञान-प्रतिभास-भेद के साथ एक वस्तु नील आदि में रहने वाली असाधारणता लक्षित हो जाती है । (धर्मो० प्र०, पृ० ७५)

(iv) यद्यपि एक ही स्वलक्षण (क्षणमात्र) एक द्रष्टा को दूर से तथा समीप से दिखलाई नहीं दे सकता, तथापि समान नेत्रदृष्टि वाले दो द्रष्टाओं द्वारा एक ही समय दूर से तथा समीप से देखा जा सकता है ।

कस्माद् इति—(प्रश्न) स्वलक्षण प्रत्यक्ष का ही विषय है, यह कैसे ? जबकि (अनुमान) विकल्प के द्वारा जानी गई अग्नि का भी दृश्य रूप में ही अध्यवसाय होता है । इस पर (इसके उत्तर में) कहा है—

वह (सन्निधान और असन्निधान से प्रतिभास-भेद करने वाली-(वस्तु) ही वस्तुतः सत् है ॥१४॥

तदेव परमार्थसद् इति । परम+अर्थ (=परमार्थ) का तात्पर्य है—अकृत्रिम या अकल्पित (अनारोपित) रूप । जो उस रूप से (तेन) विद्यमान है वह (वस्तु) परमार्थसत् कहलाती है । जो पदार्थ निकट देश में स्थित होकर तथा दूर देश

---

१. ०क इवाव० D.

२. नास्ति H. N. ३. परमार्थोऽकृ० A. B. C. E. H. N. P.

इति परमार्थसत् । य एवार्थः सन्निधानासन्निधानाभ्यां स्फुटमस्फुटं च प्रतिभासं करोति परमार्थसत् स एव । स[1] च प्रत्यक्षस्य[2] विषयो यतः, तस्मात् तदेव स्वलक्षणम् ॥१४॥

में स्थित होकर (क्रमशः) स्पष्ट और अस्पष्ट ज्ञानाकार को उत्पन्न करता है, वही परमार्थसत् है । क्योंकि वही प्रत्यक्ष का विषय है, इसलिये वही स्वलक्षण है । (अनुमान का विषय स्वलक्षण नहीं—यह भाव है) ।

कस्मात् पुनः—यहाँ प्रश्न क्या है ? तथा उत्तर किस रूप में दिया गया है ? इस विषय में व्याख्याकारों का मतभेद है । धर्मोत्तर टीका कुछ ऐसी अस्पष्ट सी है कि धर्मो० प्र० (पृ० ७५, ७६) में ही इसकी कई व्याख्यायें की गई हैं । टिप्प० (पृ० ३७) की व्याख्या भी भिन्न प्रकार की है । श्चेरवात्स्की की टिप्पणी (बु० लॉ०, २, पृ० ३३ टि० १) तो टिप्प० (पृ० ३८) के अग्रिम सूत्र (१५) की व्याख्या के आधार पर है जो यहाँ सहायक नहीं प्रतीत होती ।

धर्मोत्तर के शब्दों से तथा उपस्थित व्याख्याओं से भी यहाँ यह अभिप्राय प्रकट होता है—(शङ्का) अनुमान विकल्प के द्वारा जिस अग्नि का अध्यवसाय किया जाता है वह भी दृश्य रूप ही है । और, जो दृश्यरूप है वही वस्तु (=स्वलक्षण) है अतः आपका स्वलक्षण का लक्षण (सूत्र १३) युक्तियुक्त नहीं । इस प्रकार अनुमान का विषय भी स्वलक्षण है फिर यह कैसे माना जा सकता है कि स्वलक्षण प्रत्यक्ष का ही विषय है । (मि० धर्मो० प्र०, पृ० ७६)

(समाधान) जो वस्तु समीप में स्थित होकर स्फुट आभास तथा दूर स्थित होकर अस्फुट आभास उत्पन्न करती है, वही परमार्थसत् है, वही स्वलक्षण है—इसमें सन्देह नहीं । अतः वह प्रत्यक्ष का ही विषय है, अनुमान का विषय नहीं । क्योंकि अनुमान द्वारा जिस अग्नि का अध्यवसाय किया जाता है, वह अवस्तु में वस्तु का आरोपमात्र है । अध्यवसित अग्नि परमार्थ सत् वस्तु नहीं, स्वलक्षण नहीं, उसमें स्वलक्षण का प्रयोग औपचारिक है वह सन्निधान और असन्निधान से प्रतिभास में भेद उत्पन्न नहीं करती, अतः वह स्वलक्षण नहीं । इस प्रकार स्वलक्षण केवल प्रत्यक्ष का ही विषय है अनुमान का विषय नहीं । (द्रष्टव्य, धर्मो० प्र०, पृ० ७६ तथा टिप्प०, पृ० ३७. ३८)

विकल्पविषयोऽपि—यहाँ विकल्प शब्द अनुमान (विकल्प) के अर्थ में है; क्योंकि प्रमाण का प्रकरण है। (धर्मो० प्र०, पृ० ७६)

दृश्यात्मकः—स्वलक्षणात्मकः (धर्मो० प्र०, पृ० ७६) । तथा हि······अवसीयते इसका तात्पर्य यह है—क्योंकि अनुमान द्वारा भी दाह-पाक आदि अर्थक्रिया में समर्थ अग्नि का अध्यवसाय किया जाता है; इसलिये अनुमान विकल्प का विषय भी स्वलक्षण है । (मि०, टिप्प०, पृ० ३७. १४)

---

१. स एव B. E. H. N. २. प्रत्यक्षविषयो A.B.C.D.E H.N.P.

कस्मात् पुनस्तदेव परमार्थसद् इत्याह—

अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद वस्तुनः ॥१५॥

अर्थ्यत इत्यर्थः। हेय उपादेयश्च । हेयो हि हातुमिष्यते, उपादेयश्चोपादातुम। अर्थस्य प्रयोजनस्य त्रिया निष्पत्तिः। तस्यां सामर्थ्यं शक्तिः। तदेव लक्षणं रूपं यस्य वस्तुनः, तद् अर्थत्रियासामर्थ्यलक्षणम्। तस्य भावः, तस्मात्। वस्तुशब्दः परमार्थपय यः।

तदयमर्थः - यस्माद् अर्थक्रियासमर्थं परमार्थसद् उच्यते, सन्निधानासन्निधानाभ्यां च ज्ञानप्रतिभासस्य भेदकोऽर्थोऽर्थक्रियासमर्थः, तस्मात् स एव परमार्थसन्। तत एव हि प्रत्यक्षविषयाद अर्थक्रिया प्राप्यते न विकल्पविषयात्। अत एव यद्यपि विकल्पविषयो दृश्य इवावसीयते तथापि न स[1] दृश्य एव, ततोऽर्थक्रियाया[2] अभावात्, दृश्याच्च भावात्। अतस्तदेव स्वलक्षणं न विकल्पविषयः[3] ॥१५॥

कस्माद् इति—वह (स्वलक्षण) ही परमार्थसत् क्यों है ? यह बतलाते हैं -

क्योकि अर्थ-क्रिया में सामर्थ्य ही (परमार्थसत्) वस्तु का स्वरूप है ॥१५॥

जिसकी कामना की जाती है (अर्थ्यते) वह अर्थ है। त्याज्य और ग्राह्य (दो प्रकार का) अर्थ है। त्याज्य वस्तु को छोड़ना इष्ट होता है और ग्राह्य वस्तु का ग्रहण करना। अर्थ=प्रयोजन की क्रिया=निष्पत्ति (सिद्धि); उसमें सामर्थ्य अर्थात् शक्ति (अर्थक्रिया-सामर्थ्य), वही है लक्षण (=रूप=स्वरूप) जिस वस्तु का, वह वस्तु 'अर्थक्रिया-सामर्थ्यलक्षण' कहलायेगी। उसका भाव—अर्थक्रिया–सामर्थ्यलक्षणत्व (भाव अर्थ में 'त्व' प्रत्यय) उससे (उस हेतु से) (=अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वात्)। यहाँ वस्तु शब्द 'परमार्थसत्' शब्द का समानार्थक है।

इस प्रकार यह अर्थ होता है—क्योंकि अर्थक्रिया में समर्थ (वस्तु) परमार्थसत् कही जाती है, और निकट देश में स्थिति एवं दूर देश में स्थिति के कारण ज्ञान के स्फुट आकार में भेद करने वाली वस्तु ही अर्थक्रियासमर्थ है, इसलिये वह (सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासस्य भेदकः अर्थः=सन्निधान और असन्निधान से ज्ञानप्रतिभास में भेद कराने वाली वस्तु) ही परमार्थसत् है। प्रत्यक्ष का विषय होने वाली उस वस्तु से ही अर्थ-क्रिया प्राप्त होती है, विकल्प का विषय होने वाली (सामान्य) से नहीं। इसलिये यद्यपि विकल्प का विषय दृश्य जैसा निश्चित (अध्यवसित) किया जाता है तथापि वह दृश्य (=स्वलक्षण) ही नहीं है; क्योंकि उससे अर्थत्रिया की प्राप्ति नहीं होती; किन्तु दृश्य (=स्वलक्षण) से (अर्थक्रिया की प्राप्ति) होती है।

---

१. स' नास्ति A.B.E.H.N-P. २. ०क्रियाभावात् A.B E:H N.P.
३; विपयम A,B,E H.N P.

अन्यत् सामान्यलक्षणम् ॥१६॥

अन्यदित्यादि[1]। एतस्मात् स्वलक्षणाद् यद् अन्यत्—स्वलक्षणं यो न भवति ज्ञानविषयः तत्[2] सामान्यलक्षणम्। विकल्पज्ञानेनावसीयमानो ह्यर्थः सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासं न भिनत्ति। तथा हि-आरोप्यमाणो वह्निरारोपादस्ति। आरोपाच्च दूरस्थो निकटस्थश्च। तस्य समारोपितस्य सन्निधानाद् असन्निधानाच्च ज्ञानप्रतिभासस्य न भेदः स्फुटत्वेनास्फुटत्वेन वा। ततः स्वलक्षणाद् अन्य उच्यते। सामान्येन लक्षणं सामान्यलक्षणम्। साधारणं रूपम् इत्यर्थः। समारोप्यमाणं हि रूपं सकलवह्निसाधारणम्। ततः[3] तत् सामान्यलक्षणम् ॥१६॥

इस प्रकार वह (प्रत्यक्ष का विषय) ही स्वलक्षण है, विकल्प का विषय (स्वलक्षण) नहीं ॥१५॥

०लक्षणत्वाद् वस्तुनः—हेमचन्द्र, प्रमाणमीमांसा (१.१.३२-३३) में 'लक्षणत्वादेव वस्तुनः'—यह पाठ है, यही उपयुक्त प्रतीत होता है। (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ३६, टि० ८)।

तस्मात्—इस शब्द में हेतु में पञ्चमी विभक्ति है, यहाँ 'अर्थक्रिया-सामर्थ्य-लक्षणत्वात्' शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है।

१२. अनुमान का विषय—(सामान्यलक्षण)

अन्यद् इति—

(स्वलक्षण से) भिन्न (ज्ञान का विषय) सामान्यलक्षण है ॥१६॥

अन्यद इत्यादि। इस स्वलक्षण से जो भिन्न है, अर्थात् ज्ञान का वह विषय जो स्वलक्षण नहीं है, वह सामान्यलक्षण है। क्योंकि विकल्पज्ञान के द्वारा निश्चित किया गया पदार्थ निकट देश तथा दूर देश में स्थित होकर ज्ञान के आकार में भेद नहीं करता। जैसे कि यह साधारण रूप में प्रतीयमान अग्नि आरोप (कल्पना) के द्वारा (अग्नि रूप में) है और कल्पना के द्वारा ही वह दूर-स्थित या निकट-स्थित है। उस कल्पित या आरोपित अग्नि के निकट या दूर होने से ज्ञान के आकार में स्फुटता या अस्फुटता का भेद नहीं होता। इसलिये उसको स्वलक्षण से भिन्न कहा गया है। (वस्तु का अन्य सन्तानों में) साधारणतः होने वाला रूप (=लक्षण) ही सामान्यलक्षण है अतः इसका अर्थ है (वस्तु का) साधारणरूप। क्योंकि जो (अग्नि का) आरोपित रूप है, वह समस्त अग्नियों में साधारणतया होने वाला है; इसलिये वह सामान्यलक्षण है ॥१६॥

---

१. नास्ति A H.E N.P. २. तस्मात् सामा० B.
३. ततस्तस्मात् सामा० B.

तच्चानुमानस्य ग्राह्यं दर्शयितुमाह—

सोऽनुमानस्य विषयः ॥१७॥

सोऽनुमानस्य विषयो ग्राह्यरूपः । सर्वनाम्नोऽभिधेयवल्लिङ्गपरिग्रहः ।

सामान्यलक्षणमनुमानस्य विषयं व्याख्यातुकामेनायं स्वलक्षणस्वरूपाख्यानग्रन्थ आवर्तनीयः स्यात्। ततो लाघवार्थं प्रत्यक्षपरिच्छेद एवानुमानविषयः उक्तः ॥१७॥

सामान्यलक्षण—वस्तु का साधारण रूप या सामान्यलक्षण क्या है ? इस विषय में यह कहा जा सकता है कि बौद्धन्याय के अनुसार सभी धर्म (रूप आदि परमाणु) क्षणिक हैं । इन धर्मों के पुञ्ज (=परमाणु-समुदाय) में जल-लाना आदि का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है । इस जल-लाना आदि अर्थक्रिया में समर्थ वस्तुक्षण ही स्वलक्षण कहलाता है । इसमें देश की दृष्टि से विस्तार नहीं और काल की दृष्टि से स्थिरता नहीं । इसका स्वरूप अर्थक्रियासामर्थ्य है और अर्थक्रियासामर्थ्य एक क्षण में ही रहता है, यह बौद्धदर्शन के ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर सिद्ध किया गया है । अतः वस्तु का अर्थक्रियासमर्थ एक क्षण ही स्वलक्षण है । इसमें जो स्थूलता या विस्तार भासित होता है वह प्रातिभासिक है केवल मात्र ज्ञान में भासित होता है, वस्तु का धर्म नहीं । वह प्रतीति इसी प्रकार होती है, जैसे दूर से भिन्न-भिन्न वृक्षों में कुञ्ज की प्रतीति हो जाया करती है । वस्तु में स्थिरता की प्रतीति भी प्रातिभासिक है। तथ्य यह है कि एक क्षण नष्ट होता है, उसके अनन्तर दूसरा क्षण उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार उपादान-उपादेयभाव से क्षणों की परम्परा या प्रवाह चलता है, वही क्षण-सन्तान कहलाता है । जो नील आदि या घट आदि क्षणों के सन्तान हैं उनको एक मानकर स्थिरता का आभास होने लगता है । समस्त घट-सन्तानों का जो साधारण रूप है वही सामान्यलक्षण है । क्योंकि स्वलक्षण तो वस्तु का असाधारण रूप है (सर्वतो व्यावृत्त) है । प्रत्यक्षेतर अनुमान तथा स्मृति आदि सभी ज्ञानों का विषय स्वलक्षण से भिन्न होता है अतः वह सभी सामान्यलक्षण है । संक्षेप में—

जो वस्तु दूर तथा समीप स्थित होकर ज्ञान-प्रतिभास में भेद उत्पन्न करती है । वही अर्थक्रियासमर्थ है ।

जो वस्तु अर्थक्रियासमर्थ है→वही स्वलक्षण है ।

स्वलक्षण से भिन्न जो ज्ञान का विषय है→वही सामान्यलक्षण है ।

तच्चानुमानस्येति—उस (सामान्यलक्षण) को अनुमान का ग्राह्य विषय दिखलाते हुए कहते हैं—

वह (सामान्यलक्षण) अनुमान का (ग्राह्य) विषय है ॥१७॥

वह (सामान्यलक्षण) अनुमान का विषय; अर्थात् ग्राह्यविषय है । ('सः' इस) सर्वनाम ने अपने वाच्य (=अभिधेय, अर्थात् 'विषय') के समान लिङ्ग (पुँल्लिङ्ग) को ग्रहण कर लिया है ।

सामान्यलक्षण को अनुमान का विषय बतलाने के इच्छुक (आचार्य धर्मकीर्ति) को फिर स्वलक्षण के स्वरूप की व्याख्या सम्बन्धी इस ग्रन्थ की आवृत्ति करनी पड़ती; अतः लाघव के लिये प्रत्यक्ष के परिच्छेद में ही अनुमान का विषय भी बतला दिया ॥१७॥

ग्राह्यरूप—जैसा कि ऊपर (सूत्र १२ की टीका में) उल्लेख किया गया है, अनुमान का विषय भी दो प्रकार का है—ग्राह्य और अध्यवसेय। इसका ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण है। जब हम धूम द्वारा अग्नि का अनुमान करते हैं तब अग्नि के सामान्य रूप का ग्रहण होता है। यह सामान्य रूप कल्पित है, अर्थक्रियासमर्थ नहीं; केवल मन से कल्पित, अनुमित (या स्मृत) अग्नि दहन-पाचन आदि अर्थक्रिया में समर्थ नहीं होती। किन्तु अग्नि के सामान्य रूप का ग्रहण करके हम अग्नि के उस रूप को प्राप्त कर लेते हैं जो अर्थक्रिया में समर्थ है। वह अनुमान का अध्यवसेय विषय कहलाता है। इस प्रकार अनुमान भी अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु का प्रापक होने से प्रमाण कहलाता है। (मि०, बु० लॉ० २; पृ० ३८ टि० ३)

(ii) यहाँ विषय-विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिये ही प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों के विषय का निरूपण किया गया है और ग्राह्य विषय में ही दार्शनिकों के मतभेद हैं (ग्राह्ये एव विषये सर्वेषां विप्रतिपत्तेः, टिप्प०, पृ० ३६.५-६)। अतः यहाँ प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय स्वलक्षण तथा अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण बतलाया गया है। सभी वाक्य निश्चयात्मक होते हैं (सर्वं वाक्यं सावधारणम्) अतः 'तस्य विषयः स्वलक्षणम्' का अर्थ है—(क) 'तस्य एव विषयः स्वलक्षणम्' तथा (ख) 'तस्य विषयः स्वलक्षणमेव'। (क) उस प्रत्यक्ष का ही ग्राह्य विषय स्वलक्षण है, इस कथन का तात्पर्य है कि स्वलक्षण अनुमान आदि का ग्राह्य विषय नहीं हो सकता; (ख) उस प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय स्वलक्षण ही है, इस कथन का तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष द्वारा सामान्य लक्षण का ग्रहण नहीं हो सकता। इस कथन से न्याय-वैशेषिक के उस मन्तव्य का निराकरण हो जाता है कि इन्द्रियों द्वारा सामान्य का भी ग्रहण होता है। 'सोऽनुमानस्य विषयः'—यहाँ एक 'एव' (= ही) का अध्याहार किया जाता है। स एव अनुमानस्य विषयः'—वह (सामान्य) ही अनुमान का ग्राह्य विषय है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि अनुमान का ग्राह्य विषय स्वलक्षण नहीं हो सकता। किन्तु यहाँ यह निश्चय (अवधारण) नहीं किया गया है कि सामान्यलक्षण केवल अनुमान का ही ग्राह्य विषय है, क्योंकि तथ्य यह है कि सामान्यलक्षण अनुमान के अतिरिक्त अन्य विकल्पों का भी ग्राह्य विषय है। हाँ, प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों में से वह अनुमान का ही ग्राह्य विषय है। मि०, "सामान्यलक्षणविषयमनुमानम्" इति तत्र नैवमवधार्यते—सामान्यलक्षणविषयम् अनुमानमेवेति। प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्यापि तद्विषयत्वात्, तदन्यस्य च विकल्पस्य। किन्तु सामान्यलक्षणविषयम् एवानुमानम् इत्यवधार्यते स्वलक्षणविषयत्वनिषेधार्थमिति"। हेतुबिन्दुटीका, पृ० २४।

सर्वनाम्नो०—'सोऽनुमानस्य विषयः' यहाँ सः शब्द सामान्यलक्षण के लिये आया है किन्तु 'सामान्यलक्षणम्'—यह नपुंसकलिङ्ग शब्द है अतः 'सः' के स्थान पर 'तत्' नपुंसकलिङ्ग ही होना चाहिये। इस शङ्का का समाधान करते हुए 'सर्वनाम्नो०' इत्यादि कहा गया है। भाव यह है कि यहाँ 'सः' सर्वनाम का अभिधेय है—विषय, (सः विषयः) और 'विषय' (विषयः) शब्द पुँल्लिङ्ग है, अतः सर्वनाम (तत्) में अपने अभिधेय (विषय शब्द) के समान पुँल्लिङ्ग हो गया है।

विषयविप्रतिपत्तिं निराकृत्य फलविप्रतिपत्तिं निराकर्तुम् आह—

तदेव च[1] प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलम् ॥१८॥

तदेवेति[2]। यदेवानन्तरम् उक्तं प्रत्यक्षं ज्ञानं[3] तदेव प्रमाणस्य फलम् ॥१८॥

कथं प्रमाणफलम् इत्याह—

अर्थप्रतीतिरूपत्वात् ॥१९॥

अर्थस्य प्रतीतिरवगमः; सैव रूपं यस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य[4] तद् अर्थप्रतीतिरूपम्। तस्य भावः तस्मात्।

---

१३. प्रमाण का फल

विषयविप्रतिपत्तिम् इति—विषय-सम्बन्धी मत-भेद का निराकरण करके फलविषयक मत-भेद का निराकरण करने के लिये कहा है—

वही प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण का फल है ॥१८॥

तदेवेति—जो प्रत्यक्ष ज्ञान अभी ऊपर (अनन्तर) कहा गया है, वही प्रमाण का फल है ॥१८॥

फलविप्रतिपत्तिम्—नैयायिक आदि का कथन है कि प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। जिस प्रकार छिदा (काटना) का करण परशु है और छिदा फल है, जो परशु से भिन्न है, इसी प्रकार प्रमाण का फल भी प्रमाण से भिन्न होना चाहिये। अतः जब 'इदं किञ्चित्' (यह कुछ है) इस प्रकार का निर्विकल्पक ज्ञान होता है तो वहाँ चक्षु (आदि इन्द्रिय) करण या प्रमाण होती है तथा यह निर्विकल्पक ज्ञान (प्रमा) फल होता है। इसी प्रकार सविकल्पकज्ञान (=प्रमा) की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण होता है तथा वह ज्ञान फल होता है। इसलिये सर्वत्र ही प्रमाण (=प्रमाकरण) और प्रमा (=प्रमाणफल) में भेद हुआ करता है। (मि०, तर्कभाषा, पृ० ६)।

बौद्धन्याय के अनुसार प्रमाण और प्रमाणफल में भेद नहीं होता। इसलिये जो ऊपर "कल्पनारहित, अभ्रान्त सम्यग्ज्ञान" को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है वही प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है। इसका विशद विवेचन आगे किया जा रहा है।

कथमिति—वह (प्रत्यक्ष ज्ञान) प्रमाण का फल कैसे है? यह बतलाते हैं—

अर्थ-प्रतीति के रूप में होने के कारण (प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रमाण का फल है) ॥१९॥

अर्थ की प्रतीति अर्थात् बोध (अवगम), वही है रूप जिस प्रत्यक्ष ज्ञान का, वह (प्रत्यक्षज्ञान) अर्थप्रतीतिरूप है। उसका भाव=अर्थप्रतीतिरूपत्व (भाव में 'त्व' प्रत्यय), उसके कारण (तस्मात्=अर्थप्रतीतिरूपत्वात्)।

---

१. च, नास्ति C. २. नास्ति H.N.
३. ज्ञानं' नास्ति A.B.E.H.P. ४. प्रत्यक्षस्य ज्ञानस्य C.

एतद् उक्तं भवति—प्रापकं ज्ञानं प्रमाणम्। प्रापणशक्तिश्च न केवलाद् अर्थाविनाभावित्वाद् भवति। वीजाद्यविनाभाविनोऽप्यङ्कुरादेरप्रापकत्वात्। तस्माद् 'अर्थाद् उत्पत्तावप्यस्य ज्ञानस्यास्ति कश्चिद् अवश्यकर्त्तव्यः प्रापक-व्यापारो येन कृतेनार्थः प्रापितो भवति। स एव च प्रमाणफलम्, यदनुष्ठानात् प्रापकं भवति ज्ञानम्। उक्तं च पुरस्तात् "प्रवृत्तिविषयप्रदर्शनमेव प्रापकस्य प्रापकव्यापारो नाम"। तदेव च प्रत्यक्षम् अर्थप्रतीतिरूपम् 'अर्थप्रदर्शनरूपम्। अतस्तद् एव प्रमाणफलम् ॥१९॥

यह कहा जा सकता है कि (अर्थ का) प्रापक ज्ञान प्रमाण है। किन्तु केवल अर्थ का अविनाभावी होने से ही (उस प्रमाण में) अर्थ को प्राप्त कराने की शक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि जो अङ्कुर आदि वीज आदि के बिना नहीं होते, वे भी (बीज आदि को) प्राप्त कराने वाले नहीं हुआ करते। इसलिये उस ज्ञान की अर्थ से उत्पत्ति होने पर भी, उसे कोई ऐसा प्रापक व्यापार अवश्य करना होता है, जिसको करने से अर्थ प्राप्त हो जाता है. वही (प्रतीतिक्रियारूप व्यापार) प्रमाण का फल है, जिसको करने के कारण कोई ज्ञान अर्थ का प्रापक हो जाता है। पहले कहा जा चुका है— "प्रवृत्ति के विषय का बोध कराना ही प्रापक (ज्ञान) का (अर्थ को) प्राप्त कराने वाला व्यापार है।" और वही (उपर्युक्त) प्रत्यक्ष-ज्ञान अर्थबोधरूप अथवा अर्थप्रदर्शनरूप है इसलिये वही (प्रत्यक्षज्ञान) प्रमाण का फल है ॥१९॥

प्रतीति—यहाँ श्चेरवात्स्की का कथन है—प्रतीति = अवगम = बोध = प्राप्ति = परिच्छित्ति = निश्चय = अध्यवसाय = कल्पना = विकल्प—ये सब प्रायः समानार्थक हैं, (cp. तात्पर्य०, पृ० ३७.२०, ३८.२, ८७.२५) इन सभी में स्मृति या संस्कार का एक अंश होता है।' (मि०; बु० लॉ० २, पृ० ३९ टि० २)

किन्तु जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है विकल्प और अध्यवसाय में एक सूक्ष्म अन्तर है ही। इसी प्रकार अवगम (= अवगति, प्रतीति) भी प्राप्ति तथा निश्चय आदि से नितान्त भिन्न है। वस्तुतः इन्द्रिय आदि से अर्थ के विषय में जो साक्षात्कारात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, वही अर्थप्रतीति है वही प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है; क्योंकि वह ज्ञान अर्थ-प्रतीति रूप है→अर्थ का प्रदर्शक है इसलिए वही प्रमाण का फल है। हाँ, जब तक उसके पश्चात् निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता तब तक वह अर्थप्रतीति (अर्थप्रदर्शन) न हुए के समान ही रहती है अतः प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्प के द्वारा अध्यवसाय हो जाने पर ही अर्थ-प्रतीति = अर्थाधिगति प्रमाण का फल होती है। (मि० यच्चोक्तम्—'अधिगतिरेव फलमिति' तदनुरूपनिश्चयानुगतव्यापारमनुरूपनिश्चयानुगताविति द्रष्टव्यम्। एवं यत्रोच्यते प्रत्यक्षं वस्तुप्रदर्शकं वस्तुग्राहकमित्यादिना शब्देन तत्र सर्वत्रानुरूपनिश्चयानुगतव्यापारमेव बोद्धव्यम्, धर्मो० प्र०, पृ० २०)

---

१. तस्माद् ग्राह्यादर्थादुत्प० N. तस्मात् प्राप्याद् अर्थाद् T. २. अर्थदर्शन A.E.H.N.P

यदि तर्हि ज्ञानं प्रमितिरूपत्वात् प्रमाणफलम्, किं तर्हि प्रमाणम् ? इत्याह—

अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् ।।२०।।

अर्थेन सह यत् सारूप्यं[1] साहश्यम् अस्य ज्ञानस्य तत् प्रमाणम् । इह यस्माद् विषयाद् विज्ञानम्[2] उदेति तद्विषयसदृशं तद् भवति । यथा नीलाद् उत्पद्यमानं नीलसदृशम् । तच्च [3]सारूप्यं साहश्यम् आकार इत्याभास इत्यपि व्यपदिश्यते ।।२०।।

अप्रापकत्वात्—प्रकरण के अनुसार इसका अर्थ है—अनिश्चायकत्वात् = अज्ञापकत्वात् । दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि जैसे वीज कारण और अङ्कुर कार्य है इसी प्रकार अर्थ (वस्तु) ज्ञान का कारण है और ज्ञान कार्य है । किन्तु यहाँ विशेषता यह है कि ज्ञान अर्थ का प्रापक होता है जब कि अङ्कुर आदि कार्य अपने कारण (वीज आदि) के प्रापक नहीं होते । इससे प्रकट होता है कि ज्ञान में कोई ऐसा व्यापार होता है जिस व्यापार के कारण कोई ज्ञान किसी अर्थ को प्राप्त करा देता है । ज्ञान का वह व्यापार अर्थ-प्रदर्शन या अर्थ की प्रतीति कराना है अतः वही प्रमाण का फल है ।

तस्मात् (प्राप्याद्) अर्थाद् उत्पत्तावपि—यहाँ 'प्राप्याद्' पाठ उचित नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्य अर्थ से उत्पन्न नहीं होता अपि तु ग्राह्य अर्थ से उत्पन्न होता है। उसका ग्राह्य अर्थ है—स्वलक्षण (एक क्षण) और प्राप्य अर्थ है—क्षण-सन्तान । हाँ, पूर्व और अपर क्षणों को एक मानकर औपचारिक अर्थ में यह पाठ सङ्गत हो सकता है—पूर्वापरयोः क्षणयोरेकत्वाध्यवसायात् 'प्राप्याद् उत्पत्तौ' इत्युक्तम्, (टि०, पृ० ४१.१)

तदेव च प्रत्यक्षम्—श्चेरवात्स्की का कथन है —यहाँ 'प्रत्यक्ष' शब्द निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अर्थ में नहीं है अपि तु सविकल्पक ज्ञान के अर्थ में भी है (बु० लॉ २, पृ० ४०, टि० २) । तथ्य यह है कि यहाँ प्रत्यक्ष शब्द निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के ही अर्थ में है । किन्तु जैसा अभी ऊपर वतलाया गया है अपने पृष्ठभावी विकल्प के द्वारा अध्यवसाय हो जाने पर ही इस प्रत्यक्षज्ञान को प्रमाण-फल कहा जा सकता है ।

१४. प्रमाण का स्वरूप

यदि तर्हीति—यदि ज्ञान ही (अर्थ की) प्रमा (=प्रमिति) रूप होने के कारण प्रमाण का फल है तो फिर प्रमाण क्या है ? यह बतलाते हैं—

इस (ज्ञान) का जो अर्थ के साथ सारूप्य है वही प्रमाण है ।।२०।।

इस ज्ञान का जो अर्थ के साथ सारूप्य अर्थात् साहश्य है, वही प्रमाण है । यहाँ जिस विषय से ज्ञान उत्पन्न होता है, उस विषय के सदृश ही वह होता है; जैसे नील (अर्थ) से उत्पन्न होने वाला ज्ञान नील-सदृश होता है और वह सारूप्य ही साहश्य, आकार तथा आभास इत्यादि नाम से भी पुकारा जाता है ।।२०।।

---

१. ०रूप्यं यत् सादृश्यम् B.D. २. ०ज्ञानम् A.C.E.H.N.P.
३. सारूप्यं' नास्ति A.E.P.

अर्थसारूप्यम्—(i) ज्ञान में अर्थ का सादृश्य, ज्ञान का ग्राह्याकार होना, जो ज्ञान जिस वस्तु से उत्पन्न होता है वह उस वस्तु के सदृश ही होता है।

(ii) यह 'सादृश्य' क्या है? इस विषय में भारतीय दर्शन में विविध मत हैं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार सामान्य आदि का अनेक पदार्थों में होना (सामान्यादेर् अनेकवृत्तित्वम्, न्या० ली०; पृ० ७६), अथवा एक वस्तु में दूसरी वस्तु के बहुत से धर्मों का होना (तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं सादृश्यम्, न्या० ली० प्र०, पृ० ७६) ही सादृश्य कहलाता है। यह सामान्य से भिन्न है किन्तु कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। सांख्य के अनुसार वस्तुओं का समानधर्म गोत्व आदि (जो न्याय तथा मीमांसक के मतानुसार सामान्य कहलाता है) सारूप्य या सादृश्य ही है। वह न्याय-वैशेषिकाभिमत सामान्य को स्वीकार नहीं करता। मीमांसक सादृश्य को सामान्य से भिन्न मानते हैं तथा एक पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। बौद्धदर्शन की दृष्टि से सादृश्य (सारूप्य) केवल एक मानसिक कल्पना है, इसकी बाह्य जगत् में सत्ता नहीं, न ही यह कोई परमार्थसत् वस्तु है अतः इसे अन्यव्यावृत्ति रूप में ही समझा जा सकता है, अर्थात् सारूप्य (या सादृश्य) = असारूप्य की व्यावृत्ति। (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ४ टि० ४)

(iii) सौत्रान्तिक तथा योगाचार सम्प्रदाय के बौद्ध ज्ञान को साकार मानते हैं। ये साकारज्ञानवादी कहलाते हैं। न्यायबिन्दु-टीका में सौत्रान्तिक के मत का ही स्पष्ट विवेचन किया गया है। प्रमाणवार्तिक तथा वाचस्पतिमिश्र के ग्रन्थों में भी सौत्रान्तिक के इस मन्तव्य का स्पष्ट विवेचन उपलब्ध होता है। यथा— कोई नील आदि अर्थ ज्ञान का विषय क्यों कहलाता है, इस पर विचार करते हुए सौत्रान्तिक कहता है—

"न वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता, तस्या सर्वत्राविशेषात्। तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयत्तद्घटयेत्" (भामती, पृ० ५४२)। अर्थात् केवल विशुद्ध (निराकार) ज्ञान के होने से ही यह नील है इस प्रकार से अर्थ की प्रतीति (तद्वेदना=तस्य अर्थस्य वेदना) नहीं हो सकती; क्योंकि वह ज्ञान तो सभी अर्थों में समान रूप से होता है (सर्वत्र-अविशेषात्), किन्तु (वस्तु का) सारूप्य उस ज्ञान में हो जाता है और उस ज्ञान को वस्तु के आकार वाला बना देता है। इस प्रकार सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में (या बौद्धन्याय में ?). कोई वस्तु ज्ञान का विषय इसलिये नहीं मानी जाती कि ज्ञान उसका ग्रहण करता है अपि तु जो ज्ञान जिस वस्तु से उत्पन्न होता है तथा जिसके सदृश होता है वही वस्तु उस ज्ञान का विषय कहलाती है—तत्सारूप्य-तदुत्पत्तिभ्यां विषयत्वम्।

प्रमाणवार्तिक आदि बौद्ध दर्शन के ग्रन्थों एवं वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सौत्रान्तिक की दृष्टि से अर्थ के द्वारा ज्ञान में स्वाकार-समर्पण किया जाता है अर्थात् किसी अर्थ से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह उस अर्थ के आकार में ही उत्पन्न हुआ करता है। अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् (१.२०) इस सूत्र की टीका में धर्मोत्तर ने स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य को स्वीकार किया है—

ननु च ज्ञानाद् अव्यतिरिक्तं सादृश्यम्। तथा चसति तदेव ज्ञानं प्रमाणं तदेव च[1] प्रमाणफलम्। न चैकं वस्तु साध्यं साधनं चोपपद्यते। तत् कथं सारूप्यं प्रमाणम्? इत्याह—

तद्वशाद् अर्थप्रतीतिसिद्धेरिति ॥२१॥

॥ प्रत्यक्षपरिच्छेदः[2] ॥

तद्वशादिति[3]। तद् इति सारूप्यम्, तस्य वशात् सारूप्यसामर्थ्यात्।

"यस्माद् विषयाद् विज्ञानम् उदेति तद्विषयसदृशं तद् भवति। यथा नीलाद् उत्पद्यमानं नीलसदृशम्"। इसी प्रकार—

तत्रानुभवमात्रेण ज्ञानस्य सदृशात्मनः।
भाव्यं तेनात्मना येन प्रतिकर्म विभज्यते॥ (प्र० वा०, २. ३०२)
अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्। (वही २. ३०५)
तस्मात् मेयाधिगतेः साधनं मेयरूपता। (वही २. ३०६)
तत्र बुद्धिर्यदाकारा तस्यास्तद् ग्राह्यमुच्यते। (वही २. २२४)

अर्थस्तद्रूपेण प्रकाशते, अर्थः सारूप्यसंक्रान्तेस्तद्रूपेण ज्ञानरूपेण प्रकाशते (प्र० वा० तथा मनो० २. ४८२)।

तथा 'स एव विषयो य आकारमस्यामर्पयति'। (न्या० वा० ता०, पृ० ३८८.४)

यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्रत्यक्ष ज्ञान परमार्थसत् वस्तु (स्वलक्षण) से उत्पन्न होता है वह तदाकार ही हुआ करता है। भाव यह है कि नील स्वलक्षण से उत्पन्न होने वाला ज्ञान नील-सदृश ही होता है। इस प्रकार सौत्रान्तिक का मन्तव्य है कि सभी परमार्थसत् वस्तुएँ प्रत्यक्ष ज्ञान में अपना आकार समर्पित करती हैं। इसी आधार पर बौद्ध ने न्याय-वैशेषिक के अवयवी के प्रत्यक्ष का उपहास करते हुए कहा है—"सोऽमूल्य-दानक्रयी स्वाकारं न ज्ञाने समर्पयति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छत्यवयवीति"।

इस प्रसङ्ग में श्चेरबात्स्की (बु० लॉ० २, पृ० ४० टि० ४) का विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान तथा कान्ट के दर्शन से प्रभावित प्रतीत होता है जिस पर यथा-वसर विचार किया जायेगा।

१५. प्रमाणफल व्यवस्था

ननु चेति—(प्रश्न) सादृश्य तो ज्ञान से भिन्न नहीं है। इस प्रकार वही ज्ञान प्रमाण होगा तथा वही प्रमाण का फल होगा। और, एक ही वस्तु साध्य तथा साधन नहीं हो सकती। तब सारूप्य (सादृश्य) प्रमाण कैसे हो सकता है? इस पर कहा है—

उस (सारूप्य) के निमित्त से अर्थ-प्रतीति की सिद्धि होने के कारण (वही सारूप्य प्रमाण है) ॥२१॥

तद्वशादिति— तत् (वह) का अभिप्राय है—सारूप्य। उसके निमित्त से;

---

१. 'च' नास्ति A.B.C.E.H.N.P. २. प्रथमः परिच्छेदः B.C.
३ नास्ति H. N.

अर्थस्य प्रतीतिः अवबोधः, तस्याः सिद्धिः। [1]तत्सिद्धेः कारणात्। अर्थस्य प्रतीतिरूपं प्रत्यक्षं विज्ञानं सारूप्यवशात् सिद्ध्यति प्रतीतं भवतीत्यर्थः। नील-निर्भासं हि विज्ञानं यतः, तस्मात् नीलस्य प्रतीतिरवसीयते। येभ्यो हि चक्षुरा-दिभ्यो विज्ञानम्[2] उत्पद्यते न तद्वशात् तज्ज्ञानं नीलस्य संवेदनं शक्यतेऽवस्था-पयितुम्। नीलसदृशं तु अनुभूयमानं नीलस्य संवेदनम् अवस्थाप्यते।

अर्थात् सारूप्य के सामर्थ्य से; अर्थ की प्रतीति=बोध; उस (प्रतीति) की सिद्धि; उस सिद्धि के होने के कारण (=अर्थप्रतीतिसिद्धेः)। भाव यह है कि अर्थ की प्रतीति ही प्रत्यक्षज्ञान है और वह अर्थ तथा ज्ञान के सादृश्य के कारण सिद्ध होती है (अर्थात् यह नील का ज्ञान है पीत का नहीं, इस प्रकार निश्चित की जाती है)। कैसे? क्योंकि विज्ञान नीलाकार है इसलिये वह 'नील' (वस्तु की) प्रतीति है—ऐसा निश्चय किया जाता है। वस्तुतः जिन चक्षु आदि (इन्द्रियों) से ज्ञान उत्पन्न होता है उनके कारण "वह ज्ञान 'नील' (वस्तु) की प्रतीति (संवेदन) है" ऐसा नहीं निश्चित किया जा सकता; किन्तु वह ज्ञान अनुभव से नील-सदृश जाना जाता है. इसी से "वह 'नील' की प्रतीति है"—ऐसा निश्चय किया जाता है।

ननु च—प्रश्न का आशय यह है—यदि अर्थ-प्रतीति रूप प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रमाण का फल है तथा ज्ञान में अर्थ का सादृश्य ही प्रमाण है तब तो एक ही ज्ञान प्रमाण भी होगा और प्रमाण का फल भी; क्योंकि ज्ञान में जो अर्थ का सादृश्य है वह ज्ञान से भिन्न नहीं, ज्ञानरूप ही है तथा प्रमाण-फल भी ज्ञान रूप ही है; किन्तु एक ही वस्तु साध्य (कर्म) और साधन (करण) नहीं हो सकती।

यहाँ विनीतदेव की व्याख्या में उपर्युक्त प्रकार का प्रश्न नहीं उठाया गया है, अपि तु 'प्रत्यक्ष की प्रक्रिया क्या है' ? इस प्रकार का प्रश्न करके 'सारूप्य' का निरूपण करते हुए उत्तर दिया गया है। (मि०, बु० लॉ २, पृष्ठ ४१ टि० ५)।

अवबोध=अधिगम=प्रतीति=प्राप्ति=अध्यवसाय (बु० लॉ २, पृ० ४२ टि० १)। वस्तुतः अवबोध=प्रतीति=संवेदन—ये शब्द अर्थ-ग्रहण के लिये हैं तथा प्राप्ति=अध्यवसाय=निश्चय=अवसीयते, इत्यादि शब्द अर्थ के निश्चयात्मक ज्ञान या प्राप्ति के लिये हैं। किन्तु धर्मोत्तर ने इन सभी शब्दों का कहीं २ इस प्रकार प्रयोग कर दिया है कि इन शब्दों का अर्थ सन्देह-जनक हो गया है, जैसे प्रस्तुत अवतरण में ही सिद्ध्यति=प्रतीतं भवति; यहाँ प्रतीतं भवति का अर्थ होगा अव-सीयते=निश्चित किया जाता है।

निर्भास=आकार=प्रतिभास; जब प्रत्यक्ष के पृष्ठभावी विकल्प के द्वारा यह ज्ञान हो जाता है कि यह प्रत्यक्ष ज्ञान नीलाकारक है तभी यह निश्चय होता है कि यह नील का ज्ञान है; यही नील-प्रतीति की सिद्धि है। यह सिद्धि ज्ञान के अर्थाकार होने से हुआ करती है इसलिये ज्ञान का व्यवस्थापक होने के कारण ज्ञान की अर्था-

---

१. ततः सिद्धेः B. २. ज्ञानम् B. D.

न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावः, येनैकस्मिन् वस्तुनि विरोधः स्यात्, अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन[1] । ततः एकस्य वस्तुनः किञ्चिद् रूपं प्रमाणं किञ्चित् प्रमाणफलं न विरुध्यते । व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यं तस्य ज्ञानस्य । व्यवस्थाप्यं च नीलसंवेदनरूपम् ।

कारता या अर्थसादृश्य ही प्रमाण है (यस्मान्नीलाकारे विज्ञानस्यावगते नीलप्रतीतिरवगम्यते तस्मादर्थाकारः प्रमाणं करणधर्मत्वाद् अस्येति; टिप्प०, पृ० ४२·१)।

चक्षुरादिभ्यो—यहाँ 'आदि' शब्द से ज्ञान की उत्पत्ति के अन्य कारणों का ग्रहण होता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, चाक्षुष ज्ञान के चार कारण माने जाते हैं नील आदि अर्थ, चक्षु, प्रकाश और विज्ञान। इनमें से इन्द्रिय तथा प्रकाश द्वारा यह व्यवस्था नहीं हो सकती कि "यह नील की प्रतीति है, पीत की नहीं"। क्योंकि ये दोनों तो सभी चाक्षुष ज्ञानों में समान रूप से रहते हैं। नील अर्थ भी ज्ञान में कोई विशेषता उत्पन्न किये विना इस व्यवस्था को नहीं कर सकता। इसी प्रकार ज्ञान में भी जब तक विषयकृत विशेषता नहीं होगी तब तक यह व्यवस्था न हो सकेगी। अतः 'यह नील का ज्ञान है पीत का नहीं' इस व्यवस्था का हेतु सारूप्य ही है (देखिये, ऊपर, अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् १.२० टि०)।

०संवेदनम्—स्वसंवेदन (बु० लॉ० २, पृ० ४२ टि० १०)। वस्तुतः संवेदन = ज्ञान (संवेदनम् = ज्ञानम्, धर्मो० प्र०, पृ० ८२)। स्वसंवेदन में भी इस शब्द का अर्थ 'ज्ञान' ही है।

न चात्रेति—यहाँ (= अत्र, प्रमाणफल के विवेचन में) फल और प्रमाण का साध्य तथा साधन होना उत्पाद्य एवं उत्पादक होने के कारण नहीं है, जिससे एक ही वस्तु (ज्ञान) में दोनों (साध्य-साधनभाव) का विरोध होगा; किन्तु (अपि तु) यहाँ (फल और प्रमाण का साध्य-साधनभाव) व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक रूप में है। इस प्रकार एक ही वस्तु (ज्ञान) का कोई रूप प्रमाण है और कोई रूप फल है, इसमें विरोध नहीं। वस्तुतः उस ज्ञान की अर्थाकारता (= सारूप्य) तो (यह नील का ज्ञान है पीत का नहीं, इस) व्यवस्था का हेतु है और नील की प्रतीति ही व्यवस्थाप्य है।

न चात्र०—एक ही ज्ञान साध्य तथा साधन (फल तथा प्रमाण) नहीं हो सकता, इस आक्षेप का परिहार यहाँ किया गया है। भाव यह है कि यदि प्रमाण फल का उत्पादक होता तब तो प्रतिपक्षी का आक्षेप ठीक था किन्तु प्रमाण तो फल की व्यवस्था का हेतु है। जब विशिष्ट प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है तो उससे यह विदित हो जाता है कि यह अमुक अर्थ का ज्ञान है; उदाहरणार्थ नीलाकार में कोई ज्ञान उत्पन्न हुआ तो उसमें जो नीलाकारता नामक विशिष्टता है उसके द्वारा यह व्यवस्था हो जाती है कि 'यह नील का ज्ञान है, अन्य का नहीं।

किञ्चिद् रूपम्—एक ही प्रत्यक्षज्ञान में जो ग्राह्याकारता है वह प्रमाण है, क्योंकि वह ज्ञान की व्यवस्था का हेतु है। उसमें जो अर्थप्रतीतिरूपता (अर्थप्रदर्शकता)

१, ०व्यवस्थापनभावेन T.

व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकभावोऽपि कथम् एकस्य ज्ञानस्येति[1] चेत्। उच्यते। नीलसदृशमनुभूय[2] तद् विज्ञानं यतो नीलस्य ग्राहकम् अवस्थाप्यते निश्चयप्रत्ययेन, तस्मात् सारूप्यम् अनुभूतं व्यवस्थापनहेतुः। निश्चयप्रत्ययेन च तज्ज्ञानं नीलसंवेदनम् अवस्थाप्यमानं व्यवस्थाप्यम्।

तस्माद् असारूप्यव्यावृत्त्या सारूप्यं ज्ञानस्य व्यवस्थापनहेतुः। अनील-बोधव्यावृत्त्या च नीलबोधरूपत्वं व्यवस्थाप्यम्।

है वही प्रमाण का फल है। यद्यपि ज्ञान एक ही वस्तु है, उसमें वस्तुतः ये दो अंश नहीं हो सकते तथापि विकल्पों द्वारा एक ही वस्तु को भिन्न २ रूप में कल्पित कर लिया जाता है।

व्यवस्थाप्येति---यदि प्रश्न उठता है कि एक ही ज्ञान में व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक-भाव भी कैसे हो सकता है; तो यह कहा जा सकता है (उच्यते)---क्योंकि निश्चयात्मक ज्ञान के द्वारा उस विज्ञान को नील के सदृश अनुभव करके उसे नील का ग्राहक निश्चित किया जाता है, इसलिये अनुभव किया गया (नील-ज्ञान में नील अर्थ का) सादृश्य ही (यह नील का ज्ञान है, इस प्रकार की) व्यवस्था का हेतु है। और, निश्चयात्मक ज्ञान के द्वारा ही 'वह ज्ञान नील की प्रतीति है', यह व्यवस्था की जाती है अतः वह (नील की प्रतीति) व्यवस्थाप्य है।

इसलिये (नीलज्ञान में नील अर्थ का सारूप्य नहीं, इस प्रकार के) असारूप्य की व्यावृत्ति (हटाना) करने के कारण (ज्ञान में अर्थ का) सारूप्य ही ज्ञान की (यह नील का ज्ञान है—इस) व्यवस्था का हेतु है। और (यह अनील वस्तु का बोध नहीं है, इस प्रकार के) अनील के बोध की व्यावृत्ति के द्वारा उस ज्ञान में नीलबोधरूपता (=यह नील का बोध है, अन्य का नहीं) की व्यवस्था की जाती है। अतः नीलबोध ही व्यवस्थाप्य है)।

नीलसदृशमनुभूय—इस पद से वस्तु-स्थिति का निरूपण किया गया है, अनुभव का रूप नहीं दिखलाया गया, क्योंकि 'मैं नील को देख रहा हूँ'—ऐसा अनुभव होता है, 'मैं नील-सदृश को देखता हूँ' ऐसा अनुभव नहीं होता। इसी अनुभव के आधार पर उस ज्ञान को नील का ग्राहक निश्चित किया जाता है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ८३)।

निश्चयप्रत्ययेन—प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात् होने वाले निश्चयात्मक ज्ञान के द्वारा। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि वह निश्चयात्मक ज्ञान यदि प्रत्यक्षज्ञान के अनुरूप होता है तभी ज्ञान की व्यवस्था का हेतु होता है अन्यथा नहीं। उदाहरणार्थ मरुमरीचिका में जलज्ञान हो जाने के पश्चात् होने वाले 'मैं जल को देखता हूँ।' इस विकल्प के द्वारा ज्ञान की व्यवस्था नहीं की जा सकती (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ८४)।

---

१. ज्ञानस्य चेत् A.C.P.

२. ०ते। संदृशमनुभूयमानं तद्वि० A.B.E.H.N.P., ०ते। सदृशमनुभूय तद्वि० C.D.

तस्मात्—क्योंकि सारूप्य से भिन्न ज्ञान की व्यवस्था का हेतु नहीं हो सकता और सारूप्य भी ज्ञान से भिन्न नहीं हो सकता, इसलिये एक ही ज्ञान को प्रमाण तथा फल माना जाता है। वस्तुतः वह ज्ञान एक ही है अतः प्रमाण और फल का अभेद कहा गया है; किन्तु उस एक ही ज्ञान में अन्यव्यावृत्ति के द्वारा भेद मानकर व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक-भाव कल्पित कर लिया जाता है।

अन्य-व्यावृत्ति द्वारा भेद कैसे ? नीलज्ञान में नील के असारूप्य की व्यावृत्ति = सारूप्य तथा अनीलबोध की व्यावृत्ति = नीलबोधरूपता। इस प्रकार एक ही ज्ञान में दो व्यावृत्तियों के कारण दो रूप मान लिये जाते हैं। वस्तुतः उसके स्वरूप में भेद नहीं। (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ८४)।

व्यवस्थाप्य..............नीलबोधरूपत्वं व्यवस्थाप्यम्—इस अवतरण में प्रमाण तथा प्रमाण-फल का क्या सम्बन्ध है?यह दिखलाया गया है। आजकल इस प्रकार के प्रश्नों पर पाश्चात्य तर्कशास्त्र में विचार किया जाता है (मि०, B. Russel against Meinong, Analysis of Mind, P. 16 ff, बु० लॉ० २, पृ० ४२ टि० ११)। जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है न्याय, मीमांसा आदि वस्तुवादी (Realist) दर्शनों के अनुसार करण और फल (प्रमाण तथा प्रमा) दोनों परस्पर नितान्त भिन्न हैं। जो चक्षु इत्यादि आत्मा के ज्ञान के साधन हैं, वे प्रमाण हैं। आत्मा में जो ज्ञान होता है वह प्रमाण का फल है, प्रमा या प्रमिति है। वाह्येन्द्रियों तथा मन के द्वारा उत्पन्न ज्ञान एवं स्वसंवेदन आत्मा के ही धर्म हैं। दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय (परि० १.९–१०) में इसका विरोध किया है और यह प्रतिपादित किया है कि—(क) एक ही ज्ञान के दो रूप हैं जो प्रमाण और प्रमाण-फल कहलाते हैं (ख) प्रत्येक ज्ञान में स्वसंवेदन हुआ करता है अर्थात् ज्ञान स्वयंप्रकाश है। प्रस्तुत अवतरण में प्रथम (क) प्रश्न का विशद विवेचन है। (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ४२ टि० ११)।

भाव यह है कि नील आदि अर्थ से जो चाक्षुष ज्ञान उत्पन्न होता है. वह नीलाकार हुआ करता है। उसके दो रूप होते हैं—नील सारूप्य (नीलाकारता) और नील-बोध। इनमें से नीलसारूप्य के द्वारा अनीलसारूप्य की व्यावृत्ति हो जाती है और "यह नील का बोध है, अन्य का नहीं" यह व्यवस्थित करा दिया जाता है। इस प्रकार ज्ञान गत नीलसारूप्य ही ज्ञान की (यह नील का ज्ञान है, पीत का नहीं, ऐसी) व्यवस्था का साधन है, यही प्रमाण है। इसके द्वारा ज्ञान में नीलबोधरूपता (यह नील का बोध है, अनील का नहीं) की व्यवस्था की जाती है अतः 'नीलबोध' = नीलप्रतीति ही प्रमाण का फल है। इसलिये वही ज्ञान प्रमाण है, वही फल है। केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। द्रष्टव्य—......धियोंऽशयोः। तद्व्यवस्थाश्रयत्वेन साध्यसाधनसंस्थितिः॥ क्रियाकरणयोरैक्यविरोध इति चेदसत्। धर्मभेदाभ्युपगमाद् वस्त्वभिन्नमितीष्यते॥ प्र० वा०, २.३१५, ३१८।

व्यवस्थापकश्च विकल्पप्रत्ययः प्रत्यक्षबलोत्पन्नो द्रष्टव्यः। न तु[1] निर्विकल्पकत्वात् प्रत्यक्षमेव नीलबोधरूपत्वेनात्मानम्[2] अवस्थापयितुं शक्नोति। निश्चयप्रत्ययेनाव्यस्थापितं सद् अपि नीलबोधरूपं विज्ञानम् असत्कल्पम् एव। तस्मान्निश्चयेन नीलबोधरूपं व्यवस्थापितं विज्ञानं नीलबोधात्मना सद् भवति।

तस्माद् अध्यवसायं कुर्वदेव प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति। अकृते त्वध्यवसाये नीलबोधरूपत्वेनाव्यवस्थापितं भवति विज्ञानम्। तथा च प्रमाणफलम् अर्थाधिगमरूपम्[3] अनिष्पन्नम्। अतः साधकतमत्वाभावात् प्रमाणमेव न स्याज्ज्ञानम्।

जनितेन त्वध्यवसायेन सारूप्यवशान्नीलबोधरूपे ज्ञाने[4] व्यवस्थाप्यमाने सारूप्यं व्यवस्थापनहेतुत्वात् प्रमाणं सिद्धं भवति।

---

१६. प्रमाण-फल का व्यवस्थापक विकल्पप्रत्यय

व्यवस्थापकश्चेति—प्रत्यक्ष के आधार पर उत्पन्न होने वाले विकल्प-ज्ञान को ही (यह नील का ज्ञान है, इत्यादि का) व्यवस्थापक जानना चाहिये; क्योंकि निर्विकल्पक होने के कारण प्रत्यक्ष-ज्ञान अपने स्वरूप को नीलबोध के रूप में निश्चित नहीं करा सकता। निश्चयात्मक-ज्ञान के द्वारा नीलबोध-रूप में निश्चित न किया गया नीलबोध-रूप ज्ञान तो विद्यमान होते हुए भी (=सद् अपि) अविद्यमान के समान ही है (=असत्कल्पम् एव)। इसलिये निश्चयात्मक ज्ञान के द्वारा नीलबोध के रूप में निश्चित किया गया ज्ञान ही नीलबोध के रूप में सिद्ध (सद्=विद्यमान) होता है।

व्यवस्थापकः—'यह नील है अन्य नहीं'—इस प्रकार की व्यवस्था करने वाला। ज्ञान की इस व्यवस्था में (१) व्यवस्थापक है—प्रत्यक्ष पृष्ठभावी अनुरूप विकल्प; (२) व्यवस्थापन-हेतु है—सारूप्य और (३) व्यवस्थाप्य है—नील-प्रतीति।

प्रत्यक्षबलोत्पन्नः—प्रत्यक्ष=निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के आधार पर होने वाला विकल्प।

तस्मात्—क्योंकि निश्चयात्मक ज्ञान के द्वारा व्यवस्थित न किया गया-नीलबोधरूप विज्ञान असत् (अविद्यमान) के समान होता है, इसलिये।

तस्माद् अध्यवसायम् इति—इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञान (अनुरूप) निश्चय को उत्पन्न करके ही प्रमाण होता है। निश्चयात्मक-ज्ञान को उत्पन्न न करने पर तो विज्ञान नीलबोध के रूप में अव्यवस्थित रहता है तथा अर्थप्रदर्शन रूप जो प्रमाण का फल है वह सिद्ध नहीं होता। इसलिये साधकतम (प्रकृष्ट साधन) न होने के कारण वह ज्ञान प्रमाण ही न होगा।

किन्तु जब (प्रत्यक्ष-ज्ञान से) उत्पादित अध्यवसाय (=निश्चयात्मक-ज्ञान) सारूप्य के द्वारा ज्ञान की नीलबोधरूपता (=यह नील का बोध है) को व्यवस्थित कर देता है, तब तो (ज्ञान की) व्यवस्था का साधन होने से 'सारूप्य' प्रमाण है, यह सिद्ध हो जाता है।

---

१. न च निर्वि० C. २. ०रूपत्वं नात्मा० C.
३. ०रूपत्वम् A C.D.E.H.P. ४. ज्ञानेऽव्यस्था० A.E.H.N.P.

तस्मात्—क्योंकि प्रत्यक्ष-जन्य अनुरूप निश्चयात्मक ज्ञान द्वारा व्यवस्थित होकर ही प्रत्यक्ष ज्ञान 'यह नील का बोध है' इस रूप में जाना जाता है।

साधकतमत्वाभावात् प्रमाणमेव न स्यात्—प्रमा का करण ही प्रमाण है। 'करण' (कारक) वह होता है जो क्रिया की सिद्धि में प्रकृष्टोपकारक (साधकतम) होता है। इस प्रकार प्रमा का साधकतम = प्रकृष्टोपकारक (= करण) होने से ही 'प्रत्यक्षज्ञान' प्रमाण पद का अधिकारी हो सकता है। यहाँ अर्थप्रतीति-(नील आदि का बोध) ही प्रमा है। इस प्रमा का करण होने पर ही प्रत्यक्षज्ञान (निर्विकल्पक) प्रमाण हो सकता है अन्यथा नहीं। किन्तु यह प्रमा तो केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होती, अपि तु प्रत्यक्ष के पृष्ठभावी अध्यवसाय से सिद्ध होती है। इस प्रकार अनुरूप अध्यवसाय को उत्पन्न करके ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमा का साधकतम (= करण) कहा जा सकता है और वह अर्थ का प्रदर्शक तथा प्रापक होता है एवं प्रमाण कहलाता है।

अध्यवसायं कुर्वद् एव प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति०—इत्यादि के द्वारा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का उसके पृष्ठभावी सविकल्पक ज्ञान से क्या सम्बन्ध है? यह दिखलाया गया है। संक्षेप में प्रत्यक्ष की प्रक्रिया यह है—प्रकाशयुक्त स्थल में नील आदि वस्तु चक्षु आदि इन्द्रिय के समक्ष उपस्थित होती है तथा विज्ञान-क्षण का नीलक्षण के साथ समवधान हो जाता है तब नील का साक्षात्कारी चाक्षुष ज्ञान उत्पन्न होता है इसे ही इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या इन्द्रिय-ज्ञान कहा जाता है। यह निर्विकल्पक होता है, नाम आदि की कल्पना से शून्य; इसमें स्वलक्षण (वस्तु-क्षण) का प्रतिभास हुआ करता है; अतः यह नील का ज्ञान नीलसदृश या नीलाकारक होता है, इसमें नील का सारूप्य होता है। बौद्धन्याय की परिभाषा के अनुसार यही प्रत्यक्ष ज्ञान है (जो निर्विकल्पक है)। किन्तु इस ज्ञान में यह निश्चय नहीं होता कि हम नील वस्तु को जानते हैं। हमारा यह ज्ञान नील की प्रतीति है, यह बात तो प्रत्यक्ष के पृष्ठभावी विकल्प द्वारा निश्चित की जाती है। कैसे?

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अनन्तर विकल्पक ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है—साक्षात्कारित्वव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते (न्यायबिन्दुटीका १·१०)। उस विकल्प का आकार है—'मैं नील को देख रहा हूँ।' इस विकल्प द्वारा यह अनुभव किया, जाता है कि 'नीलज्ञान' का नील वस्तु के साथ सारूप्य है'। इसी सारूप्य के द्वारा यह निश्चय होता है कि 'यह नील की प्रतीति है अनील की नहीं'। सौत्रान्तिक के मतानुसार इस 'नीलज्ञान' से नील वस्तु का अनुमान किया जाता है अर्थात् बाह्य अर्थ अनुमेय है।

इस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वयं ही यह निश्चय नहीं कर सकता कि वह नील की प्रतीति है। और, जब तक यह निश्चय नहीं होता तब तक ज्ञान को अर्थ-प्रदर्शक नहीं कहा जा सकता। जब वह अर्थ-प्रदर्शक (= प्रापक) नहीं है तो प्रमाण कैसे कहला सकता है? प्रत्यक्ष के पृष्ठभावी विकल्प द्वारा जब यह व्यवस्था कर दी

यद्येवम् अध्यवसायसहितम् एव प्रत्यक्षं प्रमाणं स्यात्, न केवलम्, इति चेत्। नैतद् एवम्। यस्मात् प्रत्यक्षबलोत्पन्नेनाध्यवसायेन 'दृष्टत्वेनार्थोऽवसीयते नोत्प्रेक्षितत्वेन। दर्शनञ्चार्थसाक्षात्करणाख्यं प्रत्यक्षव्यापारः। उत्प्रेक्षणं तु' विकल्पव्यापारः। तथा हि–परोक्षम् अर्थं विकल्पयन्त उत्प्रेक्षामहे, न तु पश्याम इति उत्प्रेक्षात्मकं विकल्पव्यापारम् अनुभवाद् अध्यवस्यन्ति'। तस्मात् स्वव्यापारं तिरस्कृत्य प्रत्यक्षव्यापारम् आदर्शयति यत्रार्थे प्रत्यक्षपूर्वकोऽध्यवसायस्तत्र प्रत्यक्षं केवलम् एव प्रमाणम् इति ।.२१।।

।। 'आचार्यधर्मोत्तरविरचितायां न्यायबिन्दुटीकायां 'प्रत्यक्षपरिच्छेदः प्रथमः ।।

—:०:—

जाती है कि यह नील का ज्ञान है पीत का नहीं तब तो वह प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थ का प्र-र्शक हो जाता है तथा प्रमाण पद को प्राप्त करता है। इसलिये पृष्ठभावी विकल्प द्वारा अध्यवसाय नामक व्यापार करके ही प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण होता है।

यह भी ध्यान रखने योग्य है कि इस विकल्प द्वारा अध्यवसाय करने के समय तक वही नील क्षण नहीं ठहरता, जिसका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण किया जाता है। इसी हेतु धर्मोत्तर ने बतलाया है कि प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय स्वलक्षण का एक क्षण है और अध्यवसेय तथा प्रापणीय विषय क्षण-सन्तान है (न्यायबिन्दुटीका, सूत्र १.१२)।

१७. केवल निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष है

यद्येवम् इति—(शङ्का) यदि ऐसा है (अर्थात् अध्यवसाय करके ही प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण होता है) तब तो अध्यवसाय-सहित ही प्रत्यक्षज्ञान प्रमाण होना चाहिये, केवल (निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान) नहीं। (समाधान) इस प्रकार (कहना) ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्यक्ष के आधार पर उत्पन्न होने वाले अध्यवसाय के द्वारा (नील को देखा है—इस प्रकार) दृष्टरूप से अर्थ का निश्चय किया जाता है, (इस नील की कल्पना की है—इस प्रकार) कल्पित (उत्प्रेक्षित) रूप से नहीं। प्रत्यक्ष का कार्य दर्शन है, जिसे अर्थ-साक्षात्कार कहते हैं; किन्तु विकल्प का व्यापार कल्पना (उत्प्रेक्षण) है। क्योंकि परोक्ष वस्तु की कल्पना करते हुए "हम कल्पना कर रहे हैं देख नहीं रहे"—इस प्रकार के उत्प्रेक्षारूप विकल्प के व्यापार को (सभी) अनुभव से निश्चित करते हैं। इसलिये जिस अर्थ के विषय में प्रत्यक्ष के पश्चात् होने वाला अध्यवसाय अपने (उत्प्रेक्षण) व्यापार की उपेक्षा करके प्रत्यक्ष के (दर्शन) व्यापार को दिखलाता है, उस अर्थ के विषय में केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है (अध्यवसायसहित नहीं) ।।२१।।

---

१. दृश्यत्वेना० T. २. तु' नास्ति A.C.D.
३. ०भवाद् अवस्यन्ति A.C.E.H.N.P.
४. ।।न्यायबिन्दुटीकायां प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः।। मंगलमस्तु ।। A.
५. प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः। C.

यद्येवम्०—शङ्का का आशय है—यदि अकेला प्रत्यक्ष ज्ञान प्रवृत्ति कराने में असमर्थ है और वह अनिवार्य रूप से अध्यवसाय की अपेक्षा रखता है तो अध्यवसाय-सहित प्रत्यक्ष ज्ञान को ही प्रमाण मानना पड़ेगा (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ८५)।

तस्मात्······प्रत्यक्षं केवलमेव प्रमाणम्—समाधान का अभिप्राय यह है—यदि प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्प अपने व्यापार (उत्प्रेक्षण) को प्रकट करके (प्रवृत्ति में) प्रत्यक्ष ज्ञान का सहायक होता तब तो उस विकल्प (अथवा विकल्पजन्य अध्यवसाय) को भी प्रमाण माना जा सकता था। किन्तु ऐसा नहीं होता, अपि तु प्रत्यक्ष ज्ञान के व्यापार को दिखलाता हुआ ही विकल्प ज्ञान प्रत्यक्ष का सहायक होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के अर्थप्रदर्शन रूप व्यापार से ही व्यक्ति की प्रवृत्ति हो जाती है अतः प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्रदर्शित अर्थ का निश्चय कराने वाला विकल्प तो पिष्टपेषणकारी है, अधिगतार्थविषयक है फिर वह प्रमाण कैसे हो सकता है? (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ८६)।

यहाँ श्चेरबात्स्की का कथन है—इस उपसंहारात्मक अनुच्छेद में सहज ही यह भ्रान्ति हो सकती है कि प्रत्यक्ष की प्रक्रिया और फलविषयक विवेचन यहाँ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा उसके पश्चात् होने वाले विकल्प के सम्बन्ध को प्रकट करता है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। इस विवेचन का उद्देश्य तो यह दिखलाना है कि स्वसंवेदन आत्मा का धर्म नहीं है, अपि तु प्रत्येक ज्ञान में होता है इत्यादि (बु० ला० २, पृ० ४६ टि० २)।

श्चेरबात्स्की के इस कथन का क्या आधार है ? यह समझ में नहीं आता। स्वसंवेदन आत्मा का धर्म नहीं है—इत्यादि तात्पर्य इस अनुच्छेद द्वारा क्लिष्ट-कल्पना से ही निकाला जा सकता है। वस्तुतः यह स्पष्ट है कि "तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाण-फलम्" १.१८ न्यायबिन्दु के इस वाक्य से आरम्भ करके प्रत्यक्ष परिच्छेद के अन्त तक फल-सम्बन्धी मत-भेदों का निराकरण किया गया है। इसी प्रसङ्ग में कतिपय तथ्यों की ओर संकेत किया गया है; जैसे (i) वही ज्ञान प्रमाण होता है तथा वही प्रमाण का फल। ज्ञान में जो अर्थ-सारूप्य है, वह प्रमाण है और जो अर्थ-संवेदन है वह प्रमा (प्रमाण का फल)। वस्तुतः ज्ञान के दो रूप नहीं होते, अपि तु दृष्टिकोण के भेद से कल्पित कर लिये जाते हैं। (ii) प्रमाण और फल की व्यवस्था प्रत्यक्ष-पृष्ठ-भावी विकल्प द्वारा होती है, इसलिये अध्यवसाय करके ही प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण कोटि को प्राप्त करता है। (iii) यद्यपि अध्यवसाय सहित ही, प्रत्यक्ष ज्ञान किसी अर्थ का प्रापक होता है तथापि प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय वही अर्थ होता है जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान में साक्षात्कार होता है वह विषय प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्प में इस प्रकार भासित हुआ करता है कि मैंने इसका साक्षात्कार किया है। इस प्रकार ,प्रत्यक्ष की कसौटी है—यस्मिन् रूपे प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारिव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते तत् प्रत्यक्षम् (न्या० वि० टी०, सूत्र १·१०)। इसीलिये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है।

पुनश्च श्चेरवात्स्की का कथन है—As against the Realists' they maintain that we do not know the external object, our images are not constructed by the external world, but the external world is constructed according to our images. इत्यादि (बु० लॉ २, पृ० ४६, टि० २ पं० १८)।

यह मन्तव्य विज्ञानवादी बौद्ध का है। न्यायबिन्दु तथा न्यायबिन्दु-टीका में इसका कहीं निरूपण नहीं किया गया। इसके विपरीत यहाँ तो यही बतलाया गया कि बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष का ग्राह्य होता है तथा जो ज्ञान जिस अर्थ से उत्पन्न होता है, वह उस अर्थ के आकार का होता है (ऊपर सूत्र १.१२,२० अनुवाद तथा टिप्पणी)

इति प्रथमः प्रत्यक्ष-परिच्छेदः

द्वितीयः स्वार्थानुमानपरिच्छेदः

एवं प्रत्यक्षं व्याख्यायानुमानं व्याख्यातुकाम[1] आह—

अनुमानं द्विधा ॥१॥

---

१. अनुमान के प्रकार

एवम् इति --इस प्रकार प्रत्यक्ष की व्याख्या करके अनुमान की व्याख्या करने के अभिलाषी (धर्मकीर्ति) कहते हैं--

अनुमान दो प्रकार का है ॥१॥

अनुमानम्—यहां श्चेरबात्स्की का कथन है —हमारे (=पाश्चात्य तर्कशास्त्र के) पारिभाषिक शब्द (Terminology) अरस्तू से इतने अधिक प्रभावित हैं कि हम भारतीय मान्यताओं के अनुरूप शब्दों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं। यहाँ विचार का प्रत्येक कल्पनाव्यापार, जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से भिन्न है, अनुमान कहलाता है (सारूप्यलक्षणं प्रमाणम् अनुमानम्)। प्रत्यक्ष और अनुमान विषयक हमारी सामान्य धारणा की अपेक्षा कान्ट का दृष्टिकोण दिङ्नाग के सिद्धान्त के अधिक समीप हैं, जिसमें कि ज्ञान के दो वास्तविक साधन-इन्द्रिय तथा तर्कना (Intellect) माने गये हैं (बु० लॉ २, पृ० ४७ टि० २)

यह कथन (Every synthetic operation of thought is...inference) विचारणीय है। जैसा कि ऊपर (१.१ अर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शकम्—टि०) विवेचन किया जा चुका है, दिङ्नाग सम्प्रदाय के अनुसार प्रत्येक विकल्प को अनुमान के अन्तर्गत नहीं रक्खा जा सकता। यहाँ एक विशिष्ट प्रकार का विकल्प-(प्रमाण रूप विकल्प)-ही अनुमान कहलाता है। यह ठीक है कि दिङ्नाग सम्प्रदाय के प्रत्यक्ष और अनुमान का अपना पृथक् स्वरूप है। किन्तु उसमें जिस प्रकार कान्ट की कुछ मान्यताओं से समानता दृष्टिगोचर होती है उसी प्रकार अन्य पाश्चात्य एवं भारतीय विचारकों के मन्तव्यों से भी समानता देखी जा सकती है। केवल कान्ट की ही मान्यता से उसकी विशेष समानता मानने पर तो कुछ भ्रान्तियों की भी सम्भावना हो सकती है।

---

१. व्याख्यातुमाह A.

अनुमानं द्विधा द्विप्रकारम्। अथानुमानलक्षणे वक्तव्ये किम् अकस्मात् प्रकारभेदः कथ्यते ? उच्यते। परार्थानुमानं शब्दात्मकम्, स्वार्थानुमानं तु ज्ञानात्मकम्। तयोरत्यन्तभेदात् नैकं लक्षणमस्ति। ततस्तयोः प्रतिनियतं लक्षणम् आख्यातुं प्रकार-भेदः कथ्यते। प्रकारभेदो हि व्यक्तिभेदः। व्यक्तिभेदे च कथिते प्रतिव्यक्तिनियतं लक्षणं शक्यते वक्तुम्, नान्यथा। ततो लक्षण-निर्देशाङ्गमेव[1] प्रकारभेदकथनम्। अशक्यतां च प्रकारभेदकथनम् अन्तरेण लक्षणनिर्देशस्य ज्ञात्वा प्राक्[2] प्रकारभेदः कथ्यत इति ॥१॥

किं पुनस्तद् द्वैविध्यम् इत्याह—

अनुमानम् इति—अनुमान दो प्रकार का (=द्विधा) है। (प्रश्न) यहाँ अनुमान का लक्षण बतलाना था फिर क्यों अकस्मात् ही अनुमान के प्रकारों का कथन किया जा रहा है ? (उत्तर) बतलाते हैं—परार्थानुमान शब्द (अथवा वाक्य) के रूप में है, किन्तु स्वार्थानुमान ज्ञानरूप में होता है। उन दोनों का अत्यन्त भेद होने के कारण एक लक्षण नहीं हो सकता (अस्ति=संभवति); इसलिये दोनों का प्रत्येक में नियत (प्रत्येक में पृथक्-पृथक् निश्चित रूप से रहने वाला) लक्षण बतलाने के लिये प्रकार-भेद कहा गया है। क्योंकि प्रकार-भेद का अभिप्राय है-व्यक्ति-भेद। और, (अनुमान का) व्यक्ति-भेद बतला देने पर प्रत्येक (अनुमान) व्यक्ति (=प्रकार) का निश्चित लक्षण बतलाया जा सकता है, इसके बिना नहीं। इसलिये यहाँ (अनुमान का) प्रकार-भेद बतलाना लक्षण-निर्देश का ही अङ्ग (निमित्त=साधन) है। प्रकार-भेद-कथन के बिना लक्षण-कथन को अशक्य जानकर ही प्रथमतः प्रकार-भेद बतलाया गया है ॥१॥

तयोरत्यन्तभेदात्—दिङ्नाग के परिष्कृत तर्कशास्त्र में ज्ञान-सिद्धान्त और वाद-विद्या को पृथक्शः विभक्त किया गया है। प्राचीन नैयायिक विशेषकर वाद-विद्या का प्रतिपादन करते थे—प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। दिङ्नाग ने इस वाद-विद्या को परार्थानुमान के अन्तर्गत रक्खा। अनुमान-वाक्य के तीन अवयवों तथा वाद-विद्या की अन्य प्रक्रियाओं का तर्कशास्त्र के ज्ञान-सिद्धान्त से गौण रूप में ही सम्बन्ध है। किन्तु स्वार्थानुमान, जो ज्ञान का साधन है तथा प्रत्यक्ष से नितान्त भिन्न है. वह परा-र्थानुमान से भी बिल्कुल पृथक् ही है। (मि०, बु० लॉ २, पृ० ४७ टि० २)

परार्थानुमानं शब्दात्मकम्, स्वार्थनुमानं तु ज्ञानात्मकम्—परार्थानुमान में शब्दों (न्यायवाक्य) द्वारा दूसरों को परोक्ष अर्थ का बोध कराया जाता है, किन्तु स्वार्था-नुमान में अविनाभावी लिङ्ग द्वारा स्वयं ही परोक्ष अर्थ को जाना जाता है। इसी हेतु परार्थानुमान को शब्दरूप या वाक्यरूप कहा गया है तथा स्वार्थानुमान को ज्ञान-रूप।

किं पुनस्तद् इति—वे दो प्रकार कौन से हैं, यह कहते हैं—

---

१. निर्देशार्थमेव A.C. २. प्रथमं C.D.

स्वार्थं परार्थं च ॥२॥

स्वस्मायिदं स्वार्थम् । येन स्वयं प्रतिपद्यते तत् स्वार्थम् । परस्मायिदं परार्थम् । येन परं प्रतिपादयति तत् परार्थम् ॥२॥

तत्र[1] स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये[2] ज्ञानं तद् अनुमानम् ॥३॥

तत्र तयोः स्वार्थपरार्थानुमानयोर्मध्ये । स्वार्थं ज्ञानं किंविशिष्टम् इत्याह—त्रिरूपाद् इति; त्रीणि रूपाणि यस्य वक्ष्यमाण[3]लक्षणानि तत् त्रिरूपम् । लिङ्ग्यते गम्यतेऽनेनार्थ इति लिङ्गम् । तस्मात् त्रिरूपाल्लिङ्गात् यत् जातं

स्वार्थानुमान और परार्थानुमान ॥२॥

स्वार्थम्=अपने लिये । जिस (अनुमान) से कोई व्यक्ति स्वयं ज्ञान करता है (प्रतिपद्यते), वह स्वार्थानुमान है ।

परार्थम्=दूसरों के लिये । जिस (अनुमान) से कोई दूसरों को बोध कराता है वह परार्थानुमान है ॥२॥

परार्थम्—यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि किसी व्यक्ति ने कहा—'यह गाय जा रही है' । दूसरे ने उस गाय का साक्षात्कार किया । ऐसे स्थलों पर वाक्य (शब्द) दूसरे के प्रत्यक्ष का भी निमित्त होता है इसलिये परार्थानुमान के समान परार्थ प्रत्यक्ष भी मानना चाहिये । दिङ्नाग ने इसका उत्तर दिया है कि प्रत्यक्ष को शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता अतः उसके दो भेद नहीं माने गये (प्रमाणसमुच्चय, परि० ३·१-२) । धर्मो० प्रदीप (पृ० ८९) में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है—परोक्ष अर्थ के ज्ञान की जो सामग्री है (लिङ्गस्य पक्षधर्मता साध्यव्याप्तिश्च) उसको बतलाने वाला वाक्य औपचारिक रूप से परार्थानुमान कहलाता है । किन्तु कोई वाक्य प्रत्यक्ष की सामग्री इन्द्रिय, आलोक इत्यादि का कथन करके प्रत्यक्ष ज्ञान का निमित्त नहीं होता अपि तु वह दूसरों के मन में देखने की इच्छा मात्र उत्पन्न करता है । इसलिये परार्थ प्रत्यक्ष मानना युक्तियुक्त नहीं ।

स्वार्थानुमान और परार्थानुमान का इसी प्रकार का विभाग वैशेषिक सम्प्रदाय में भी किया गया है । द्रष्टव्य—प्रशस्तपाद भाष्य. वनारस १९६३, पृ० ५१०, ५६०, Jacobi, Indische Logik, p. 479 ff, Th. Stcherbatsky's article in Museon 1904; L. Suali, Introduzione, p. 417; Faddegon, the Vaisesika system, p. 314 ff. (मि० बु० ला० २, पृ० ४७ टि० २)

२. स्वार्थानुमान का लक्षण

तत्र स्वार्थम् इति—

उन दोनों (स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान) में, जो त्रिरूप लिङ्ग से अनुमेय के विषय में ज्ञान (उत्पन्न) होता है, वह स्वार्थानुमान है ॥३॥

तत्र=तयोः—उन दोनों स्वार्थानुमान और परार्थानुमान में । स्वार्थ ज्ञान

---

१. तत्र त्रिरूपा० E. २. ०मेयज्ञानं C. ३. वक्ष्यमाणानि D.

ज्ञानम् इति। एतद् हेतुद्वारेण विशेषणम्। तत[1]त्रिरूपाच्च लिङ्गात् त्रिरूप-लिङ्गालम्बनम् अप्युत्पद्यत इति विशिनष्टि—अनुमेय इति। एतच्च विषयद्वारेण विशेषणम्। त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यद् उत्पन्नम् अनुमेयालम्बनं ज्ञानं तत् [2]स्वार्थानुमानम् इति ॥३॥

किस प्रकार का है? यह बतलाते हैं--त्रिरूपाद् इत्यादि। जिस (लिङ्ग) के वे तीन रूप होते हैं, जिनके लक्षण आगे कहे जा रहे हैं, वह त्रिरूप लिङ्ग है। लिङ्ग वह कहलाता है जिससे कोई (परोक्ष) अर्थ लक्षित किया जाता है—जाना जाता है (लिङ्ग्यते=गम्यते)। उस त्रिरूप लिङ्ग से उत्पन्न हुआ ज्ञान, यह हेतु के रूप में (ज्ञान का) विशेषण है। क्योंकि (च=यस्मात्) उस त्रिरूप लिङ्ग से तो त्रिरूपलिङ्ग-विषयक ज्ञान भी उत्पन्न होता है, इसलिये 'अनुमेये' (अनुमेय में) यह विशेषण दिया गया है (विशिनष्टि)। यह विषय की दृष्टि से विशेषण है। इस प्रकार त्रिरूप लिङ्ग से अनुमेय के विषय में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वार्थानुमान है (इति) ॥३॥

त्रिरूपलिङ्ग०—(i) लिङ्ग शब्द का अर्थ है—गमक निश्चायक। जिस निश्चायक हेतु के द्वारा परोक्ष अर्थ का अनुमान किया जाता है, वह लिङ्ग कहलाता है (लीनमर्थं गमयति, इति)। यह तर्कशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। धूम को देखकर परोक्ष अग्नि का अनुमान किया जाता है अतः धूम ही अग्नि का लिङ्ग कहलाता है। बौद्धन्याय के अनुसार आगे (२.५) कहे गये तीन रूपों से युक्त हेतु ही सद् हेतु या त्रिरूप लिङ्ग कहलाता है।

(ii) विनीतदेव (पृ० ५६) के अनुसार हेतु का हेतु-दोषों (हेत्वाभासों) से भेद दिखलाने के लिये लिङ्ग के उन तीन रूपों का वर्णन किया गया है। उन तीन रूपों में से एक या अधिक के न होने से ही कोई हेतु हेत्वाभास हो जाता है। (मि०, बु० लॉ २, पृ० ४८ टि० २)

तदनुमानम्—यहाँ (सूत्र ३ में) श्चेरबात्स्की ने 'तत् स्वार्थानुमानम्' यह पाठ शुद्ध माना है, किन्तु यह पाठ किसी प्रति में उपलब्ध नहीं होता। उपलब्ध पाठ का अन्वय इस प्रकार है—'तत्र यत् त्रिरूपाल्लिङ्गाद् अनुमेये ज्ञानं तत् स्वार्थम् अनुमानम्'। अतः पाठान्तर की कल्पना अनावश्यक ही है।

ज्ञानम्—विनीतदेव के अनुसार 'ज्ञान' शब्द इस तथ्य पर बल देता है कि लिङ्ग (=हेतु) तभी ज्ञान को उत्पन्न करता है जब वह निश्चित रूप से जान लिया जाता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तो अपनी सत्तामात्र से ही कार्य करा देता है। (मि०, बु० लॉ २, पृ० ४८ टि० ३)

---

१. तत्' नास्ति C.D. २. स्वार्थानुमानम् D.

लक्षणविप्रतिपत्तिं निराकृत्य फलविप्रतिपत्तिं निराकर्तुम् आह—

प्रमाणफलव्यवस्थाऽत्रापि प्रत्यक्षवत् ॥४॥

प्रमाणस्य[1] यत् फलं तस्य या व्यवस्था [2]साऽत्रानुमानेऽपि [3]प्रत्यक्ष इव वेदितव्या । यथा हि [4]नीलसरूपं प्रत्यक्षम् अनुभूयमानं नीलबोधरूपम् [5]अवस्थाप्यते, तेन नीलसारूप्यं [6]व्यवस्थापनहेतुः प्रमाणम्, नीलबोधरूपं तु [7]व्यवस्थाप्यमानं प्रमाणफलम्; तद्वद् अनुमानं नीलाकारम् उत्पद्यमानं नीलबोधरूपम् अवस्थाप्यते, । तेन नीलसारूप्यम् अस्य[8] प्रमाणम्, नीलविकल्पनरूपं त्वस्य[9] प्रमाणफलम् । सारूप्यवशाद्धि तन्नीलप्रतीतिरूपं सिद्ध्यति । नान्यथेति ॥४॥

---

३. अनुमान में प्रमाण-फल-व्यवस्था

लक्षणविप्रतिपत्तिम् इति—(अनुमान की) लक्षणविषयक विप्रतिपत्ति का निराकरण करके उसकी फल-सम्बन्धी विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिये कहते हैं—

यहाँ (अनुमान में) भी प्रमाण और फल की व्यवस्था प्रत्यक्ष के समान होती है ॥४॥

प्रमाण का जो फल, उसकी व्यवस्था, वह यहाँ अर्थात् अनुमान में भी प्रत्यक्ष के समान जाननी चाहिये । जिस प्रकार नीलाकार प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुभव किये जाने पर 'यह नील का बोध है', इस प्रकार की व्यवस्था की जाती है और, इसीलिये इस व्यवस्था का हेतु जो नील-सारूप्य है वह प्रमाण है तथा जिसको व्यवस्थित किया जाता है वह नीलबोध प्रमाण का फल है; उसी प्रकार नील (सामान्य) के आकार में उत्पन्न होने वाला अनुमान (ज्ञान) 'यह नील (सामान्य) का बोध है'—इस प्रकार निश्चित किया जाता है । इसलिये इसका जो (अस्पष्ट) नीलसारूप्य है वह प्रमाण है और जो नील-विकल्प (नील की कल्पना) है वह प्रमाण का फल है । क्योंकि सारूप्य के कारण ही "वह ज्ञान नील का बोध है"—यह निश्चित होता है, उसके बिना नहीं ॥४॥

प्रमाण-फल—यदि यहाँ (सूत्र ४ में) 'प्रमाणस्य फलम्' (न्या० बि० टी०) इस प्रकार विग्रह किया जाये तो इस सूत्र द्वारा केवल प्रमाणफल की व्यवस्था होगी, प्रमाण की नहीं तथा इसकी टीका में धर्मोत्तर ने जो प्रमाण की व्यवस्था दिखलाई है, वह भी असङ्गत होगी । इस दोष के निराकरण के लिये यहाँ "प्रमाणं च फलं च प्रमाणफले

---

१. प्रमाणफलमिति । प्रमाणस्य यत् B.C.D.
२. सा' नास्ति A.B.E.H.P.
३. ०पि प्रत्यक्षवत् प्रत्यक्ष इव E.H.P.
४. नीलस्वरूपम् C.D.
५. ०रूपमेवावस्था० C.
६. ०रूप्यं नीलव्यव० C.
७. ०रूपं त्ववस्था० D.; ०रूपत्वमवस्था० C.
८. 'अस्य'-नास्ति C.
९. ०रूपं तु प्रमा० B.D.

तयोः व्यवस्था"—इस प्रकार प्रमाण और फल का द्वन्द्व समास मानना चाहिये (धर्मो० प्र०, पृ० ९१)

नील-बोध—नील-संवेदन = नील-अनुभव = नीलम् इति विज्ञानम् (बु० लॉ २, पृ० ४९ टि० २)।

नीलाकारम्—बौद्धन्याय के अनुसार 'नीलक्षण' इत्यादि बाह्य वस्तु का स्वरूप (स्वलक्षण) है। वह प्रत्यक्ष का विषय है। किन्तु यहाँ नील को अनुमान का विषय भी कहा गया है। यहाँ 'नील' का अर्थ है—नील सामान्यलक्षण, नील का साधारण रूप।

नीलसारूप्यमस्य—अस्पष्ट नील सादृश्य, अनुमान द्वारा अर्थ का साक्षात्कार नहीं होता, इसके द्वारा केवल वस्तु के अन्यव्यावृत्त (साधारण) रूप की प्रतीति होती है (धर्मो० प्र०, पृ० ९१)।

सारूप्य—अतद्व्यावृत्ति, अन्यव्यावृत्ति, अन्ययोगव्यवच्छेद, आकार, आभास (बु० लॉ २, पृ० ५१ टि० २)।

नीलप्रतीतिरूपम्—नीलविकल्पन रूप, सिद्ध्यति = निश्चित किया जाता है।

अनुमान में प्रमाण-फल-व्यवस्था—नैयायिक के अनुसार अनुमान में परामर्श ज्ञान को करण माना जाता है और अनुमिति को फल। संक्षेप में उसकी प्रक्रिया यह है—कोई व्यक्ति पाकशाला इत्यादि में धूम और अग्नि का नियमतः साहचर्य देखता है तथा "जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है" इस प्रकार के स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) को जान लेता है। यह प्रथम लिङ्ग-दर्शन कहलाता है। जब वह व्यक्ति वन में जाता है और पर्वत में अग्नि का सन्देह करके धूम को देखता है तब द्वितीय लिङ्ग-दर्शन होता है। इसके अनन्तर उसे व्याप्ति की स्मृति होती है तथा "अग्नि से व्याप्य धूम इस पर्वत में है" इस प्रकार का ज्ञान होता है। यह तृतीय लिङ्गज्ञान है। इसे परामर्श या 'लिङ्गपरामर्श' कहा जाता है। इसके द्वारा जो 'पर्वत में अग्नि है'—यह ज्ञान होता है, यही अनुमिति है। इस प्रकार लिङ्ग-परामर्श ही अनुमान या अनुमिति का करण है, प्रमाण है और अनुमिति ही प्रमाण का फल है।

बौद्धन्याय के अनुसार अनुमान में भी प्रत्यक्ष के समान ही प्रमाण तथा प्रमाण-फल की व्यवस्था होती है। बौद्धन्याय की दृष्टि में अनुमान अनेक निश्चयात्मक ज्ञानों का परिणाम नहीं है अपि तु प्रतीत्यसमुत्पाद के नियमानुसार उत्पन्न होनें वाला एक ही विकल्पात्मक ज्ञान है"—एकं विज्ञानम्" (न्यायकणिका, पृ० १२५.२)। प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रमाण-फल-व्यवस्था में अन्तर यह है—प्रत्यक्ष में हम अर्थ का उसके निजी रूप में (स्वलक्षण का) साक्षात्कार करते हैं; किन्तु अनुमान में किसी लिङ्ग या ज्ञापक के द्वारा अर्थ के साधारण रूप का ग्रहण होता है। दोनों का फल समान ही है और वह है—अर्थ की प्रतीति। किन्तु जैसा दिङ्नाग ने (प्रमाणसमुच्चय, २.१) कहा है, प्रत्यक्ष का कार्य है—किसी वस्तु का तत्काल ही स्फुटाभास करा देना। यह स्फुटाभास

एवम् इह संख्या-लक्षण फलविप्रतिपत्तयः, प्रत्यक्षपरिच्छेदे तु गोचर-विप्रतिपत्तिर्निराकृता।

लक्षणनिर्देशप्रसङ्गेन तु त्रिरूपं लिङ्गं प्रस्तुतम्। तद् एव व्याख्यातुम् आह—

त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वम् एव, सपक्ष एव सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वम् एव निश्चितम् ॥५॥

त्रैरूप्यम् इत्यादि। लिङ्गस्य यत् त्रैरूप्यं यानि त्रीणि रूपाणि तद् इदम् उच्यत इति शेषः।

शब्दों में प्रकट नहीं किया जा सकता। जिनेन्द्र बुद्धि का कथन है कि यदि इसे शब्दों द्वारा कहा जा सकता तो अन्धे को भी शब्दों द्वारा रूप की प्रतीति हो सकती। इसके विपरीत अनुमान के द्वारा वस्तु का एक अमूर्त्त (abstract) धुंधला तथा अस्पष्ट सा भास होता है। दोनों प्रमाणों के ग्राह्य विषय भी भिन्न २ हैं। प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय स्वलक्षण है और अनुमान का सामान्यलक्षण, जो कि वस्तु का कल्पित रूप है। इस प्रकार अनुमिति ज्ञान में जो अग्नि (सामान्य) का सारूप्य होता है, वह प्रमाण है और जो अग्नि-विषयक विकल्प होता है, वह प्रमाण का फल है। संक्षेप में प्रत्यक्ष और अनुमान के विविध अङ्गों में अन्तर यह है—

	स्वरूप	कार्य	विषय	प्रमाण	फल
प्रत्यक्ष—	निर्विकल्पक तथा अभ्रान्त संवादी ज्ञान	वस्तु का स्फुटाभास	स्वलक्षण	स्वलक्षण का सारूप्य	स्वलक्षण का बोध
अनुमान—	सविकल्पक भ्रान्त संवादी ज्ञान	अस्फुटाभास	सामान्य-लक्षण	सामान्यलक्षण का सारूप्य	सामान्यलक्षण का बोध

एवम् इति—इस प्रकार यहां (अनुमान में) संख्या, स्वरूप और फल-सम्बन्धी मत-भेदों विप्रतिपत्ति का निराकरण कर दिया गया। विषय-सम्बन्धी मतभेद का तो प्रत्यक्ष के परिच्छेद में निराकरण कर दिया गया था (ऊपर १.१६,१७)।

४. अविनाभावी सम्बन्ध अथवा हेतु (लिङ्ग) के तीन रूप

लक्षणेति—(अनुमान का) लक्षण बतलाने के प्रसङ्ग से त्रिरूप लिङ्ग कहा गया है; उसकी ही व्याख्या करते हुए कहते हैं—

लिङ्ग के तीन रूप तो ये हैं—(१) पक्ष में लिङ्ग का अवश्य होना (२) सपक्ष में ही होना तथा (३) विपक्ष में न होना ही निश्चित हो ॥५॥

'त्रैरूप्यम्' इत्यादि। लिङ्ग की जो त्रिरूपता है, अर्थात् जो उसके तीन रूप हैं, वे ये कहे जाते हैं—यह शेष है। वे तीन रूप कौन से हैं? 'यह बतलाते हैं—

अनुमेय वह है, जिसका लक्षण आगे कहा जा रहा है। उस (अनुमेय) में लिङ्ग का अवश्य होना निश्चित हो, यह (त्रिरूप लिङ्ग का) एक रूप है। यद्यपि यहां

किं पुनस्तत्[1] त्रैरूप्यम् इत्याह—अनुमेयं वक्ष्यमाणलक्षणम्, तस्मिन् लिङ्गस्य सत्त्वम् एव निश्चितम्—एकं रूपम्। यद्यपि चात्र निश्चितग्रहणं न कृतं तथापि अन्ते कृतं प्रक्रान्तयोर्द्वयोरपि रूपयोरपेक्षणीयम्। यतो न योग्यतया लिङ्गं परोक्षज्ञानस्य[2] निमित्तम्, यथा बीजम् अङ्कुरस्य; अदृष्टाद् धूमाद् अग्नेरप्रतिपत्तेः। नापि स्वविषयज्ञानापेक्षं[3]परोक्षार्थप्रकाशनम्, यथा प्रदीपो घटादेः; दृष्टाद् अप्यनिश्चितसम्बन्धाद् अप्रतिपत्तेः। तस्मात् [4]परोक्षार्थनान्तरीयकतया निश्चयनम् एव लिङ्गस्य परोक्षार्थप्रतिपादनव्यापारः। नापरः कश्चित्। अतोऽन्वयव्यतिरेकपक्षधर्मत्वनिश्चयो लिङ्गव्यापारात्मकत्वाद् अवश्यकर्तव्य इति सर्वेषु रूपेषु निश्चितग्रहणम् अपेक्षणीयम्।

(हेतु के इस रूप में) 'निश्चित' शब्द का ग्रहण नहीं किया गया तथापि जो (सूत्र ५ के) अन्त में (निश्चित शब्द का ग्रहण) किया गया है, उसका प्रारम्भ के (प्रक्रान्तयोः) दोनों रूपों में भी सम्बन्ध करना चाहिये (=अपेक्षणीयम्)। कारण यह है कि जिस प्रकार बीज अङ्कुर का निमित्त होता है उसी प्रकार कोई लिङ्ग योग्यता-मात्र से परोक्ष (वस्तु के) ज्ञान का निमित्त नहीं होता, क्योंकि बिना देखे धूम से अग्नि का ज्ञान नहीं हुआ करता (अप्रतिपत्तेः)। और, जिस प्रकार दीपक घट आदि का प्रकाशक होता है उसी प्रकार स्वविषयक ज्ञान हो जाने के आधार पर ही कोई लिङ्ग (धूम आदि) परोक्ष अर्थ (अग्नि आदि) का बोध नहीं कराता; क्योंकि जिस (लिङ्ग) का सम्बन्ध (अविनाभाव सम्बन्ध=प्रतिबन्ध=व्याप्ति) निश्चित नहीं कर लिया जाता उसको देखने से भी (परोक्ष अर्थ का) ज्ञान नहीं होता। इसलिये परोक्ष (अदृश्य) अर्थ के अविनाभावी रूप में निश्चित किया जाना ही लिङ्ग में परोक्ष अर्थ का बोध कराने वाला व्यापार है; अन्य कुछ नहीं। इस प्रकार अन्वय (=लिङ्ग का सपक्ष में ही होना) व्यतिरेक (=विपक्ष में न ही होना) तथा पक्षधर्मता (=पक्ष में अवश्य होना) का निश्चय ही लिङ्ग के व्यापार का स्वरूप है अतः वह (निश्चय) अवश्य किया जाना चाहिये। इसलिये लिङ्ग के तीनों रूपों में 'निश्चित' शब्द का सम्बन्ध करना आवश्यक है।

त्रैरूप्यम्—हेतु (लिङ्ग) के तीन रूप हैं—(क) लिङ्गस्य अनुमेये सत्त्वम् एव= लिङ्ग का पक्ष में अवश्य ही होना, (ख) सपक्षे एव सत्त्वम्=सपक्ष में ही होना, विपक्ष में नहीं, (ग) असपक्षे चासत्त्वम् एव=विपक्ष में कभी भी न होना। जैसे प्रसिद्ध अनुमान है—पर्वत में अग्नि है, धूम होने से, पाकशाला के समान। यहाँ धूम ही अग्नि का लिङ्ग (बोधक या गमक) है। वह पर्वत (पक्ष) में विद्यमान है, पाकशाला रूप सपक्ष में भी स्थित है; किन्तु सरोवर आदि जो विपक्ष हैं उनमें कभी नहीं देखा जाता, अतः इसमें हेतु के तीनों रूप विद्यमान हैं और यह सद् हेतु है। इन तीन रूपों में से

---

१. तत् नास्ति A. २. परोक्षं ज्ञानस्य C.
३. परोक्षप्रका० C. ४. ०क्षार्थना० E.

एक, दो या तीनों का ही अभाव होने पर हेत्वाभास हो जाते हैं जिनका आगे (३.५५ तथा आगे) विवेचन किया जायेगा।

यहाँ अग्नि साध्य है (सिद्ध करनी है) और धूम उसकी सिद्धि में साधन है अतः अग्नि और धूम को साध्य तथा साधन भी कहते हैं। क्योंकि "जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि होती है" इस प्रकार की व्याप्ति (=प्रतिबन्ध) है इसलिये धूम को व्याप्य कहा जाता है। इस प्रकार हेतु या लिङ्ग के अनेक नाम हैं—साधनं ज्ञापकं हेतुर्व्याप्यम् इति लिङ्गापरनामानि, मोक्षाकर गुप्त, तर्क०, पृ० १४।

बीजम् अङ्कुरस्य—बीज अपनी सामर्थ्य मात्र से अङ्कुर को उत्पन्न कर देता है। उसके इस सामर्थ्य का ज्ञात रूप में होना अपेक्षित नहीं है।

प्रदीपो घटादेः—लिङ्ग की दीपक से समानता नैयायिक ने मानी है (बु० लॉ २, पृ० ५२ टि० ३ के अन्त में)

नान्तरीयक०=अन्तरं=व्यवधानम्, न तथा नान्तरम्, नान्तरे भवः इति गहादित्वात् छः (नान्तरीयः) ततः स्वार्थिकः कन् (नान्तरीयकः)—धर्मो० प्र०, पृ० ६२। जो किसी के विना नहीं हो सकता (विना न भवति इति) वह नान्तरीयक या अविनाभावी कहलाता है। लिङ्ग या हेतु अपने साध्य का अविनाभावी हुआ करता है जैसे धूम (लिङ्ग) अपने साध्य अग्नि के विना हो ही नहीं सकता। अविनाभावी सम्बन्ध या 'प्रतिबन्ध' ही बौद्ध-न्याय की व्याप्ति का स्वरूप है। यह अविनाभावी सम्बन्ध कितने प्रकार का हो सकता है, इस का भी बौद्ध दर्शन ने परिगणन कर दिया है। क्योंकि लिङ्ग (साधन) साध्य का अविनाभावी होता है इसलिये तादात्म्य और तदुत्पत्ति के आधार पर ही कोई लिङ्ग निश्चित किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त किसी आधार पर साध्य-साधन-भाव या व्याप्ति नहीं बन सकती।

व्याप्ति के स्वरूप के विषय में नैयायिक आदि का मतभेद है। नैयायिक के मतानुसार व्याप्ति एक स्वाभाविक सम्बन्ध है। उसका निश्चय अव्यभिचरित साहचर्य से किया जाता है। जब कोई व्यक्ति बार २ धूम और अग्नि का साहचर्य देखता है और कहीं भी अग्नि के बिना धूम को नहीं देखता (अव्यभिचार) तो धूम और अग्नि का स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) है, ऐसा निश्चय कर लेता है (मि०, तर्कभाषा, पृ० ८, ९)। नैयायिक का कथन है कि लिङ्ग के अविनाभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह शङ्का भी सम्भव है कि अग्नि के विना ही धूम हो सकता है। इस शङ्कापिशाची के रहते 'तदुत्पत्ति' से लिङ्ग का निश्चय न हो सकेगा। इस प्रकार तादात्म्य और तदुत्पत्ति के आधार पर ही हेतु का निश्चय किया जाता है—बौद्धन्याय का यह परिगणन करना युक्तियुक्त नहीं। वस्तुतः किन्हीं भी दो वस्तुओं में जिनके अव्यभिचरित साहचर्य का ग्रहण होता है, अन्वय-व्यतिरेक से व्याप्ति या स्वाभाविक सम्बन्ध का ग्रहण हो सकता है। (मि०, बु० लॉ २, पृ० ५२ टि० ३; ·········; न्या० वा० ता०, पृ० १६५)। बौद्ध दर्शन में नैयायिक के इस मत का विस्तार से खण्डन किया गया हैं। (द्रष्टव्य, हेतु० वि ,पृ० ५४ तथा हेतुबिन्दुटीका, पृ० ४५-५०; प्र० वा०, ४.२०३)

तत्र सत्त्ववचनेनासिद्धं चाक्षुषत्वादि निरस्तम्[1]। एवकारेण पक्षैकदेशासिद्धो निरस्तः[2]। यथा चेतनास्तरवः स्वापाद् इति पक्षीकृतेषु तरुषु पत्रसंकोचलक्षणः स्वाप एकदेशे न सिद्धः। न हि सर्वे वृक्षा रात्रौ पत्रसंकोचभाजः, किन्तु केचिद् एव। सत्त्ववचनस्य पश्चात् कृतेनैवकारेणासाधारणो धर्मो निरस्तः। यदि हि 'अनुमेय एव सत्त्वम्' इति कुर्यात्[3] श्रावणत्वम् एव हेतुः स्यात्। निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धासिद्धः सर्वो निरस्तः।

निश्चयनम् एव—'लिङ्ग' के लिये हेतु शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। हेतु शब्द का अर्थ है—कारण। सामान्यतः कारण दो प्रकार का होता है—(i) कारक या उत्पादक; जैसे बीज अङ्कुर का (ii) ज्ञापक; जैसे दीपक अन्धकार में रक्खे घट आदि का। कोई लिङ्ग परोक्ष अर्थ का उत्पादक कारण नहीं हो सकता; क्योंकि वह बीज के समान अपनी सत्तामात्र से ही साध्य का बोध नहीं कराता; अपि तु ज्ञात होकर ही। उदाहरणार्थ जब तक धूम का दर्शन नहीं होता तब तक अग्नि का अनुमान नहीं हुआ करता। लिङ्ग परोक्ष अर्थ का ज्ञापक कारण भी नहीं है, क्योंकि जब तक अग्नि और धूम के नियत सम्बन्ध (अविनाभावी सम्बन्ध) का निश्चय नहीं होता तब तक देखे गये (ज्ञात) धूम से भी अग्नि का अनुमान नहीं किया जाता। वस्तुतः जिस लिङ्ग में किसी परोक्ष अर्थ के अविनाभाव का निश्चय किया जाता है, वही परोक्ष अर्थ का बोध कराता है। इस प्रकार लिङ्ग को परोक्ष अर्थ (साध्य) का निश्चायक (गमक) हेतु कहा जा सकता है। (मि०, बु० लॉ २, पृ० ५३ टि० १)

तत्रेति—(अनुमेये सत्त्वम् एव) यहाँ पर 'सत्त्व' शब्द (=वचन) के द्वारा असिद्ध (स्वरूपासिद्ध नामक हेत्वाभास), चाक्षुषत्व (=चक्षु-ग्राह्य होना) आदि का निराकरण हो गया। 'एव' शब्द के द्वारा पक्ष के एकदेश में न होने वाले (हेत्वाभास) का निराकरण हो गया। जैसे "वृक्ष चेतन हैं, क्योंकि वे सोते हैं"—यहाँ पक्ष रूप में रक्खे गये वृक्षों में से कुछ में (=एकदेशे) पत्र-संकोच रूप शयन (स्वाप) सिद्ध नहीं है। वस्तुतः सभी वृक्षों का रात्रि में पत्र-संकोचन (पत्ते-सिकुड़ना या मुरझाना) नहीं होता, अपि तु कुछ ही वृक्षों का होता है। 'एव' शब्द को 'सत्त्व' शब्द (=वचन) के पश्चात् रखने से असाधारण धर्म (हेत्वाभास) का निराकरण हो गया। यदि 'अनुमेये एव सत्त्वम्' (=पक्ष में ही होना) ऐसा कहते (अर्थात् 'एव' शब्द को सत्त्व शब्द से पहले रखते) तो (शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्-यहाँ) श्रावणत्व ही हेतु हो जाता। 'निश्चित' शब्द के ग्रहण से सब प्रकार के सन्दिग्धासिद्ध (हेत्वाभास) का निराकरण हो गया।

चाक्षुषत्वादि—(i) श्चेरबात्स्की ने यहाँ 'चाक्षुषत्वाद् इत्यादि' पाठ को शुद्ध माना है किन्तु यथाश्रुत पाठ में भी कोई कठिनाई नहीं है। भाव यह है कि 'शब्दो-

---

१. निषिद्धम् B.D.
२. निरस्तः' नास्ति A.N P., ०सिद्धो निरस्तो हेतुः यथा B.D.E.H.
३. ब्रूयात् B.D.

ऽनित्यः चाक्षुषत्वात्'—शब्द अनित्य है; क्योंकि वह चाक्षुष है अर्थात् उसका नेत्र द्वारा ग्रहण होता है। इस प्रयोग में 'चाक्षुषत्व' हेतु स्वरूपासिद्ध है, वस्तुतः शब्द का चक्षु द्वारा ग्रहण ही नहीं होता। 'आदि' शब्द के द्वारा व्यधिकरणासिद्ध, विशेषणासिद्ध तथा विशेष्यासिद्ध इत्यादि का संग्रह समझना चाहिये। (धर्मो० प्र०, पृ० ६२)

निरस्तम्=हटा दिया गया, व्यावृत्त कर दिया गया अर्थात् उसमें हेतु (लिङ्ग) का लक्षण नहीं जायेगा, अतः वह असद् हेतु=हेत्वाभास है। कैसे ? 'सत्त्व' शब्द द्वारा लिङ्ग का पक्ष में होना (=पक्षसत्त्व) कहा गया है। यहाँ शब्द ही पक्ष है। और 'चाक्षुषत्व' हेतु दिया गया है, किन्तु शब्द में चाक्षुषत्व (नेत्रग्राह्यता) नहीं रहता, असिद्ध है। इस प्रकार इसमें लिङ्ग का एक रूप नहीं है। अतः यह लिङ्ग या सद्हेतु नहीं।

चेतनास्तरवः०—यह अनुमान का प्रयोग जैन-मत के अनुसार प्रस्तुत किया गया है। जैन-मत में वृक्षों में चेतना मानी गई है। बौद्धन्याय के अनुसार यह पक्ष के एकदेश में असिद्ध हेतु (=हेत्वाभास) है, क्योंकि यहाँ जो (स्वाप, शयन) है वह सभी वृक्षों (पक्ष) में नहीं रहता। केवल कुछ वृक्ष ही ऐसे हैं→जिनमें पत्र संकोचन-रूप शयन रात्रि के समय देखा जाता है। अतः यह पक्ष (वृक्षों) के एकदेश में असिद्ध है। 'सत्त्वमेव' में 'एव' शब्द द्वारा लिङ्ग का पक्ष में अवश्य होना, अर्थात् पक्ष में सर्वत्र होना कहा गया है। यहाँ पक्ष के एकदेश में हेतु असिद्ध है, अतः यहाँ स्वाप सद् हेतु (लिङ्ग) नहीं।

पश्चात् कृतेन एवकारेण०—एव शब्द का अर्थ है—अवधारण, निश्चय करना, बल देना(देखिये, ऊपर १.१ अयमेवोपायो नान्यः,टि०)। वाक्य में जिस शब्द के पश्चात् 'एव' शब्द का प्रयोग किया जाता है उसी के अर्थ पर बल दिया जाता है; जैसे "लिङ्गस्य अनुमेये सत्त्वम् एव'—यहां 'एव' शब्द 'सत्त्वम्' के पश्चात् है अतः इसका अर्थ है—लिङ्ग का अनुमेय में अवश्य ही होना (=होना ही); अर्थात् उसका अभाव न होना (अयोग-व्यवच्छेद)। यदि यहाँ 'अनुमेये एव सत्त्वम्' यह पाठ होता तो उसका अर्थ होता—अनुमेय में ही होना, अन्यत्र नहीं (अन्ययोग-व्यवच्छेद)। उस दशा में 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्'—शब्द नित्य है श्रोत्रग्राह्य होने से; यहाँ भी लिङ्ग का लक्षण घटित हो जाता। किन्तु इसमें लिङ्ग या हेतु का लक्षण जाना अभीष्ट नहीं। यह तो असद् हेतु है, सपक्ष और विपक्ष किसी में भी न रहने वाला असाधारण हेत्वाभास है। इसी लिये 'एव' शब्द का प्रयोग 'सत्त्वम्' शब्द के पश्चात् किया गया है।

सन्दिग्धासिद्ध—यह भी असिद्ध हेत्वाभास का भेद है जो कई प्रकार का होता है, (द्रष्टव्य, परि० ३.६१-६३)। लिङ्ग के इस लक्षण में 'निश्चित' शब्द का ग्रहण किया गया है अतः जहां पक्ष में हेतु के स्वरूप आदि के विषय में सन्देह होने के कारण सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास होता है वहाँ हेतु का लक्षण नहीं जायेगा, क्योंकि वहाँ सन्देह है, निश्चय नहीं।

सपक्षो वक्ष्यमाणलक्षणः। तस्मिन् एव सत्त्वं निश्चितम् इति द्वितीयं रूपम्। इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्तः। स हि नास्ति सपक्षे। एवकारेण साधारणानैकान्तिकः[1]। स हि न सपक्ष एव वर्तते किन्तूभयत्रापि। सत्त्वग्रहणात् पूर्वावधारणवचनेन [2]सपक्षाव्यापिसत्ताकस्यापि प्रयत्नानन्तरीयकस्य हेतुत्वं कथितम्। पश्चाद् अवधारणे [3]त्वयम् अर्थः स्यात्—सपक्षे सत्त्वम् एव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं न हेतुः स्यात्। [4]निश्चितवचनेन सन्दिग्धान्वयोऽनैकान्तिको निरस्तः। यथा सर्वज्ञः कश्चिद् वक्तृत्वात्। वक्तृत्वं हि सपक्षे सर्वज्ञे सन्दिग्धम्।

सपक्ष इति—सपक्ष वह है जिसका लक्षण आगे कहा जायेगा। उस (सपक्ष) में ही होना निश्चित हो—यह (त्रिरूप लिङ्ग का) द्वितीय रूप है। यहाँ भी 'सत्त्व' शब्द के ग्रहण से विरुद्ध (नामक हेत्वाभास) का निराकरण हो जाता है, क्योंकि वह सपक्ष में नहीं होता। 'एव' शब्द के द्वारा साधारणानैकान्तिक (हेत्वाभास) का निराकरण हो जाता है, क्योंकि वह केवल सपक्ष में ही नहीं रहता अपि तु सपक्ष और विपक्ष दोनों में (उभयत्र) ही रहता है। 'सत्त्व' शब्द से पूर्व अवधारणवाची ('एव') शब्द रखने से जो सभी सपक्षों में (व्यापक रूप से) नहीं रहता (सपक्षाव्यापिनी सत्ता यस्य) ऐसे प्रयत्नानन्तरीयक (प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होना) को भी हेतु बतला दिया गया। यदि 'सत्त्व' शब्द के पश्चात् अवधारणार्थक 'एव' शब्द रखते तो यह अर्थ होता—जिसकी सपक्ष में सर्वत्र सत्ता है (असत्ता नहीं) वह हेतु है। इस प्रकार प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु न होता (क्योंकि वह सभी सपक्षों में नहीं रहता)। 'निश्चित' शब्द के ग्रहण से उस अनैकान्तिक (हेत्वाभास) का निराकरण हो गया, जिसका सपक्ष में होना (अन्वय) सन्दिग्ध होता है। जैसे-अमुक व्यक्ति (कश्चित्) सर्वज्ञ है; क्योंकि वह वक्ता है। वस्तुतः (हि) यहाँ (अन्य) सर्वज्ञ सपक्ष है, उसमें वक्तृत्व (=वक्ता होना) सन्दिग्ध है (निश्चित नहीं)।

सपक्षः—साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः। (आगे २.७)

विरुद्धो निरस्तः—विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण आगे (३-८१) दिखलाया जायेगा जैसे—'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्'—शब्द नित्य है कार्य होने से। यहाँ सपक्ष हैं—आकाश आदि नित्य पदार्थ; किन्तु उनमें कृतकत्व (कार्यत्व) हेतु नहीं रहता। अतः यह सद् हेतु नहीं, हेत्वाभास है; क्योंकि लिङ्ग के द्वितीय रूप में 'सत्त्व' शब्द के ग्रहण से विदित होता है कि सद् हेतु (लिङ्ग) सपक्ष में रहता है।

एवकारेण०—सपक्षे एव सत्त्वम्—यहाँ 'एव' शब्द के ग्रहण से यह अर्थ निकलता है—'सपक्ष में ही होना विपक्ष में नहीं'। इसलिये 'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्' शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय (प्रमा का विषय) है—इस साधारणानैकान्तिक हेत्वाभास में लिङ्ग का लक्षण नहीं जाता; क्योंकि वह केवल सपक्ष (घट आदि) में ही नहीं रहता, अपि तु विपक्ष (आकाश आदि) में भी प्रमेयत्व रहता है। वे नित्य हैं,

---

१. अत्र B. H.N. 'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्' इत्यधिकः पाठः।
२. सपक्षव्या० B.H. ३. ह्ययम् A.C. ४. निश्चयवच० A.

असपक्षो वक्ष्यमाणलक्षणः। तस्मिन् असत्त्वम् एव निश्चितम्—तृतीयं रूपम्। तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः[1]। विरुद्धो हि विपक्षेऽस्ति। एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरासः[2]। प्रयत्नानन्तरीयकत्वे साध्ये ह्यनित्यत्वं विपक्षैकदेशे विद्युदादौ अस्ति। आकाशादौ नास्ति। ततो [3]नियमे-

---

अतः विपक्ष हैं, साथ ही प्रमा के विषय (प्रमेय) भी हैं ही। अनैकान्तिक हेत्वाभास (आगे परि० ३.६६–६७)।

पूर्वावधारणवचनेन०—यदि यहाँ 'एव' शब्द 'सत्त्व' शब्द के पश्चात् रक्खा जाता (सपक्षे सत्त्वम् एव) तो इसका अर्थ होता सपक्ष में अवश्य (सर्वत्र) होना तब 'शब्दोऽनित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' यहाँ पर प्रयत्नानन्तरीयकत्व (=प्रयत्न के अनन्तर उत्पत्ति) सद् हेतु न होता; क्योंकि अनित्य शब्द के सपक्ष हैं—मेघ-विद्युत् इत्यादि; किन्तु वे प्रयत्न (=पुरुष-व्यापार) से उत्पन्न नहीं होते। इसलिये यहाँ 'एव' शब्द 'सत्त्व' शब्द से पूर्व रक्खा गया है। वस्तुतः यदि यहाँ 'एव' शब्द सत्त्व शब्द के पश्चात् रक्खा जाता तो 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' यहाँ धूम भी सद् हेतु न होता क्योंकि वह भी सपक्ष के एक देश (तपे हुए लोहे के गोले) में नहीं रहता। (मि० धर्मो० प्र०, पृ० ६४)

सन्दिग्धाऽन्वयोऽनैकान्तिकः—सन्दिग्धः अन्वयः (सपक्षे एव सत्त्वम्) यस्य सः सन्दिग्धान्वयः; जिस हेतु का सपक्ष में होना सन्दिग्ध होता है वह सन्दिग्धान्वय—अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है—(द्रष्टव्य, आगे ३९४–९६)। जैसे अमुक व्यक्ति सर्वज्ञ है, क्योंकि वह वक्ता (उपदेष्टा) है (सर्वज्ञः कश्चिद् वक्तृत्वात्)—यहाँ अन्य सर्वज्ञ ही सपक्ष हैं। किन्तु सर्वज्ञता तो अतीन्द्रिय है, कोई सर्वज्ञ है या नहीं, यह सन्दिग्ध ही है। इसलिये कोई वक्ता होने के कारण सर्वज्ञ है, यह सद् हेतु नहीं अपितु सन्दिग्ध-अनैकान्तिक है। लिङ्ग के द्वितीय रूप में 'निश्चित' शब्द का समन्वय करने से इसमें लिङ्ग का लक्षण नहीं जाता।

असपक्ष इति—असपक्ष वह है जिसका लक्षण आगे कहा जायेगा। उसमें (कभी) न होना ही निश्चित हो-यह (त्रिरूप लिङ्ग का) तृतीय रूप है। इसमें 'असत्त्व' शब्द के ग्रहण से विरुद्ध (हेत्वाभास) का निराकरण हो जाता है; क्योंकि विरुद्ध विपक्ष में होता है। 'एव' शब्द के द्वारा विपक्ष के एकदेश में रहने वाले साधारण (हेत्वाभास) का निराकरण हो गया। जैसे—(शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकः अनित्यत्वात्—में) प्रयत्नानन्तरीयकत्व (प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होना) को सिद्ध करने के लिये जो अनित्यत्व हेतु दिया जाता है वह विपक्ष (प्रयत्न से न उत्पन्न होने वाले) के एकदेश विद्युत् आदि में है किन्तु आकाश आदि मे नहीं है। इसलिये नियम (अवधारण='एव') से

---

१. 'नित्यः शब्दः कृतकत्वात् खवत्' इत्यधिकः B.N.,
२. नित्यः शब्दः कृतकत्वात् खवत्, इत्यधिकः H.
३. नियमतोऽस्य C.

नास्य निरासः । [1]असत्त्वशब्दाद् हि पूर्वस्मिन् अवधारणेऽयम् अर्थः स्यात्—विपक्ष एव यो नास्ति स हेतुः । तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सपक्षेऽपि [2]सर्वत्र नास्ति । ततो न हेतुः स्यात् । ततः पूर्वं न कृतम् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्ध-विपक्षव्यावृत्तिकोऽनैकान्तिको निरस्तः ।

ननु च सपक्ष एव सत्त्वम् इत्युक्ते विपक्षेऽसत्त्वम् एवेति गम्यत एव । तत् किमर्थं [3]पुनरुभयोरुपादानं कृतम् ? [4]उच्यते । अन्वयो व्यतिरेको वा

इस में हेतु का लक्षण नहीं जाता । यदि 'असत्त्व' शब्द से पूर्व अवधारणार्थक 'एव' शब्द रक्खा जाता तो यह अर्थ होता—"विपक्ष में ही जो नहीं रहता वह हेतु है" । इस प्रकार क्योंकि (शब्दोऽनित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्—में) प्रयत्नानन्तरीयकत्व सपक्ष में भी सर्वत्र नहीं है, अतः वह हेतु न हुआ करता (उसमें हेतु का लक्षण न जाता) । इसी लिये ('एव' शब्द को 'असत्त्व' शब्द से) पहले नहीं रक्खा गया है । 'निश्चित' शब्द के ग्रहण से ऐसे अनैकान्तिक (हेत्वाभास) में हेतु का लक्षण नहीं जाता, जिसका विपक्ष में न होना (व्यावृत्ति) सन्दिग्ध है ।

असपक्षः—न सपक्षोऽसपक्षः (आगे २.८) ।

विरुद्धस्य निरासः—देखिये, ऊपर विरुद्धो निरस्तः, टि० ।

एवकारेण०—असपक्षे चासत्त्वम् एव—यहाँ 'एव' शब्द के द्वारा यह अर्थ प्रकट होता है कि सद् हेतु विपक्ष में कहीं भी नहीं रहता । इसका फल यह है कि "शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकः अनित्यत्वात्" (शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होता है, क्योंकि वह अनित्य है)—यहाँ 'अनित्यत्व' में हेतु का लक्षण नहीं जाता, क्योंकि अनित्यत्व विपक्ष (प्रयत्न से उत्पन्न न होने वाले) के एकदेश विद्युत् आदि में भी रहता है ।

नियमेन=अवधारण से, 'एव' शब्द के द्वारा (धर्मो० प्र०, पृ० ९४-९५) ।

पूर्वस्मिन् अवधारणे—यदि 'असपक्षे चैव असत्त्वम्' इस प्रकार रखते तो प्रयत्नानन्तरीयकत्व, जो सद् हेतु है, उसमें हेतु का लक्षण नहीं जायेगा, क्योंकि इस हेतु का केवल विपक्षों (नित्यों) में ही अभाव नहीं है, अपि तु सपक्ष (अनित्य) जो विद्युत् आदि हैं उनमें भी यह हेतु नहीं रहता; अर्थात् विद्युत् अनित्य है किन्तु पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होती ।

सन्दिग्ध विपक्ष०—सन्दिग्धा विपक्षव्यावृत्तिः यस्य सः, जिस हेतु के विषय में यह सन्देह है कि वह विपक्ष में है या नहीं । जैसे 'अयम् असर्वज्ञः वक्तृत्वात्—'यह सर्वज्ञ नहीं, क्योंकि वक्ता है'—यहाँ सर्वज्ञ विपक्ष है उसमें वक्तृत्व होता है या नहीं, यह सन्दिग्ध है । (द्रष्ट०, आगे ३.६९)

ननु चेति—(प्रश्न) 'सपक्ष में ही होना'—यह कहने पर 'विपक्ष में कहीं न होना'—यह अर्थ भी प्रतीत हो ही जाता है, फिर दोनों का ग्रहण क्यों किया गया

---

१. असत्त्ववचनात् पूर्वं० A.E.H.N.P., ०शब्दात् पूर्वं० B.C.D.

२. सर्वत्र, नास्ति B.E.

३. 'पुनः—' नास्ति C. D.　　　　४. तदुच्यते A.E.H.P.

नियमवान् एव प्रयोक्तव्यो नान्यथेति दर्शयितुं 'द्वयोरप्युपादानं कृतम्। अनियते[2] हि द्वयोरपि प्रयोगेऽयम् अर्थः स्यात्—सपक्षे योऽस्ति विपक्षे च यो[3] नास्ति स हेतुरिति। तथा च सति स श्यामः [4]तत्पुत्रत्वात् दृश्यमानपुत्रवद् इति तत्पुत्रत्वं हेतुः स्यात्। तस्मान्नियमवतोरेवान्वय-व्यतिरेकयोः प्रयोगः कर्त्तव्यो येन प्रतिबन्धो गम्येत साधनस्य साध्येन। नियमवतोश्च प्रयोगेऽवश्यकर्त्तव्ये द्वयोरेक एव प्रयोक्तव्यो[5] न द्वाविति नियमवान् एवान्वयो व्यतिरेको वा प्रयोक्तव्य इति शिक्षणार्थं द्वयोरुपादानम् इति ॥५॥

है ? (उत्तर) बतलाते हैं—अन्वय या व्यतिरेक का अवधारण-सहित (नियमवान्) ही प्रयोग करना चाहिये, उसके विना नहीं, इस (ज्ञापन) को प्रकट करने के लिये दोनों का ग्रहण किया गया है। (इस ज्ञापन का प्रकृत में फल यह है) दोनों का अवधारण-रहित (एव के विना) प्रयोग करने पर यह अर्थ हुआ करता—जो सपक्ष में है और विपक्ष में नहीं है, वह हेतु है। यह अर्थ होने पर "अमुक व्यक्ति श्याम है, उसका पुत्र होने के कारण, देखे गये अन्य पुत्रों के समान"—यहाँ 'तत्पुत्रत्व' (उसका पुत्र होना) भी हेतु हो जाता। इसलिये अवधारण-सहित अन्वय और व्यतिरेक का ही प्रयोग करना चाहिये, जिससे कि साधन का साध्य के साथ अविनाभाव-सम्बन्ध (प्रतिबन्ध = व्याप्ति) जाना जा सके। अवधारण-सहित प्रयोग किया जाना आवश्यक होने पर तो दोनों में से एक का ही प्रयोग करना (पर्याप्त) था, दोनों का नहीं। इसलिये अन्वय या व्यतिरेक का नियम (अवधारण) सहित ही प्रयोग करना चाहिये, यह ज्ञापन (सूचित) करने के लिये दोनों का ग्रहण किया गया है ॥५॥

अन्वयो व्यतिरेको वा—साध्य के होने पर ही साधन का होना (सपक्षे एव सत्त्वम्) अन्वय कहलाता है और साध्य के न होने पर साधन का नहीं होना (असपक्षे असत्त्वम् एव) व्यतिरेक कहलाता है। (मि० धर्मो० प्र०, पृ० ६६)

सः श्यामः०—सः श्यामः—अमुक व्यक्ति श्यामल है। (प्रतिज्ञा)

तत्पुत्रत्वात्—क्योंकि वह उस (मैत्री आदि) का पुत्र है। (हेतु)

दृश्यमानपुत्रवत्—देखे हुए अन्य (श्यामल) पुत्रों के समान (दृष्टान्त)

यहाँ 'तत् पुत्रत्वात्' (उसका पुत्र होने से) यह दोषयुक्त हेतु (हेत्वाभास) है; क्योंकि उसका पुत्र होना श्यामता का हेतु नहीं है, अपि तु शाकपाकजन्यत्व = शाक के परिपाक से उत्पन्न होना ही श्यामता का हेतु है। यह माना जाता है कि जो गर्भिणी स्त्री हरे शाक अधिक खाती है उसकी सन्तान साँवली होती है।

इति शिक्षणार्थं द्वयोरुपादानम्—जो तथ्य या नियम साक्षात् शब्दों द्वारा न बतलाकर किसी प्रकार से सूचित कर दिया जाता है वह सूचित, ज्ञापित या ज्ञापनसिद्ध

---

१. द्वयोरुपादानं B.C.D.　　२. अनियमे हि A.E.H.N.P.

३. यो' नास्ति A.B.D.E.H.N.P.　　४. श्यामः त्वत्पुत्र० C.

५. कर्तव्यो न A.

त्रैरूप्यकथनप्रसङ्गेनानुमेयः सपक्षो विपक्षश्चोक्तः । तेषां लक्षणं वक्तव्यम् । तत्र कोऽनुमेय इत्याह—

अनुमेयोऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मी ॥६॥

अनुमेयोऽत्रेत्यादि । अत्र हेतुलक्षणे निश्चेतव्ये धर्मी अनुमेयः । अन्यत्र तु 'साध्यप्रतिपत्तिकाले समुदायोऽनुमेयः । व्याप्तिनिश्चयकाले तु धर्मोऽनुमेय इति दर्शयितुम् 'अत्र'-ग्रहणम् । जिज्ञासितो ज्ञातुम् इष्टो विशेषो धर्मो यस्य धर्मिणः स तथोक्तः । ६॥

कहलाता है। पाणिनि-व्याकरण में ऐसे अनेक ज्ञापन दृष्टिगोचर होते हैं । प्रस्तुत सन्दर्भ में लिङ्ग का जो द्वितीय रूप है—'सपक्षे एव सत्त्वम्' (=सपक्ष में ही होना) उससे यह ज्ञात हो जाता है कि विपक्ष में न होना (असपक्षे असत्त्वम्) । फिर 'असपक्षे चाऽसत्त्वम् एव'—इस लिङ्ग के तृतीय रूप का कथन व्यर्थ ही है । यह व्यर्थ होकर सूचित करता है कि "अन्वय तथा व्यतिरेक का नियम (अवधारण) सहित ही प्रयोग करना चाहिये' । भाव यह है कि यहाँ सपक्ष में होना तथा विपक्ष में न होना—ये दोनों अन्वय-व्यतिरेक दिखलाने हैं किन्तु यदि 'सपक्षे सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वम् ।' ऐसा ही कहते, यहाँ 'एव' शब्द से नियम या अवधारण न करते तो 'स श्यामः तत्पुत्र-त्वात्' इत्यादि में भी हेतु का लक्षण चला जाता; क्योंकि वहाँ सपक्ष हैं—उसके अन्य पुत्र; उनमें 'तत्पुत्रत्व' हेतु रहता है, विपक्ष हैं—अन्य नारी के पुत्र; उनमें 'तत्पुत्रत्व' हेतु नहीं रहता । इस दोष को दूर करने के लिये दोनों रूपों में एव का प्रयोग करना आवश्यक है। अतः सर्वत्र अन्वय या व्यतिरेक का नियम सहित ही प्रयोग करना चाहिये, यह सिद्ध होता है ।

५. पक्ष, सपक्ष और विपक्ष का स्वरूप

त्रैरूप्येति—(लिङ्ग के) तीन रूप बतलाने के प्रसङ्ग से अनुमेय, सपक्ष और विपक्ष कहे गये हैं, उनका लक्षण बतलाना है अतः उनमें से अनुमेय क्या है ? यह बतलाते हैं—

यहाँ (हेतु के लक्षण में) वह धर्मी अनुमेय है, जिसका विशेष (=धर्म) जानना इष्ट है ॥६॥

यहाँ अर्थात् हेतु के लक्षण का निश्चय करने में धर्मी (=पक्ष) अनुमेय है । अन्य स्थल पर; अर्थात् साध्य का ज्ञान करने के समय तो समुदाय (धर्म तथा धर्मी का समुदाय, साध्यविशिष्ट पक्ष, जैसे अग्नि-विशिष्ट पर्वत) अनुमेय है । व्याप्ति का निश्चय करते समय तो धर्म (साध्यधर्म, अग्नि आदि) अनुमेय होता है । यही दिखलाने के लिये (सूत्र में) 'अत्र' (यहाँ) शब्द का ग्रहण किया गया है । जिज्ञासित अर्थात् जानना इष्ट है विशेष (=धर्म) जिसका वह धर्मी ऐसा (जिज्ञासितविशेषः) कहा गया है ॥६॥

---

१. सांध्ये प्रति०—C.

कः सपक्षः ?

साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः ।।७।।

समानोऽर्थः सपक्षः। समानः सदृशो[1] योऽर्थः पक्षेण स[2] पक्ष उक्त उपचारात् । समानशब्देन विशेष्यते, समानः पक्षः सपक्षः, समानस्य च सशब्दादेशः[3] ।

अनुमेय—'अनुमेय' शब्द का अर्थ है—जिसका अनुमान किया जाता है (अनुमीयते यत् तत्)। दिङ्नाग-सम्प्रदाय में मुख्य रूप से धर्मधर्मिसमुदाय (अग्नि-विशिष्ट पर्वत आदि) को ही अनुमेय माना जाता है (मि० धर्मो० प्र०, पृ० ६७.८)। यद्यपि दिङ्नाग-सम्प्रदाय के अनुसार स्वलक्षण ही परमार्थसत् वस्तु है, न तो उसमें कोई धर्म रहता है और न ही वह किसी (धर्मी) का धर्म है; इसलिये वस्तुतः धर्म-धर्मिभाव नहीं हो सकता, तथापि कल्पित रूप में धर्मधर्मिभाव माना ही जाता है; मि०, सर्वोऽयमनुमानानुमेयभावो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न बहिः सदसत्त्वम् अपेक्षते, न्या० वा० ता०, पृ० १८६।

औपचारिक रूप से अनुमेय शब्द का अन्य कई अर्थों में भी प्रयोग किया गया है। फलतः विषय भेद से अनुमेय शब्द के तीन अर्थ यहाँ दिखलाये गये हैं। यथा—

(i) धर्मी अनुमेयः—'लिङ्गस्य अनुमेये सत्त्वम् एव'—हेतु के इस लक्षण में 'अनुमेय' शब्द का अर्थ है—धर्मी, जिसमें अग्नि आदि (धर्म) सिद्ध करना है, वह पर्वत आदि=पक्ष।

(ii) समुदायोऽनुमेयः—जहाँ साध्य का होना सिद्ध किया जाता है वहाँ 'अनुमेय' होता है—समुदाय=धर्म-धर्मी का समुदाय (=साध्यविशिष्ट पक्ष)। जैसे पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्, यहाँ अग्नि साध्य है तथा पर्वत पक्ष है। दिङ्नाग के अनुसार यहाँ अग्निविशिष्ट पर्वत का अनुमान होता है। यद्यपि पर्वत का प्रत्यक्ष से बोध हो जाता है तथापि अग्नि-विशिष्ट पर्वत ही अनुमेय है। (द्रष्टव्य, न्या० वा० ता०, पृ० १७६-१८०)।

(iii) धर्मोऽनुमेयः— जिस समय कोई व्यक्ति-व्याप्ति का निश्चय करता है उस समय वह समझता है कि धूम आदि लिङ्ग अग्नि का अविनाभावी है अतः धूम द्वारा अग्नि का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार व्याप्ति निश्चय के समय साध्य धर्म (अग्नि आदि) ही अनुमेय होता है।

कः सपक्षः इति—सपक्ष क्या है ?

साध्यधर्म नामक सामान्य के द्वारा पक्ष के समान होने वाला पदार्थ सपक्ष (कहलाता) है ।।७।।

समान अर्थ सपक्ष है। जो पदार्थ पक्ष के समान है उसे भी उपचार से (गौण रूप से) पक्ष कहा गया है। समान शब्द उस (पक्ष) का विशेषण किया गया है, इस प्रकार समान पक्ष=सपक्ष। यहाँ समान शब्द को 'स' आदेश हुआ है (अर्थात् समान शब्द के स्थान पर 'स' शब्द आ जाता है)

---

१. सदृशोऽर्थो यः पक्षेण C. २. स सपक्ष B.C.D.E.H.N.P.
३. सशब्द आदेशः E.

स्याद् एतत् किं तत् पक्षसपक्षयोः [1]सामान्यं येन समानः सपक्षः पक्षेणे-त्याह–साध्यधर्मसामान्येनेति । साध्यश्चासौ असिद्धत्वात्, धर्मश्च पराश्रितत्वात् साध्यधर्मः । न च विशेषः साध्यः, अपि तु सामान्यम् । अत इह सामान्यं साध्यम् उक्तम् । साध्यधर्मश्चासौ सामान्यं चेति साध्यधर्मसामान्येन समानः पक्षेण सपक्ष इत्यर्थः ।।७।।

(शङ्का) ऐसा हो सकता है (अच्छा !), किन्तु पक्ष और सपक्ष की क्या समानता है जिसके कारण सपक्ष भी पक्ष के समान है ? (समाधान) इस पर कहते हैं—साध्य-धर्म जो सामान्य है उसके द्वारा दोनों (पक्ष और सपक्ष) समान हैं । जो असिद्ध होने से साध्य है और पराश्रित होने से धर्म है (वह साध्यधर्म कहलाता है)। क्योंकि (वस्तु का) विशेषरूप (स्वलक्षण) साध्य नहीं होता, अपि तु उसका सामान्यरूप ही साध्य होता है, इसलिये यहाँ सामान्य को साध्य कहा गया है । साध्यधर्म है जो सामान्य वह साध्यधर्मसामान्य है; उसके द्वारा जो पक्ष के सदृश है वह सपक्ष है—यह भाव है ।।७।।

साध्यधर्मसामान्येन—पर्वत आदि पक्ष में अग्नि सामान्य ही साध्य धर्म होता है । इसी प्रकार महानस (पाकशाला) आदि सपक्ष में भी अग्नि-सामान्य के साथ हेतु (धूम) की व्याप्ति का ग्रहण होता है । अतः साध्य-धर्म जो अग्नि-सामान्य है उसके द्वारा सपक्ष में पक्ष की समानता होती है ।

अर्थः—यहाँ प्रतीयमान वस्तु को ही अर्थ कहा गया है, अर्थक्रियासमर्थ परमार्थसत् वस्तु को नहीं; क्योंकि गगनारविन्द इत्यादि भी सपक्ष हो सकते हैं । (धर्मो० प्र०, पृ० ९७)।

न च विशेषः साध्यः—श्चेरवात्स्की का कथन है—'विशेषः' यहाँ उसे कहा गया है जिसे हम धर्मी कह सकते हैं...... । 'अनुमेयोऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मी (२.६) में विशेष=धर्म । (बु० लॉ० २, पृ० ५९, टि० २) ।

वस्तुतः इस स्थल के पूर्वापर अनुशीलन से यह प्रतीत होता है कि यहाँ विशेष का अर्थ स्वलक्षण (वस्तु का परमार्थसत् रूप) है और सामान्य का अर्थ है—सामान्य-लक्षण (वस्तु का सामान्य रूप) । दिङ्नाग सम्प्रदाय के अनुसार स्वलक्षण (=विशेष) साध्य नहीं होता अपि तु सामान्यलक्षण ही साध्य होता है । ऊपर (१.१७) भी अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण बतलाया गया है । (मि०, तस्मादतोऽविषयं लिङ्ग-मिति प्रकीर्त्तितम् । प्र० वा०, ३.४६ तथा ३.८७ । इसी प्रकार 'न च स्वलक्षणमनुमान-स्यापि गोचरः । न्या० वा० ता०, पृ० १८) ।

---

१. साम्यं B.

कोऽसपक्ष इत्याह—

न सपक्षोऽसपक्षः ॥८॥

न सपक्षोऽसपक्षः । सपक्षो यो न भवति सोऽसपक्षः ॥८॥

कश्च सपक्षो न भवति ?

ततोऽन्यस्तद्विरुद्धस्तदभावश्चेति ॥९॥

ततः सपक्षाद् अन्यः । तेन च[1] विरुद्धः । तस्य च सपक्षस्याभावः । सपक्षाद् अन्यत्वं तद्विरुद्धत्वं च न तावत् प्रत्येतुं शक्यं यावत् सपक्षस्वभावाभावो न विज्ञातः । तस्माद् अन्यत्वविरुद्धत्वप्रतीतिसामर्थ्यात् सपक्षाभावरूपौ प्रतीतावन्यविरुद्धौ । ततोऽभावः साक्षात सपक्षाभावरूपः प्रतीयते । अन्यविरुद्धौ तु सामर्थ्याद् अभावरूपौ प्रतीयेते । ततस्त्रयाणाम् अप्यसपक्षत्वम् ॥९॥

कोऽसपक्ष इति—असपक्ष क्या है ? यह बतलाते हैं—

जो सपक्ष नहीं, वह असपक्ष है ॥८॥

न सपक्षः=असपक्ष, जो सपक्ष नहीं होता वह असपक्ष (विपक्ष) कहलाता है । **सपक्षो यो न भवति**—सपक्ष उसे कहते हैं जिसमें साध्य धर्म (अग्नि आदि) विद्यमान होता है (साध्यधर्मवान् सपक्षः) । जिसमें साध्य धर्म नहीं होता वह असपक्ष कहलाता है । 'असपक्ष' शब्द में 'न' शब्द (सपक्षो न भवति) का क्रिया से अन्वय होता है अतः यहाँ 'नञ्' प्रसज्यप्रतिषेध अर्थ में है । यहाँ 'असूर्यम्पश्यानि मुखानि' इत्यादि प्रयोगों के समान नञ समास हो जाता है । (धर्मो० प्र०, पृ० ६८)

कश्चेति—सपक्ष कौन नहीं होता ?

उस (सपक्ष) से भिन्न, उससे विरुद्ध तथा उसका अभाव (सपक्ष नहीं होता) ॥९॥

(i) उससे (=ततः) अर्थात् सपक्ष से अन्य (ii) उससे विरुद्ध और (iii) उस सपक्ष का अभाव (सपक्ष नहीं होता) । (i) सपक्ष से अन्य होना और (ii) सपक्ष से विरुद्ध होना (दोनों को) तब तक नहीं जाना जा सकता; जब तक (उनमें) (iii) सपक्ष के स्वभाव का अभाव न जान लिया जाये । इसलिये अन्यता और विरुद्धता की प्रतीति कराने के कारण अन्य और विरुद्ध (ये दोनों) अर्थतः (=सामर्थ्यात्) सपक्ष के अभाव रूप में प्रतीत होते हैं । इस प्रकार उसका (iii) अभाव तो साक्षात रूप से सपक्ष के अभाव रूप में प्रतीत होता है और (i) अन्य तथा (ii) विरुद्ध अर्थतः (Indirectl.) सपक्ष के अभाव रूप में प्रतीत होते हैं । अतः तीनों का ही असपक्ष होना बन जाता है ॥९॥

स्वभावाभावः—आगे (३.७२–७५) वस्तुओं का दो प्रकार का विरोध बतलाया जायेगा—सहानवस्थानलक्षण और परस्परपरिहारलक्षण । श्चेरबात्स्की का कथन है कि यहाँ 'स्वभावाभाव' शब्द के द्वारा द्वितीय विरोध की ओर सङ्केत किया गया है अतः यहाँ जो विरुद्ध शब्द है वह सहानवस्थान रूप विरोध को ही कहता है (बु० लॉ २, पृ० ५९ टि० ३) ।

---

१. च' नास्ति B.

त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि ॥१०॥

उक्तेन त्रैरूप्येण त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि इति । चकारो वक्तव्यान्तरसमुच्चयार्थः । त्रैरूप्यम् आदौ पृष्टं त्रिरूपाणि च लिङ्गानि परेण । तत्र त्रैरूप्यम् उक्तम् । त्रिरूपाणि चोच्यन्ते—त्रीण्येव त्रिरूपाणि लिङ्गानि । त्रयस् त्रिरूपलिङ्गप्रकारा इत्यर्थः ॥१०॥

किन्तु दुर्वेक मिश्र के अनुसार विरुद्ध शब्द द्वारा दोनों प्रकार का विरोध कहा गया है तथा अभाव शब्द द्वारा व्यावहारिक अभाव (तुच्छ रूप, शून्य रूप) को ही कहा गया है। (धर्मो० प्र०, पृ० ६६)

ततस्त्रयाणामपि—भाव यह है कि यदि असपक्ष को एक शब्द द्वारा कहना चाहें तो 'तदभाव' (पक्ष का अभाव) इस रूप में कहा जा सकता है; क्योंकि इसके द्वारा 'साध्यधर्म वाला न होना'—यह अर्थ प्रतीत हो जाता है। किन्तु यदि सूक्ष्म भेदों पर ध्यान दिया जाये तो तीन प्रकार के असपक्ष हैं। एक तो वह जो साक्षात रूप से सपक्ष का अभावमात्र प्रतीत होता है, अन्य कुछ नहीं। जैसे यह क्षणिक है, सत् होने से जो क्षणिक नहीं वह सत् भी नहीं होता, यथा खर-विषाण (गधे का सींग)। यहाँ खर-विषाण असपक्ष है, क्योंकि वह क्षणिकत्व धर्म वाली क्षणिक वस्तु का अभावमात्र है, उसका कोई अपना रूप नहीं (तुच्छ है)। दूसरा है—तदन्य=सपक्ष से अन्य। जैसे—यह पृथिवी है, गन्धवाली होने से, जो पृथ्वी नहीं वह गन्धवाली नहीं, यथा जल'। यहाँ जल असपक्ष है, जो गन्ध धर्म वाले सपक्ष से अन्य वस्तु है (केवल अभावमात्र नहीं है)। तीसरा है—तद्विरुद्ध=सपक्ष से विरुद्ध। जैसे—'पर्वत अग्नि वाला है, धूम वाला होने से, जो अग्नि वाला नहीं वह धूमवाला भी नहीं होता यथा जलाशय। यहाँ जलाशय असपक्ष है, जिसका अग्नि धर्म वाले सपक्ष के साथ विरोध है। तदन्य और तद्विरुद्ध में सपक्ष से अन्य तथा सपक्ष से विरुद्ध होने की प्रतीति के साथ अर्थतः (Indirectly) सपक्षाभाव की प्रतीति होती है, साक्षात् नहीं (मि० धर्मो० प्र० तथा पाद टि०, पृ० ६६)

६· हेतु के तीन प्रकार

त्रिरूपाणि चेति—

त्रिरूप-सम्पन्न लिङ्ग तीन प्रकार के ही होते हैं ॥१०।

उपर्युक्त तीन रूपों के द्वारा त्रिरूप-सम्पन्न तीन ही लिङ्ग होते हैं। यहाँ (सूत्र १० में) 'च' (=और) शब्द अन्य कथनीय बात के समुच्चय के लिये है। प्रथम त्रैरूप्य पूछा गया था, तत्पश्चात् (परेण) त्रिरूप लिङ्ग (कितने हैं, यह)। उनमें से (हेतु की) त्रिरूप-सम्पन्नता बतला दी गई है, त्रिरूप लिङ्गों (की संख्या) को अब बतलाया जा रहा है—ये त्रिरूप-सम्पन्न लिङ्ग तीन (तीन प्रकार के) ही हैं। भाव यह है कि त्रिरूप-सम्पन्न लिङ्ग के तीन प्रकार हैं ॥१०॥

कानि पुनस्तानीत्याह—

अनुपलब्धिः स्वभावः[1] कार्यं चेति ॥११॥

प्रतिषेध्यस्य साध्यस्यानुपलब्धिस् त्रिरूपा । विधेयस्य साध्यस्य स्वभावश्च[2] त्रिरूपः, कार्यं च ॥११॥

वे (तीन) प्रकार कौन से हैं ? यह बतलाते हैं—

अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य ॥११॥

(i) जिसका प्रतिषेध किया जाता है (प्रतिषेध्य) उस साध्य की अनुपलब्धि (हेतु) त्रिरूप-सम्पन्न होती है । (ii) जिसकी सत्ता सिद्ध करनी होती है (विधेय) उस (तादात्म्यरूप) साध्य का स्वभाव (हेतु) त्रिरूप-सम्पन्न होता है तथा (iii) कार्य (हेतु) भी त्रिरूप-सम्पन्न होता है ॥११॥

त्रिरूपाणि—त्रीणि रूपाणि लक्षणानि येषां तानि=तीन रूपों वाले, त्रिरूप-सम्पन्न, रूपत्रयसम्पन्न । यहाँ 'त्रिरूपाणि' इस शब्द के द्वारा यह दिखला दिया गया है कि हेतु के चार या छः रूप नहीं होते । वैशेषिक ने हेतु के चार रूप माने हैं (वै० सू०, ६.०१), प्राचीन नैयायिकों ने भी हेतु के छः रूप माने थे जिनका खण्डन हेतुबिन्दु (पृ० ६८) में किया गया है (हेतुबिन्दुटीका, पृ० २०५ तथा हेतुबिन्दुटीकालोक, पृ० ४०२)। उत्तरकालीन नैयायिकों ने हेतु के पाँच रूप ही माने हैं। (तर्कभाषा, पृ० १२) ।

त्रीण्येव—इस पद के द्वारा यह दिखलाया गया है कि हेतु के तीन ही प्रकार होते हैं । नैयायिक आदि ने जो संयोग आदि के आधार पर अनेक प्रकार का हेतु माना है, वह युक्ति युक्त नहीं (द्र० हेतुबिन्दुटीका, पृ० ४)

अनुपलब्धि=न उपलब्धि; उपलब्धि=ज्ञान, (उपलब्धिर्ज्ञानम्, न्या० बि० टी०, २.१२) । निश्चयात्मक ज्ञान, सविकल्पक (बु० लॉ० २, पृ० ६० टि० ४) । अनुपलब्धि का विवेचन आगे किया जायेगा ।

स्वभाव—अपनी सत्ता, तत्त्व, साध्य का अपना रूप; तादात्म्य भाव से होने वाला हेतु ही 'स्वभाव हेतु' कहलाता है । जैसे—'अयं वृक्षः शिंशिपात्वात्— यह वृक्ष है क्योंकि यह शिंशपा (अशोक) है । इस प्रकार के अनुमान में 'शिंशपात्व' (शिंशपा होना) स्वभाव हेतु है । यहाँ वृक्ष का अपना रूप (स्वभाव) ही 'शिंशपात्व' है उससे भिन्न कुछ नहीं । शिंशपात्व के साथ वृक्ष का तादात्म्य है । शिंशपा जो होगा वह वृक्ष से अभिन्न ही होगा, उस से भिन्न नहीं । इसी तादात्म्य (तत्स्वभावना) के ही कारण शिंशपात्व को वृक्ष का अविनाभावी कहा जाता है और दोनों की व्याप्ति मानी जाती है ।

---

१. ०भावकार्यं E., ०भावकार्ये B.D.H.N.P.

२. च' नास्ति A.B D E.H.N.P.

अनुपलब्धिम् उदाहर्तुम् आह—

तत्रानुपलब्धिर्यथा—न प्रदेशविशेषे क्वचिद् घटः, उपलब्धिलक्षण-प्राप्तस्यानुपलब्धेर् इति ॥१२॥

यथेत्यादि । यथेत्युपप्रदर्शनार्थम् । यथेयम् अनुपलब्धिस्तथाऽन्यापि । न त्वियम् एवेत्यर्थः । प्रदेश एकदेशः । विशिष्यत इति विशेषः प्रतिपत्तृप्रत्यक्षः । तादृशश्च न सर्वः प्रदेशः । तदाह—क्वचिद् इति । प्रतिपत्तृप्रत्यक्षे क्वचिद् एव प्रदेश इति धर्मी । न घट इति साध्यम् । [1]उपलब्धिर्ज्ञानम् । तस्या लक्षणं जनिका सामग्री । तया हि [2]उपलब्धिलक्ष्यते । तत्प्राप्तोऽर्थो जनकत्वेन सामग्र्यन्तर्भावात् । उपलब्धिलक्षणप्राप्तो दृश्य इत्यर्थः । तस्यानुपलब्धेः—इत्ययं हेतुः ।

बौद्धन्याय के अनुसार किसी वस्तु का प्रत्येक धर्म, जो वस्तु के क्षण में रहता है, उस वस्तु का स्वभाव, स्वरूप या तद्रूप ही है, उसके साथ वस्तु का तादात्म्य मात्र ही है । इस तादात्म्य से होने वाली व्याप्ति को बौद्धन्याय में तदुत्पत्ति से होने वाली व्याप्ति की अपेक्षा भिन्न माना गया है; क्योंकि वस्तु का स्वभाव उसके कार्य से भिन्न होता है । यहाँ शिंशपात्व को वृक्ष का कार्य नहीं कहा जा सकता । (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ६० टि० ५) ।इसका विशद विवेचन यथावसर आगे किया जायेगा ।

कार्य—जिसके होने पर ही अग्रिम क्षण में कोई वस्तु उत्पन्न होती है, वह कारण है, जो वस्तु उत्पन्न होती है वह कार्य है । कारण की सत्ता पूर्व क्षण में होती है और कार्य की उत्तर क्षण में । जैसे वीज कारण है उससे उत्तर क्षण में अङ्कुर की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार अग्नि और धूम में कारण-कार्य सम्बन्ध है । जो जिस वस्तु का कार्य होता है वह उस वस्तु का अविनाभावी होता है । इसलिये तदुत्पत्ति के आधार पर ही दोनों की व्याप्ति मानी गई है और धूम आदि कार्य लिङ्ग कह-लाते है ।

अनुपलब्धिम् इति—अनुपलब्धि का उदाहरण देते हुए कहा है—

उन (तीन प्रकार के लिङ्गों) में अनुपलब्धि यह है; जैसे—अमुक स्थान में घट नहीं है; क्योंकि दर्शन के योग्य होते हुए भी उसका दर्शन नहीं हो रहा है ॥१२॥

यथेत्यादि । यहाँ 'यथा' यह शब्द उपलक्षण के लिये है । जैसी यह अनुपलब्धि है ऐसी ही दूसरी भी होती है, केवल यही नहीं है—यह अर्थ है । 'प्रदेश' का अर्थ है—एक देश । जो विशेष प्रकार से कहा जा रहा है (विशिष्यते) वह विशेष है; अर्थात् जानने वाले के द्वारा प्रत्यक्ष किया गया (प्रदेश) । वैसा सभी प्रदेश तो होता

---

१. उपलब्धिज्ञानम् । तस्य लक्षणं जनिका A.　　२. ह्यनुपल० H.N.

नहीं। इसलिये कहा है—क्वचित् (=कहीं)। ज्ञाता को प्रत्यक्ष होने वाले किसी प्रदेश में—यह धर्मी (=पक्ष) है। 'घट नहीं है'—यह साध्य है। उपलब्धि का अर्थ है—ज्ञान। उसका लक्षण; अर्थात् उत्पादक सामग्री; क्योंकि उससे उपलब्धि (लक्षित) होती है। उस (ज्ञानोत्पादक सामग्री) को प्राप्त होने वाला पदार्थ (=उपलब्धिलक्षण-प्राप्तः)। क्योंकि ज्ञान का जनक होने से उस पदार्थ का भी सामग्री में अन्तर्भाव होता है। इस प्रकार 'उपलब्धिलक्षणप्राप्त' का अर्थ है—दर्शन के योग्य (दृश्य)। उस (दृश्य पदार्थ) की अनुपलब्धि होने से, यह हेतु है।

उपप्रदर्शन=उपलक्षण; जब कोई शब्द अपने अर्थ के साथ साथ उस जैसे अन्य अर्थों का भी बोध कराता है तो उसके इस कार्य को उपलक्षणता (generalization) कहा जाता है।

धर्मी=अनुमेय=पक्ष।

साध्यम्=जिसे सिद्ध किया जाता है। इसे अनुमेय, विधेय तथा व्यापक (Major term) भी कहते हैं। वस्तुतः यहाँ घट का अभाव (न घटः) साध्य नहीं है, घटाभाव तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। किन्तु घटाभाव के व्यवहार की योग्यता साध्य है। इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

जनिका सामग्री—ज्ञान-जनक-सामग्री के अन्तर्गत चार प्रत्यय (कारण) होते हैं—(i) आलम्बनप्रत्यय; वह नील आदि अर्थ जिसका ज्ञान किया जाता है अर्थात् ज्ञान का विषय। (ii) अधिपति प्रत्यय; नेत्र आदि इन्द्रिय; जिसके द्वारा ज्ञान किया जाता है। (iii) समनन्तरप्रत्यय; पूर्वभावी ज्ञान क्षण, जो किसी वस्तु का ज्ञान कराता है। (iv) सहकारी प्रत्यय; प्रकाश इत्यादि, जो नील के चाक्षुष ज्ञान आदि में सहायक होते हैं। यहाँ अर्थ (आलम्बनप्रत्यय) को पृथक् रूप में लिया गया है, उसका अभाव साध्य है अतः शेष तीनों को ज्ञान जनक सामग्री मानना चाहिये।

लक्षणम्—लक्ष्यतेऽनेन। कारणम्, जनिका सामग्री।

जनकत्वेन॰—आम्लवनकारण होने से, क्योंकि अर्थ किसी ज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय है, इसलिये वह भी ज्ञान-जनक-सामग्री के अन्तर्गत है ही।

उपलब्धिलक्षणप्राप्तः—सामान्यतः उपलब्धि=ज्ञान, अनुभव, दर्शन। यहाँ अनुपलब्धि का अर्थ है—दर्शन या प्रत्यक्ष न होना। इसलिये उपलब्धि=दर्शन। 'लक्षण' शब्द का अर्थ तिब्बती में किया गया है—rig-bya=ज्ञेय=विषय और प्राप्त का अर्थ—gyur-pa=भूत। इस प्रकार उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त=ज्ञानविषय-भूत; वह विषय जो हमारी इन्द्रियों की पहुँच से परे नहीं है; जो दर्शन-योग्य है, अतीन्द्रिय नहीं है (मि०, बु० लॉ २, पृ० ११७ टि० २)। न्यायबिन्दु तथा टीका में आगे (सूत्र २.१३) में इस शब्द की व्याख्या की जा रही है।

तस्यानुपलब्धेः—तस्य दृश्यस्य अनुपलब्धेः=दृश्यानुपलब्धेः। यहाँ 'दृश्य' (=उपलब्धिलक्षणप्राप्त) विशेषण लगाने का अभिप्राय यह है कि जो वस्तु दर्शन-योग्य होती है उसकी अनुपलब्धि से उसका अभाव जाना जाता है। जैसे भूतल में घट दर्शन-

अथ यो यत्र नास्ति स कथं तत्र दृश्यः ? दृश्यत्वसमारोपाद् असन्नपि दृश्य उच्यते यश्चैवं सम्भाव्यते यद्यसावत्र भवेद् दृश्य एव भवेद् इति । स तत्र अविद्यमानोऽपि दृश्यः समारोप्यः । कश्चव सम्भाव्यः ? यस्य समग्राणि स्वालम्बनदर्शनकारणानि भवन्ति । कदा च तानि समग्राणि गम्यन्ते ? यदैकज्ञानसंसर्गिवस्त्वन्तरोपलम्भः । एकेन्द्रियज्ञानग्राह्यं लोचनादिप्रणिधानाभिमुखं वस्तुद्वयम् अन्योन्यापेक्षम् एकज्ञानसंसर्गि कथ्यते। तयोर्हि सतोर्नैकनियता भवति प्रतिपत्तिः । योग्यतायाः द्वयोरप्यविशिष्टत्वात् । तस्माद् एकज्ञानसंसर्गिणि दृश्यमाने सत्येकस्मिन् इतरत् समग्रदर्शनसामग्रीकं यदि भवेद् दृश्यम् एव भवेद् इति सम्भावितं दृश्यत्वम् आरोप्यते । तस्यानुपलम्भो दृश्यानुपलम्भः । तस्मात् स एव घटविविक्तप्रदेशस् तदालम्बनं च ज्ञानं दृश्यानुपलम्भनिश्चयहेतुत्वाद् दृश्यानुपलम्भ उच्यते ।

योग्य है किन्तु नहीं दिखलाई दे रहा है अतः वह नहीं है । भाव यह है कि यदि किसी वस्तु के प्रत्यक्ष की समस्त सामग्री उपस्थित हो फिर भी उसका प्रत्यक्ष न हो तो 'वह नहीं है'—ऐसा व्यवहार किया जाता है । जो वस्तु अदृश्य हैं उनकी अनुपलब्धि से उनके अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता ।

अथेति—(प्रश्न) किन्तु जो (वस्तु) जहाँ नहीं है, वहाँ दर्शन के योग्य (=दृश्य) कैसे हो सकती है ? (उत्तर) दृश्यता का समारोप करके (=उसे कल्पित रूप में दृश्य मानकर) अविद्यमान होते हुए भी उस पदार्थ को दृश्य कहा गया है, जिसकी इस प्रकार सम्भावना की जाती है—

'यदि वह यहाँ होता तो दृश्य ही होता' । अतः वह पदार्थ वहाँ न होते हुए भी दृश्य रूप में आरोपित कर लिया जाता है । (अब प्रश्न हो सकता है) इस प्रकार की सम्भावना के योग्य कौन सा पदार्थ होता है ? (उत्तर है) जिस (प्रतिषेध्य पदार्थ) के स्वविषयक दर्शन के समस्त कारण विद्यमान होते हैं । (प्रश्न) वे सब (कारण) एकत्रित हैं, यह कब जाना जाता है ? (उत्तर जब उस एक ज्ञान (चाक्षुष ज्ञान आदि) से ही सम्बन्ध रखने वाली दूसरी वस्तु का ज्ञान हो जाता है । (भाव यह है) एक इन्द्रियज्ञान (चाक्षुष ज्ञान आदि) के ग्राह्य विषय तथा चक्षु आदि (इन्द्रिय) की प्रवृत्ति के योग्य (प्राप्य) जो दो पदार्थ होते है वे एक दूसरे की अपेक्षा से एकज्ञानसंसर्गी (एक ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले) कहलाते हैं । यदि वे दोनों विद्यमान हों तो (हमारा) ज्ञान एक ही वस्तु में सीमित (नियत) नहीं होता (ज्ञान में दोनों का ही भास होता है); क्योंकि दोनों में (दृश्य होने की) योग्यता समान रूप से है । इसलिये एक ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली एक वस्तु के दिखलाई देने पर दूसरी वस्तु में, जिसके दर्शन की समस्त सामग्री उपस्थित है, "यदि होती तो अवश्य ही दर्शन-योग्य होती"—इस प्रकार से सम्भावित दृश्यमानता का आरोप किया जाता है । उस (दृश्य वस्तु)

---

१. गम्यते B.　　२. दृश्यमारोप्यते A.E.H N.P.　　३. घटादिविविक्त० B.

यावद्धि एकज्ञानसंसर्गि वस्तु[1] न निश्चितम्, तज्ज्ञानं च; न तावद् दृश्यानुपलम्भनिश्चयः। ततो वस्तु अनुपलम्भ उच्यते, तज्ज्ञानं च। दर्शननिवृ-

का अनुपलम्भ (=अनुपलब्धि) ही दृश्यानुपलम्भ है। इस प्रकार उस घटशून्य प्रदेश और तद्विषयक ज्ञान को ही दृश्यानुपलम्भ कहा गया है; क्योंकि वही दृश्य (दर्शन-योग्य घट आदि) की अनुपलब्धि का निश्चय कराने वाला (हेतु) है।

समारोप=आरोप=आहार्य ज्ञान=कल्पित ज्ञान जो वस्तु नहीं है उसकी कल्पना (hypothesis)। यद्यपि जहाँ घट नहीं वहाँ वह वस्तुतः दृश्य नहीं हो सकता उसे दृश्य मान लिया जाता है; उसमें दृश्यता का आरोप कर लिया जाता है।

स्वालम्बन०—स्वम् आत्मानम् आलम्बते इत्यालम्बनम्, यस्य दर्शनस्य तस्य कारणानि (धर्मो० प्र०, पृ० १०१)। अथवा स्वं (=वस्तु) आलम्बनं यस्य तन् स्वालम्बनं दर्शनम् तस्य कारणानि=जिस दर्शन का वह प्रतिषेध्य वस्तु विषय है, उस दर्शन की जनक सामग्री अर्थात् उस वस्तु के प्रत्यक्ष के समस्त कारण।

एकज्ञानसंसर्गि०—एकस्मिन् ज्ञाने संसर्गः प्रतिभासः स यस्यास्ति (धर्मो० प्र०, पृ० १०१) एक ही ज्ञान में जिसका भास होता है। हेतुबिन्दु (पृ० ६४-६५) तथा हेतु-बिन्दु-टीका (पृ० १७२) में इसे अधिक स्पष्ट किया गया है। भाव यह है कि किसी देश, काल या अवस्था में यदि एक भूतल-प्रदेश आदि की उपलब्धि होती है तो विद्यमान होते हुए दूसरी वस्तु घट आदि की अवश्य उपलब्धि हुआ करती है अतः ये दोनों (भूतल और घट) एक दूसरे की अपेक्षा से एकज्ञानसंसर्गी या एकज्ञानसंसृष्ट कहलाते हैं अर्थात् भूतल घट का एकज्ञानसंसर्गी है और घट भूतल का;

दो वस्तुएँ एक ज्ञान का विषय कैसे होती हैं? इस विषय में बौद्धदर्शन में कई मत हैं: जो ज्ञान को निराकार मानते हैं (वैभाषिक) उनके अनुसार तो अनेक वस्तुओं का एक ही इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा (मुख्य रूप से ही) प्रकाशन हो जाता है (एकायतनसंगृहीतेऽनेकत्राप्येकन्द्रियज्ञानमाजायते, हेतु० टी०, पृ० १६३, १४-१५)। साकार ज्ञान-वादियों के दो पक्ष हैं, एक पक्ष के अनुसार अनेक वस्तुओं के आकार वाला चित्ररूप एक ही ज्ञान होता है अतः दो वस्तुएँ मुख्य-रूप से ही एक ज्ञान का विषय हो सकती हैं। दूसरे पक्ष के अनुसार प्रत्येक वस्तु के आकार वाला भिन्न २ ज्ञान होता है। इस पक्ष में एक चक्षु आदि इन्द्रिय से उत्पन्न होने के कारण तथा एक रूप में होने के कारण भिन्न भिन्न ज्ञानों के लिये औपचारिक रूप से लोक में एक शब्द का प्रयोग किया जाता है।

प्रणिधान०—प्रवृत्त होना (Applying), प्रणिधानं स्वज्ञानोपजनने योग्यी-भवनं तत्राभिमुखम् अनुगुणम् (धर्मो० प्र०, पृ० १०२)।

अन्योन्यापेक्षम्—यह 'एकज्ञानसंसर्गि' का विशेषण है। घट की अपेक्षा से भूतल एकज्ञानसंसर्गी है तथा भूतल की अपेक्षा से घट।

यावद्धि इति—वस्तुतः जब तक एक ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु और उसके ज्ञान का निश्चय नहीं किया जाता तब तक दृश्यानुपलब्धि का निश्चय नहीं

१. वस्तु तज्ज्ञानं चा (वा) न निश्चितम्, न तावद् B., वस्तु तज्ज्ञानं वा D.

त्तिमात्रं तु स्वयम् अनिश्चितत्वाद् अगमकम्[1] । ततो दृश्यघटरहितः प्रदेशः, तज्ज्ञानं च वचनसामर्थ्याद् एव दृश्यानुपलम्भरूपम् उक्तं द्रष्टव्यम् ॥१२॥

का पुनर् उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरित्याह—

उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरुपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च ॥१३॥

उपलब्धिलक्षणप्राप्तिः = उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं घटस्य उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यम् इति । ज्ञानस्य घटोऽपि जनकः, अन्ये च चक्षुरादयः । घटाद् दृश्याद् अन्ये हेतवः प्रत्ययान्तराणि । तेषां साकल्यं सन्निधिः । स्वभाव एव

होता । इसलिये वह (एकज्ञानससर्गी, भूतल आदि) वस्तु और उसका ज्ञान (दोनों को मिलाकर) दृश्यानुपलम्भ कहा गया है । (किसी वस्तु की) उपलब्धि (दर्शन) न होना मात्र तो अपने स्वरूप में ही अनिश्चित होने के कारण (वस्तु के अभाव का) निश्चायक (=गमक) नहीं हो सकता । इस प्रकार (उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य, इस) कथन के सामर्थ्य से ही यह समझना चाहिये कि दर्शनयोग्य-घट-रहित प्रदेश तथा उस प्रदेश का ज्ञान ये दोनों दृश्यानुपलम्भ रूप हैं ॥१२॥

दर्शननिवृत्तिमात्रम्—इस कथन द्वारा ईश्वरसेन के मत का खण्डन किया गया है । उसके अनुसार उपलब्धि का अभावमात्र ही अनुपलब्धि है-अनपेक्षितार्थान्तरसंसर्गः प्रतिषेधमात्रम् अनुपलब्धिः (हेतुबिन्दुटीका, पृ० १७६) । उसका भाव यह है कि घट आदि का दर्शन न होने मात्र से ही घट के अभाव का निश्चय हो जाता है । धर्मोत्तर का कथन है कि उपलब्धि का अभाव तो निषेधमात्र है, तुच्छरूप है उसका कोई स्वरूप हो निश्चित नहीं अतः उसमें घट के अभाव को निश्चित कराने का सामर्थ्य कैसे हो सकता है, क्योंकि साधन या हेतु तो भाव-रूप वस्तु ही होती है, अभाव नहीं ।

वचनसामर्थ्यात्—क्योंकि यहाँ 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य' यह वचन कहा गया है, जिसका अर्थ है=ऐसा पदार्थ जिसकी ज्ञानजनक सामग्री उपस्थित है, अर्थात् दर्शन-योग्य, दृश्य । किन्तु कोई पदार्थ दृश्य है या नहीं इसका निश्चय तभी हो सकता है जब कि उसकी एकज्ञानससर्गी वस्तु निश्चित हो और उसका ज्ञान भी हो । इसलिये 'उपलब्धिलक्षणप्राप्त' शब्द के द्वारा यह अर्थापन्न (Implied) होता है कि यहाँ दृश्यानुपलब्धि=घट-रहित प्रदेश और उसका ज्ञान ।

दृश्यानुपलम्भ—यह शब्द अदृश्यानुपलम्भ का निराकरण करने के लिये दिया गया है । भाव यह है कि जो पदार्थ अदृश्य हैं, अतीन्द्रिय हैं जैसे सर्वज्ञता आदि, अनुपलब्धि के द्वारा उनके अभाव का निश्चय नहीं किया जाता । (मि०, बु० लॉ २ पृ० ६३ टि० ३)

का पुनर् इति अब उपलब्धिलक्षणप्राप्ति क्या है ? यह बतलाते हैं—

उपलब्धिलक्षणप्राप्ति का अर्थ है—ज्ञान-जनक अन्य हेतुओं का एकत्रित होना और (उस वस्तु का) विशेष प्रकार का स्वभाव ॥१३॥

उपलब्धिलक्षणप्राप्ति=उपलब्धिलक्षण (दृश्यता) को प्राप्त होना, अर्थात् घट के 'ज्ञान-जनक अन्य हेतुओं का एकत्रित होना' । अभिप्राय यह है--ज्ञान का जनक घट भी है तथा अन्य चक्षु इत्यादि भी । दृश्य घट से जो अन्य हेतु हैं वे ही प्रत्ययान्तर (=अन्य हेतु) हैं । उनकी समग्रता अर्थात् एकत्रित होना । ('स्वभावविशेषः'

---

१. ०गमकम् एव C. २. ०कम् । तादृशघटरहितः B.

विशिष्यते तदन्यस्माद् इति विशेषो विशिष्ट इत्यर्थः । तदयं विशिष्टः स्वभावः प्रत्ययान्तरसाकल्यं चैतद् द्वयम् उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं घटादेर्द्रष्टव्यम् ।।१३।।

कीदृशः स्वभावविशेष इत्याह—

[1]यः स्वभावः सत्स्वन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु सन प्रत्यक्ष एव भवति [2]स स्वभावविशेषः ।।१४।।

सत्स्वित्यादि । उपलम्भस्य यानि घटाद् दृश्यात् प्रत्ययान्तराणि तेषु सत्सु विद्यमानेषु यः स्वभावः सन् प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावविशेषः । तद् अयम् अत्रार्थः—एकप्रतिपत्त्रपेक्षम् इदं प्रत्यक्षलक्षणम् । तथा च सति द्रष्टुं प्रवृत्तस्यैकस्य द्रष्टुर्दृश्यमान उभयवान् भावः । अदृश्यमानास्तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टाः स्वभावविशेषरहिताः प्रत्ययान्तरसाकल्यवन्तस्तु । यैर्हि प्रत्ययैः स

का अर्थ है) उस घट आदि का अन्य (पिशाच आदि) की अपेक्षा स्वभाव ही विशिष्ट है, इस प्रकार विशेष=विशिष्ट । इसलिये (घट आदि का) विशिष्ट स्वभाव तथा अन्य हेतुओं का एकत्रित होना—ये दोनों (मिलकर) घट आदि का उपलब्धिलक्षण प्राप्त होना है, यह समझना चाहिये ।।१३।।

उपलब्धिलक्षणप्राप्ति—कौन वस्तु दर्शन-योग्य होती है ? इस विषय में मत-भेद हैं । उदाहरणार्थ न्याय-वैशेषिक के अनुसार उसी वस्तु का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है जिसमें महत् परिमाण होता है और उद्भूत रूप होता है (द्र० न्यायकारिकावली, प्रत्यक्ष, का० ५४, ५६) । उन मतभेदों का निराकरण करने के लिये यहाँ दृश्यता के लिये दो हेतु बतलाये गये हैं— (i) ज्ञान-जनक सामग्री का एकत्रित होना (ii) वस्तु का विशिष्ट स्वभाव (हेतुबिन्दुटीका, पृ० १६७, १-८) । विशिष्ट स्वभाव का विवरण आगे किया जा रहा है ।

कीदृश इति—यह स्वभाव-विशेष कैसा है ? यह बतलाते हैं—

जो (वस्तु का) स्वभाव है कि यदि वह विद्यमान हो (सन्) तो ज्ञान-जनक अन्य हेतुओं के होने पर प्रत्यक्ष ही होती है, वही स्वभावविशेष है ।।१४।।

सत्सु इत्यादि (का अर्थ है)—दृश्य घट से भिन्न जो ज्ञान के हेतु हैं, उनके विद्यमान होने पर (सत्सु=विद्यमानेषु) जो (घट का) यह स्वभाव है कि (उसका) प्रत्यक्ष ही होता है, वही स्वभावविशेष है । इस प्रकार यहाँ यह अर्थ है—एक द्रष्टा (ज्ञाता) की अपेक्षा से यह प्रत्यक्ष-जनक सामग्री (=लक्षण) कही गई है । तब (उस

---

१. यः स्वभावः सत्स्वन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु यत् प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावः B.H.P., सत्स्वप्यन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु य प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावः E. सत्स्वप्यन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु यः स्वभावः सन् प्रत्यक्ष एव भवति, विनीतदेव पृ० ६२.५ Dh. p. 23.7 the Tib p. 51.7, Rgyal thsab, f 25. a. 2. (बु० लॉ० २, पृ० ६४ टि० २)

२. 'स स्वभावविशेषः –' नास्ति C.D.

द्रष्टा पश्यति ते सन्निहिताः । अतश्च सन्निहिता[1] यद् द्रष्टुं प्रवृत्तः सः। द्रष्टुम् अप्रवृत्तस्य तु योग्यदेशस्था अपि द्रष्टुं ते न शक्याः प्रत्ययान्तरवैकल्यवन्तः, स्वभावविशेषयुक्तास्तु। दूरदेशकालास्तु उभयविकलाः । तद् एवं पश्यतः कस्यचिन्न प्रत्ययान्तरविकलो नाम, स्वभावविशेषविकलस्तु भवेत्। अपश्यतस्तु द्रष्टुं शक्यो योग्यदेशस्थः प्रत्ययान्तरविकलः, अन्ये तूभयविकला इति ॥१४॥

प्रकार) (१) देखने को प्रवृत्त हुए किसी द्रष्टा का जो दृश्यमान (=प्रत्यक्ष) पदार्थ (=भाव) है, वह दोनों (प्रत्ययान्तरसाकल्य और स्वभावविशेष) से युक्त है। (२) उसके जो अदृश्यमान पदार्थ हैं, वे यदि अन्य ज्ञान-जनक सामग्री से युक्त हैं तो देश, काल या स्वभाव से दूर (विप्रकृष्ट, अप्राप्य) होने के कारण स्वभावविशेष से रहित हैं। वस्तुतः (हि) जिन हेतुओं से वह द्रष्टा (उस घट आदि को) देखता, वे उपस्थित हैं और वे इसलिये भी उपस्थित (कहे जा सकते) हैं क्योंकि वह देखने को प्रवृत्त हुआ है।

(३) देखने को प्रवृत्त न हुए व्यक्ति के लिये तो योग्य देश में स्थित वे वस्तु भी अदृश्य हैं (द्रष्टुं न शक्याः), जो स्वभावविशेष से तो युक्त हैं किन्तु अन्य ज्ञान-जनक हेतुओं से रहित हैं। इसी प्रकार (४) उसके लिये दूर देश या काल में स्थित (वस्तुएँ) अदृश्य हैं, क्योंकि वे दोनों (प्रत्यक्ष-जनक हेतुओं) से रहित हैं।

तो इस प्रकार (तद् एवम्) देखते हुए किसी व्यक्ति के लिये (कोई पदार्थ) अन्य ज्ञान-जनक हेतुओं से रहित नहीं होता, स्वभावविशेष से रहित तो हो सकता है। न देखने वाले व्यक्ति के लिये तो जो दर्शन-योग्य वस्तु योग्य देश (इन्द्रिय-प्राप्य) में स्थित है (किन्तु अदृश्य है) वह ज्ञान-जनक अन्य हेतुओं से रहित है अन्य (अदृश्य वस्तुएँ) तो दोनों (प्रत्यक्ष जनक हेतुओं) से रहित है॥१४॥

स्वभावविशेषः—श्चेरबात्स्की ने 'स्वभावविशेषः' शब्द का व्यक्ति (Individual) अर्थ किया है और इसे लॉक के Individual के समान माना है। विनीतदेव ने इसका अर्थ 'शक्यदर्शन' किया है जिसका भाव है 'इन्द्रियग्राह्य सत्ता' (Sensible existence)। (मि० बु० लॉ० २, पृ० ६४ टि० १) वस्तुतः स्वभावविशेष का अर्थ न्यायबिन्दु के वाक्य से ही स्पष्ट है। प्रत्यक्ष के अन्य कारण चक्षु आदि के होने पर किसी विद्यमान वस्तु का जो अवश्य ही प्रत्यक्ष हो जाता है, यही उसका स्वभावविशेष (विशिष्टस्वभाव या विशिष्ट स्वरूप) है। इस अवश्यम्भावी प्रत्यक्ष के लिये उस वस्तु का इन्द्रिय की

---

१. ०हिताय द्रष्टुं A.E.P., ०हिता यःद्रष्टुं H., ०हिता यैः द्रष्टुं N.
२. प्रवृत्ताः B.
३. शक्यो द्रष्टुं A.E.H.N.P.

अनुपलब्धिम् उदाहृत्य स्वभावम् उदाहर्तुम् आह—[1]

स्वभावः[2]स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः ।.१५।।

[2]स्वभाव इत्यादि । स्वभावो हेतुरिति सम्बन्धः । कीदृशो हेतुः साध्यस्य[3] स्वभाव इत्याह—स्वस्य आत्मनः सत्ता । सैव केवला स्वसत्तामात्रम । तस्मिन् सति भवितुं शीलम् यस्येति । यो हेतोरात्मनः सत्ताम् अपेक्ष्य विद्यमानो भवति, न तु हेतुसत्ताया व्यतिरिक्तं कञ्चिद्धेतुम् अपेक्षते; स[4] स्वसत्तामात्रभावी साध्यः । तस्मिन् साध्ये यो हेतुः स स्वभावः तस्य साध्यस्य [5]नान्यः ।।१५।।

पहुँच में होना—इन्द्रियग्राह्य दशा में होना भी अनिवार्य है । जो सुमेरु आदि देश की दृष्टि से दूर हैं, या जो सम्राट् अशोक आदि काल की दृष्टि से दूर हैं, अथवा जो पिशाच आदि स्वभाव से ही अदृश्य हैं, उन (देशकालस्वभाव-विप्रकृष्ट) पदार्थों का प्रत्यक्ष हमें नहीं होता (मि०, मो० तर्कभाषा, पृ० १६) । इस प्रकार स्वभाव-विशेष का अर्थ है-विशिष्ट स्वरूप, इन्द्रिय-ग्राह्य अवस्था ।

तद् एवम्—इस कथन के द्वारा उपर्युक्त चारों अवस्थाओं को संक्षेप में दिखलाया गया है । किसी विद्यमान पदार्थ के प्रत्यक्ष के लिये दोनों हेतु अनिवार्य हैं—प्रत्ययान्तर-साकल्य (अन्य ज्ञान-जनक हेतुओं की उपस्थिति) और स्वभावविशेष (इन्द्रिय-ग्राह्य अवस्था) जहाँ ये दोनों हेतु होते हैं वहाँ पदार्थ को 'उपलब्धिलक्षणप्राप्त' कहा जाता है । ऐसे पदार्थ की अनुपलब्धि से ही उसके अभाव का निश्चय किया जाता है । किन्तु जहाँ इन दोनों हेतुओं में से एक भी नहीं होता वहाँ पदार्थ अदृश्य ही बना रहता है । संक्षेप में उपर्युक्त चार अवस्थाएँ हैं—

(१) प्रत्ययान्तर-साकल्य तथा स्वभावविशेष दोनों के होने पर—दृश्य

(२) प्रत्ययान्तर-साकल्य के होने पर किन्तु स्वभावविशेष न होने पर—अदृश्य

(३) प्रत्यया० न होने पर किन्तु स्वभाव० होने पर—अदृश्य

(४) दोनों के न होने पर—अदृश्य

अनुपलब्धिम् इति—अनुपलब्धि का उदाहरण दिखलाकर स्वभाव का उदाहरण देने के लिये बतलाया है—

जो अपनी सत्तामात्र की अपेक्षा से होने वाले साध्यधर्म में हेतु होता है, वह स्वभाव हेतु है ।।१५।।

स्वभाव इत्यादि ।

स्वभावः हेतुः = स्वभाव हेतु, इस प्रकार अन्वय है । कैसा हेतु साध्य का स्वभाव होता है ? इस पर बतलाया है—स्वस्य = आत्मनः = अपनी (हेतु की) सत्ता (= होना)

---

१. स्वभावः सत्ता C., स्वभावः स्वसत्ताभावि० E.
२. स्वभाव इत्यादि', नास्ति A.E.H.N.P.
३; साध्यस्यैव स्व० A.E.H.N.P., साध्यस्य भाव B.
४. स' नास्ति A.
५. 'नान्यः', नास्ति C.

उदाहरणम्—

यथा वृक्षोऽयं शिंशपात्वाद्[1] इति ॥१६॥

[2]यथेति । अयम् इति धर्मी । वृक्ष इति साध्यम् । शिंशपात्वाद् इति हेतुः । तद् अयम् अर्थः—वृक्षव्यवहारयोग्योऽयम्, शिंशपाव्यवहारयोग्यत्वाद् इति । तत्र प्रचुरशिंशपे देशे[3]ऽविदितशिंशपाव्यवहारो जडो यदा[4] केनचिद् उच्चां शिंशपाम् उपादर्श्योच्यते[5] 'अयं वृक्षः' इति तदाऽसौ जाड्याच् शिंशपाया

वही (सत्ता) केवल = सत्तामात्र । उस (हेतु) की सत्तामात्र के होने पर हो जाना जिसका शील है वह (= स्वसत्तामात्रभावी)। जो साध्य हेतु की अपनी सत्ता की अपेक्षा से उपस्थित हो जाता है, हेतु की सत्ता के अतिरिक्त और किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखता वह स्वसत्तामात्रभावी (हेतु की सत्तामात्र से होने वाला) साध्य है । उस साध्य में जो हेतु है, वह उस साध्य का स्वभाव ही है, उससे भिन्न नहीं ॥१५॥

सम्बन्ध = अन्वय ।

सत्तामात्र—यहां सत्ता शब्द से मात्र (मात्रच्) प्रत्यय लगा है इसका अर्थ है—केवल सत्ता ।

स्वसत्तामात्रभावी—यहाँ न्यायबिन्दुटीका में ताच्छील्य अर्थ वाले णिनि प्रत्यय का अर्थ दिखलाया गया है (स्वसत्त मात्र √भू + णिनि) । इस शब्द में स्व शब्द का अर्थ है—हेतु, हेतु की सत्ता मात्र से होने वाला साध्य, यह अर्थ है ।

स्वभावहेतुः—जहाँ दो धर्म साथ २ रहते हैं और एक धर्म दूसरे का अविनाभावी होता है, वहाँ अविनाभावी धर्म द्वारा दूसरे का अनुमान कर लिया जाता है । क्योंकि वह अविनाभावी धर्म साध्य का (स्वरूप स्वभाव) मात्र होता है अतः उसे स्वभावहेतु कहते हैं । (देखिये, ऊपर, सूत्र २.११ टि०) ।

उदाहरणम् इति—उदाहरण है—

जैसे—यह वृक्ष है; क्योंकि यह शिंशपा (अशोक, शीशम) है ॥१६॥

यथेति । यहाँ 'अयम्' (= यह) धर्मी (पक्ष) है । 'वृक्ष'—यह साध्य है । 'शिंशपात्वात्' (शिंशपा होने से)—यह हेतु है । इस प्रकार यह अर्थ है—यह 'वृक्ष' शब्द से व्यवहार करने योग्य है; क्योंकि यह 'शिंशपा' शब्द से व्यवहार के योग्य है । जब बहुत से शिंशपा वृक्षों वाले प्रदेश में शिंशपा शब्द का प्रयोग न जानने वाले मूढ व्यक्ति को ऊँचा शिंशपावृक्ष दिखलाकर कोई कहता है कि 'यह वृक्ष है'; किन्तु वह (मूढ व्यक्ति) अपनी मूढता के कारण शिंशपा की उच्चता को भी वृक्ष शब्द के प्रयोग का निमित्त समझ लेता है । फिर जब ऐसी शिंशपा को देखता है जो ऊँची नहीं है

---

१. इति' नास्ति C.　२. यथेति'—नास्ति E.H.N.　३. ०शिंशपदेशे C.
४. यथा B.　५. ०उपदर्श्य B.

उच्चत्वम् अपि 'वृक्षव्यवहारस्य निमित्तम् अवस्यति । तदा याम् एवानुच्चां[२]पश्यति शिंशपां ताम् एवावृक्षम्' अवस्यति । स मूढः शिंशपात्वमात्रनिमित्ते वृक्षव्यवहारे प्रवर्त्यते । नोच्चत्वादि निमित्तान्तरम इह वृक्ष-व्यवहारस्य; अपि तु शिंशपात्वमात्रं निमित्त शिंशपागतशाखादिमत्त्वं निमित्तम् इत्यर्थ. ॥१६॥

कार्यम् उदाहर्तुम् आह —

कार्यं यथा[४] वह्निरत्र धूमाद् इति ॥१७॥

'वह्निरिति साध्यम् । अत्रेति धर्मी । धूमाद् इति हेतुः । कार्यकारणभावो लोके प्रत्यक्षानुपलम्भनिबन्धनः[६] प्रतीत इति न स्वभावस्येव कार्यस्य लक्षणम् उक्तम् ॥१७॥

तो उसको 'यह वृक्ष नहीं है'—ऐसा समझ लेता है। उस मूढ को (उपर्युक्त स्वभावहेतु के प्रयोग द्वारा) केवल शिंशपात्व के निमित्त से होने वाले वृक्ष व्यवहार का बोध कराया जाता है। भाव यह है (=इत्यर्थः) कि यहाँ वृक्ष शब्द के प्रयोग का उच्चता आदि कोई अन्य निमित्त नहीं है अपि तु शिंशपा होना मात्र ही निमित्त है; अर्थात् शिंशपा में होने वाले शाखा आदि ही (इसको वृक्ष कहने का) निमित्त हैं ॥१६॥

यथावृक्षोऽयम्—न्यायबिन्दु के इस वाक्य में स्वभावहेतु के उदाहरण का भावमात्र दिखलाया गया है, प्रयोग नहीं। न्यायबिन्दुटीका में भी न्यायबिन्दु के वाक्य का अर्थमात्र दिखलाया गया है—वृक्षव्यवहारयोग्योऽयं शिंशपाव्यवहारयोग्यत्वात्। दुर्वेक मिश्र के अनुसार अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होगा—

'यः शिंशपात्वव्यवहारयोग्यः, स वृक्षत्वव्यवहारयोग्यः, यथा प्रवर्त्तितवृक्षत्वव्यवहारा पूर्वाधिगता शिंशपा; शिंशपाव्यवहारयोग्यश्चायम् इति । (धर्मो० प्र०, पृ० १०७)।

यद्यपि वृक्षत्व और शिंशपात्व दोनों एक ही वस्तु के स्वभाव हैं दोनों में तादात्म्य है अतः दोनों एक हैं और उनमें साध्य-साधन-भाव नहीं होना चाहिये तथापि विकल्प बुद्धि में दोनों का भेद भासित होता है अतः साध्य-साधन-भाव बन जाता है (मि०, मो० तर्कभाषा, पृ० १५ पं० १८…)

कार्यम् इति—कार्यहेतु का उदाहरण देते हुए कहते हैं—

कार्यहेतु यह है. जैसे—यहाँ अग्नि है; क्योंकि यहाँ धूम है ॥१७॥

यहाँ 'अग्नि', यह साध्य है। 'अत्र' (=यहाँ), यह पक्ष है। 'धूम होने से', यह हेतु है। प्रत्यक्ष (=अन्वय, जहाँ भी कार्य है वहाँ कारण की उपलब्धि होना) और अनुपलब्धि (=व्यतिरेक, जहाँ कारण असमर्थ है. वहाँ कार्य की अनुपलब्धि) के आधार पर होने वाला कार्य-कारण-भाव लोक मे प्रसिद्ध (=प्रतीत) ही है। इसलिये जिस प्रकार स्वभाव का लक्षण बतलाया गया है, उसी प्रकार कार्य का लक्षण नहीं बतलाया ॥१७॥

---

१. वृक्षत्वव्यवहारनिमि० C. ०व्यवहारनिमि० A E. H. N. P.
२. च्चां शिंशपां पश्यति त.मे० A.E.H.N.P. ३. ०मेवावृक्षत्वम० A.
४. यथाग्निरत्र B. D. E. H. N. P. ५. अग्निरिति B. D. E. H. N. P.
६. ०पलम्भः निबन्धनं B.

ननु त्रिरूपत्वाद् एकम् एव लिङ्ग[1] युक्तम् । अथ प्रकारभेदाद् भेदः । एवं सति स्वभावहेतोरेकस्यानन्तप्रकारत्वात त्रित्वम् अयुक्तम् । इत्याह--

अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ । एकः प्रतिषेधहेतुः ।।१८।।

अत्र द्वौ, इति । 'अत्र' इति--एषु त्रिषु हेतुषु मध्ये द्वौ हेतू वस्तुसाधनौ-विधेः साधनौ गमकौ । एकः प्रतिषेधस्य हेतुर्गमकः । प्रतिषेध इति चाभावो-ऽभावव्यहारश्चोक्तो द्रष्टव्यः ।

वह्निरत्र धूमात्—यह कार्यहेतु के उदाहरण का भावमात्र दिखलाया गया है। वस्तुतः अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है—'यत्र धूमः, तत्र वह्निः, यथा महानसे (व्याप्तिः), धूमश्चात्र (पक्षधर्मता) । (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १०८) ।

लोके······प्रतीतः—इसका यह अभिप्राय नहीं है कि बौद्धन्याय लोक में प्रचलित कार्य-कारण-भाव को स्वीकार करता है । यहाँ तो केवल हेतु की दृष्टि से व्यवहारिक (empirical) कार्य–कारण–भाव की बात कही गई है । वस्तुतः बौद्ध-न्याय में स्वलक्षणों (वस्तु-क्षणों) का ही कारण-कार्य सम्बन्ध होता है और यहाँ प्रथम वस्तुक्षण दूसरे वस्तु क्षण का उत्पादक नहीं होता, अपि तु प्रथम क्षण के होने पर (या उसके अनन्तर) दूसरा क्षण होता है (तस्मिन् सति इदं भवति)—यही कारण-कार्य-भाव है । धर्मकीर्ति ने प्रमाणविनिश्चय में कारण-सिद्धान्त का निरूपण किया है । सर्वदर्शनसंग्रह का तद्विषयक विवेचन भी वहीं से लिया गया है । (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ६७ टि० २) ।

न स्वभावस्येव०—अनुपलब्धि के स्वरूप के विषय में मत-भेद थे (देखिये, हेतुबिन्दुटीका, पृ० १७७ तथा आगे) । इसी प्रकार स्वभाव हेतु के विषय में भी मत-भेद था । उस मत–भेद का निराकरण करने के लिये अनुपलब्धि और स्वभावहेतु का स्वरूप दिखलाया गया है । लोक-प्रसिद्ध कार्य के स्वरूप के विषय में तो किसी को मत-भेद नहीं, अतः उसका स्वरूप नहीं दिखलाया ((मि० धर्मो० प्र०, पृ० १०८) ।

७. तीन प्रकार के ही लिङ्ग होते हैं, कम या अधिक नहीं

ननु इति—(प्रश्न)—(पक्ष-सत्त्व आदि) तीन रूपों से युक्त होने के कारण एक ही लिङ्ग (हेतु) मानना युक्तियुक्त है । यदि कहो कि प्रकार-भेद से (तीन) भेद हो जाते हैं । तव तो एक स्वभावहेतु के ही असख्य प्रकार होने के कारण तीन प्रकार के (लिङ्ग) कहना अयुक्त है ? इस पर कहते हैं--(उत्तर)

इन (हेतुओं) में दो (स्वभाव तथा कार्य) वस्तु (भावात्मक) के साधक हैं और एक (अनुपलब्धि) प्रतिषेध (=अभाव) का साधक है ।।१८।।

अत्र द्वौ इति । यहाँ (अत्र)=इन तीन हेतुओं में दो हेतु वस्तु के साधन हैं; अर्थात् विधिरूप (भावात्मक affirmative) वस्तु का निश्चय कराते हैं । एक प्रतिषेध

---

१. लिङ्गम् अयुक्तम् B C.D E.H.N.P.

तद् अयम् अर्थः—हेतुः साध्यसिद्धयर्थत्वात् साध्याङ्गम्, साध्यं प्रधानम्। अतः साध्योपकरणस्य हेतोः प्रधानसाध्यभेदाद् भेदः, न [1]स्वरूपभेदात्। साध्यश्च कश्चिद् विधिः कश्चित् प्रतिषेधः। विधिप्रतिषेधयोश्च [2]परस्पर-परिहारेणावस्थानात् तयोर्हेतू भिन्नौ। विधिरपि कश्चिद् हेतोर्भिन्नः कश्चिद् अभिन्नः। भेदाभेदयोर न्योन्यत्यागेनाऽऽत्मस्थितेर्भिन्नौ हेतू। ततः साध्यस्य परस्परविरोधाद् हेतवो[3] भिन्नाः, न तु स्वत एवेति ॥१८॥

(अभाव negation) का हेतु अर्थात् बाधक है। 'प्रतिषेध' इस शब्द से अभाव तथा अभाव का व्यवहार कहा गया है, यह समझना चाहिये।

इस प्रकार यह अर्थ है—हेतु साध्य की सिद्धि के लिये होता है अतः वह साध्य का अङ्ग है और साध्य प्रधान है। इस प्रकार साध्य के अङ्ग (साधन, उपकरण) होने वाले हेतु का प्रधानभूत साध्य के भेद से भेद हो जाता है, अपने रूप के भेद से नहीं। कोई साध्य तो विधिरूप (भावात्मक) है, कोई अभावरूप। क्योंकि भाव और अभाव एक दूसरे से पृथक् रहते हैं इसलिये दोनों के हेतु भिन्न-भिन्न होते हैं। भावरूप साध्य में भी कोई तो हेतु से भिन्न होता है और कोई हेतु से अभिन्न तद्रूप) होता है। भेद और अभेद का भी एक दूसरे से पृथक् अपना स्वरूप (आत्मस्थिति) होता है, इसलिये इनके भी भिन्न-भिन्न हेतु होते हैं। इस प्रकार साध्य के परस्पर भेद से हेतु भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हो जाते हैं, स्वरूप से नहीं ॥१८॥

विधेः साधनौ—यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ 'वस्तु' का अर्थ विधि = भाव या सत्ता किया गया है। इसी प्रकार निम्न शब्द भी 'वस्तु' के समानार्थक माने जाते जाते हैं—वस्तु (अर्थक्रियासमर्थ या अर्थक्रियाकारी) = स्वलक्षण = क्षण = परमार्थसत् (स्वलक्षणस्य विधिरूपस्य परमार्थसतः, न्या० वा० ता०, पृ० ४८६ पं० २२) मि०, बु० लॉ० २, पृ० ६८ टि० ३।

'सर्वं वाक्यं सावधारणम्'—इस न्याय के अनुसार यहाँ वस्तुनः साधनौ एव, यह नियम किया जा सकता है, 'वस्तुनः एव साधनौ—इस प्रकार नहीं। क्योंकि कार्य और स्वभाव हेतु के द्वारा अन्यव्यावृत्ति की भी सिद्धि होती है, जैसे—शब्द नित्य नहीं है, क्योंकि वह कार्य है। इसी प्रकार 'प्रतिषेधस्य हेतुरेव—यह नियम किया जा सकता है; 'अयमेव प्रतिषेधहेतुः'—यह नहीं। क्योकि कार्य और स्वभाव हेतु भी अभाव के साधक होते हैं ((धर्मो० प्र०, पृ० १०९)।

अभावोऽभावव्यवहारश्च—अनुपलब्धि का साध्य क्या है? इसका विशद विवेचन आगे किया जायेगा। फलितार्थ यह है कि कारणानुपलब्धि तथा व्यापकानुपलब्धि ये दोनों अभाव एवं अभाव-व्यवहार दोनों को सिद्ध करती हैं किन्तु स्वभावानुपलब्धि केवल अभावव्यवहार को ही सिद्ध करती है (मि०, हेतुबिन्दुटीका पृ०, १७४) इसलिये यहाँ प्रतिषेध शब्द के दोनों अर्थ हैं—अभाव तथा अभाव-व्यवहार।

१ स्वरूपात् C. २. परस्परं परि० B D. ३. हेतवोऽपि B.

कस्मात् पुनस्त्रयाणां हेतुत्वम्, कस्माच् चान्येषाम् अहेतुत्वम् इत्याशङ्क्य यथा त्रयाणाम् एव हेतुत्वम् अन्येषां चाहेतुत्वं तद् उभयं दर्शयितुम् आह—

स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थं गमयेत् ॥१९॥

स्वभावप्रतिबन्ध इति। स्वभावेन प्रतिबन्धः 'स्वभावप्रतिबन्धः[1]। "साधनं कृता" (पतञ्जलि, महा० २.१.३३) इति समासः। स्वभावप्रतिबद्धत्वं प्रतिबद्धस्वभावत्वम् इत्यर्थः। कारणे स्वभावे च साध्ये स्वभावेन प्रतिबन्धः

अभाव-व्यवहार तीन प्रकार का है—१. अभाव का ज्ञान जैसे, 'यहाँ घट नहीं है'—इस प्रकार का ज्ञान। २. अभाव का कथन; जैसे 'यहाँ घट नहीं है'—यह कहना ३. प्रवृत्ति; यहाँ घट नहीं रक्खा है; यह जानकर उस स्थान में निशङ्क होकर आना-जाना आदि।

परस्परपरिहारेण०—अन्योन्यत्यागेन०—यह विरोध का दूसरा नियम है (न्या० वि०, ३.७५)। इसका अभिप्राय है एक का दूसरे से भिन्न होना। यहाँ भावात्मक साध्य और अभावरूप साध्य में भिन्नता है। इसी प्रकार भावात्मक जो दो प्रकार के साध्य हैं—कारण-रूप और तादात्म्य-रूप, उनमें भी परस्पर भेद है। इस प्रकार साध्य वस्तु तीन प्रकार की हो जाती है।

हेतोर्भिन्नः—कार्यहेतु से उसका साध्य भिन्न होता है जैसे—धूम (हेतु) से अग्नि (साध्य) भिन्न है।

अभिन्नः—स्वभावहेतु से उसका साध्य अभिन्न होता है; जैसे—वही शिंशपा है वही वृक्ष है।

न तु स्वत एव—तीन प्रकार के साध्य होने से हेतु के भी तीन प्रकार हो जाते हैं। वस्तुतः सभी हेतु पक्ष-सत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षाऽसत्त्व – इन तीनों रूपों से युक्त (त्रिरूपसम्पन्न) ही होते हैं। उनमें स्वतः कोई भेद नहीं होता।

कस्माद् इति—ये तीन ही हेतु क्यों हैं? तथा इनसे भिन्न (संयोगी आदि) भी हेतु क्यों नहीं हैं? यह शङ्का करके जिस प्रकार इन तीनों में ही हेतुता है और अन्यों में अहेतुता है—इन दोनों बातों को दिखलाने के लिये कहा है—

क्योंकि स्व-सत्ता के लिये पराश्रित होने पर ही एक वस्तु (साधन, धूम आदि) दूसरी वस्तु (साध्य, अग्नि आदि) का बोध करा सकती है ॥१९॥

स्वभावप्रतिबन्ध इति—स्वभाव से प्रतिबन्ध (पराधीनता)=स्वभावप्रतिबन्ध। 'साधनं कृता' (पतञ्जलि के इस वचन) से समास हुआ है। स्वभावप्रतिबन्ध=स्वभावप्रतिबद्धत्व=स्वभावप्रतिबद्धता का अर्थ है—स्वरूप से (या अपनी सत्ता के लिये) किसी पर आश्रित होना। कारण रूप (अग्नि आदि) तथा स्वभावरूप (वृक्ष आदि) साध्य पर कार्य (धूम आदि) और स्वभाव (शिंशपा आदि) दोनों समान रूप से

---

[1] 'स्वभावप्रतिबन्धः' नास्ति C.

कार्यस्वभावयोरविशिष्ट इत्येकेन समासेन द्वयोरपि संग्रहः। हिर्यस्मादर्थे। यस्मात् स्वभावप्रतिबन्धे सति साधनार्थः साध्यार्थं गमयेत्, तस्मात् त्रयाणां गमकत्वम्, अन्येषाम् अगमकत्वम् ॥१९॥

(अविशिष्ट) अपनी सत्ता के लिये आश्रित हैं; इसलिये एक ही समास से दोनों का संग्रह हो जाता है। 'हि' का अर्थ है—क्योंकि। क्योंकि स्वभाव से (स्वसत्ता के लिये) पराश्रित होने पर साधनभूत वस्तु (धूम आदि) साध्यभूत वस्तु (अग्नि आदि) का बोध करा सकती है; इसलिये उक्त तीन हेतु ही (अर्थ के) साधक हैं, इनसे भिन्न (संयोगी आदि) साधक नहीं ॥१९।

कस्मात् पुनः—यहाँ दो प्रश्न हैं—(१) इन तीनों को किस आधार पर हेतु (लिङ्ग) माना गया है ? (२) इन तीनों से भिन्न वे संयोगी आदि भी हेतु क्यों नहीं हैं, जिनसे साध्य की सिद्धि होती है ? जैसे नैयायिक का कथन है कि कृत्तिका नक्षत्र को उदित हुआ देखकर उसका रोहिणी नक्षत्र के साथ नियतसंयोग होने के कारण रोहिणी के उदय का अनुमान कर लिया जाता है। इस प्रकार अपने साध्य का बोध कराने वाला कोई भी ज्ञापक हेतु हो सकता है, ये तीन ही नहीं (सम्बन्धो यो वा स वाऽस्तु, न्या० वा० ता०, पृ० १६५ पं० ४)

स्वभावेन प्रतिबन्धः—यहाँ स्वभाव शब्द का अर्थ है—स्वस्य भावः = स्वसत्ता = स्वोत्पत्ति = अपना स्वरूप। यहाँ स्वभाव शब्द स्वभावहेतु में प्रयुक्त स्वभाव शब्द से भिन्नार्थक है। वहाँ स्वभाव = तद्रूपता = तादात्म्य; जैसे वृक्षत्व का स्वभाव मात्र ही शिंशपात्व है। न्यायबिन्दुटीका में 'स्वभावे च साध्ये' तथा 'कार्यस्वभावयोः' में स्वभाव शब्द का उसी (स्वभावहेतु) अर्थ में प्रयोग किया गया है। 'प्रतिबद्ध' शब्द का अर्थ है—आयत्तः = आश्रित = नियम से बंधा हुआ, अतः प्रतिबन्ध = आश्रित होना। जो वस्तु अपनी सत्ता के लिये दूसरी पर आश्रित है वह 'स्वभावप्रतिबद्ध' कही गई है और उन दोनों का सम्बन्ध है—स्वभाव-प्रतिबन्ध = अविनाभावसम्बन्ध। उदाहरणार्थ धूम अपनी सत्ता के लिये अग्नि पर आश्रित है अग्नि के बिना धूम की सत्ता नहीं होती। अतः धूम का अग्नि के साथ स्वभाव-प्रतिबन्ध है। इसी प्रकार शिंशपात्व अपनी सत्ता के लिये वृक्षत्व पर आश्रित है, वृक्षत्व के बिना शिंशपात्व नहीं होता अतः शिंशपात्व का वृक्षत्व के साथ स्वभाव-प्रतिबन्ध है।

साधनं कृता—पाणिनि का सूत्र है 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (२.१.३२)। कुछ प्रयोगों को ध्यान में रखकर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस सूत्र के स्थान पर 'साधनं कृता' ऐसा सूत्र रखना उचित समझा है। उससे ही यहाँ तृतीया समास होगा। सूत्रकार और वार्तिककार के अनुसार तो यहाँ 'तृतीया' इस योग-विभाग से समास होगा (धर्मो० प्र०, पृ० ११०)।

यहाँ प्राचीन व्याख्याकारों के मत का निराकरण करने के लिये तृतीयासमास दिखलाया गया है। उनका कथन था—'स्वभावस्य प्रतिबन्धः' इस षष्ठी समास में स्वभावहेतु का संग्रह होता है तथा 'स्वभावे प्रतिबन्धः' इस सप्तमी समास से कार्य-

कस्मात् पुनः स्वाभावप्रतिबन्ध एव सति गम्यगमकभावो नान्यथेत्याह–

तदप्रतिबद्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावात् ॥२०॥

तदप्रतिबद्धस्येति ।'तद्' इति स्वभाव उक्तः । तेन स्वभावेन अप्रतिबद्धः– तदप्रतिबद्धः । यो यत्र स्वभावेन न प्रतिबद्धः, तस्य तदप्रतिबद्धस्य; तदव्यभिचारनियमाभावात्[1]—'तस्याप्रतिबन्धविषयस्याव्यभिचारः[2] तदव्यभिचारः, तस्य नियमः तदव्यभिचारनियमः, तस्याभावात् ।

'अयम् अर्थः[3]—न हि यो यत्र स्वभावेन[4] न प्रतिबद्धः, स तम् अप्रतिबन्धविषयम्[5] अवश्यम् एव न व्यभिचरतीति नास्ति तयोरव्यभिचारनियमः=

हेतु का संग्रह होता है । (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ११०,-६६) । धर्मोत्तर का अभिप्राय है कि तृतीया समास करने पर दोनों प्रकार के हेतुओं का संग्रह हो जाता है ।

अन्येषाम् अगमकत्वम्—भाव यह है कि स्वभाव, कार्य तथा अनुपलब्धि इन तीन प्रकार के हेतुओं में ही साध्य के साथ अविनाभाव का नियम होता है, अतः ये ही साध्य के साधन हो सकते हैं । इनसे भिन्न जो हेतु अन्य तार्किकों ने माने हैं उनमें अविनाभाव का नियम नहीं होता । इसलिये वे हेतु नहीं होते । (द्रष्टव्य, हेतु बन्दुटीका, पृ० ५४) ।

८. स्वभावप्रतिबन्ध या अविनाभाव–नियम

कस्माद् इति—स्वभावप्रतिबन्ध होने पर ही साध्य-साधन-भाव क्यों होता है, इसके विना क्यों नहीं होता, यह बतलाते हैं—

क्योंकि उस (स्वभाव=स्वसत्ता) से जिसका प्रतिबन्ध नहीं है, उसका अन्य (तत्=परोक्ष अर्थ) वस्तु से अविनाभाव (अव्यभिचार) का नियम नहीं होता ॥२०॥

तदप्रतिबद्धस्येति— तद् (=वह) इस शब्द से स्वभाव (=स्वसत्ता) कहा गया है । उस स्वभाव से अप्रतिबद्ध=तदप्रतिबद्ध कहा जाता है, अर्थात् स्वसत्ता के लिये पराश्रित न होने वाला । जो पदार्थ जिस पर स्वसत्ता के लिये आश्रित नहीं है उसका (=तदप्रतिबद्धस्य); =उस प्रतिबन्ध का विषय न होने वाले पदार्थ के साथ अविनाभाव (=तदव्यभिचारः), का नियम (=तदव्यभिचार-नियमः); नहीं हुआ करता ।

भाव यह है—जो पदार्थ जिस पर स्वसत्ता के लिये आश्रित नहीं है, वह उस प्रतिबन्ध का विषय न होने वाले पदार्थ का नियम से (=अवश्यम् एव) अव्यभिचारी (=न व्यभिचरति) हो, ऐसा नहीं होता (न हि); इस प्रकार उन दोनों का अव्यभिचारनियम=अविनाभावनियम (एक दूसरे के विना न रहने का नियम)

---

१. नियमाभावः A.E.H.P. २. तस्याप्रतिबद्धविषयस्य A.H.P. तस्य प्रति० N.
३. तदयमर्थः T. ४. स्वभावेन प्रति B.
५. तमप्रतिबद्धवि० A.H.P.

अविनाभावनियमः। अव्यभिचारनियमाच्च गम्यगमकभावः। न हि योग्यतया प्रदीपवत् परोक्षार्थप्रतिपत्तिनिमित्तम् इष्टं लिङ्गम्, अपि त्वव्यभिचारित्वेन निश्चितम् ततः स्वभावप्रतिबन्धे [1]सत्यविनाभावित्वनिश्चयः, ततो गम्यगमकभावः। तस्मात् स्वभावप्रतिबन्धे सत्यर्थोऽर्थं गमयेन्नान्यथेति स्थितम् ॥२०॥

ननु च परायत्तस्य प्रतिबन्धोऽपरायत्ते तद् इह साध्यसाधनयोः कस्य क्व प्रतिबन्ध इत्याह—

नहीं होता। और, अविनाभाव के नियम से ही (दो वस्तुओं में) साध्य-साधन-भाव होता है। क्योंकि लिङ्ग (धूम आदि) को दीपक के समान योग्यतामात्र से ही परोक्ष पदार्थ के बोध का निमित्त नहीं माना जाता; अपि तु अविनाभावी रूप में निश्चित (= नियत) लिङ्ग ही (परोक्ष अर्थ का बोधक होता है)। इस प्रकार स्वभाव–प्रतिबन्ध होने पर अविनाभाव का नियम होता है और उस (अविनाभाव के नियम से वस्तुओं में साध्य-साधनभाव होता है। इसलिये स्वभाव-प्रतिबन्ध होने पर ही एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का बोध करा सकता है, इसके बिना नहीं—यह सिद्ध होता है ॥२०॥

प्रतिबद्ध = आश्रित = आयत्त = अधीन = लिङ्ग = व्याप्य।

तदव्यभिचारनियमाभावात्—तद् = अप्रतिबन्ध का विषय, जिसके साथ हेतु का प्रतिबन्ध नहीं होता, वह वस्तु। अव्यभिचार = विना न होना, अविनाभाव।

प्रतिबन्धविषय—प्रतिबन्ध = आश्रित होना = नियत सम्बन्ध = अव्यभिचारी सम्बन्ध = अविनाभाव सम्बन्ध (व्याप्ति)। प्रतिबन्ध का विषय = साध्य, व्यापक; जिस पर हेतु आश्रित होता है, वह पदार्थ प्रतिबन्ध-विषय कहलाता है। (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ७० टि० ४)

निश्चय = नियम। अन्यत्र 'निश्चय' शब्द का सविकल्पकज्ञान के अर्थ में भी प्रयोग किया गया है। (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ७१ टि० ४)। वस्तुतः सूत्र २०, २१ तथा २२ में समान अर्थ में ही 'निश्चय' शब्द का प्रयोग किया गया है। श्चेरबात्स्की ने सूत्र २२ तथा २३ में 'निश्चय' शब्द द्वारा नियम तथा निश्चयात्मक ज्ञान दोनों अर्थों की प्रतीति मानी है। [The term niscaya implies both necessity (= niyama) and judgment (adhyavasāya = kalpnā) बु० लॉ० २, पृ० ७४ टि० ३। उसी प्रकार यहाँ भी 'निश्चय' शब्द के दोनों अर्थ करना ही संगत है। भाव यह है कि यहाँ 'निश्चय' शब्द साक्षात् रूप से निश्चयात्मक ज्ञान को कहता है और अर्थतः 'नियम' की भी प्रतीति करता है, क्योंकि अव्यभिचार का निश्चय तब तक नहीं हो सकता जब तक कि अव्यभिचार का नियम न होगा। (मि०, नियमाभावे च कुतोऽव्यभिचारनिश्चयः इत्यस्य तात्पर्यार्थः। (धर्मो० प्र०, पृ० १११)।

ननु चेति—अब, यदि पराश्रित का उस पदार्थ में प्रतिबन्ध होता है, जो पराश्रित नहीं होता तो यहाँ साध्य और साधन में किसका किस में प्रतिबन्ध होता है? यह बतलाते हैं—

---

१. सत्यविनाभावनिश्चयः A.E..H.N.P.

स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य ॥२१॥

स चेति । स च स्वभावप्रतिबन्धो लिङ्गस्य साध्येऽर्थे । लिङ्गं परायत्तत्वात् प्रतिबद्धम् साध्यस्त्वर्थोऽपरायत्तत्वात् प्रतिबन्धविषयो न 'तु प्रतिबद्ध इत्यर्थः । तत्रायम् अर्थः—'तादात्म्याविशेषेऽपि यत् प्रतिबद्धं तद् गमकम् । यत् प्रतिबन्धविषयः तद् गम्यम् । यस्य चधर्मस्य 'अनियतः स्वभाव. स तःप्रतिबद्धः । यथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वाख्योऽनित्यत्वे । यस्य तु स चान्यश्च स्वभावः स प्रतिबन्धविषयः, न तु प्रतिबद्धः । यथाऽनित्यत्वाख्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाख्ये । निश्चयापेक्षो हि गम्य-गमक-भावः । प्रयत्नानन्तरीयकत्वम् एव चानित्यत्वस्वभाव निश्चितम् । अतस्तद् एव अनित्यत्वे प्रतिबद्धम् । तस्मान्नियतविषय एव गम्यगमकभावः नान्यथेति ॥२१॥

वह प्रतिबन्ध साध्य अर्थ में लिङ्ग का होता है ॥२१॥

स चेति—वह स्वभाव-प्रतिबन्ध (अपनी सत्ता के लिये पराश्रित होना) लिङ्ग (धूम आदि) का साध्य अर्थ (अग्नि आदि) में हुआ करता है । पराधीन होने के कारण लिङ्ग प्रतिबद्ध (आश्रित, व्याप्य) है, साध्य अर्थ तो अन्य के अधीन (आश्रित) नहीं है अतः वह प्रतिबन्ध का विषय है, प्रतिबद्ध नहीं, यह अर्थ है । भाव यह है कि (साध्य और साधन का) समान रूप से तादात्म्य (अभेद, Identity) होने पर भी (=तादात्म्य+अविशेषेऽपि) जो प्रतिबद्ध (आश्रित) है, वह साधन है और जिसमें प्रतिबन्ध होता है, वह साध्य है । जिस धर्म की अपनी सत्ता (स्वभावः) जिसमें आश्रित है, (जिसके बिना वह रह नहीं सकता), वह उसमें ही प्रतिबद्ध होता है; जैसे—'प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होना (=प्रयत्नानन्तरीयकत्व) नामक धर्म अनित्यत्व में प्रतिबद्ध है । किन्तु जिसका वह तथा अन्य भी स्वभाव है, वह प्रतिबन्ध का विषय होता है, वह प्रतिबद्ध नहीं होता; जैसे—अनित्यत्व नामक धर्म है जो प्रयत्नानन्तरीयकत्व नामक धर्म के प्रतिबन्ध का विषय है । वस्तुतः साध्य साधन-भाव निश्चय के आधार पर होता है । क्योंकि प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने वाली वस्तु अनित्य स्वभाव वाली ही होती हैं, यह निश्चित है; अतः वह (प्रयत्नानन्तरीयकत्व) ही अनित्यत्व में प्रतिबद्ध (व्याप्त) है । इसलिये साध्य-साधनभाव नियत विषय में ही होता है, इसके बिना नहीं ॥२१॥

तत्रायम् अर्थः—यह शङ्का हो सकती है कि जहाँ कार्यहेतु से कारण का बोध होता है वहाँ तो कार्य को कारण के आश्रित (=प्रतिबद्ध) कहा जा सकता है; किन्तु स्वभावहेतु का तो अपने साध्य के साथ तादात्म्य होता है दोनों में अभेद होता है, फिर वहाँ हेतु को साध्य में प्रतिबद्ध कैसे कहा जा सकता है ?

---

१. 'तु' नास्ति A.B.D.E.H. N.P. २. तादात्म्यविशेषे० T.

३. यो नियतः T.

कस्मात् पुनः स्वभावप्रतिबन्धो[1]लिङ्गस्य इत्याह—

[2]वस्तुतस्तादात्म्यात् [3]तदुत्पत्तेश्च ॥२२॥

वस्तुत इत्यादि । साध्योऽर्थ[4] आत्मा स्वभावो यस्य तत् तदात्मा[5] । तस्य भावस्तादात्म्यम्[6] । तस्माद्धेतोः यतः साध्य-स्वभाव साधनं तस्मात् [7]तत्र स्वभावप्रतिबन्ध[8] इत्यर्थः ।

'तत्रायमर्थः' इत्यादि में इस शङ्का का समाधान है । अभिप्राय यह है कि यद्यपि स्वभावहेतु के स्थल पर हेतु और साध्य दोनों का समान रूप से तादात्म्य है (तादात्म्याविशेषेऽपि) तथापि एक वस्तु के दो स्वभावों में से जो नियत रूप से दूसरे पर आश्रित होता है, कहीं भी उसके बिना नहीं रह सकता, वही प्रतिबद्ध होता है और दूसरा प्रतिबन्ध का विषय । उदाहरणार्थ—'शब्दोऽनित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' =शब्द अनित्य है क्योंकि वह पुरुषव्यापार के अनन्तर उत्पन्न होता है । यहाँ प्रयत्नानन्तरीयकत्व नामक धर्म (स्वभाव) कहीं भी अनित्यत्व को छोड़कर नहीं रह सकता, जो पदार्थ प्रयत्न से उत्पन्न होगा वह अवश्य अनित्य होगा । किन्तु अनित्यत्व धर्म प्रयत्नानन्तरीयकत्व के बिना भी रहता है, जैसे—विद्युत् आदि सभी के मत में अनित्य हैं पर वे पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होतीं । इस प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध होने पर भी जो पराश्रित=प्रतिबद्ध है वही हेतु होता है ।

प्रयत्नानन्तरीयकत्वम्–प्रयत्नस्य अनन्तरम्=प्रयत्नानन्तरम्; तत्र भवः प्रयत्नानन्तरीयः, स एव प्रयत्नानन्तरीयकः, तस्य भावः प्रयत्नानन्तरीयकत्वम्=प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होना ।

नियतविषय एव—जो प्रतिबद्ध रूप में निश्चित किया जाता है, वह साधन होता है तथा जो प्रतिबन्ध का विषय होता है, वह साध्य होता है । इस प्रकार से नियत विषय में ही साध्य-साधन-भाव होता है, अन्य प्रकार से नहीं । इस कथन पर धर्मोत्तर ने विशेष बल दिया है । इससे ध्वनित होता है कि नैयायिक आदि ने जो अव्यभिचरित साहचर्य के आधार पर अनियत (असम्य) प्रकार का साध्य-साधन-भाव माना है, वह युक्तिसंगत नहीं है ।

कस्मात् पुनर् इति—लिङ्ग (साधन) का ही स्वभाव-प्रतिबन्ध (अविनाभाव सम्बन्ध) क्यों होता है, (वस्तु का क्यों नहीं होता) ? यह बतलाते हैं—

क्योंकि लिङ्ग का वस्तुतः उस (साध्य) से तादात्म्य होता है तथा उस से उत्पत्ति होती है ॥ २२ ॥

वस्तुतः इत्यादि—वह साध्य अर्थ है आत्मा अर्थात् स्वभाव जिसका ऐसा

---

१. लिङ्गस्य न वस्तुन इत्याह B.D.H., लिङ्गस्य साध्येनेत्याह N.

२. वस्तुनः P.

३. ०साध्यार्थादुत्प० B.E.H.N.P.

४. स साध्यः स्वभावो B., ०र्थस्वभाव आत्मा यस्य D.

५. तदात्म C.D.

६. तादात्म्यं तत्स्वभावत्वं B.

७. तत् तत्र B.H.N.

८. प्रतिबद्धम् इत्यर्थः A.B.E.H.N.P.

यदि साध्यस्वभावं साधनं साध्यसाधनयोरभेदात् प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुः स्याद् इत्याह–वस्तुतः इति। परमार्थसता रूपेणाऽभेदस्तयोः। विकल्पविषयस्तु यत् समारोपित रूपम्, तदपेक्षः साध्यसाधनभेदः। निश्चयापेक्ष[1] एव हि गम्य-गमक-भावः। ततो निश्चयारूढरूपापेक्ष एव तयोर्भेदो युक्तः, वास्तवस्त्वभेद इति। न केवलात्[2] तादात्म्याद् अपि तु ततः साध्याद् अर्थाद् उत्पत्तिर्लिङ्गस्य: तदुत्पत्तेश्च साध्येऽर्थे स्वभावप्रतिबन्धो लिङ्गस्य ॥२२॥

(लिङ्ग) 'तद त्मा' कहा जायेगा। उसका भाव—तादात्म्य - तद्रूपता। उस हेतु से =तादात्म्यात्=तद्रूप होने के कारण। क्योंकि जिस का स्वभाव साध्य ही होता है वह साधन होता है, इसलिये साध्य में (साधन का) स्वभाव-प्रतिबन्ध (अविनाभाव सम्बन्ध) है, यह अर्थ है।

किन्तु यदि जिसका स्वभाव साध्य ही है वह साधन होता है तो साध्य और साधन में अभेद होने के कारण प्रतिज्ञात अर्थ का एक देश (एक अंश) ही हेतु हो जायेगा। इस पर कहते हैं—वस्तुतः इत्यादि। वास्तविक (पारमार्थिक) रूप से उन दोनों (साध्य और साधन) का अभेद है; किन्तु विकल्पज्ञान का विषय जो वस्तु का समारोपित (कल्पित) रूप है उस के आधार पर साध्य और साधन का भेद हो जाता है। क्योंकि साध्य-साधन-भाव निश्चयात्मक ज्ञान के आधार पर होता है, इसलिये निश्चयात्मक ज्ञान (सविकल्पक) में भासित (=आरूढ) रूप की अपेक्षा से ही उन (साध्य-साधन) का भेद होना उचित है, वस्तुतः तो दोनों का अभेद ही है। और, केवल तद्रूपता होने से ही (स्वभावप्रतिबन्ध) नहीं होता, अपि तु उस साध्य अर्थ से लिङ्ग की उत्पत्ति होती है अतः उससे उत्पन्न होने के कारण भी साध्य अर्थ में लिङ्ग का स्वभाव-प्रतिबन्ध (अविनाभाव सम्बन्ध) होता है ॥२२॥

तादात्म्यात् तदुत्पत्तेश्च—यहाँ धर्मकीर्ति ने दिखलाया है कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति इन दो निमित्तों से स्वभाव-प्रतिबन्ध होता है। कैसे? बौद्धन्याय के अनुसार स्वलक्षण या क्षण की ही वास्तविक सत्ता होती है। इस अर्थक्रियाकारी क्षण के अनेक स्वभाव हो सकते हैं, जैसे यह वृक्ष भी है, अशोक भी। किन्तु इन सभी धर्मों में तादात्म्य होता है, वस्तुतः वे भिन्न नहीं होते। उनमें से एक धर्म प्रतिबद्ध=अविना-भावी होता है और दूसरा प्रतिबन्ध का विषय, जैसे अशोकत्व धर्म वृक्षत्व का अविना-भावी है, वह अशोक तभी हो सकता है जब वह वृक्ष हो। इस प्रकार तादात्म्य से प्रतिबन्ध होता है।

किन्तु यदि किसी वस्तु को कार्य-कारण-भाव की दृष्टि से देखा जाता है तो प्रतीत होता है कि कार्य अपनी सत्ता के लिये कारण पर आश्रित है। वह कार्य अपने कारण में प्रतिबद्ध=अविनाभावी है, जैसे अङ्कुर रूप कार्य सदा बीज से ही उत्पन्न होता है, बिना बीज के कभी भी नहीं होता। इस प्रकार तदुत्पत्ति के निमित्त से भी

---

१. निश्चयापेक्षया B.C.D. २. केवलं तादा० A.B.D.E.H.N.P.

कस्मान् निमित्तद्वयात् स्वभावप्रतिबन्धो लिङ्गस्य नान्यस्मात् इत्याह—

अतत्स्वभावस्य तदुत्पत्तेश्च तत्राप्रतिबद्धस्वभावत्वात् ॥२३॥

अतत्स्वभावस्येति । स स्वभावोऽस्य[1] सोऽयं तत्स्वभावः । न तत्स्वभावोऽतत्स्वभावः । तस्माद् उत्पत्तिरस्य सोऽयं तदुत्पत्तिः । न तथाऽतदुत्पत्तिः । यो यत्स्वभावो यदुत्पत्तिश्च न भवति तस्य अतत्स्वभावस्य, अतदुत्पत्तेश्च । तत्र अतत्स्वभावे अनुत्पादके चाप्रतिबद्धः स्वभावोऽस्येति [2]सोऽयम् अप्रतिबद्धस्वभावः । तस्य[3] भावोऽप्रतिबद्धस्वभावत्वम् । तस्माद् अप्रतिबद्धस्वभावत्वात् ।

प्रतिबन्ध होता है । क्योंकि अङ्कुर बीज से ही उत्पन्न होता है अतः अङ्कुर को देखकर बीज का अनुमान किया जा सकता है (मि० बु० लॉ० २, पृ० ७३ टि० १)

प्रतिज्ञार्थैकदेश०—प्रतिज्ञा का अर्थ है—साध्य-निर्देश करना । जब साध्य तथा साधन का तादात्म्य = अभेद है तो साध्य का निर्देश करने से साधन का भी निर्देश हो जायेगा । किन्तु साध्य तो असिद्ध है अतः हेतु भी असिद्ध हो जायेगा—यह हेतु का दोष है (मि०, धर्मो॰ प्र०, पृ० ११३); विशेष द्रष्टव्य आगे ३.१८ ।

वस्तुतः—इत्यादि से इस दोष का निराकरण किया गया है । अभिप्राय यह है कि परमार्थसत् वस्तु (=स्वलक्षण) की दृष्टि से यहाँ साध्य और साधन में तादात्म्य बतलाया गया है । यह स्वलक्षण केवल निर्विकल्पक ज्ञान का विषय है । किन्तु साध्य-साधन-भाव का निश्चय तो सविकल्पक ज्ञान द्वारा होता है । उस निश्चयात्मक ज्ञान में जिस वस्तु का भास होता है उसमें साध्य और साधन का भेद रहता है । इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से दोनों का तादात्म्य है किन्तु विकल्प-जन्य आरोप के कारण (या व्यावहारिक दृष्टि से) दोनों का भेद है ही ।

न केवलात्०—इसके द्वारा प्रतिबन्ध का द्वितीय निमित्त 'तदुत्पत्ति' दिखलाया गया है ।

कस्माद् इति—इन दोनों निमित्तों से ही लिङ्ग का स्वभावप्रतिबन्ध (=अविनाभाव सम्बन्ध) क्यों होता है, अन्य निमित्त से क्यों नहीं, यह बतलाते हैं—

जिस (लिङ्ग) का वह साध्य (तत्) ही स्वभाव नहीं है, तथा जिस की उस (साध्य) से ही उत्पत्ति नही होती, उस (लिङ्ग) का उस साध्य में (तत्र) स्वभाव-प्रतिबन्ध (अविनाभाव सम्बन्ध) नहीं होता ॥२३॥

वह (साध्य) है स्वभाव जिसका वह (पदार्थ) उस स्वभाव वाला (=तत्स्वभाव) कहा जाता है । जो उस स्वभाव वाला नहीं है, वह 'अतत्स्वभाव' है । उस (साध्य) से जिसकी उत्पत्ति है, वह (पदार्थ) उससे उत्पन्न होने वाला (=तदुत्पत्ति) कहा जाता है । जिसकी उस (साध्य) से उत्पत्ति नहीं होती (न तथा) वह 'अतदुत्पत्ति' कहा गया है । जिस (पदार्थ) का वह (साध्य) स्वभाव नहीं होता और जिस की उस से उत्पत्ति नहीं होती उसका (=अतत्स्वभावस्य, अतदुत्पत्तेः च) । उस साध्य में (तत्र) जो

---

१. ०भावो यस्य सो D ०भावो यस्येति सो C. २. सोऽयम् इति नास्ति D.
३. तस्य भावस्तस्माद् C.D.

यद्यतत्स्वभावेऽनुत्पादके च कश्चिद् प्रतिबद्धस्वभावो भवेद्, भवेद् अन्यतोऽपि निमित्तात्[1] स्वभावप्रतिबन्धः। प्रतिबद्धस्वभावत्वं हि स्वभावप्रतिबन्धः। न चान्यः कश्चिदायत्तस्वभावः। तस्मात् तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्याम् एव स्वभावप्रतिबन्धः ॥२३॥

उसका स्वभाव नहीं है तथा जो उसका उत्पादक नहीं है आश्रित नहीं है स्व-सत्ता जिसकी वह पदार्थ अप्रतिबद्धस्वभाव वाला कहा गया है। उसका भाव होगा—अप्रतिबद्धस्वभावत्व (भाव अर्थ में 'त्व' प्रत्यय); उससे (हेतु में पञ्चमी विभक्ति) अर्थात् स्वभाव से प्रतिबद्ध होने के कारण।

यदि कोई पदार्थ उस वस्तु में भी स्वभाव से प्रतिबद्ध होता, जो कि उसका स्वभाव नहीं है या जो उसको उत्पन्न करने वाली नहीं है तो अन्य निमित्त से भी स्वभाव-प्रतिबन्ध (अविनाभावसम्बन्ध) हो जाया करता। अपनी सत्ता के लिये दूसरे पर आश्रित होना (=प्रतिबद्धस्वभावत्व) ही स्वभाव-प्रतिबन्ध (अविनाभाव सम्बन्ध या व्याप्ति) है और इस (तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति) से भिन्न और कुछ स्व-सत्ता के लिये पराश्रित होना (आयत्तस्वभावः) है नहीं। इसलिये तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति से ही स्वभाव-प्रतिबन्ध होता है ॥२३॥

तत्स्वभावः—सः स्वभावो यस्य सः = उस स्वभाव वाला (पदार्थ)—बहुव्रीहि समास।

तदुत्पत्तिः—तस्माद् उत्पत्तिरस्य = उस से उत्पन्न होने वाला (पदार्थ) बहुव्रीहि समास।

प्रतिबद्धस्वभावत्वं हि०—यह वाक्य कुछ भिन्न रूप में सूत्र १९ की न्यायबिन्दु-टीका में भी है। धर्मोत्तर ने इस वाक्य द्वारा इस तथ्य पर बल दिया है कि जो पदार्थ अपनी सत्ता के लिये दूसरी वस्तु के अधीन होता है वही उस (दूसरी) वस्तु का साधक (लिङ्ग) हो सकता है।

तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्याम् एव—बौद्धन्याय के अनुसार अविनाभाव सम्बन्ध (या व्याप्ति) दो ही सम्बन्धों से होता है—तादात्म्य से या तदुत्पत्ति से (देखिये, अनुवाद)। इस पर नैयायिक आदि का कथन है कि अनेक ऐसे उदाहरण हैं जहाँ व्याप्ति तो होती है किन्तु इन दोनों में से कोई भी निमित्त नहीं होता; जैसे चन्द्रोदय को देख कर समुद्र की वृद्धि तथा कुमुद-विकास का अनुमान किया जाता है और शरद् ऋतु में निर्मल जल को देखकर अगस्त नक्षत्र के उदय का अनुमान किया जाता है, इसी प्रकार के अनेक उदाहरण लोक और शास्त्र में विद्यमान हैं अतः नियत साहचर्य मात्र से व्याप्ति मानना उचित है केवल तादात्म्य और तदुत्पत्ति से नहीं।

इसके उत्तर में बौद्धन्याय का मन्तव्य है कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति से ही अविनाभाव सम्बन्ध होता है, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। अन्यथा कोई पदार्थ किसी का भी साधक (लिङ्ग) होने लगेगा। नैयायिक द्वारा प्रदर्शित उदाहरणों में

१. निमित्तत्वात् C.

भवतु नाम तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्याम् एव स्वभावप्रतिबन्धः। कार्यस्वभावयोरेव तु गमकत्वं कथम् इत्याह—

ते च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेवेति ताभ्याम् एव वस्तुसिद्धिः ॥२४॥

ते चेति। इतिः तस्मादर्थे। यस्मात स्वभावे कार्य एव च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्थिते, तन्निबन्धनश्च गम्यगमकभावः, तस्मात् ताभ्याम् एव कार्यस्वभावाभ्यां वस्तुनो विधेः सिद्धिः ॥२४॥

जहाँ कहीं साक्षात् या परम्परया तादात्म्य और तदुत्पत्ति—इनमें से कोई निमित्त विद्यमान है, वहाँ इसी आधार पर अविनाभाव सम्बन्ध माना जा सकता है; जैसे—'जल की निर्मलता' यह तो अगस्तोदय का कार्य ही है। यद्यपि समुद्रवृद्धि या कुमुद-विकास चन्द्रोदय का साक्षात् कार्य नहीं है तथापि उन दोनों (चन्द्रोदय और समुद्रवृद्धि आदि) की उत्पत्ति एकसामग्री के अधीन है। एक ही महाभूत-विशेष से उन दोनों की उत्पत्ति होती है। इसलिये यहाँ भी परम्परया तदुत्पत्ति निमित्त है ही। इस प्रकार किसी आम्रफल आदि के रूप को देखकर जो उसके मधुर आदि रस का अनुमान किया जाता है वहाँ भी एकसामग्री के अधीन होने के कारण तदुत्पत्ति नामक निमित्त होता है।

इसके विपरीत जहाँ इन दोनों निमित्तों में से कोई भी नहीं, वहाँ अविनाभाव-सम्बन्ध ही नहीं होता, जैसे उमड़े मेघों को देखकर भावी वर्षा का अनुमान करना, युक्ति सङ्गत नहीं, क्योंकि यह भी सम्भव है कि किसी कारण से वर्षा न हो। वस्तुतः कारण से कार्य का अनुमान नहीं किया जा सकता (मि०, बु० ला० २, पृ० ७६ टि० २)। इस विषय का विशद विवेचन दुर्वेक मिश्र ने किया है (धर्मो० प्र०, पृ० ११५)।

भवतु नामेति—अच्छा; यदि तादात्म्य और तदुत्पत्ति से ही अविनाभाव-सम्बन्ध होता है तो भी कार्य और स्वभाव ही (परोक्ष अर्थ के) बोधक क्यों होते हैं, यह बतलाते हैं—

क्योंकि तादात्म्य और तदुत्पत्ति (ये दोनों निमित्त) स्वभाव और कार्य में ही रहते हैं, इसलिये उन दोनों से ही वस्तु की सिद्धि होती है ॥२४॥

ते चेति। 'इति' शब्द इसलिये (=तस्मात्) के अर्थ में है। क्योंकि साध्य वस्तु के साथ एकरूपता होना (तादात्म्य) या उससे उत्पन्न होना (तदुत्पत्ति)—ये दोनों (निमित्त) स्वभाव तथा कार्य में ही नियत रूप से सम्बद्ध हैं (स्थिते)। और, उन्हीं (तादात्म्य, तदुत्पत्ति) के निमित्त से साध्य-साधन-भाव होता है, इसलिये उस कार्य तथा स्वभाव नामक हेतु से ही भावात्मक वस्तु (=विधेः) की सिद्धि होती है ॥२४॥

विधेः—भावात्मक पदार्थ की; अभिप्राय यह है कि भावात्मक पदार्थ की सिद्धि स्वभाव या कार्य नामक हेतु से ही हो सकती है अन्य से नहीं।

अथ प्रतिषेधसिद्धिरदृश्यानुलम्भाद् अपि कस्मान् नेष्टेत्याह—

प्रतिषेधसिद्धिरपि[1] यथोक्ताया एवानुपलब्धेः ॥२५॥

प्रतिषेधव्यवहारस्य सिद्धिर्यथोक्ता या दृश्यानुपलब्धिस् तत एव भवति यतस्तस्माद् अन्यतो नोक्ता ॥२५॥

ततस्तावत् कस्माद् भवतीत्याह—

सति वस्तुनि तस्या[2] असम्भवात् २६॥

सति तस्मिन् प्रतिषेध्ये वस्तुनि, यस्माद् दृश्यानुपलब्धिर्न सम्भवति तस्माद्—असम्भवात् । ततः प्रतिषेधसिद्धिः ॥२६॥

---

६. दृश्यानुपलब्धि से ही प्रतिषेध की सिद्धि

अथेति—किन्तु ऐसा क्यों नहीं माना जाता कि अदृश्य वस्तु की अनुपलब्धि से भी [उसका) अभाव सिद्ध हो जाता है, यह बतलाते हैं—

अभाव (के व्यवहार) की सिद्धि भी ऊपर कही गई अनुपलब्धि से ही होती है ॥२५॥

क्योंकि अभाव के व्यवहार की सिद्धि उस से ही होती है, जो ऊपर कही गई दृश्यानुपलब्धि है, इसलिये उससे भिन्न (=अदृश्यानुपलब्धि, से (अभाव की सिद्ध) नहीं कही गई है ॥२५॥

प्रतिषेधसिद्धिः=प्रतिषेधव्यवहारसिद्धिः=प्रतिषेधवशात् पुरुषार्थसिद्धिः (बु०, ला० २, पृ० ७७ टि० २)

अदृश्यानुपलम्भात्—अदृश्य वस्तु की अनुपलब्धि से। अदृश्यानुपलब्धि से प्रतिषेध की सिद्धि क्यों नहीं होती ? इसका विवेचन सूत्र २.१७ तथा उसकी टीका में किया गया है ।

अन्यतः=अदृश्यानुपलब्धेः (धर्मो० प्र०, पृ० ११७)

[अब यहाँ दो प्रश्न उठते हैं—१. उस दृश्यानुपलब्धि से अभाव की सिद्धि क्यों हो जाती है ? २. उससे ही क्यों होती है, अन्य से क्यों नहीं ?]

तत इति—उस (उपर्युक्त दृश्यानुपलब्धि) से (अभाव-व्यवहार की सिद्धि) क्यों हो जाती है, यह बतलाते हैं—

क्योंकि वस्तु के विद्यमान होने पर उस (यथोक्त दृश्यानुपलब्धि) का होना असम्भव है ॥२६॥

क्योंकि (=यस्मात्) जिस वस्तु का प्रतिषेध करना है (=प्रतिषेध्य) उसके होने पर दृश्य की अनुपलब्धि सम्भव नहीं है; उसके असम्भव होने के कारण उस दृश्यानुपलब्धि से (ततः) अभाव (के व्यवहार) की सिद्धि होती है ॥२६॥

---

१. सिद्धिर्यथोक्ता० E. २. तस्यासम्भवात् C.

अथ तत एव कस्माद् इत्याह—

अन्यथा च ॥ २७ (क) ॥

अन्यथा चेति । सति वस्तुनि तस्या अदृश्यानुपलब्धेः सम्भवाद् इति अन्यथा-शब्दार्थः । एतस्मात् कारणात् नान्यस्या अनुपलब्धेः प्रतिषेधसिद्धिः ॥ २७ (क) ॥

कुत एतत् सत्यपि वस्तुनि तस्याः सम्भव इत्याह—

अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेष्वात्मप्रत्यक्ष-निवृत्तेरभावनिश्चयाभावात् ॥ २७ ॥ (ख)[1]

तस्याः = दृश्यानुपलब्धेः । भाव यह है कि वस्तु के विद्यमान होने पर दृश्यानुपलब्धि हो ही नहीं सकती ।

अथेति—परन्तु, केवल उस (यथोक्त दृश्यानुपलब्धि) से ही (अभाव-व्यवहार की सिद्धि) क्यों होती है ? यह बतलाते हैं—

क्योंकि अन्यथा (= अदृश्य वस्तु के होने पर भी उसकी अनुपलब्धि) सम्भव है ॥२७ क॥

अन्यथा' शब्द का अर्थ है—वस्तु के विद्यमान होने पर भी अदृश्य की अनुपलब्धि सम्भव है । इसलिये अन्य (दृश्यानुपलब्धि से भिन्न) अनुपलब्धि (= अदृश्यानुपलब्धि) से अभाव के व्यवहार की सिद्धि नहीं होती ॥२७ क ।

अन्यथा च—दृश्यानुपलब्धिम् अनाश्रित्य (विनीतदेव पृ० ६६ यथा Rgyal-thsab f. 27), धर्मोत्तर, अदृश्यानुपलब्धि-सम्भवात्; (मि०, बु० ला० २, पृ० ७८ टि० १) ।

दुर्वेक मिश्र का कथन है कि प्रश्न का उत्तर देने के लिये धर्मोत्तर ने 'अन्यथा च' पर वाक्यच्छेद दिखलाया है । किन्तु मूल में 'अन्यथा च·········निश्चयाभावात्'—एक वाक्य मानकर भी अर्थ सङ्गत हो जाता है । 'अन्यथा' का अर्थ है—सूत्र २६ में जो दृश्यानुपलब्धि के विषय में कहा गया है, अदृश्यानुपलब्धि के विषय में उससे विपरीत है अर्थात् अदृश्य वस्तु विद्यमान हो तो भी उसकी अनुपलब्धि सम्भव है च = क्योंकि (यस्मात्) (मि० धर्मो० प्र०, पृ० ११७-११८)

कुत एतद् इति—ऐसा क्यों है कि वस्तु के विद्यमान होने पर भी उस (अदृश्यानुपलब्धि) का होना सम्भव है ? यह बतलाते हैं—अनुपलब्धिलक्षण इत्यादि ।

क्योंकि ज्ञान जनक सामग्री को न प्राप्त करने वाली तथा देश, काल और स्वभाव से अतीन्द्रिय वस्तु में अपना (वादी एवं प्रतिवादी का) प्रत्यक्ष न होने (मात्र) से उस (अदृश्य वस्तु) के अभाव का निश्चय नहीं होता ॥२७ ख ॥

यहाँ (ऊपर) कहा गया है कि कोई वस्तु (अर्थः) १. ज्ञान-जनक अन्य सामग्री की उपस्थिति तथा २. स्वभावविशेष के होने से दर्शन के योग्य (= उपलब्धि-

---

१. प्रकृष्टेष्वात्मप्र० B E.H.N.P.

अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तेष्वित्यादि । इह प्रत्ययान्तरसाकल्यात् स्वभाव-विशेषाच्चोपलब्धिलक्षणप्राप्तोऽर्थ' उक्तः । 'द्वयोरेकैकस्याप्यभावेऽनुपलब्धि-लक्षणप्राप्तोऽर्थ' उच्यते ।

तद् इहानुपलब्धिलक्षणप्राप्तेष्विति प्रत्ययान्तरवैकल्यवन्त उक्ताः । देशकालस्वभावविप्रकृष्टेष्विति 'स्वभावविशेषरहिता उक्ताः । देशश्च कालश्च स्वभावश्च तैर्विप्रकृष्टा इति विग्रहः । तेष्वभावनिश्चयस्याभावात् । सत्यपि वस्तुनि तस्या भाव इष्ट ।

कस्मान्निश्चयाभाव इत्याह—तेषु प्रतिपत्तुर् आत्मनो यत् प्रत्यक्षं तस्य निवृत्तेः कारणात् निश्चयाभावः । यस्माद् अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तेष्वात्म-प्रत्यक्षनिवृत्तेर् अभावनिश्चयाभावः, तस्मात सत्यपि वस्तुनि आत्मप्रत्यक्ष-निवृत्तिलक्षणायाः अदृश्यानुपलब्धेः सम्भवः । ततो यथोक्ताया एव प्रतिषेध-सिद्धिः । २७ख॥

लक्षण-प्राप्त) होती है । उन दोनों में से एक एक का भी अभाव होने पर वस्तु को दर्शन के अयोग्य (अनुपलब्धि-लक्षण-प्राप्त कहा जाता है ।

इस प्रकार यहाँ 'अनुपलब्धिलक्षणप्राप्त' इस शब्द के द्वारा ज्ञान-जनक सामग्री को न प्राप्त करने वाले पदार्थ कहे गये हैं । 'देश काल-स्वभाव-विप्रकृष्ट' इस शब्द द्वारा स्वभावविशेष से हीन पदार्थ कहे गये हैं । देश काल और स्वभाव इनके द्वारा विप्रकृष्ट (=दूर या अतीन्द्रिय)—यह इस (समास) का विग्रह है । उन पदार्थों में अभाव का निश्चय नहीं होता, क्योंकि ऐसी वस्तु के होने पर भी अदृश्यानुपलब्धि का (तस्याः होना सम्भव है ।

किससे उस अदृश्य पदार्थ) के अभाव का निश्चय नहीं होता ? यह बतलाते हैं—उन पदार्थों में ज्ञाता का जो अपना प्रत्यक्ष है उसके न होने (मात्र) से उस (अदृश्य पदार्थ) के अभाव का निश्चय नहीं होता ! क्योंकि दर्शन के अयोग्य (अदृश्य) पदार्थों में ज्ञाता का अपना प्रत्यक्ष न होने से उनके अभाव का निश्चय नहीं होता, इसी लिये वस्तु के होने पर भी अपने प्रत्यक्ष की निवृत्ति ही है स्वरूप जिसका ऐसी अदृश्या-नुपलब्धि का होना सम्भव है । इस प्रकार यथोक्त दृश्यानुपलब्धि से ही अभाव (के व्यवहार) की सिद्धि होती है ।२७ ख॥

आत्मप्रत्यक्षनिवृत्ति=वादि-प्रतिवादि-प्रत्यक्ष-निवृत्ति (Rgyal thsab) बु० ला० २. पृ० ७६ टि० २ । यहाँ 'निवृत्तेः' में अपादान में पञ्चमी विभक्ति है, हेतु में नहीं । 'निश्चयाभावात्' शब्द में हेतु में पञ्चमी विभक्ति है । इस प्रकार यह अर्थ होता है—अपने प्रत्यक्ष की निवृत्ति से वस्तु के अभाव का निश्चय न होने के कारण ।

---

१. प्राप्तार्थ उक्तः A.B.H.P. प्राप्तेऽर्थे C. २. द्वयोरेकस्याप्य० B. द्वयोरेकैकस्याभावे C.
३. प्राप्तेऽर्थे उच्यते C. ४. स्वभावविशेषविप्रकृष्टाः A.E H.N.P. स्वभावविप्रकृष्टा C.
५. तस्याभावः E H N P.

अथेयं दृश्यानुपलब्धिः कस्मिन् काले प्रमाणम्, किंस्वभावा, किंव्यापारा चेत्याह—

अमूढस्मृतिसंस्कारस्यातीतस्य वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्य [1]निवृत्तिरभावव्यवहारप्रवर्त्तनी[2] ॥२८॥

[3]अमूढेत्यादि। प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षो घटादिरर्थः, तस्य निवृत्तिरनुपलब्धिः,

---

आत्मप्रत्यक्षनिवृत्तिलक्षणायाः अदृश्यानुपलब्धेः—भाव यह है कि जो वस्तुएँ अदृश्य हैं उनके विद्यमान होने पर भी उनकी उपलब्धि नहीं हुआ करती। इसलिये अदृश्य की अनुपलब्धि मात्र से उसके अभाव का निश्चय नहीं होता। अदृश्य वस्तु की अनुपलब्धि का स्वरूप (लक्षण) है ज्ञाता को उसका प्रत्यक्ष न होना = आत्मप्रत्यक्ष-निवृत्ति। इस प्रकार आत्मप्रत्यक्षनिवृत्ति मात्र से अदृश्य वस्तुओं के अभाव का निश्चय नहीं होता।

यथोक्ताया एव प्रतिषेधसिद्धिः—यथोक्त दृश्यानुपलब्धि से ही अभाव की सिद्धि होती है। यहाँ एव शब्द का प्रयोग करके अवधारणपूर्वक कथन द्वारा अन्य मतों का निराकरण किया गया है। अभाव का ज्ञान किस प्रकार होता है? इस विषय में भारतीय दर्शन में अनेक मत हैं। कुमारिलभट्ट के अनुयायी मीमांसकों का कथन है कि अभाव वस्तु रूप है, प्रतिषेध रूप नहीं। योग्य प्रतियोगी (घट आदि) की अनुपलब्धि से ही घटाभाव का निश्चय हो जाता है और इसका निश्चायक है—अभाव नामक प्रमाण। न्याय-वैशेषिक का मत है कि सात पदार्थों में से एक अभाव नामक पदार्थ भी है, जिस का इन्द्रियों से ही विशेष्य-विशेषण-सन्निकर्ष द्वारा ग्रहण हो जाता है अतः वह प्रत्यक्ष का ही विषय है। सांख्य का विचार है कि सभी भाव प्रतिक्षण परिणाम-स्वभाव वाले हैं अतः भूतल का किसी क्षण का परिणाम ही घटाभाव है, अन्य कुछ नहीं। इसका ग्रहण इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा ही हो जाता है। (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ७७ टि० ४)।

१०. दृश्यानुपलब्धि का स्वरूप तथा कार्य

अथेयम् इति—अब, (i) यह दृश्यानुपलब्धि किस काल में सम्यक् ज्ञान का साधन (प्रमाण) होती है, (ii) इसका स्वरूप क्या है, और (iii) इसका कार्य क्या है; यह बतलाते हैं—

जिसका स्मृतिजनक संस्कार भ्रष्ट न हुआ हो ऐसे भूतकालीन तथा वर्त्तमानकालीन ज्ञाता के प्रत्यक्ष की निवृत्ति (= दृश्यानुपलब्धि) अभाव के व्यवहार की प्रवर्त्तक होती है ॥२८॥

अमूढेत्यादि। ज्ञाता का प्रत्यक्ष है—घट आदि पदार्थ। उसका प्रत्यक्ष न होना अर्थात् अनुपलब्धि (= दृश्यानुपलब्धि); वही घट के अभाव का स्वरूप है, यह भाव

---

१. निवृत्तिरनुपलब्धिरभाव० C.D.   २. ०हारसाधनी B.C.D.E.H.N.P.

३. अमूढेति A.E.P, नास्ति H.N.

तदभावस्वभावेति यावत् । अत एवाभावो न साध्यः स्वभावानुपलब्धेः सिद्धत्वात् । अविद्यमानोऽपि [1]च घटादिरेकज्ञानसंसर्गिणि [2]भूतले भासमाने समग्रसामग्रीको ज्ञायमानो [3]दृश्यतया सम्भावितत्वात् प्रत्यक्ष उक्तः । अत एकज्ञानसंसर्गी[4] दृश्यमानोऽर्थस्तज्ज्ञानं च प्रत्यक्षनिवृत्तिरुच्यते । ततो हि दृश्यमानाद् अर्थात् तद्बुद्धेश्च समग्रदर्शनसामग्रीकत्वेन प्रत्यक्षतया सम्भावितस्य निवृत्तिरवसीयते । तस्मादर्थज्ञाने एव प्रत्यक्षस्य घटस्याभाव उच्यते । न तु निवृत्तिमात्रम् इहाभावः, निवृत्तिमात्राद् दृश्यनिवृत्त्यनिश्चयात् ।

है । इसलिये (घट आदि का) अभाव अनुपलब्धिलिङ्ग से सिद्ध नहीं किया जाता; क्योंकि वह तो सिद्ध ही है ।

विद्यमान न होते हुए भी घट आदि को इसलिये प्रत्यक्ष कहा गया है; क्योंकि एक ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले भूतल आदि के भासित होने पर, उस घट के प्रत्यक्ष की समस्त सामग्री उपस्थित है ऐसा ज्ञान होने से उसे दृश्य रूप में सम्भावित कर लिया जाता है । अत उस ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला दृश्यमान पदार्थ (भूतल आदि) और उसका ज्ञान यही (घट आदि के) प्रत्यक्ष की निवृत्ति (=घट आदि की अनुपलब्धि) कही गई है । क्योंकि उस दृश्यमान पदार्थ और उसके ज्ञान से ही समस्त प्रत्यक्ष की सामग्री (उपस्थित) होने के कारण दृश्य रूप में सम्भावित घट आदि) के अभाव का निश्चय किया जाता है । इस प्रकार पदार्थ (भूतल आदि) और उसका ज्ञान ही प्रत्यक्ष रूप में सम्भावित घट का अभाव कहा जाता है । यहाँ (लिङ्ग प्रकरण में) उपलब्धि का अभाव (=निवृत्ति) मात्र ही अभाव नहीं है; क्योंकि (घट आदि की) उपलब्धि न होने मात्र से दृश्य (घट आदि) के अभाव का निश्चय नहीं होता ।

तदभावस्वभावेति यावत्—भाव यह है कि घट आदि की अनुपलब्धि ही घट आदि का अभाव है; घटानुपलब्धि=घटाभाव ।

अत एवाभावो न साध्य :०— क्योंकि घट को अनुपलब्धि ही घट का अभाव है और घट की (सत्ता की) अनुपलब्धि (=स्वभावानुपलब्धि) प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है । इसलिये 'घट का अभाव' अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं किया जाता है, अपि तु घटाभाव का व्यवहार सिद्ध किया जाता है । इस प्रकार 'स्वभावानुपलब्धेः सिद्धत्वात्' का अर्थ होगा—घट की अनुपलब्धि के (प्रत्यक्ष द्वारा) निश्चित होने से । (मि०, बु० ला० २, पृ० ८०)–यहाँ 'स्वभावानुपलब्धेः' शब्द में षष्ठी विभक्ति है । सम्भवतः श्चेरबात्स्की की यह व्याख्या तिब्बती अनुवाद से प्रभावित है ।

---

१. 'च' नास्ति C.　　२. 'भूतले'–नास्ति A.E.P.
३. दृश्यमानतया B.D.H.N　　४. संसर्गात् B.

ननु च दृश्यनिवृत्तिरवसीयते दृश्यानुपलम्भात्। सत्यम् एवैतत्। केवलम् एकज्ञानसंसर्गिणि दृश्यमाने घटो यदि भवेद् दृश्य एव भवेद् इति दृश्यः सम्भावित। ततो दृश्यानुपलब्धिर्निश्चिता। 'दृश्यानुपलब्धिनिश्चयसामर्थ्याद् एव च' दृश्याभावो निश्चितः। यदि हि दृश्यस्तत्र भवेद् दृश्यानुपलम्भो न भवेत्। अतो दृश्यानुपलम्भनिश्चयाद् दृश्याभावः सामर्थ्याद् अवसितः, न' व्यवहृतः इति दृश्यानुपलम्भेन व्यवहर्तव्यः। तस्माद् अर्थान्तरम्-एकज्ञानसंसर्गि दृश्यमानम्, तज्ज्ञानं च प्रत्यक्षनिवृत्तिनिश्चयहेतुत्वात् प्रत्यक्षनिवृत्तिरुक्तं द्रष्टव्यम्।

दुर्वेक मिश्र के अनुसार वाक्य-योजना इस प्रकार है—"अत एवाभावो न साध्यः स्वभावानुपलब्धेः, सिद्धत्वात्" = अत एव स्वभावानुपलब्धेः अभावः न साध्यः, (घटाभावस्य) सिद्धत्वात्। अर्थात्; क्योंकि अन्योपलब्धि ही घट आदि की अनुपलब्धि है और वह घटानुपलब्धि ही घटाभाव है, उससे भिन्न कुछ नहीं। इसी हेतु घट आदि का अभाव स्वभावानुपलब्धि नामक लिङ्ग से सिद्ध नहीं किया जाता; क्योंकि घटाभाव तो (अन्य भूतल आदि की उपलब्धि से ही) निश्चित हो जाता है। (धर्मो० प्र० पृ० ११६)। यहाँ 'स्वभावानुपलब्धेः', इस शब्द में पञ्चमी विभक्ति है और यह शब्द अपने बौद्धन्याय में प्रसिद्ध अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। जबकि श्चेरबात्स्की के अर्थ में इस शब्द का यौगिक अर्थ लिया गया है।

अविद्यमानोऽपि.—इससे यह दिखलाया गया है कि प्रतिपत्तृप्रत्यक्षनिवृत्ति = दृश्यानुपलब्धि का अर्थ है— एकज्ञानसंसर्गी वस्तु और उसका ज्ञान।

निवृत्तिमात्रम् = उपलब्ध्यभावमात्रम् = उपलब्धि का अभावमात्र। दृश्य घट आदि का अभाव। अभिप्राय यह है कि केवल उपलब्धि के न होने मात्र से दृश्य वस्तु के अभाव का निश्चय नहीं होता अपितु (क) एकज्ञानसंसर्गी वस्तु (भूतल आदि) तथा (ख) उसके ज्ञान से दृश्य वस्तु के अभाव का निश्चय होता है। यहाँ ईश्वरसेन के मत का निराकरण किया गया है। धर्मोत्तर का आशय यह है कि उपलब्धि के अभाव (प्रसज्यप्रतिषेध या तुच्छरूप अभाव) को हेतु (लिङ्ग) नहीं माना जा सकता; क्योंकि उसके स्वरूप को निश्चित करना असम्भव है (देखिये, ऊपर सूत्र २·१०)।

ननु चेति—(शङ्का) दृश्य (वस्तु) की उपलब्धि न होने (मात्र) से दृश्य (घट आदि) के अभाव का निश्चय कर लिया जाता है (एकज्ञानसंसर्गी वस्तु और उसके ज्ञान से नहीं)। (समाधान) यह ठीक है; किन्तु (= केवलम्) एकज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले (भूतल आदि) के दिखलाई देने पर–यदि घट होता तो दर्शनयोग्य ही होता—इस प्रकार (घट आदि को) दृश्य रूप में सम्भावित (आरोपित) किया जाता है। तब उस दृश्यत्व की सम्भावना से (ततः = दृश्यत्वारोपात्) दृश्य (घट आदि) की

---

१. दृश्यानुपलम्भनिश्चय C.D. २. च' नास्ति E.
३. न तु A.E.H.N.P.

अनुपलब्धि (ज्ञान का अभाव) निश्चित की जाती है। दृश्य की अनुपलब्धि के निश्चय के सामर्थ्य से ही दृश्य घट आदि का अभाव निश्चित किया जाता है; अर्थात् यदि दृश्य (घट आदि) वहाँ होता तो दृश्य की अनुपलब्धि न होती—इस (अतः = अस्मात्) दृश्य की अनुपलब्धि के निश्चय से दृश्य का अभाव अर्थतः (= सामर्थ्यात्) निश्चित कर लिया जाता है, उस (अभाव) का व्यवहार नहीं किया जाता। इस प्रकार दृश्यानुपलब्धि (नामक लिङ्ग) से अभाव का व्यवहार कराया जाता है। इसलिये एक अन्य पदार्थ अर्थात एकज्ञानसंसर्गी दृश्यमान भूतल आदि और उसका ज्ञान—ये दोनों ही प्रत्यक्ष घट आदि की निवृत्ति (= दृश्यानुपलब्धि) का निश्चय कराने वाले हेतु हैं; अतः इन्हें ही प्रत्यक्ष-निवृत्ति (दृश्यानुपलब्धि) कहा गया है—यह समझना चाहिये।

ननु च—पूर्वपक्ष का आशय यह है—यद्यपि केवल उपलब्धि के अभाव मात्र से किसी वस्तु के अभाव का निश्चय न होगा तथापि दृश्य वस्तु की उपलब्धि न होने से (दृश्यानुपलम्भाद् इत्यत्र अनुपलम्भशब्देन उपलम्भाभावमात्रं विवक्षितम्-धर्मो० प्र०) तो उसके अभाव का निश्चय हो ही जायेगा। इस प्रकार अनुपलब्धि शब्द में प्रसज्यप्रतिषेध (न उपलब्धिः = उपलब्धि का अभाव) मानकर ही काम चल जायेगा, फिर पर्युदास (अन्या उपलब्धिः = अनुपलब्धिः) मानकर दृश्यानुपलब्धि शब्द का अर्थ—एकज्ञानसंसर्गी वस्तु तथा उसका ज्ञान—क्यों करते हो? (धर्मो० प्र०, पृ० ११९)

इसका निराकरण करते हुए 'सत्यमेवैतत्' इत्यादि कहा गया है—

सत्यमेवैतत...... व्यवहर्त्तव्यः—यहाँ अनुपलब्धि नामक अनुमान की प्रक्रिया दिखलाते हुए यह सिद्ध किया गया है कि दृश्यानुपलब्धि शब्द का अर्थ—एकज्ञान-संसर्गी वस्तु तथा उसका ज्ञान ही—मानना चाहिये। अनुपलब्धि की प्रक्रिया है—(१) प्रथमतः भूतल के दर्शन से घट के दृश्य होने की सम्भावना की जाती है। (२) दृश्य होने की सम्भावना (दृश्यत्वारोप) से दृश्यानुपलब्धि का निश्चय होता है। (३) दृश्यानुपलब्धि के निश्चय के सामर्थ्य से दृश्य घट आदि के अभाव का निश्चय होता है। सामर्थ्य का अभिप्राय यह है कि यदि यहाँ दृश्य (घट आदि) होता तो उसकी अनुपलब्धि न होती। क्योंकि दृश्यानुपलब्धि हो रही है अतः यह अर्थापन्न (Implied) है कि घट का अभाव है। इस प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा ही घट आदि के अभाव का निश्चय हो जाता है; किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण अभाव का व्यवहार कराने में समर्थ नहीं है; क्योंकि ऐसी भी वस्तुएँ हैं जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं (अदृश्य)। इस लिये (४) दृश्यानुपलब्धि रूप लिङ्ग से अभाव का व्यवहार कराया जाता है।

तस्माद् अर्थान्तरम् प्रत्यक्षनिवृत्ति या दृश्यानुपलब्धि शब्द से दृश्य की उपलब्धि का अभावमात्र (प्रसज्यप्रतिषेध) विवक्षित नहीं है, अपि तु अनुपलब्धि शब्द में 'न' शब्द पर्युदास (सदृश का ग्राहक) अर्थ में है। अनुपलब्धि = अन्या उपलब्धि। अतः दृश्यानुपलब्धि = (क) एकज्ञानसंसर्गी भूतल आदि तथा (ख) उसका ज्ञान। इस प्रकार दृश्यानुपलब्धि अभावमात्र नहीं है अपि तु भावात्मक पदार्थ है—अर्थान्तर है। इन दोनों के द्वारा ही घट आदि के अभाव का निश्चय होता है। इनमें से एक के

यथा चैकज्ञानसंसर्गिणि प्रत्यक्षे घटस्य प्रत्यक्षत्वम् आरोपितम् असतोऽपि, तथा तस्मिन्नेकज्ञानसंसर्गिण्यतीते[1] चामूढस्मृतिसंस्कारे, वर्तमाने च घटस्य 'तत्तद्रूपम[2] आरोपितम् असत इति द्रष्टव्यम्। अनेन च[3] दृश्यानुपलब्धिः प्रत्यक्षघटनिवृत्तिस्वभावोक्ता। सा च सिद्धा। तेन न[4] घटाभावः साध्यः, अपि तु अभावव्यवहार इत्युक्तम्।

द्वारा घट आदि के अभाव का निश्चय नहीं हो सकता (मि० धर्मो० प्र०, पृ० १२०)। इस कथन के द्वारा एक ओर तो ईश्वरसेन के मत का निराकरण किया गया है जिसके अनुसार उपलब्धि का अभावमात्र ही अनुपलब्धि है। दूसरी ओर कुमारिल के मत का निराकरण किया गया है जिसके अनुसार केवल अन्य वस्तु भूतल आदि का ज्ञान ही घट आदि के अभाव का निश्चायक है। (द्र०, हेतुबिन्दुटीका, पृ० १७४)। अनुपलब्धि का विशद विवेचन न्यायबिन्दुटीका ३·९ में किया गया है।

(i) दृश्यानुपलब्धि का स्वरूप

यथेति—और जिस प्रकार एक ज्ञान से सम्बद्ध भूतल आदि का प्रत्यक्ष होने पर घट का प्रत्यक्ष होना आरोपित कर लिया जाता है, उसी प्रकार भूतकाल में एक ज्ञान से सम्बद्ध भूतल आदि में, यदि स्मृति का संस्कार भ्रष्ट न हुआ हो एवं वर्तमान काल में (एकज्ञान से सम्बद्ध भूतल आदि में) न होते हुए भी घट की अतीतता और वर्तमानता (तत्तद्रूपम्) का आरोप कर लिया जाता है—यह जानना चाहिये। इस (प्रतिपत्तृप्रत्यक्षनिवृत्ति शब्द) के द्वारा यह बतलाया गया है कि दृश्यानुपलब्धि का स्वरूप (स्वभाव) है—प्रत्यक्षघट की निवृत्ति (=एकज्ञानसंसर्गी वस्तु तथा उसका ज्ञान)। क्योंकि (=च) वह (प्रत्यक्ष से ही) सिद्ध है इसलिये घट का अभाव (अनुपलब्धि लिङ्ग का) साध्य नहीं है अपि तु अभाव का व्यवहार साध्य है—यह कहा गया है।

प्रत्यक्षघटनिवृत्तिस्वभावा—दृश्यानुपलब्धिः किंस्वभावा ? इस प्रश्न का उत्तर इस कथन में दिया गया है। प्रत्यक्षघटनिवृत्ति का अर्थ है प्रत्यक्ष होने वाले घट की अनुपलब्धि। यहाँ अनुपलब्धि में नञ् (न=अन्) पर्युदास अर्थ में है अतः इसका अर्थ है—एकज्ञानसंसर्गी वस्तु और उसका ज्ञान—यही दृश्यानुपलब्धि का स्वरूप है (धर्मो० प्र०, पृ० १२१)।

सा च सिद्धा—नैयायिक के अनुसार घट आदि भावात्मक वस्तु के अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होता है। वहाँ ज्ञान का विषय अभावात्मक=तुच्छ (प्रसज्यप्रतिषेध रूप) होता है। किन्तु बौद्धन्याय की दृष्टि से दृश्यानुपलब्धि (=एकज्ञानसंसर्गी वस्तु और उसका ज्ञान) ही घटाभाव है, उससे भिन्न नहीं। और, यह भावात्मक है तथा

---

१. ० तीते वर्तमाने चामूढस्मृतिसंस्कारे च घट० A.B.C.D.H:N.P.
२ तद्रूप A B.H E.N.P.
३. च' नास्ति A.B.E.H.N.P.
४. न' नास्ति B.

अमूढोऽभ्रष्टो दर्शनाहितः स्मृतिजननरूपः संस्कारो यस्मिन् घटादौ स तथोक्तः। तस्य अतीतस्य प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्येति सम्बन्धः। वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्येति सम्बन्धः। अमूढस्मृतिसंस्कारग्रहणं तु न वर्तमानविशेषणम्। यस्माद् अतीते घटविविक्तप्रदेशदर्शने स्मृतिसंस्कारो मूढो दृश्यघटानुपलम्भे दृश्ये च घटे मूढो भवति। वर्तमाने तु[1] घटरहितप्रदेशदर्शने न स्मृतिसंस्कारमोहः। अत एव [2]न घटानुपलम्भे नापि घटे मोहः। तस्मान्न वर्तमाननिषेध्यविशेषणम्

इस (दृश्यानुपलब्धि) का निश्चय प्रत्यक्ष द्वारा ही हो जाता है। कैसे? केवलभूतल-ग्राही ज्ञान का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन द्वारा हो जाता है तथा केवलभूतल का इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष हो जाता है (केवलभूतलग्राहिज्ञानरूपायाः अनुपलब्धेः स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसिद्धत्वात् केवलभूतलरूपायाश्च केवलभूतलग्राहिप्रत्यक्षज्ञानसिद्धत्वाच् चेति-मल्लवादी)। इस प्रकार 'घटाभाव' प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। अनुपलब्धि लिङ्ग द्वारा तो घटाभाव का व्यवहार सिद्ध किया जाता है। इसी हेतु धर्मकीर्ति ने 'अभावव्यवहार-प्रवर्तनी' यह कहा है तथा धर्मोत्तर ने "न घटाभावः साध्यः, अपि तु अभावव्यवहारः' —यह बतलाया है। अनुपलब्धि का साध्य यह अभावव्यवहार भावात्मक ही है। अतः (१) दृश्यानुपलब्धि रूप लिङ्ग तथा (२) अभावव्यवहार रूप साध्य दोनों ही भावात्मक हैं (द्र, बु० लॉ २, पृ० ८३ टि० ४ तथा धर्मो० प्र०, पृ० १२१)।

तुलना के लिये—

> तस्माद् अनुपलम्भोऽयं स्वयं प्रत्यक्षतो गतः।
> स्वमात्रवृत्तेर्गमकस्तदभावव्यवस्थितेः ॥ प्र० वा०, ४ २७४।

सोऽन्यभावः प्रत्यक्षलक्षणेनानुपलम्भेन सिद्धः सन् मूढप्रतिपत्तौ अभावव्यवहारं साधयेद् इति सुचर्चितम् एव। हेतुबिन्दु, पृ० ६८।

(ii) दृश्यानुपलब्धि किस काल में प्रमाण है?

अमूढ इति—अमूढ अर्थात् जो भ्रष्ट न हुआ हो, ऐसा अनुभव द्वारा उत्पन्न (दर्शनाहितः), स्मृतिजनक संस्कार जिस घट आदि के विषय में है वह घट आदि उस प्रकार का (अमूढस्मृतिसंस्कारः) कहा गया है। उस (घट आदि) के; ज्ञाता के अतीत प्रत्यक्ष की (निवृत्ति)—यह अन्वय है। और ज्ञाता के वर्तमान प्रत्यक्ष की (निवृत्ति)—यह अन्वय है। यहाँ 'अमूढस्मृतिसंस्कार' यह शब्द वर्तमान का विशेषण नहीं है; क्योंकि घटरहित प्रदेश का अनुभव (दर्शन) हो चुकने पर यदि स्मृति का संस्कार भ्रष्ट हो जाता है तो वह (संस्कार) दृश्य घट की अनुपलब्धि तथा दृश्य घट के विषय में भ्रष्ट ही रहता है (तथा दृश्यघटानुपलब्धि और दृश्यघट की यथोचित स्मृति नहीं होती)। वर्त्तमान काल में जो घट-रहित प्रदेश का अनुभव हो रहा है, उसमें तो स्मृति के संस्कार की भ्रष्टता नहीं होती। अतएव न तो घट की अनुपलब्धि में, न घट के विषय में ही (स्मृति की) भ्रष्टता हो सकती है। इसलिये 'अमूढस्मृतिसंस्कार'

---

१. 'च' A.B.H. E.N P. २. 'न' नास्ति B., न घटाभावे नापि घटानुपलम्भे T.

अमूढस्मृतिसंकारग्रहणम्,[1] स्मृतिसंस्कारव्यभिचाराभावाद वर्तमानस्यार्थस्य । अत एव वर्तमानस्यार्थस्य चेति चशब्दः कृतः । विशेषणरहितस्य वर्तमानस्य विशेषणवताऽतीतेन समुच्चयो यथा विज्ञायेतेति[2] ।

तद् अयम् अर्थः—अतीतोऽनुपलम्भः स्फुटः[3] स्मर्यमाणः प्रमाणम्, वर्तमानश्च । ततो 'नासीद् इह घटः, अनुपलब्धत्वात्'; 'नास्ति, अनुपलभ्यमानत्वात्'—इति शक्यं ज्ञातुम् । न तु 'न भविष्यत्यत्र घटः, [4]अनुपलप्स्यमानत्वात्'—इति [5]शक्यं ज्ञातुम् । अनागताया अनुपलब्धेः सत्त्वसन्देहाद् इति कालविशेषोऽनुपलब्धेर्व्याख्यातः ।

शब्द वर्तमानकालीन निषेध के विषय (=प्रत्यक्ष) का विशेषण नहीं है; क्योंकि वर्तमान अर्थ (के ज्ञान) का स्मृति के संस्कारों से व्यतिक्रम (=व्यभिचार) नहीं होता । अतएव "वर्त्तमानस्य च"—यहाँ 'च' (=और) शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे कि (यथा) विशेषण-रहित वर्तमान (प्रत्यक्ष) का विशेषणयुक्त अतीत (प्रत्यक्ष) के साथ सम्बन्ध (=समुच्चय) जाना जा सके ।

मूढ अनुरूप स्मृति को उत्पन्न करने में असमर्थ, भ्रष्ट ।

दर्शनाहित:—घटविविक्तप्रदेशदर्शनेन आहितः आरोपितः (धर्मो० प्र०, पृ० १२१)

संस्कार:—श्चेरवात्स्की का कथन है कि यहाँ संस्कार (=स्मृतिबीज) शब्द का नैयायिक के अभिमत अर्थ में प्रयोग किया गया है, उसने स्मृतिजनक सामग्री के अन्तर्गत संस्कार नामक एक विशेष प्रकार के गुण को रक्खा है (बु० लॉ० २, पृ० ८३ टि० ६) ।

वस्तुतः यहाँ 'संस्कार' का अर्थ है— विशिष्ट शक्ति से युक्त विज्ञान रूप वासना, जो बौद्ध दर्शन में स्मृति का कारण मानी जाती है । (संस्कारो विशिष्टशक्तियुक्तविज्ञानात्मिका वासना, न तु पराभिमतो भावनाख्यः; धर्मो० प्र०, पृ० १२१)

न वर्त्तमाननिषेध्यविशेषणम्—विनीतदेव की व्याख्या (पृ० ६८·१–५) से प्रतीत होता है कि उसने 'अमूढस्मृतिसंस्कार' शब्द को अतीत तथा वर्त्तमान दोनों का विशेषण माना है । धर्मोत्तर ने उस मत का निराकरण किया है (मि०, बु० लॉ २, पृ० ८४ टि० १) ।

तद् अयमर्थः इति—इस प्रकार यह अर्थ होता है—जिसका स्पष्ट रूप से स्मरण किया जा रहा है वह भूतकाल की अनुपलब्धि तथा वर्तमानकाल की अनुपलब्धि (अभाव-व्यवहार की सिद्धि में) प्रमाण है । उससे "यहाँ घट नहीं था; क्योंकि वह अनुपलब्ध था" तथा "यहाँ घट नहीं है; क्योंकि वह अनुपलब्ध है"—यह जाना जा सकता है । किन्तु यह नहीं जाना जा सकता कि–'यहाँ घट न होगा; क्योंकि वह अनुपलब्ध होगा;' कारण यह है कि भविष्यत् काल की अनुपलब्धि के होने में (=सत्त्व) सन्देह है (उसका निश्चय नहीं) । इस प्रकार अनुपलब्धि के कालविशेष की व्याख्या की गई है ।

---

१. ०हणम् व्यभि० C.
२. 'इति'–नास्ति B.
३. स्फुटं B E H N.P.
४ अनुपलभ्यमानत्वात् A.
५ इति ज्ञातुं शक्यम् C.

व्यापारं दर्शयति। अभावस्य व्यवहारः 'नास्ति' इत्येवमाकारं ज्ञानम्, शब्दश्चैवमाकारः, निशङ्कं[1] गमनागमनलक्षणा च प्रवृत्तिः कायिकोऽभावव्यवहारः घटाभावे हि ज्ञाते निःशङ्कं गन्तुम् आगन्तुं च प्रवर्तते। 'तदेतस्य[2] त्रिविधस्याऽभावव्यवहारस्य[3] दृश्यानुपलब्धिः प्रवर्तनी[4] साधनी प्रवर्तिका।

स्फुटः—दुर्वेक मिश्र के अनुसार यह शब्द अतीत तथा वर्तमान दोनों प्रकार के अनुपलम्भ का विशेषण है— (१) जिस प्रकार केवल प्रदेश का अनुभव किया गया था, उसी प्रकार यदि उसका स्मरण किया जाये (२) अभ्रान्त ज्ञान के द्वारा गृह्यमाण।

सन्देहात्—अपने रूप में निश्चित हेतु ही किसी परोक्ष अर्थ का साधक होता है, अन्यथा सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है (धर्मो० प्र०, पृ० १२२)। अतः निश्चयात्मक अनुपलब्धि ही अभावव्यवहार का साधन होती है। भविष्यत् काल की अनुपलब्धि का निश्चय नहीं, इसलिये—अनुपलब्धि के द्वारा भविष्यत् काल में अभाव का व्यवहार नहीं किया जा सकता।

कालविशेषः=अतीत और वर्तमान। इस अवतरण में 'दृश्यानुपलब्धिः कस्मिन् काले प्रमाणम्' ? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। अनुपलब्धि भूत और वर्तमान के अभावव्यवहार में ही प्रमाण होती है, भविष्यत् काल के अभावव्यवहार में नहीं। दुर्वेक मिश्र का कथन है कि यह उपलक्षणमात्र है, वस्तुतः कार्यहेतु और स्वभावहेतु भी भूतकालीन तथा वर्त्तमानकालीन अर्थ के ही साधक होते हैं भविष्यत्कालीन अर्थ के नहीं, (धर्मो० प्र०, पृ० १२२)।

(iii) दृश्यानुपलब्धि का कार्य

व्यापारम् इति—अब (दृश्यानुपलब्धि के) कार्य को दिखलाते हैं—अभाव का व्यवहार; अर्थात् १. 'घट नहीं है'—इस प्रकार का ज्ञान और २. इस प्रकार का शब्द-प्रयोग तथा ३. शङ्कारहित होकर (इधर-उधर) आना-जाना रूप प्रवृत्ति, जो कि शरीर-सम्बन्धी अभावव्यवहार है; क्योंकि घट के अभाव का ज्ञान हो जाने पर (कोई व्यक्ति) शङ्का-रहित होकर आने-जाने लगता है। दृश्यानुपलब्धि इन तीनों प्रकार के अभाव-व्यवहार की प्रवृत्ति कराने वाली=साधक=प्रवर्तक है।

व्यापारं दर्शयति—यहाँ से आरम्भ करके इस सूत्र की टीका के अन्त तक किंव्यापारा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दृश्यानुपलब्धि का व्यापार (=कार्य) बतलाया गया है।

---

१. निशङ्कगमागमलक्ष० B. D. निशङ्का गमनागमनयो (?) लक्ष० C.

२. तदेवमस्य C.D., तदेवमेतस्य A.E.H.N.P., तदेव तस्य B.

३. ०भावस्य व्यव० C.

४. 'प्रवर्तनी'–नास्ति A.B.C.D.E.H.N.P.,

यद्यपि च 'नास्ति घटः' इति ज्ञानम् अनुपलब्धेरेव भवति, अयम् एव चाभावनिश्चयः, तथापि यस्मात् प्रत्यक्षेण केवलः प्रदेश उपलब्धस्तस्माद् 'इह घटो नास्ति' इत्येवं 'च प्रत्यक्षव्यापारम् अनुसरत्यभावनिश्चयः, तस्मात् प्रत्यक्षस्य केवलप्रदेशग्रहणव्यापारानुसार्यभावनिश्चयः प्रत्यक्षकृतः ।

किञ्च । दृश्यानुपलम्भनिश्चयकरणसामर्थ्यादेव पूर्वोक्तया नीतया प्रत्यक्षेणैवाभावो निश्चितः। केवलम अदृष्टानामपि सत्त्वसम्भवात्, सत्त्वशङ्कया न शक्नोत्यसत्त्वं[2] व्यवहर्तुम् । अतोऽनुपलम्भोऽभावं[3] व्यवहारयति—'दृश्यो यतोऽनुपलब्धः, तस्मान्नास्ति' इति। अतो दृश्यानुपलम्भोऽभावज्ञानं कृतं प्रवर्तयति, न तु अकृतं करोती'[4]त्यभावनिश्चयोऽनुपलम्भात् प्रवृत्तोऽपि प्रत्यक्षेण कृतोऽनुपलम्भेन प्रवर्तित उक्त इत्यभावव्यवहारप्रवर्तन्यनुपलब्धिः'[5] ॥२८॥

प्रवर्तनी=साधनी=प्रवर्तिका। अनुपलब्धि के द्वारा भूतल आदि में तीनों प्रकार के अभाव-व्यवहार की योग्यता सिद्ध कर दी जाती है। यह तो पुरुष का कार्य है कि वह उन व्यवहारों को करता है या नहीं। प्रवृत्ति कराने की योग्यता मात्र से ही अनुपलब्धि को प्रवर्तनी कहा गया है (धर्मो० प्र०, पृ० १२२)।

यद्यपीति—यद्यपि 'घट नहीं है'—यह ज्ञान अनुपलब्धि से ही (दृढ़) होता है और यही अभाव का निश्चय है; तथापि प्रत्यक्ष के द्वारा केवल (घटरहित) प्रदेश की उपलब्धि होती है और इसीलिये 'यहाँ घट नहीं है' इस प्रकार का अभाव का निश्चय प्रत्यक्ष के व्यापार का अनुसरण करता है। अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण के केवल प्रदेश का ग्रहण करने वाले व्यापार का अनुसरण करने वाला अभाव का निश्चय प्रत्यक्ष-जन्य कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त (किञ्च), पूर्वोक्त रीति से दृश्यानुपलब्धि का निश्चय करने के सामर्थ्य से प्रत्यक्ष के द्वारा ही (घट के) अभाव का निश्चय कर लिया जाता है। किन्तु (=केवलम्) प्रत्यक्ष द्वारा न देखी गई (अदृष्ट) वस्तुओं की भी सत्ता हो सकती है अतः सत्ता का सन्देह होने के कारण (प्रत्यक्ष) अभाव का व्यवहार नहीं करा सकता (व्यवहर्तुम्=व्यवहारयितुम)। अतः अनुपलब्धि (नामक लिङ्ग) अभाव का व्यवहार कराती है—"क्योंकि दर्शनयोग्य पदार्थ उपलब्ध नहीं हो रहा है, इसलिये वह नहीं है"। इसी हेतु दृश्यानुपलधि (प्रत्यक्ष द्वारा) किये गये अभावज्ञान का व्यवहार कराती है (=प्रवर्तयति), वह विना हुए अभावज्ञान को उत्पन्न नहीं करती। अतएव अनुपलब्धि से दृढ़ होता हुआ भी (प्रवृत्तोऽपि) अभाव का निश्चय, प्रत्यक्ष के द्वारा उत्पादित एवं अनुपलब्धि रूप लिङ्ग के द्वारा प्रवर्तित कहा गया है। इस प्रकार अनुपलब्धि अभाव के व्यवहार में प्रवृत्त कराने वाली है ॥२८॥

---

१. 'च'—नास्ति C. २. शक्नोत्यभावं व्यव C.
३. ०लम्भो व्यव० A. ४. करोत्यभाव० C.
५. ०हारे प्रयत्यनुपलब्धिः (?) C. प्रवर्तन्युपल A., प्रवर्तिन्युपल H. P., प्रवर्तिन्यनू० B.

अनुपलब्धेरेव भवति = अनुपलब्धि से ही अभाव का निश्चय दृढ होता है। इसीलिये यहाँ 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः प्रत्यक्ष के अनन्तर ही अभाव-ज्ञान हो जाता है।

प्रत्यक्षव्यापारम् अनुसरति— प्रत्यक्षव्यापार = निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा केवल प्रदेश का ग्रहण तथा स्वसंवेदन द्वारा प्रदेश-ज्ञान का ग्रहण। इस व्यापार के पश्चात् होने वाले सविकल्पक ज्ञान में अभाव का निश्चय हो जाता है इसीलिये अभाव निश्चय को प्रत्यक्षकृत (= प्रत्यक्ष द्वारा किया गया) कहा जाता है।

केवलम् = किन्तु। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि प्रत्यक्ष से अभाव का निश्चय हो जाता है तो उसी से अभाव-व्यवहार में प्रवृत्ति भी हो जायेगी। इसके उत्तर में कहा गया है कि संसार में अदृश्य (प्रत्यक्ष द्वारा अग्राह्य) वस्तुएँ भी हैं। अतः प्रत्यक्ष द्वारा अनुपलब्ध होने पर भी किसी वस्तु के होने की शङ्का हो सकती है। इस शङ्का के होने पर प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अभाव-व्यवहार नहीं कराया जा सकता। दृश्यानुपलब्धि द्वारा तो यह निःशङ्क व्यवहार करा दिया जाता है—क्योंकि दृश्य की उपलब्धि नहीं हो रही है अतः वह नहीं है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १२३)।

प्रवृत्तोऽपि = दृढीभूतोऽपि। यद्यपि अनुपलब्धि के द्वारा ही अभाव का निश्चय दृढ होता है तथापि प्रत्यक्ष के व्यापार के अनन्तर अभाव-निश्चय हुआ करता है इसीलिये 'अभाव-व्यवहार-प्रवर्तनी' इस कथन द्वारा अभावनिश्चय को प्रत्यक्षकृत तथा दृश्यानुपलब्धि द्वारा प्रवर्तित दिखलाया गया है।

यहाँ मल्लवादी ने ध्यान दिलाया है कि 'ननु च (पृ० १४४) इत्यादि में प्रतिपादित भावों की 'केवलम्' (पृ० १५०) इत्यादि में पुनरुक्ति हो रही है, यह न समझना चाहिये (देखिये, बु० लॉ २, पृ० ८५ टि० ७)।

वस्तुतः यहाँ पुनरुक्ति सी भासित होती है किन्तु पुनरुक्ति है नहीं। कैसे? 'ननु च' इत्यादि (पृ० १४४) में शङ्का यह थी कि प्रसज्यप्रतिषेध रूप दृश्यानुपलब्धि (= दृश्य की उपलब्धि न होना) से ही घटाभाव का निश्चय हो सकता है। वहाँ 'केवलम्' इत्यादि से उस शङ्का का समाधान करते हुए बतलाया गया था कि एकज्ञान-संसर्गी भूतल आदि तथा उसके ज्ञान से ही प्रत्यक्ष द्वारा घटाभाव का निश्चय होता है अतः दृश्यानुपलब्धि नामक लिङ्ग से ही अभावव्यवहार कराया जाता है इस प्रकार पर्युदास वृत्ति से दृश्यानुपलब्धि = एकज्ञानसंसर्गी वस्तु + उसका ज्ञान ही मानना चाहिये।

'यद्यपि' आदि (पृ० १५०) में शङ्का है कि यदि 'घट नहीं है (नास्ति घटः) इत्यादि ज्ञान अभावव्यवहार के अन्तर्गत है और यह दृश्यानुपलब्धि लिङ्ग द्वारा होता है तो ऊपर अभाव-निश्चय को प्रत्यक्ष-कृत क्यों बतलाया गया है? 'तथापि' इत्यादि (पृ० १५०) समाधान का आशय यह है कि प्रत्यक्ष-व्यापार का अनुसरण करने के कारण अभाव-निश्चय को प्रत्यक्ष-कृत कहा गया है किञ्च, 'केवलम्' इत्यादि(पृ०१५०) का अभिप्राय है कि अभाव-निश्चय की दृढता दृश्यानुपलब्धि से ही होती है अतः

कस्मात् पुनरतीते वर्तमाने चानुपलब्धिर्गमिका ? इत्याह—

तस्या एवाभावनिश्चयात् ॥२६॥

तस्या एव यथोक्तकालाया अनुपलब्धेरभावनिश्चयात् । अनागता ह्यनुपलब्धिः स्वयम् एव सन्दिग्धस्वभावा । तस्या असिद्धाया नाऽभावनिश्चयोऽपि त्वतीतवर्तमानाया इति ॥२६॥

सम्प्रत्यनुपलब्धेः प्रकारभेदं दर्शयितुम् आह—

सा च प्रयोगभेदाद् एकादशप्रकारा ॥३०॥

सा च एषानुपलब्धिः 'एकादशप्रकारा'—एकादश प्रकारा अस्या इत्येकादशप्रकारा।[1] कुतः प्रकारभेदः ? प्रयोगभेदात् । प्रयोगः प्रयुक्तिः शब्दस्याभिधानव्यापार[2] उच्यते । शब्दो हि साक्षात् क्वचिद् अर्थान्तराभिधायी क्वचित् प्रतिषेधान्तराभिधायी । सर्वत्रैव तु दृश्यानुपलब्धिरशब्दोपात्ताऽपि गम्यत इति वाचकव्यापारभेदाद् अनुपलम्भप्रकारभेदो न तु स्वरूपभेदाद् इति यावत् ॥३०॥

'नास्ति' इत्यादि व्यवहार दृश्यानुपलब्धि से ही करया जाता है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० ११६–१२३)।

कस्माद् इति—यह अनुपलब्धि अतीत और वर्तमान में ही (अभाव की) साधक क्यों हैं ? यह बतलाते हैं—

क्योंकि उस (अतीत तथा वर्तमान की अनुपलब्धि) से ही अभाव का निश्चय होता है ॥२६॥

उस यथोक्तकाल की अनुपलब्धि से ही अभाव का निश्चय होता है । भविष्यत् काल की अनुपलब्धि का तो अपना स्वरूप (स्वभाव) ही अनिश्चित है । क्योंकि वह अनिश्चित (=असिद्ध) है अतः उससे अभाव का निश्चय भी नहीं होता; अपि तु अतीत तथा वर्तमान की अनुपलब्धि से ही (अभाव का निश्चय) होता है ॥२६॥

११· अनुपलब्धि के प्रकार

सम्प्रत्यनुपलब्धेर् इति—अब अनुपलब्धि के प्रकारभेद दिखलाते हुए कहा है—

वह अनुपलब्धि प्रयोग के भेद से एकादश प्रकार की है ॥३०॥

वह यह अनुपलब्धि एकादश प्रकार की है । एकादश हैं प्रकार जिसके वह एकादशप्रकारा कही गई है । यह प्रकारभेद किस हेतु से होता है ? प्रयोग के भेद से । यहाँ शब्द के अर्थ-प्रकाशन (अभिधान) नामक व्यापार को प्रयोग अथवा प्रयुक्ति कहा गया है । क्योंकि शब्द कहीं तो साक्षात् रूप से अन्य अर्थ का वाचक होता है तथा कहीं अन्य प्रतिषेध का वाचक होता है । किन्तु सभी स्थलों में शब्द के द्वारा न कही गई (उपात्ता) भी दृश्यानुपलब्धि प्रतीत होती ही है । इस प्रकार वाचक शब्दों के व्यापार (=अर्थ-प्रकाशन) का भेद होने से अनुपलब्धि के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं, स्वरूप के भेद से नहीं । (अतः सभी प्रकारों का अनुपलब्धि या दृश्यानुपलब्धि में संग्रह हो जाता है—यह भाव है) ॥३०॥

---

१. एकादशप्रकारा' इति नास्ति A.E.P.   २ ०अभिधाव्या० T.

प्रकारभेदान् आह—

(१) स्वभावानुपलब्धिर्यथा—नात्र धूम उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ॥३१॥

स्वभावेत्यादि। प्रतिषेध्यस्य यः स्वभावस्तस्यानुपलब्धिः—यथेति। अत्रेति धर्मी, न धूम इति साध्यम्। उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः, इति हेतुः। अयं च हेतुः पूर्ववद् व्याख्येयः ॥३१॥

एकादशप्रकारा—हेतुबिन्दु (पृ० ६८) में अनुपलब्धि के तीन प्रकार दिखलाये गये हैं। प्रमाणवार्तिक में कहा गया है कि तीन प्रकार की यह अनुपलब्धि प्रयोग-भेद से अनेक प्रकार की हो जाती है —

इतीय त्रिधोक्ताप्यनुपलब्धिरनेकधा।
तद्विरुद्धाद्यगतिर्गतिभेदप्रयोगतः ॥ प्र० वा०, ३.२६

(मो०) तर्कभाषा (पृ० १६) में १६ प्रकार की अनुपलब्धि बतलाई गई है। न्यायबिन्दु में कथित ११ भेद ये हैं—१. स्वभावानुपलब्धि, २. कार्यानुपलब्धि, ३. व्यापकानुपलब्धि, ४. स्वभावविरुद्धोपलब्धि, ५. विरुद्धकार्योपलब्धि, ६. विरुद्धव्याप्तोपलब्धि, ७. कार्यविरुद्धोपलब्धि, ८. व्यापकविरुद्धोपलब्धि, ९. कारणानुपलब्धि, १०. कारणविरुद्धोपलब्धि ११. कारणविरुद्धकार्योपलब्धि। इनके स्वरूप तथा उदाहरण आगे दिखलाये जा रहे हैं।

प्रकारभेदान् इति—प्रकारभेदों को बतलाते हैं—

(१) स्वभावानुपलब्धि यह है, जैसे—यहाँ धूम नहीं है; क्योंकि उपलब्धिजनक सामग्री उपस्थित होने पर भी उसकी अनुपलब्धि हो रही है ॥३१॥

जिस वस्तु का प्रतिषेध किया जा रहा है (=प्रतिषेध्य), उसकी अपनी सत्ता (स्वस्य भावः=स्वभावः) की उपलब्धि न होना। जैसे—नात्र' इत्यादि। इसमें—'अत्र' (=यहाँ,—यह पक्ष है, धूम नहीं है—यह साध्य है, उपलब्धि-जनकसामग्री उपस्थित होने पर भी उसकी अनुपलब्धि होने से—यह हेतु है। इस हेतु की उपर्युक्त (सूत्र २·१३) रीति से व्याख्या कर लेनी चाहिये ॥३१॥

नात्र धूमः—यहाँ दुर्वेक मिश्र (धर्मो० प्र०, पृ० १२५) का कथन है कि आचार्य धर्मकीर्ति ने यह स्वाभावानुपलब्धि का अर्थनिर्देशमात्र किया है, उसका प्रयोग नहीं दिखलाया। क्योंकि यहाँ प्रतिज्ञा (नात्र धूमः) दिखलाई गई है जिसे धर्मकीर्ति ने साधनवाक्य का अङ्ग नहीं माना है; किन्तु व्याप्ति नहीं दिखलाई गई, जिसे साधनवाक्य का अङ्ग माना गया है साथ ही हेतु जो अनुवाद्य है उसका प्रथमा विभक्ति में निर्देश नहीं किया गया। इसी प्रकार अन्य सब अनुपलब्धि के उदाहरणों में भी समझना चाहिये कि वहाँ आचार्य धर्मकीर्ति ने अनुपलब्धि के प्रयोग नहीं दिखलाये हैं। स्वाभावानुपलब्धि का प्रयोग इस प्रकार होगा—"यद्

(२) कार्यानुपलब्धिर्यथा—नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति धूमाभावाद् इति'॥३२॥

प्रतिषेध्यस्य यत्कार्यं तस्यानुपलब्धिरुदाह्रियते—यथेति । इहेति धर्मी । अप्रतिबद्धम् अनुपहतं धूमजननं प्रति सामर्थ्यं येषां तान्यप्रतिबद्धसामर्थ्यानि न सन्तीति साध्यम् । धूमाभावाद् इति हेतुः ।

कारणानि च नावश्यं कार्यवन्ति भवन्तीनि कार्यादर्शनाद अप्रतिबद्ध-सामर्थ्यानाम् एवाभावः साध्यः[2] न त्वन्येषाम् । अप्रतिबद्धशक्तीनि चान्त्यक्षण-भावीन्येव, अन्येषां प्रतिबन्धसम्भवात ।

यत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तत् सर्वं तत्रासद्व्यवहारयोग्यम्, यथा तुरङ्ग-मोत्तमाङ्गे शृङ्गम् । नोपलभ्यते चात्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तो धूम इति" ।

वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि स्वार्थानुमान के प्रकरण में अनुमान के प्रयोग दिखलाना न तो आवश्यक ही है और न आचार्य धर्मकीर्ति को अभीष्ट ही है । स्वार्थानुमान तो ज्ञानरूप है । इस प्रकार के ज्ञान से अभाव-व्यवहार सिद्ध हो जाता है, यही यहाँ दिखलाया गया है ।

कार्यानुपलब्धिर् इति—

(२) कार्यानुपलब्धि यह है, जैसे—यहाँ अबाधित सामर्थ्य वाले धूम के कारण नहीं हैं; क्योंकि धूम का अभाव है ॥३२॥

प्रतिषेध्य (समर्थ धूमकारण) का जो कार्य (धूम) उसकी अनुपलब्धि (=कार्यानुपलब्धि) का उदाहरण दिया गया है—यथेति इत्यादि । 'इह' (=यहाँ)—यह धर्मी है । अबाधित (=अप्रतिबद्ध=अनुपहत) है धूमोत्पादन के प्रति सामर्थ्य जिनका वे अप्रतिबद्धसामर्थ्य कहे जाते हैं (अर्थात् समर्थ कारण), वे नहीं हैं—यह साध्य है । धूम न होने से—यह हेतु है ।

कारण निश्चित रूप से किसी कार्य (को उत्पन्न करने) वाले नहीं होते । इसलिये कार्य के अदर्शन से ऐसे कारणों का ही अभाव सिद्ध किया जा सकता है, जिनका कार्य को उत्पन्न करने का सामर्थ्य (किसी प्रकार) बाधित नहीं है, उनसे भिन्न कारणों का (अभाव) नहीं (सिद्ध किया जा सकता) । और, (कारणसन्तति के) अन्तिम क्षण में होने वाले कारण ही ऐसे होते हैं, जिनका कार्योत्पादन का सामर्थ्य बाधित नहीं होता; क्योंकि अन्य कारणों (के सामर्थ्य) का तो बाध हो सकता है ।

अप्रतिबद्धसामर्थ्यानाम्—बौद्ध दर्शन के अनुसार कोई कार्य कारण-सामग्री से उत्पन्न होता है, किसी एक कारण से नहीं । उदाहरणार्थ अङ्कुर की उत्पत्ति के लिये बीज, मिट्टी, पानी, वायु, उष्णता, अवकाश तथा अनुकूल ऋतु आदि कारण-सामग्री

---

१. 'इति' नास्ति, B.E.H.N.P.

२. साध्यते C.

कार्यानुपलब्धिश्च यत्र कारणम् अदृश्यं तत्र प्रयुज्यते । दृश्ये तु कारणे दृश्यानुपलब्धिरेव गमिका । तत्र[1] धवलगृहोपरिस्थिता गृहाङ्गणम् अपश्यन् अपि चतुर्षु पार्श्वेष्वङ्गणभित्तिपर्यन्तं पश्यति । भित्तिपर्यन्तसमं चालोकपञ्चकम् आकाशदेशं धूमविविक्तं पश्यति । तत्र धूमाभावनिश्चयाद् यद्देशस्थेन वह्निना जन्यमानो धूमस्तद्देशः स्यात्, तस्य च[2] वह्नेरप्रतिबद्धसामर्थ्यस्याभावः प्रतिपत्तव्यः । तद्गृहाङ्गणदेशेन[3] च वह्निना जन्यमानो धूमस्तद्देशः स्यात् । तस्मात् तद्देशस्य वह्नेरभावः प्रतिपत्तव्यः ।

अपेक्षित है । किन्तु इस सामग्री के एकत्रित होते ही तो अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं हो जाती । होता यह है कि इस सामग्री के एकत्रित हो जाने पर इन सभी कारणों के पूर्व-पूर्व क्षण का नाश और अग्रिम-अग्रिम क्षण की उत्पत्ति होती रहती है । इन सभी कारणों का एक क्षण-प्रवाह चलता रहता है, वही कारण-सन्तति कहलाती है । उस कारण-सन्तति में एक क्षण ऐसा आ जाता है, जिसमें वह बीज अङ्कुर को उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ हो जाता है । उससे अग्रिम क्षण में ही बीज से अङ्कुर उत्पन्न हो जाता है । उस समर्थ बीज क्षण को ही 'कुर्वद्रूप कारण' कहा जाता है । वही अन्त्य क्षण है; क्योंकि उसके पश्चात् बीज-सन्तति नष्ट हो जाती है और अङ्कुर-सन्तति आरम्भ हो जाती है । उस अवस्था को प्राप्त हुआ बीज अवश्य ही अङ्कुर को उत्पन्न करता है । इसलिये वह समर्थबीज अङ्कुर का अव्यभिचारी कारण होता है । भाव यह है कि उस अवस्था के कारण को कोई भी कार्योत्पादन से नहीं रोक सकता । इस प्रकार वहाँ कार्य की अनुपलब्धि से समर्थ कारण के अभाव का निश्चय किया जाता है । अप्रतिबद्धसामर्थ्यानाम्=समर्थानाम् ।

कार्यानुपलब्धिश्चेति—इस कार्यानुपलब्धि का प्रयोग वहाँ किया जाता है, जहाँ कारण दर्शन-योग्य (दृश्य) नहीं होता । यदि कारण दृश्य होता है तो दृश्यानुपलब्धि (=स्वभावानुपलब्धि) ही उसके अभाव का बोध करा देती है (=गमिका) । (कार्यानुपलब्धि के प्रयोग का स्थल है—) किसी श्वेतगृह (प्रासाद) पर खड़ा हुआ व्यक्ति घर के आंगन को न देखता हुआ भी आंगन के चारों ओर की दीवारों के (ऊपरी) अन्तिम भाग (=पर्यन्त) को देखता है । दीवारों के अन्तिम भाग के समान ही (समं=तुल्यम्) आलोकनामक आकाश-प्रदेश को धूम से रहित देखता है । वहाँ धूम के अभाव का निश्चय होने से, जिस प्रदेश की अग्नि से उत्पन्न किया गया धूम उस प्रदेश में होता, उस (धूमोत्पादन में) अबाधित सामर्थ्य वाली अग्नि का अभाव जानना चाहिये । क्योंकि उस गृह के आंगन प्रदेश में स्थित अग्नि से उत्पन्न धूम उसी प्रदेश में होता, इसलिये उस प्रदेश में स्थित अग्नि का अभाव जानना होगा ।

---

१. ०गृहस्योपरि० B.C.D. २. 'च' नास्ति B.
३. ०देशस्थेन C.D., ०देशेन भ (च) A., तद्गृहाङ्गणस्थेन च B., तद्गृहाङ्गणदेशेन वह्नि E.H.P.

तद्गृहाङ्गणदेशं भित्तिपरिक्षिप्तं भित्तिपर्यन्तपरिक्षिप्तेन चालोकात्मना धूमविविक्तेनाकाशदेशेन सह धर्मिणं करोति। तस्माद् 'दृश्यमानादृश्यमाना-काशदेशावयवः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षसमुदायो वह्न्यभावप्रतीतिसामर्थ्यायातो धर्मी, न दृश्यमान एव'। 'इह' इति तु प्रत्यक्षनिर्देशो दृश्यमानभागापेक्षः।

आलोकसंज्ञकम्—सौत्रान्तिक के मतानुसार आकाश का स्वरूप आलोक तथा अन्धकार ही है। इसी दृष्टि से यहाँ आकाश को आलोकसंज्ञक कहा गया है (धर्मो० प्र०, पृ० १२७)।

तद्देशः—स देशोऽस्येति = उस देश का, उस प्रदेश में स्थित।

तद्गृहाङ्गणेति—यहाँ (अनुमाता) दीवारों के अन्तिम भाग से घिरे हुए आलोक नामक धूम-रहित आकाश-प्रदेश सहित दीवारों से घिरे हुए उस घर के आंगन प्रदेश को धर्मी (पक्ष) बनाता है। इसलिये अग्नि के अभाव की प्रतीति के सामर्थ्य से उपस्थित (=आयातः) होने वाला, जिसके भाग दृश्यमान तथा अदृश्यमान आकाश-प्रदेश हैं वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रदेशों का समुदाय यहाँ धर्मी है; केवल प्रत्यक्ष-प्रदेश ही धर्मी नहीं है। 'यहाँ' (= इह)—इस प्रकार का प्रत्यक्ष-विषयक निर्देश तो दिखलाई देने वाले भाग की अपेक्षा से ही कर दिया जाता है।

सामर्थ्यायातः—सामर्थ्यम् = अन्यथानुपपत्तिः, तस्माद् आयातः = उपस्थितः। लोक में (क) आँगन-प्रदेश तथा (ख) दीवारों के ऊपरी भाग से घिरे हुए (भित्ति-पर्यन्तपरिक्षिप्त) आकाश-प्रदेश, इन दोनों के समुदाय में ही धूमाभाव के द्वारा समर्थ अग्नि के अभाव का निश्चय किया जाता है, यहाँ भित्तिपर्यन्तपरिक्षिप्त आकाश-प्रदेश दृश्य है और आँगन-प्रदेश अदृश्य है। इन दोनों के समुदाय में अग्नि के अभाव की प्रतीति तभी सम्भव है जब इन दोनों के समुदाय को ही धर्मी माना जाये। अतः यहाँ प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष (दृश्यादृश्य) का समुदाय ही धर्मी है; (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १२८)।

इह इति प्रत्यक्षनिर्देशः—शङ्का यह है कि यदि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष का समुदाय धर्मी है तो कार्यानुपलब्धि के उदाहरण (न इह अप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूम-कारणानि सन्ति) में 'इह' (=यहाँ) शब्द असङ्गत होगा; क्योंकि इसके द्वारा तो केवल प्रत्यक्ष वस्तु का निर्देश किया जाता है। समाधान यह है कि केवल प्रत्यक्ष भाग को ध्यान में रखकर इस प्रकार का निर्देश किया गया है। अथवा कहिये कि लोक में दृश्य और अदृश्य का भेद न करके ऐसा निर्देश कर दिया जाता है (दृश्यादृश्यसमुदायो लोकेनैकत्वेनाकलितः, धर्मो० प्र०, पृ० १२७)।

---

१. दृश्यमानाका० A.C.

२. इव C.

न केवलम् इहैव दृश्यादृश्यसमुदायो धर्मी, अपि त्वन्यत्रापि । शब्दस्य क्षणिकत्वे साध्ये कश्चिद् एव शब्दः प्रत्यक्षोऽन्यस्तु परोक्षस्तद्वद् इहापि । यथा चात्र धर्मी साध्यप्रतिपत्त्यधिकरणभूतो दृश्यादृश्यावयवो दर्शितस्तद्वद् उत्तरेष्वपि प्रयोगेषु स्वयं प्रतिपत्तव्यः ।।३२।।

(३) व्यापकानुपलब्धिर्यथा-नात्र शिंशपा वृक्षाभावाद् इति[2] ।।३३।।

प्रतिषेध्यस्य व्याप्यस्य यो व्यापको धर्मस्तस्यानुपलब्धिरुदाह्रियते—

न केवलम् इति—केवल यहाँ (कार्यानुपलब्धि में) ही धर्मी (=अनुमेय, पक्ष) दृश्य और अदृश्य (प्रदेशों) का समुदाय होता है—यह बात नहीं है; अपि तु अन्य स्थलों (कार्य और स्वभाव हेतु) में भी ऐसा होता है; जैसे जब शब्द की क्षणिकता को सिद्ध किया जाता है तो कोई शब्द ही प्रत्यक्ष होता है अन्य (शब्द) तो अप्रत्यक्ष ही होता है इसी प्रकार यहाँ (कार्यानुपलब्धि में) भी है। और, जिस प्रकार यहाँ दृश्य और अदृश्य प्रदेश वाला धर्मी साध्य की अनुमिति (प्रतिपत्ति) का आधारभूत दिखलाया गया है इसी प्रकार अग्रिम उदाहरणों में भी स्वयं जान लेना चाहिये ।।३२।।

न केवलम् इहैव०—जिसमें किसी साध्य की सिद्धि की जाती है (साध्यप्रतिपत्त्यधिकरणभूतः), वह धर्मी (पक्ष) होता है। बौद्धन्याय की दृष्टि से परमार्थसत् वस्तु (स्वलक्षण) में किसी साध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि वह तो विस्तार-शून्य है। इसलिये जो पदार्थ लोक में अध्यवसाय का विषय है वही धर्मी होता है और वह दृश्य तथा अदृश्य का समुदाय ही है। कैसे ? प्रत्यक्ष द्वारा स्वलक्षण का ग्रहण होता है, वह दृश्य है। प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाले विकल्पों द्वारा उस स्वलक्षण में आरोपित नाम, जाति, गुण तथा विस्तार आदि का अध्यवसाय किया जाता है। जो बौद्धन्याय में प्रत्यक्ष का विषय नहीं, अदृश्य है। इन दृश्य और अदृश्य दोनों भागों को लोक में एक समझ लिया जाता है। वही दृश्यादृश्यसमुदाय धर्मी है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १२७)।

इहैव—कार्यानुपलब्धि में ही।

अन्यत्रापि—कार्य और स्वभाव हेतु में भी। जब पर्वत आदि में अग्नि को सिद्ध किया जाता है तो वहाँ भी दृश्य तथा अदृश्य का समुदाय, जिसे लोक में पर्वत कहा जाता है, वही धर्मी है (मि०, धर्मो० प्र० पृ० १२८)।

कार्यानुपलब्धि का प्रयोग—इस प्रकार होगा—यत्र यस्य कार्यम् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं नोपलभ्यते तत्तु तज्जननाप्रतिबद्धसामर्थ्यं नास्ति यथा क्वचि द दृश्यमानेऽङ्कुरे तथाविध बीजम्। नोपलभ्यते चात्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तो धूम इति (धर्मो० प्र०, पृ० १२८)।

व्यापकानुपलब्धिरिति—

(३) व्यापकानुपलब्धि यह है, जैसे—यहाँ शिंशपा नहीं है; क्योंकि वृक्ष ही नहीं है ।।३३।।

प्रतिषेध्य जो व्याप्य (प्रतिबद्ध) है, उसका जो व्यापक (प्रतिबन्ध का विषय)

---

१. नुपलब्धेर्य० C. २. 'इति' नास्ति E.

यथेति । अत्रेति[1] धर्मी । न शिंशपेति शिंशपाभावः साध्यः । वृक्षस्य व्यापकस्याभावाद् इति हेतुः ।

इयमप्यनुपलब्धिर्व्याप्यस्य शिंशपात्वस्याऽदृश्यस्याभावे[2] प्रयुज्यते । उपलब्धिलक्षणप्राप्ते तु व्याप्ये दृश्यानुपलब्धिर्गमिका । तत्र यदा पूर्वपरावुपश्लिष्टौ समुन्नतौ देशौ भवतः, तयोरेकस् तरुगहनोपेतो[3]ऽपरश् चैकशिलाघटितो निर्वृक्षकक्षः[4] । द्रष्टाऽपि तत्स्थान् वृक्षान् पश्यन्नपि शिंशपादिभेदं[5] यो न विवेचयति, तस्य वृक्षत्वं प्रत्यक्षम् अप्रत्यक्षं तु[6] शिंशपात्वम् । स हि निर्वृक्ष एकशिलाघटिते वृक्षाभावं दृश्यत्वाद् दृश्यानुपलम्भाद अवस्यति । शिंशपात्वाभावं तु व्यापकस्य वृक्षस्याभावाद् इति । तादृशे[7] विषयेऽस्या[8] अभावसाधनाय प्रयोगः ॥३३॥

धर्म है; उसकी अनुपलब्धि का उदाहरण दिया गया है—यथेत्यादि । 'अत्र' (=यहाँ)—धर्मी है । शिंशपा नहीं है—यह साध्य है । वृक्ष (=वृक्षत्व) जो व्यापक है, उसका अभाव होने से—यह हेतु है ।

जब व्याप्य होने वाले शिंशपात्व का प्रत्यक्ष नहीं होता (अदृश्य) तो उसके अभाव को सिद्ध करने के लिये इस व्यापकानुपलब्धि का प्रयोग किया जाता है । यदि व्याप्य (शिंशपात्व) दर्शन-योग्य होता है तो दृश्यानुपलब्धि (=स्वभावानुपलब्धि) ही इस अभाव का बोध करा देती है । इसके प्रयोग का स्थल है (तत्र)—जब एक दूसरे से मिले हुए दो उन्नत प्रदेश होते हैं । उनमें एक तो घने वृक्षों से युक्त है और दूसरा केवल (एक) शिला-निर्मित एवं वृक्ष तथा तृणों (कक्ष) से शून्य है । द्रष्टा भी वहाँ खड़े वृक्षों को देखता हुआ भी शिंशपा आदि के भेद का विवेक नहीं कर पाता; उसको वृक्ष होना (वृक्षत्व) तो प्रत्यक्ष है किन्तु शिंशपा होना (शिंशपात्व) अप्रत्यक्ष है । वह (द्रष्टा) वक्ष-शून्य केवल शिलानिर्मित-प्रदेश में दृश्यानुपलब्धि से वृक्षों का अभाव निश्चित कर लेता है; क्योंकि वहाँ वृक्ष तो दृश्य हैं (होते तो दिखलाई देते) । शिंशपात्व के व्यापक वृक्षत्व के अभाव से (व्यापकानुपलब्धि द्वारा) शिंशपा के अभाव का निश्चय करता है । उस प्रकार के विषय में ही इस (व्यापकानुपलब्धि) का अभाव की सिद्धि के लिये प्रयोग किया जाता है ॥३३॥

अदृश्यस्याभावे—यहाँ 'अदृश्यस्य'—यह शिंशपात्व का विशेषण है । वहाँ यह सम्भावना नहीं की जा सकती कि "यदि शिंशपा होती तो दृश्य ही

---

१. इति' नास्ति A.B.E.H.P.

२. शिंशपात्वदृश्यस्याभाव B., शिंशपात्वस्य दृश्याभावे A.E.H.N.P., शिंशपात्वस्य दृश्यस्याभावे C.D.

३. ०पेताऽपर C.

४. ०कक्षक: T.

५. भेदं न यो विवे० A.E.H.P.

६. 'तु' नास्ति A.B.C.E.H.N.

७. तादृशेऽपि० A,

८. ०स्या. प्रयोगोऽभावसाधनाय C.

(४) स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नात्र शीतस्पर्शो वह्नेरिति[1] ॥३४॥

प्रतिषेध्यस्य स्वभावेन विरुद्धस्योपलब्धिरुदाह्रियते—'यथेति[2]। अत्रेति धर्मी। न शीतस्पर्श इति[3] शीतस्पर्शप्रतिषेधः साध्यः। वह्नेरिति हेतुः।

इयं चानुपलब्धिस्तत्र प्रयोक्तव्या यत्र शीतस्पर्शोऽदृश्यः, दृश्ये[4] दृश्यानुपलब्धिप्रयोगात्। तस्माद् यत्र वर्णविशेषाद् वह्निर्दृश्यः, शीतस्पर्शो दूरस्थत्वात्[5] सन्नप्यदृश्यः, तत्रास्याः प्रयोगः। ३४॥

(५) विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा— नात्र शीतस्पर्शो धूमाद् इति ॥३५॥

प्रतिषेध्येन यद् विरुद्धं तत्कार्यस्योपलब्धिर्गमिका— यथेति। अत्रेति धर्मी। न शीतस्पर्श इति शीतस्पर्शाभावः साध्यः। धूमाद् इति हेतुः।

होती"; इसलिये शिंशपा को अदृश्य कहा गया है। अभावे साध्ये (=अभाव साध्य होने पर)। यहाँ 'साध्य' शब्द का अध्याहार करना होगा (धर्मो० प्र०, पृ० १२९)।

व्यापकानुपलब्धि का प्रयोग यह है—यत्र यस्य व्यापकं नास्ति, न तत् तत्रास्ति; यथा असति प्रमेयत्वे प्रामाण्यम्; नास्ति च वृक्षत्वं शिंशपात्वस्य व्यापकम् इति (धर्मो० प्र०, पृ० १३०)।

स्वभावविरुद्धोपलब्धिरिति—

(४) स्वभावविरुद्धोपलब्धि यह है; जैसे—यहाँ शीतल स्पर्श नहीं है; क्योंकि यहाँ अग्नि है ॥३४॥

प्रतिषेध्य के स्वभाव से विरुद्ध (वस्तु) की उपलब्धि का उदाहरण दिया गया है—यथा इत्यादि। 'अत्र' (=यहाँ)—यह धर्मी है। 'शीतल स्पर्श नहीं है'—यह शीतल स्पर्श का अभाव साध्य है। 'क्योंकि यहाँ अग्नि है' (वह्नेः=अग्नि होने से)—यह हेतु है।

इस (स्वभावविरुद्धा) उपलब्धि का वहाँ प्रयोग किया जाता है, जहाँ शीतल स्पर्श का (साक्षात्) अनुभव नहीं किया जाता (अदृश्य)। जहाँ यह अनुभव योग्य (दृश्य) होता है वहाँ तो दृश्यानुपलब्धि का ही प्रयोग हो जाता है। इसलिये जहाँ विशेष प्रकार के रङ्ग (दीप्ति आदि) के कारण अग्नि दिखलाई देती है किन्तु दूर होने के कारण शीत स्पर्श यदि विद्यमान हो तो भी अनुभव-योग्य नहीं होता, वहाँ इस (स्वभावविरुद्धोपलब्धि) का प्रयोग किया जाता है ॥३ ॥

विरुद्धकार्योपलब्धिरिति—

(५) विरुद्धकार्योपलब्धि इस प्रकार होती है; जैसे—यहाँ शीतस्पर्श नहीं है; क्योंकि यहाँ धूम है ॥३५॥

प्रतिषेध्य के जो विरुद्ध है उसके कार्य की उपलब्धि (अभाव को) निश्चायक (=गमिका) होती है; जैसे—नात्र' आदि। 'अत्र' (=यहाँ)—यह धर्मी है। 'शीतल स्पर्श नहीं है'—यह शीतल स्पर्श का अभाव साध्य है। क्योंकि यहाँ धूम है—यह हेतु है।

---

१. अग्नेरिति B.E H.N P. २. 'यथेति' नास्ति B.C.D.
३. 'इति' नास्ति A. ४. दृश्ये तु B.C.D. ५. दूरत्वात् B. D.

यत्र शीतस्पर्शः सन् स्यात तत्र दृश्यानुपलब्धिर्गमिका । यत्र विरुद्धो वह्निः प्रत्यक्षः, तत्र, विरुद्धोपलब्धिर्गमिका[1] । द्वयोरपि तु परोक्षत्वे 'विरुद्ध-कार्योपलब्धिः प्रयुज्यते ।

'तत्र समस्तापवरकस्थं शीतं निवर्तयितुं समर्थस्याग्नेरनुमापकं यदा विशिष्टं धूमकलापं निर्यान्तिम् अपवरकात् पश्यति, तदा विशिष्टाद् वह्नेरनु-मितात् शीतस्पर्शनिवृत्तिम अनुमिमीते' । इह दृश्यमानद्वारप्रदेशसहितः 'सर्वो-ऽपवरकाभ्यन्तरदेशो धर्मी साध्यप्रतिपत्त्यनुसरणात् पूर्ववद् द्रष्टव्य इति' ॥३५॥

जहाँ शीतस्पर्श विद्यमान होकर अनुभव-योग्य (=दृश्य) होता है, वहां तो दृश्यानुपलब्धि ही (उसके अभाव का) निश्चय करा देती है (=गमिका)। जहाँ (प्रतिषेध्य शीतस्पर्श की) विरोधी अग्नि का प्रत्यक्ष होता है, वहाँ स्वभावविरुद्धोपलब्धि (अभाव की) निश्चायक होती है । किन्तु जब शीतस्पर्श और अग्नि दोनों ही अदृश्य (=परोक्ष) होते हैं तब विरुद्धकार्योपलब्धि का प्रयोग किया जाता है ।

इसके प्रयोग का स्थल है (तत्र)--जब कोई समस्त कक्ष (=अपवरक) में स्थित शीत को दूर करने में समर्थ अग्नि का अनुमान कराने वाले विशेष प्रकार के धूम-समूह को कक्ष से निकलता हुआ देखता है, तब विशेष प्रकार की अनुमित अग्नि से शीत स्पर्श के अभाव का अनुमान कर लेता है । यहाँ पहले (कार्यानुपलब्धि) के समान ही दृश्यमान द्वार-देश सहित समस्त कक्ष का भीतरी भाग धर्मी (=पक्ष) होता है—यह समझना चाहिये (=द्रष्टव्यः); क्योंकि साध्य (शीतस्पर्श के अभाव) की प्रतीति के अनुसार यही निश्चित होता है ॥३५॥

अपवरक— कमरा, कक्ष, अन्तर्वेश्म (An inner apartment आप्टेकोश)।

साध्यप्रतिपत्त्यनुसरणात्—साध्यस्य=शीतस्पर्शाभावस्य, प्रतिपत्तिः=अवबोधः, तस्य अनुसरणम्=निरूपणं त मात् । भाव यह है कि इस प्रकार जो शीत स्पर्श के अभाव की प्रतीति है वह विशेष प्रकार के धर्मी में ही बन सकती है । अतः कार्यानु-पलब्धि के समान यहाँ भी दृश्यादृश्य-समुदाय ही धर्मी है। कक्ष का द्वार-प्रदेश दृश्य है; किन्तु भीतरी प्रदेश अदृश्य है; (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १३१)।

विरुद्धकार्योपलब्धि का प्रयोग-यत्र धूमविशेषः तत्र शीतस्पर्शाभावः यथा महान-सादौ, तथाविधश्चात्र धूम इति (धर्मो० प्र०, पृ० १३१)।

---

१. गमिका' नास्ति A.B.E.H.N.P.
२. विरोधका० A.
३. यत्र A.
४. नियत्तिरनुमीयते A.C.
५. सर्वापवरका० A E H N.P.
६. 'इति' नास्ति A.B C.E.H.N.P.

(६) विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा—न ध्रुवभावी भूतस्यापि भावस्य विनाशः, हेत्वन्तरापेक्षणाद् इति[1] ॥३६॥

प्रतिषेध्यस्य यद् विरुद्धं तेन व्याप्तस्य धर्मान्तरस्य उपलब्धिरुदाहर्तव्या—यथेति। ध्रुवम् अवश्यं भवतीति[2] ध्रुवभावी, नेति ध्रुवभावित्वनिषेधः[3] साध्यः। विनाशो धर्मी। भूतस्यापि भावस्येति धर्मिविशेषणम्। भूतस्य=जातस्यापि विनश्वरः स्वभावो नावश्यम्भावी, किम् उताजातस्येति अपिशब्दार्थः। 'जनकाद्[4] हेतोरन्यो हेतुः हेत्वन्तरं मुद्गरादि[5]'। तदपेक्षते विनश्वरः[6]। तस्यापेक्षणाद् इति हेतुः।

विरुद्धव्याप्तोपलब्धिरिति—

(६) विरुद्धव्याप्तोपलब्धि इस प्रकार होती है—उत्पन्न होने वाली वस्तु का भी विनाश अवश्यम्भावी न होगा; क्योंकि (विनाश के लिये) अन्य हेतु की अपेक्षा है ॥३६॥

प्रतिषेध्य के जो विरुद्ध है, उससे व्याप्त अन्य धर्म की उपलब्धि का उदाहरण दिया जाता है—यथेति। जो ध्रुव अर्थात् अवश्य ही होता है, वह ध्रुवभावी कहलाता है। 'ध्रुवभावी नहीं है'—यह अवश्यम्भावी होने का प्रतिषेध (=अभाव) साध्य है। 'विनाश'—यह धर्मी (पक्ष)। उत्पन्न होने वाली वस्तु का भी—यह धर्मी (विनाश) का विशेषण है। उत्पन्न होने वाली वस्तु का भी नष्ट होने का स्वभाव अवश्यम्भावी न होगा; फिर उत्पन्न न होने वाली (=अजात=अनुत्पन्न, नित्य) वस्तु का तो क्या? यह 'अपि' (=भी) शब्द का अर्थ है। उत्पादक कारण से भिन्न कारण ही दूसरा कारण (=हेत्वन्तर) कहा गया है, जैसे—मुद्गर (=मूंगरा) आदि (जिससे घट आदि को फोड़ दिया जाता है)। (नैयायिक आदि के अनुसार) नाशवान् वस्तु (अपने नाश के लिये) अन्य कारण (=तद्) की अपेक्षा रखती है, 'उसकी अपेक्षा होने से—यह हेतु है।

यथा—यह उदाहरण विरुद्धव्याप्तोपलब्धि-प्रसङ्ग का है (धर्मो० प्र०, पृ० १३३)। नैयायिक का मन्तव्य है कि जो घट आदि वस्तु उत्पन्न होती है, वह स्थिर है। उसका नाश तभी होता है जब नाश का कोई कारण उपस्थित होता है। नाश का वह कारण अवश्य ही उसके उत्पादक हेतुओं से भिन्न है। इसीलिये उसे हेत्वन्तर=अन्य हेतु कहा जाता है। जैसे-घट का नाश तब होता है जब उसे मुद्गर आदि से तोड़ा जाता है। यह मुद्गर आदि हेत्वन्तर है।

बौद्धदर्शन के क्षणिकता के सिद्धान्तानुसार कोई वस्तु स्वभावतः ही विनश्वर होती है। प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होते ही स्वयं नष्ट हो जाती है। विनाश निर्हेतुक होता

---

१. 'इति' नास्ति E. २. 'इति' नास्ति B.C.D. ३. ०त्वप्रतिषेधः C.
४. जननाद् A.E.H.P. ५. मुद्गरादिः C. ६. विनश्वरस्यापेक्ष० A.

हैं, विनाश के लिये अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं होती । इसीलिये विनाश नियत = नित्य = ध्रुवभावी है—

तत्र ये कृतका भावास्ते सर्वे क्षणभङ्गिनः ।
विनाशं प्रति सर्वेषामनपेक्षतया स्थितेः ॥
यद्भावं प्रति यन्नैव हेत्वन्तरमपेक्षते ।
तत्तत्र नियतं ज्ञेयं स्वहेतुभ्यस्तथोदयात् ॥ (तत्त्वसंग्रह, का० ३५४) ।

भाव यह है कि अपने कारणों से ही वस्तु नश्वर स्वभाव वाली उत्पन्न होती है । प्रत्येक घट आदि वस्तु प्रतिक्षण नष्ट होती है और उसके स्थान पर दूसरा घट उत्पन्न हो जाता है । जिसे लोक में घट आदि कहते हैं, वह घट-क्षणों का सन्तान = अविच्छिन्न प्रवाह मात्र है, एक स्थिर वस्तु नहीं । जब मुद्गर आदि से घट को तोड़ दिया जाता है तो घट-सन्तान समाप्त हो जाता है और उसके स्थान पर टूटे भागों (कपाल आदि) का क्षण-सन्तान प्रवाहित होने लगता है । इस प्रकार प्रत्येक विद्यमान वस्तु (सत्) स्वभाव से ही नश्वर है नाशवान् है, उसके विनाश के लिये किसी अन्य हेतु (=हेत्वन्तर) की अपेक्षा नहीं ।

यदि नैयायिक के समान विनाश के लिये हेत्वन्तर की अपेक्षा मानी जाये तो उत्पन्न वस्तुओं का भी विनाश अवश्यम्भावी न हुआ करेगा । "सापेक्षाणां हि भावानां नावश्यम्भावितेक्ष्यते"–(प्र० वा०, ३. १९३) । जिस वस्तु के विनाश का हेतु उपस्थित होगा, उसका ही विनाश हुआ करेगा, अन्य का नहीं । इस दोष का प्रसङ्ग (अनिष्टापत्ति) प्रस्तुत विरुद्धव्याप्तोपलब्धि से दिखलाया गया है । इस प्रकार यह विरुद्धव्याप्तोपलब्धि-प्रसङ्ग का उदाहरण है । यहाँ विरुद्धव्याप्तोपलब्धि का स्वतन्त्र उदाहरण न दिखलाकर नैयायिक की विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिये ही यह उदाहरण दिया गया है । विप्रतिपत्ति है—'विनाश के लिये हेत्वन्तर की अपेक्षा मानना' । श्चेरबात्स्की द्वारा उद्धृत Rgyal–thsab के कथन (=विप्रत्तिपत्तिनिराकरणार्थं प्रसङ्ग-प्रयोगवचनमात्रम्) से तथा प्रमाणवार्तिक (४.२७९), हेतुबिन्दुटीका (पृ० ८३) एवं धर्मोत्तरप्रदीप (पृ० १३३) आदि के अनुशीलन से भी उपर्युक्त आशय की ही पुष्टि होती है ।

किन्तु श्चेरबात्स्की का कथन है कि यह उदाहरण निम्न आक्षेप के निराकरण के लिये दिया गया है—'यदि आरोपित दृश्य पदार्थ का प्रतिषेध ही अभाव है तो जो पदार्थ साधारण जनों के लिये अदृश्य हैं; उनके अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता" ।

यह आक्षेप सांख्य, नैयायिक और मीमांसक आदि की ओर से किया जाता है । वे प्रकृति आदि तत्त्वों तथा सृष्टि आदि की प्रक्रिया को अदृश्य मानते हैं । श्चेरबात्स्की के अनुसार Rgyal-thsab का इसी विप्रतिपत्ति की ओर संकेत है । (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ९२ टि० १) ।

हेत्वन्तरापेक्षणं 'नामाध्रुवभावित्वेन व्याप्तं यथा वाससि रागस्य 'रञ्जनादिहेत्वन्तरापेक्षणम् अध्रुवभावित्वेन व्याप्तम्'। ध्रुवभावित्वविरुद्धं चाध्रुवभावित्वम्। विनाशश्च विनश्वरस्वभावात्मा हेत्वन्तरापेक्ष इष्टः। ततो विरुद्धव्याप्तहेत्वन्तरापेक्षणदर्शनाद् ध्रुवभावित्वनिषेधः।

अजातस्येति—नैयायिक आदि को उत्पन्न न होने वाले (=अजात) पदार्थ का तो अवश्यम्भावी विनाश इष्ट है ही नहीं, इस प्रकार उत्पन्न होने वाले (=जात) पदार्थ का भी विनाश अवश्यम्भावी न हुआ करेगा (धर्मो० प्र०, पृ० १३२)।

प्रायः सभी भारतीयदर्शन कुछ पदार्थों को नित्य मानते हैं, जैसे सांख्य के अनुसार पुरुष तो कूटस्थ नित्य है ही, प्रकृति में भी परिणामि-नित्यता है। न्याय-वैशेषिक भी परमाणु और आत्मा आदि को नित्य मानते हैं। हीनयान सम्प्रदाय के प्राचीन बौद्ध तीन पदार्थों (आकाश, परिसंख्यानिरोध और अपरिसंख्यानिरोध) को नित्य (असंस्कृत धर्म) मानते थे। महायान सम्प्रदाय में इनको भी आपेक्षिक धर्म तथा तुच्छ सिद्ध किया गया। सौत्रान्तिक और योगाचार क्षणिकता और सत्ता में तादात्म्य मानते हैं (यत् सत् तत् क्षणिकम्)—मि० बु० लॉ० २, पृ० ९२ टि० २।

हेत्वन्तरापेक्षणम् इति—अन्य हेतु पर आश्रित होना अवश्य न होने (अध्रुव-भावित्व) से व्याप्त है (=जो अन्य हेतु पर आश्रित है, वह अवश्यम्भावी नहीं होता) जैसे—किसी वस्त्र का रंग जो रंगने का कार्य (=रञ्जन) आदि अन्य हेतुओं की अपेक्षा रखता है, वह अवश्यम्भावी नहीं होता। अवश्य होने का विरोधी है—अवश्य न होना, तथा विनश्वर वस्तु का स्वभाव-रूप जो विनाश है, उसे (नैयायिक आदि द्वारा) अन्य हेतु पर आश्रित माना गया है। इस प्रकार प्रतिषेध्य (ध्रुवभावित्व) के विरुद्ध (अध्रुवभावित्व) का व्याप्य—अन्य हेतु की अपेक्षा—यहाँ उपलब्ध होता है अतः (विनाश की) अवश्यम्भाविता का निषेध हो जाता है।

ततो०—विनाश को वस्तु का स्वभाव माना जायेगा तभी उत्पन्न वस्तुओं का भी विनाश अवश्यम्भावी हो सकेगा। यदि विनाश के लिये हेत्वन्तर की अपेक्षा होगी तो वह अवश्यम्भावी न रहेगा तथा उत्पन्न वस्तुएँ भी कभी-कभी नष्ट न हुआ करेंगी। यह बात नैयायिक आदि को इष्ट नहीं है अतः अनिष्टापत्ति या अनिष्ट-प्रसङ्ग होता है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होगा—यद् यदवस्थाप्राप्तौ हेत्वन्तरम् अपेक्षते न तद् अवश्यं तद्रूपं भवति। यथा वस्त्रं रक्तरूपताप्राप्तौ रागद्रव्यसंयोगापेक्षं नावश्यं रक्तं भवति। अपेक्षते च भावो विनष्टुं हेत्वन्तरम् इति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिप्रसङ्गः (धर्मो० प्र०, पृ० १३३)।

---

१. पेक्षणं नाध्रुव० B. २. राजकादि० B.C.D. ३. व्याप्तं तद्वद् ध्रुव० C.

इह ध्रुवभावित्वं नित्यत्वम्, अध्रुवभावित्वं [1]चानित्यत्वम्। नित्यत्वाऽनित्यत्वयोश्च परस्परपरिहारेणावस्थानाद् एकत्र विरोधः। तथा च सति परस्परपरिहारवतोर्द्वयोर्यदैकं दृश्यते तत्र द्वितीयस्य तादात्म्यनिषेधः कार्यः। तादात्म्यनिषेधश्च [2]दृश्यतयाऽभ्युपगतस्य सम्भवति। [3]यत एवं तादात्म्यनिषेधः क्रियते—'यद्ययं दृश्यमानो नित्यो भवेन्नित्यरूपो दृश्येत। न च नित्यरूपो दृश्यते। तस्मान् न नित्यः'। एवं च प्रतिषेध्यस्य नित्यत्वस्य दृश्यमानात्मकत्वम्[4] अभ्युपगम्य प्रतिषेधः कृतो भवति।

इहेति—ध्रुवभावी का अर्थ है—नित्य (=अवश्यम्भावी) और अध्रुवभावी का अर्थ है—अनित्य (=न अवश्यम्भावी)। क्योंकि नित्यता और अनित्यता दोनों एक दूसरे के अभाव (अन्योन्याभाव) में ही रहती हैं; इसलिये दोनों का एक साथ रहने में विरोध है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दो वस्तुओं में से जब एक दृष्टिगोचर होती है तो दूसरी के तादात्म्य (तद्रूपता) का निषेध समझना चाहिये (कार्यः)। तादात्म्य-निषेध उस वस्तु का किया जा सकता है जिसको दर्शन-योग्य मान लिया जाता है। क्योंकि तादात्म्य-निषेध इस प्रकार किया जाता है—'यदि यह दृश्यमान वस्तु नित्य (=अवश्यम्भावी) होती तो इसका नित्य रूप में ही दर्शन (=अनुभव) किया जाता; किन्तु यह नित्य नहीं दिखलाई देती इसलिये यह नित्य नहीं है'। इस प्रकार प्रतिषेध का विषय जो नित्यत्व (=ध्रुवभावित्व) है उसकी दृश्यरूपता (दर्शनयोग्यता) को स्वीकार करके उसका प्रतिषेध किया जाता है।

नित्यत्वम्० = नियतत्वम् = ध्रुवभावित्वम् = अवश्यभावित्वम् (नित्यत्वशब्देनावश्यम्भावित्वम्; अनित्यत्वशब्देनाऽनवश्यंभावित्वम् उक्तं द्रष्टव्यम्; धर्मो०, प्र०, पृ० १३३)। श्चेरबात्स्की ने यहाँ नित्यत्व का अर्थ permanence (eternity) किया है तथा बतलाया है कि इस अवतरण में बौद्ध ने यह तर्क प्रस्तुत किया है—परमार्थसत् वस्तु तो एक है वह उत्पत्ति और विनाश जैसे दो विरुद्ध धर्मों वाली नहीं हो सकती। वह नित्य होगी या अनित्य ही होगी। इस प्रकार वस्तुवादी (Realist) जो किसी वस्तु को कुछ काल के लिए स्थिर मानते हैं तथा उसे उत्पत्तिविनाशधर्मक मानते हैं, यह युक्तियुक्त नहीं (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ९४ टि० २)।

परस्परपरिहारेणावस्थानात् = एक दूसरे के अभाव में स्थित रहने के कारण। आगे (परि० ३.७३, ७५) में जो दो प्रकार (सहानवस्थान और परस्परपरिहार) का वस्तुओं का विरोध बतलाया जायेगा, उनमें से यह द्वितीय विरोध है। जो दो पदार्थ एक दूसरे के अभाव में ही रहते हैं, उनमें परस्परपरिहार नामक विरोध होता है। इसे न्याय-वैशेषिक के अन्योन्याभाव या तादात्म्याभाव के समान कहा जा सकता है। यह एक वस्तु का अन्य भावरूप वस्तु के साथ भी हो सकता है जैसे—कुर्सी ही मेज

---

१. 'च' नास्ति B.D.
२. धश्च तयाभ्यु० A.
३. य एवं A.
४. दृश्यमानात्मत्वम् A.E.H.N.P.

वस्तुनोऽप्यदृश्यस्य पिशाचेर्यदि[1] दृश्यघटात्मकत्वनिषेधः[2] क्रियते दृश्यात्मकत्वम्[3] अभ्युपगम्य कर्तव्यः। यद्ययं घटो[4] दृश्यमानः पिशाचात्मा भवेत् पिशाचो दृष्टो भवेत्। न च दृष्टः। तस्मात् न पिशाच इति। दृश्यात्मत्वाभ्युपगमपूर्वको दृश्यमाने घटादौ[5] वस्तुनि वस्तुनोऽवस्तुनो वा दृश्यस्यादृश्यस्य च तादात्म्यप्रतिषेधः[6]।

तथा च सति यथा घटस्य दृश्यत्वम् अभ्युपगम्य प्रतिषेधो[7] दृश्यानुपलम्भाद् एव तद्वत् सर्वस्य परस्परपरिहारवतोऽन्यत्र दृश्यमाने निषेधो दृश्यानुप-

---

नहीं है। वस्तु का अवस्तु (अभाव) के साथ भी हो सकता है; जैसे—कुर्सी और कुर्सी के अभाव का परस्परपरिहार नामक विरोध है।

वस्तुनोऽपीति—जब अदृश्य वस्तु पिशाच आदि का भी दृश्य घट के साथ तादात्म्य का निषेध किया जाता है तो उस (पिशाच आदि) की दृश्यरूपता की सम्भावना करके ही करना होता है—'यदि यह दृश्यमान घट पिशाच रूप होता तो पिशाच दिखलाई देता, किन्तु दिखलाई नहीं दे रहा है अतः यह पिशाच नहीं है।' इस प्रकार दृश्यमान घट आदि वस्तु में किसी परमार्थसत् या कल्पित (वस्तुनोऽवस्तुनो वा) दृश्य या अदृश्य पदार्थ के तादात्म्य का निषेध उस पदार्थ की दृश्यरूपता की सम्भावना करके किया जाता है।

वस्तुनोऽपि······तादात्म्यप्रतिषेधः—तादात्म्य का निषेध दृश्यानुपलब्धि से ही सिद्ध हो जाता है। इस तादात्म्य निषेध की दो अवस्थायें हो सकती हैं—(i) प्रतिषेध्य अदृश्य एवं अवस्तु (तुच्छरूप) हो और उसका दृश्यमान वस्तु के साथ तादात्म्य-प्रतिषेध करना हो; जैसे दृश्यमान घट आदि में (नित्यत्व) का प्रतिषेध करना है, नित्यत्व ही प्रतिषेध्य है उसकी दृश्यता की संभावना करके ही उसके साथ तादात्म्य का निषेध किया जा रहा है। (ii) प्रतिषेध्य वस्तु-रूप हो, किन्तु अदृश्य हो और उसका दृश्य वस्तु के साथ तादात्म्य-निषेध करना हो, जैसे—यह घट पिशाच नहीं है। यहाँ पिशाच दृश्य नहीं है। दृश्यमान घट में पिशाच की दृश्यता की इस प्रकार सम्भावना की जा सकती है—"यदि दृश्यमान घट पिशाच-रूप होता तो पिशाच दिखलाई देता। इस प्रकार दृश्यमान वस्तु में किसी दृश्य या अदृश्य वस्तु अथवा अवस्तु के तादात्म्य का निषेध किया जा सकता है।

तथा चेति—ऐसा होने पर तो जैसे घट की दृश्यता को स्वीकार करके दृश्यानुपलब्धि (=स्वभावानुपलब्धि) से ही उसका अभाव जाना जाता है उसी प्रकार परस्पर-भिन्न (एक दूसरी के अभाव में रहने वाली) वस्तु का अन्य दृश्यमान वस्तु में तादात्म्य-निषेध (अन्योन्याभाव) दृश्यानुपलब्धि से ही जाना जा सकता है। फलतः

---

१. यदैव B. २ ०त्मत्व० A.E.H.N.P ३. ०त्मत्वं A.E.H.N.P.
४. 'घटो' इति नास्ति A.E.H.N.P. ५. ०माने वस्तुनि घटादौ C.
६. निषेधः A.B.E.H.N.P. ७. निषेधः B.

लम्भाद् एव। तथा चास्यैवंजातीयकस्य प्रयोगस्य स्वभावानुपलब्धावन्तर्भावः ॥३६॥

(७) **कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा---नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति, 'वह्ने'रिति ॥३७॥**

प्रतिषेध्यस्य यत् कार्यं तस्य यद् विरुद्धं तस्योपलब्धेरुदाहरणम्—यथेति। इहेति धर्मी। अप्रतिबद्धं सामर्थ्यं येषां शीतकारणानां शीतजननं प्रति[2], तानि न सन्ति इति साध्यम्। वह्ने[1]रिति हेतुः।

यत्र शीतकारणानि अदृश्यानि, शीतस्पर्शोऽप्यदृश्यः, तत्रायं हेतुः प्रयोक्तव्यः। दृश्यत्वे तु शीतस्पर्शस्य तत्कारणानां वा कार्यानुपलब्धिः, दृश्यानुपलब्धिर्वा गमिका। तस्माद् एषाप्यभावसाधनी : ततो यस्मिन् देशे[3] सदपि

(=तथा च) इस प्रकार (न ध्रुवभावी इत्यादि; के प्रयोग का दृश्यानुपलब्धि (=स्वभावानुपलब्धि) में ही अन्तर्भाव हो जाता है ॥३६॥

तथा च सति०—यदि दृश्यमान घट आदि में किसी वस्तु या अवस्तु दृश्य या अदृश्य के तादात्म्य का निषेध उसकी दृश्यरूपता की सम्भावना करके ही किया जाता है तो तादात्म्य-निषेध दृश्यानुपलब्धि से ही जाना जा सकता है।

०स्वभावानुपलब्धावन्तर्भावः— इह ध्रुवभावित्वं नित्यत्वम्' से आरम्भ करके यहां तक धर्मोत्तर ने दिखलाया है कि ध्रुवभावित्व के अभाव का निश्चय तो दृश्यानुपलब्धि या स्वभावानुपलब्धि से ही हो जाता है। इस प्रकार धर्मकीर्त्ति द्वारा प्रस्तुत विरुद्धव्याप्तोपलब्धि का यह उदाहरण धर्मोत्तर की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। हाँ, दुर्वेक मिश्र ने धर्मकीर्ति के इस उदाहरण का अवश्य समर्थन किया है, उनके अनुसार यहाँ ध्रुवभावित्व तथा अध्रुवभावित्व के विरोध की प्रतीति तो दृश्यानुपलब्धि से ही हो जाती है, किन्तु जहाँ अध्रुवभावित्व का व्याप्त (हेत्वन्तर की अपेक्षा) देखा जाता है वहाँ विरुद्धव्याप्तोपलब्धि के द्वारा ध्रुवभावित्व के अभाव की प्रतीति हुआ करती है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १३४)।

कार्यविरुद्धोपलब्धिरिति—

(७) कार्यविरुद्धोपलब्धि इस प्रकार होती है जैसे—यहाँ अबाधित सामर्थ्य वाले शीत के उत्पादक नहीं हैं; क्योंकि यहाँ अग्नि है ॥३७॥

प्रतिषेध्य का जो कार्य, उसके जो विरुद्ध है, उसकी उपलब्धि; उसका उदाहरण है—यथा इत्यादि। यहाँ (=इह)—यह धर्मी है। जिन शीतकारणों का शीतोत्पादन में अबाधित सामर्थ्य है, वे नहीं हैं—यह साध्य है। 'अग्नि होने से'—यह हेतु है।

जहाँ शीत के कारण अदृश्य हैं तथा शीत-स्पर्श भी अदृश्य (अनुभव के अयोग्य) हैं; वहाँ इस हेतु का प्रयोग करना होता है। शीतस्पर्श अथवा उसके कारणों के अनुभव-योग्य होने पर (=दृश्यत्वे) तो क्रमशः कार्यानुपलब्धि अथवा दृश्यानुपलब्धि

---

१. अग्नेरिति B.C E.H N.P. २. प्रति न तानि A.E.H.N.P. ३; उद्देशे T.

शीतकारणम् अदृश्यं शीतस्पर्शश्च दूरस्थत्वात् प्रतिपत्तुर्वह्निर्भास्वरवर्णत्वाद् दूरादपि दृश्यस्तत्रायं प्रयोग इति[1] ॥३७॥

(८) व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नात्र तुषारस्पर्शो वह्नेरिति[2] ॥३८॥

प्रतिषेध्यस्य यद् व्यापकं तेन यद् विरुद्धं तस्योपलब्धिरुदाहर्तव्या—यथेति । अत्रेति धर्मी । तुषारस्पर्शो नेति साध्यम् । 'वह्नेरिति[3] हेतुः ।

यत्र 'व्याप्यस्तुषारस्पर्शो[4] व्यापकश्च[5]' शीतस्पर्शो न दृश्यस्तत्रायं हेतुः । तयोर्दृश्यत्वे स्वभावस्य व्यापकस्य चानुपलब्धिर्यतः प्रयोक्तव्या । तथा च[6]

ही (अभाव की) निश्चायक होती है । अतः यह भी अभाव (तथा अभावव्यवहार) को सिद्ध करती है । इस प्रकार जिस प्रदेश में ज्ञाता को दूर होने से शीत का कारण और शीत-स्पर्श विद्यमान होते हुए भी (सदपि) अनुभव-योग्य न हों, किन्तु दीप्त-वर्ण के होने से अग्नि दूर से भी दिखलाई देती हो, वहाँ यह प्रयोग किया जाता है ॥३७॥

अभावसाधनी—सिद्धान्त यह है कि स्वभावानुपलब्धि तो केवल अभाव-व्यवहार को सिद्ध करती है किन्तु अन्य अनुपलब्धियाँ अभाव तथा अभाव-व्यवहार दोनों को सिद्ध करती हैं । अतः यदि अन्य किसी अनुपलब्धि को 'अभावसाधनी' कहा गया है तो उसका अभिप्राय यह है कि अभाव-व्यवहार के साथ वह अभाव को भी सिद्ध करती है ।

कार्यविरुद्धोपलब्धि का प्रयोग—यत्र विशिष्टो वह्निः न तत्र शीतोपजनना-प्रतिवद्धशक्तीनि शीतकारणानि, यथा क्वचिद् अनुभूते प्रदेशे । तथाभूतश्चात्र वह्निः—इति । (धर्मो० प्र०, पृ० १३५) ।

दुर्वेक मिश्र का कथन है कि जहाँ एक दम वह्नि को देखकर समर्थ शीत-कारणों के अभाव की प्रतीति हो जाती है वहीं यह कार्यविरुद्धोपलब्धि से होने वाला अनुमान आचार्य धर्मकीर्ति ने दिखलाया है; अन्यथा तो ऐसे स्थलों पर विरुद्धोपलब्धि और कार्यानुपलब्धि से दो अनुमान होते हैं (धर्मो० प्र०, पृ० १३५) ।

व्यापकविरुद्धोपलब्धिरिति—

(८) व्यापकविरुद्धोपलब्धि इस प्रकार होती है, जैसे—यहाँ तुषार (=बर्फ) का स्पर्श नहीं है, क्योंकि यहाँ अग्नि है ॥३८॥

प्रतिषेध्य का जो व्यापक होता है, उसके जो विरुद्ध है उसकी उपलब्धि का उदाहरण दिया गया है—यथा इत्यादि । यहाँ (=अत्र) यह धर्मी है । तुषार-स्पर्श नहीं है—यह साध्य है । 'अग्नि होने से'—यह हेतु है ।

जहाँ व्याप्य (न्यून देश में रहने वाला) तुषार-स्पर्श और व्यापक (=अधिक देश में रहने वाला) शीत-स्पर्श (दोनों) अनुभव के योग्य (=दृश्य) नहीं है; वहाँ यह

१. 'इति' नास्ति A.B.E.H.N.P.
२. अग्नेरिति B.C.E.H.N.P.
३. अग्नेरिति B,D.
४. यत्र प्रतिषेध्यतुषार० C.
५. व्यापकं च D.
६. 'च' नास्ति B.E. P.

सत्यभावसाधनीयम् । दूरवर्तिनश्च प्रतिपत्तुस्तुषारस्पर्शः शीतस्पर्शविशेषः, शीतमात्रं च[1] परोक्षम् । वह्निस्तु रूपविशेषाद् दूरस्थोऽपि प्रत्यक्षः । ततो वह्नेः शीतमात्राभावः । ततः शीतविशेषतुषारस्पर्शाभावनिश्चयः । शीतविशेषस्य शीतसामान्येन व्याप्तत्वाद् इति [2]विशिष्टविषयेऽस्याः प्रयोगः ॥३८॥

(६) कारणानुपलब्धिर्यथा—नात्र धूमो [3]वह्न्यभावाद् इति ॥३९॥

प्रतिषेध्यस्य यत् कारणं तस्यानुपलब्धेरुदाहरणम्—यथेति । अत्रेति धर्मी । न धूम इति साध्यम् । वह्न्यभावाद् इति हेतुः ।

हेतु दिया जाता है । क्योंकि उन दोनों के अनुभव योग्य होने पर तो क्रमशः स्वभावानुपलब्धि और व्यापकानुपलब्धि का ही प्रयोग करना होता है । इस प्रकार यह (ऐसे स्थल पर) अभाव (तथा अभाव-व्यवहार) को सिद्ध करती है—किसी दूर-स्थित ज्ञाता को तुषार-स्पर्श का जो कि विशेष प्रकार का शीत-स्पर्श है अथवा शीत-स्पर्श का अनुभव नहीं हो रहा है (=परोक्ष) । किन्तु अग्नि तो दूर होने पर भी अपने विशेष (दीप्त) रूप के कारण प्रत्यक्ष दिखलाई दे रही है । उस अग्नि के होने से शीतमात्र के अभाव का और उस शीतमात्र के अभाव से (ततः) तुषार-स्पर्श जो कि विशेष प्रकार का शीत-स्पर्श ही है, उसके अभाव का निश्चय हो जाता है; क्योंकि विशेष प्रकार का शीत-स्पर्श (=तुषार-स्पर्श) सामान्य शीत-स्पर्श का व्याप्य ही है (सामान्य शीत तुषार-स्पर्श का व्यापक है)। इस प्रकार विशिष्ट विषय में ही इस (व्यापकविरुद्धोपलब्धि) का प्रयोग किया जाता है ॥३८॥

ततो वह्नेः०—वह्नि के होने से शीत का अभाव तथा शीत के न होने से तुषार-स्पर्श का अभाव होता है—यह वास्तविक क्रम दिखलाया है । अनुमान-प्रयोग के समय ऐसा नहीं होता । यदि अनुमान प्रयोग के समय ऐसा माना जायेगा तो यहाँ अनेक अनुमान हुआ करेंगे । (धर्मो० प्र०, पृ० १३७)

इति =एवम् । इस प्रकार "यद् यत्र नियतसहोपलम्भं तत्ततो न भिद्यते । यथैकस्माच्चन्द्रमसो द्वितीयश्चन्द्रमाः । नियतसहोपलम्भस्तु नीलादिः ज्ञानेन" इत्यादि भी व्यापकविरुद्धोपलब्धि के प्रयोग हैं ।

कारणानुपलब्धिरिति—

(६) कारणानुपलब्धि इस प्रकार होती है, जैसे—यहाँ धूम नहीं है; क्योंकि यहाँ अग्नि नही है ॥३९॥

प्रतिषेध्य का जो कारण, उसकी अनुपलब्धि का उदाहरण है—यथा इत्यादि । 'यहाँ' (=अत्र)—यह धर्मी है । 'धूम नहीं है'—यह साध्य है । 'अग्नि के न होने से यह हेतु है ।

---

१. 'च' नास्ति B. २. विशिष्टे विष० B.
३. अग्न्यभावाद् इति B.D.H.N.P., अग्न्यभावात् E.

यत्र कार्यं सदपि 'अदृश्यं भवति तत्रायं प्रयोगः। दृश्ये तु कार्ये दृश्यानुपलब्धिर्गमिका। ततोऽयमप्यभावसाधनः[2]। निष्कम्पायतसलिलपूरिते ह्रदे हेमन्तोचितवाष्पोद्गमे विरले सन्ध्यातमसि सति सन्नपि तत्र धूमो न दृश्यत[3] इति कारणानुपलब्ध्या प्रतिषेध्यते[4]। वह्निस्तु यदि तस्याम्भस उपरि प्लवमानो भवेत्[5] प्रज्वलितो रूपविशेषाद् एवोपलब्धो भवेत्। अज्वलितस्तु [6]इन्धनमध्यनिविष्टो भवेत्। तत्रापि दहनाधिकरणम् इन्धनं प्रत्यक्षम्—इति स्वरूपेण, आधाररूपेण वा दृश्य[7] एव वह्निरिति तत्रास्याः[8] प्रयोग इति[9] ॥३९॥

(१०) कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नास्य रोमहर्षादिविशेषाः सन्निहितदहनविशेषत्वाद् इति ॥४०॥

प्रतिषेध्यस्य यत् कारणं तस्य यद् विरुद्धं तस्योपलब्धेरुदाहरणम्—

जहाँ कार्य (धूम आदि) विद्यमान होते हुए भी दर्शन-योग्य नहीं होता, वहाँ यह प्रयोग किया जाता है। कार्य के दर्शन-योग्य होने पर तो दृश्यानुपलब्धि ही (अभाव का) बोध करा देती है। इसलिये यह भी (निम्न प्रकार के स्थलों में) अभाव (तथा अभाव व्यवहार) की साधक है। निश्चल एवं विस्तृत जल से परिपूर्ण जलाशय में हेमन्त ऋतु के योग्य वाष्प उठ रही हो, धुंधला सन्ध्या का अन्धकार हो तब वहाँ विद्यमान होते हुए भी धूम दिखलाई नहीं देता, अतः कारण (अग्नि) की अनुपलब्धि से उसका प्रतिषेध किया जाता है। क्योंकि यदि अग्नि उस जल के ऊपर तैरती हुई, प्रज्वलित (अवस्था में) होती तो वह अपने विशेष (ज्वाला रूप से ही उपलब्ध हो जाती। यदि प्रज्वलित न होकर इन्धन के मध्य रक्खी होती तो वहाँ भी अग्नि का आधार जो इन्धन है वह प्रत्यक्ष होता—इस प्रकार स्वरूप से या अपने आधार इन्धन के रूप में जहाँ अग्नि दृश्य ही होती है वहाँ इस (कारणानुपलब्धि) का प्रयोग होता है ॥३९॥

कारणानुपलब्धि का प्रयोग—यत्र यस्य कारणं नास्ति न तत् तत्रास्ति। यथा बीजाभावेऽङ्कुरः। नास्ति चात्र धूमस्य कारणं वह्निरिति (धर्मो० प्र०, पृ० १३७)।

कारणविरुद्धोपलब्धिरिति—

(१०) कारणविरुद्धोपलब्धि इस प्रकार होती है; जैसे—इस व्यक्ति के (शीतकृत) विशेष प्रकार का रोमाञ्च आदि नहीं है; क्योंकि विशेष प्रकार की (=शीतनिवारण में समर्थ) अग्नि इसके निकट स्थित है ॥४०॥

प्रतिषेध्य का जो कारण, उसके जो विरुद्ध, उसकी उपलब्धि का उदाहरण है—

---

१. सदपि न दृश्यं C., सदपि दृश्यं न A.E.H.N.P.
२. ०साधकः C.
३. दृश्य इति A.E.H N P.
४. प्रतिषिध्यते B.
५. भवेज्ज्वलितो A.H.N.P., भवेज्ज्वलितरूप० E.
६. तु वनमध्य० B.
७. दृश्यमानरूप C.,
८. तत्रास्य प्रयोगः T.
९. 'इति' नास्ति A.B.E.H.N.P.

यथेति। अस्येति धर्मी। रोम्णां हर्षं उद्भेदः । स आदिर्येषां दन्तवीणादीनां शीतकृतानाम्, ते 'विशिष्यन्ते तदन्येभ्यो भयश्रद्धादिकृतेभ्य इति रोमहर्षादि-विशेषाः। ते न सन्तीति साध्यम्। दहन एव विशिष्यते' तदन्यस्माद् दहना-च्छीतनिवर्तनसामर्थ्येनेति दहनविशेषः। कश्चिद् दहनः सन्नपि न शीतनिवर्तन-क्षमो यथा प्रदीपः। तादृशनिवृत्तये विशेषग्रहणम् । सन्निहितो दहनविशेषो यस्य स तथोक्तः। तस्य भावस्तस्माद् इति हेतुः।

यत्र शीतस्पर्शः सन्नप्यदृश्यो रोमहर्षादिविशेषाश्चादृश्याः तत्रायं प्रयोगः–रोमहर्षादिविशेषस्य दृश्यत्वे दृश्यानुपलब्धिः प्रयोक्तव्या। शीतस्पर्शस्य दृश्यत्वे कारणानुपलब्धिः। तस्माद् अभावसाधनोऽयम् । रूपविशेषाद्धि दूराद् दहनं पश्यति। शीतस्पर्शस्त्वदृश्यो रोमहर्षादिविशेषाश्च। तेषां कारणविरुद्धो-पलब्ध्याऽभावं' प्रतिपद्यत इति 'तत्रास्याः प्रयोग इति ॥४०॥

यथा इत्यादि। इसके = इस व्यक्ति के(= अस्य)–यह धर्मी है। रोमों का हर्ष = रोमाञ्च होना, वह है आदि में जिन शीत से उत्पन्न दन्त कटकटाना आदि के वे रोमहर्ष आदि (= ते) अपने से भिन्न भय, श्रद्धा आदि से उत्पन्न रोम-हर्ष आदि की अपेक्षा विशिष्ट (= विशेष प्रकार के) होते हैं, इसलिये रोमहर्षादि–विशेष कहा गया है। वे नहीं हैं–यह साध्य है। जो अग्नि शीत-निवारण के सामर्थ्य के कारण अन्य अग्नियों से विशेष प्रकार की है, वह 'दहनविशेष' कही गई है। कोई अग्नि तो विद्यमान होते हुए भी शीत-निवारण में समर्थ नहीं होती; जैसे प्रदीप। उसकी व्या-वृत्ति के लिये 'विशेष' शब्द का ग्रहण किया गया है यह विशिष्ट अग्नि जिसके निकट स्थित है वह (व्यक्ति) वैसा (सन्निहितदहनविशेष) कहा गया है। उसका भाव होगा– सन्निहितदहनविशेषत्व, उसके होने से—यह हेतु है।

(इसके प्रयोग का स्थल है—) जहाँ शीत-स्पर्श विद्यमान होते हुए भी अनुभव योग्य नहीं (= अदृश्य) है तथा विशेष प्रकार का रोम हर्ष आदि भी अदृश्य है, वहाँ यह (अनुपलब्धि का) प्रयोग होता है। यदि विशेष प्रकार का रोमाञ्च दिखलाई देता है तो दृश्यानुपलब्धि का प्रयोग करना चाहिये। यदि शीत-स्पर्श अनुभव योग्य हो तो वहाँ कारणानुपलब्धि का प्रयोग करना होगा। इसलिये यह भी अभाव (तथा अभाव-व्यवहार) को सिद्ध करती है। जहाँ कोई (व्यक्ति) दूर से विशेष प्रकार के (दीप्त) रूप के कारण अग्नि को देख लेता है, किन्तु शीत–स्पर्श अनुभव-योग्य नहीं होता और न ही विशेष प्रकार के रोमाञ्च आदि (अनुभव-योग्य होते हैं), उन (विशेष प्रकार के रोमाञ्च आदि) के अभाव को कारणविरुद्धोपलब्धि से जान लेता है, उन स्थलों पर इसका प्रयोग होता है ॥४०॥

कारणविरुद्धोपलब्धि का प्रयोग—इस प्रकार होता है—यत्र यत्कारणविरुद्ध-मस्ति न तत् तत्रास्ति यथा श्लेष्मविरुद्धे पित्ते न श्लैष्मिको व्याधिः। अस्ति च रोमहर्षादिकारणविरुद्धो वह्निरत्र (धर्मो० प्र०, पृ० १३८)।

---

१. विशेष्यन्ते B. २. विशेष्यन्तेऽन्यसमा० B., विशिष्यतेऽन्यसमा० C .D.
३, ०भाव: प्रति E H.N.P., भाव प्रति A. ४. तत्रास्य प्रयोग इति T.

(११) कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा—न रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषवान् अयं प्रदेशः, धूमाद् इति ॥४१॥

प्रतिषेध्यस्य यत् कारणं तस्य यद् विरुद्धं तस्य यत् कार्यं तस्योपलब्धिरुदाहर्तव्या—यथेति । अयं प्रदेश[1] इति धर्मी । योगो युक्तम् । रोमहर्षादिविशेषैर्युक्तं[2] रोमहर्षादिविशेषयुक्तम् । तस्य सम्बन्धी पुरुषो[3] रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषः[4] । तद्वान् न भवतीति साध्यम् । धूमाद् इति हेतुः ।

रोमहर्षादिविशेषस्य[5] प्रत्यक्षत्वे दृश्यानुपलब्धिः । कारणस्य शीतस्पर्शस्य प्रत्यक्षत्वे कारणानुपलब्धिः । वह्नेस्तु[6] प्रत्यक्षत्वे कारणविरुद्धोपलब्धिः प्रयोक्तव्या । त्रयाणाम् अप्यदृश्यत्वेऽयं प्रयोगः ।

दुर्वेक मिश्र का कथन है जहाँ एक दम अग्निविशेष को निकट देखकर विशिष्ट रोमाञ्च आदि का अभाव जान लिया जाता है वहीं यह एक अनुमान होता है; अन्यथा ये दो अनुमान होते हैं—(१) विरुद्धोपलब्धि—यत्र वह्निः न तत्र शीतस्पर्शः; (२) कारणानुपलब्धि—यत्र शीतस्पर्शाभावो न तत्र तत्कार्यरोमहर्षादि, (धर्मो० प्र०, पृ० १३८)।

कारणविरुद्धकार्योपलब्धिरिति—

(११) कारणविरुद्धकार्योपलब्धि इस प्रकार होती है, जैसे—यह प्रदेश विशेष प्रकार के रोमाञ्च आदि से युक्त पुरुष वाला नहीं है; क्योंकि यहाँ धूम है ॥४१॥

प्रतिषेध्य का जो कारण, उसके जो विरुद्ध उसका जो कार्य है; उसकी उपलब्धि का उदाहरण दिया जाता है—यथा इत्यादि । 'यह प्रदेश'—यह धर्मी है । युक्त =योग (=सम्बन्ध) । रोमहर्षादिविशेष से युक्त=रोमहर्षादिविशेषयुक्त, उससे सम्बन्ध रखने वाला पुरुष=रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुष । उस प्रकार के पुरुष वाला नहीं है—यह साध्य है । धूम होने से—यह हेतु है ।

योगो युक्तम्—'युक्त' शब्द में भाव में क्त निष्ठा) प्रत्यय हुआ है । यहाँ शान्तभद्र ने 'रोमहर्षादिविशेषैः युक्तश्चासौ पुरुषश्च'—इस प्रकार कर्मधारय समास करके उसमें 'मतुप्' प्रत्यय दिखलाया था । धर्मोत्तर ने उस विग्रह को दोषयुक्त समझा; क्योंकि व्याकरण का न्याय है—कर्मधारयमत्त्वर्थीयाद् बहुव्रीहिरेव लाघवेन' अर्थात् कर्मधारय समास करके मत्त्वर्थीय (मतुप् आदि) प्रत्यय करने की अपेक्षा बहुव्रीहि समास करना ही उचित है, क्योंकि उसमें लाघव है । इस प्रकार धर्मोत्तर ने षष्ठी तत्पुरुष समास करके उससे मतुप् प्रत्यय दिखलाया है, यथा—रोमहर्षादिविशेषयुक्तम् =रोमहर्षादिविशेषयोगः, तस्य (सम्बन्धी) पुरुषः (षष्ठीसमासः)—रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुष स विद्यते यत्र सः तद्वान् प्रदेशः । (धर्मो० प्र०, पृ० १३८-१३९) ।

---

१. देश इति A.E.H N P. २. हर्षविशेष० C, 'रोम—…युक्तम्' नास्ति B.
३ 'पुरुषो' नास्ति C. ४. विशेषगुणयुक्तः B.
५. हर्षविशेष० B.D. ६. 'तु' नास्ति C.D.

तस्माद् अभावसाधनोऽयम्। 'तत्र दूरस्थस्य प्रतिपत्तुर् दहनशीतस्पर्श-रोमहर्षादिविशेषा अप्रत्यक्षाः सन्तोऽपि, धूमस्तु प्रत्यक्षो यत्र तत्रैतत् प्रमाणम्। धूमस्तु यादृशस्तद्देशे[2] स्थितं शीतं निवर्तयितुं समर्थस्य वह्नेरनुमापकः स इह ग्राह्यः। धूममात्रेण तु[3] वह्निमात्रेऽनुमितेऽपि न शीतस्पर्शनिवृत्तिः, नापि [4]रोमहर्षादिविशेषनिवृत्तिरवसातुं [5]शक्येति न धूममात्रं हेतुरिति द्रष्टव्यम् ॥४१॥

रोमहर्षादिविशेषस्येति—विशिष्ट प्रकार के रोमाञ्च आदि का प्रत्यक्ष होने पर दृश्यानुपलब्धि का प्रयोग होता है। उस (विशिष्ट रोमाञ्च आदि) का कारण जो शीत-स्पर्श है, उसका प्रत्यक्ष होने पर कारणानुपलब्धि का प्रयोग होता है। अग्नि का प्रत्यक्ष होने पर तो कारणविरुद्धोपलब्धि का प्रयोग करना होता है। किन्तु जब इन तीनों का ही प्रत्यक्ष नहीं होता तो यह (कारणविरुद्धकार्योपलब्धि का) प्रयोग किया जाता है। इसलिये यह अभाव (तथा अभाव-व्यवहार) को सिद्ध करने वाली है। जहाँ दूरस्थित ज्ञाता को विद्यमान होते हुए भी अग्नि, शीत-स्पर्श तथा विशेष प्रकार के रोमाञ्च आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु धूम का प्रत्यक्ष हो जाता है, वहाँ यह (अभाव के) सम्यक् ज्ञान का साधन (=प्रमाणम्) है। किन्तु यहाँ ऐसा धूम समझना चाहिये जो उस प्रदेश में स्थित शीत के निवारण में समर्थ अग्नि का अनुमान करा सके। यद्यपि सामान्य धूम से ही सामान्य अग्नि की अनुमिति हो जाती है तथापि उससे शीत-स्पर्श के अभाव (=निवृत्ति) का अथवा विशेष प्रकार के रोमाञ्च आदि के अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकना। इस प्रकार यहाँ धूममात्र (सामान्य धूम, हेतु नहीं है (अपि तु विशिष्ट धूम हेतु है जो शीत आदि की निवृत्ति कराने वाली अग्नि का अनुमान कराता है)—यह समझना चाहिये ॥४१॥

कारणविरुद्धकार्योपलब्धि का प्रयोग—इस प्रकार होता है—यत्र यत्कारण-विरुद्धकार्यम् अस्ति तत्र तन्नास्ति; यथा रुदितविशेषे सति न स्मितविशेषः। रोमहर्षादि-विशेषयुक्तपुरुषवत्त्वकारणशीतस्पर्शविरुद्धवह्निकार्यञ्चात्र धूम इति। दुर्वेक मिश्र का यह भी कथन है कि जहाँ एक दम धूम को देखकर रोमहर्षादियुक्तपुरुषवत्त्व का अभाव प्रतीत हो जाता है, वहीं कारणविरुद्धकार्योपलब्धि से होने वाला एक अनुमान माना गया है, अन्यथा यहाँ तीन अनुमान होते हैं—(१) कार्यहेतु से उत्पन्न, जैसे—'यत्र धूमस्तत्राग्निः'। (२) विरुद्धोपलब्धि से उत्पन्न, जैसे—'यत्र वह्निर्न तत्र शीतस्पर्शः'। (३) कारणानुपलब्धि से उत्पन्न, जैसे—यत्र शीतस्पर्शाभावो न तत्र तत्कार्यरोमहर्षादि-विशेषयुक्तपुरुषभावः। (धर्मो० प्र०, पृ० १४०)।

अनुपलब्धि के उपर्युक्त ११ प्रकार उपलक्षण मात्र हैं। इनके अतिरिक्त और भी प्रकार हो सकते हैं, जैसे—व्यापकविरुद्धकार्योपलब्धि—नात्र तुषारस्पर्शो धूमाद्

---

१. यत्र A. २. तस्मिन् देशे A.C.E.H.N.P. ३. तु नास्ति A.
४. ०हर्षादिनिवृत्ति० B.D. ५. शक्यत इति C., शक्येति धूम० A., शक्येते न H.

यद्येकः प्रतिषेधहेतुरुक्तः कथमेकादशाऽभावहेतव इत्याह—

इमे सर्वे कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धिप्रयोगाः स्वभावानुपलब्धौ संग्रहम् उपयान्ति ॥४२॥

इमे सर्वे इत्यादि[1]। इमेऽनुपलब्धिप्रयोगाः । इदमा अनन्तरप्रक्रान्ता[2] निर्दिष्टाः। तत्र कियताम् अपि ग्रहणे प्रसक्त आह—कार्यानुपलब्ध्यादय इति। कार्यानुपलब्ध्यादीनाम् अपि त्रयाणां चतुर्णां वा ग्रहणे प्रसक्त[3] आह—दशेति। [4]तत्र दशानाम् अप्युदाहृतमात्राणां ग्रहणप्रसङ्गे[5] इत्याह—सर्व इति।

एतदुक्तं भवति—अप्रयुक्ता[6] अपि प्रयुक्तोदाहरणसदृशाश्च सर्व एवेति। दशग्रहणमन्तरेण सर्वग्रहणे क्रियमाणे प्रयुक्तोदाहरणकार्त्स्न्यं [7]गम्येत। [8]दशग्रहणात् तूदाहरणकार्त्स्न्येऽवगते सर्वग्रहणम् अतिरिच्यमानम् उदाहृतसदृशका-

---

इति। इसी प्रकार प्रयोग-भेद से अनेक प्रकार की अनुपलब्धि हो सकती है (द्र० धर्मो० प्र०, पृ० १४० तथा ऊपर सूत्र २.३० टिप्पणी)।

१२. अनुपलब्धि के सभी प्रकारों का स्वभावानुपलब्धि में अन्तर्भाव

यद्येक इति—जब ऊपर (एकः प्रतिषेधहेतुः, २.१८) एक ही अभावसाधक हेतु कहा गया है तो फिर अभावसाधक हेतु एकादश (११) कैसे बतला दिये; यह कहते हैं—

ये सब कार्यानुपलब्धि आदि दस अनुपलब्धि के प्रयोग स्वभावानुपलब्धि में संगृहीत हो जाते हैं ॥४२॥

इमे सर्वे इत्यादि। ये (=इमे) अनुपलब्धि के प्रयोग। इदम् (इमे=ये) शब्द से अभी ऊपर कहे गये प्रयोगों का निर्देश किया गया है। उनमें से कुछ का संग्रह प्राप्त होने पर कहा है—कार्यानुपलब्धि आदि। कार्यानुपलब्धि आदि में से भी तीन या चार का संग्रह प्राप्त होने पर कहा है—दस। इन दसों के भी जो उदाहरण दिये गये है, केवल उनका ही संग्रह प्राप्त होने पर कहा है—सब (सर्वे)।

यह कहा जा सकता है कि प्रयुक्त (वर्णित) उदाहरणों के समान जो अप्रयुक्त (न दिखलाये गये) उदाहरण भी हैं, वे सब ही (स्वभावानुपलब्धि में संगृहीत हो जाते हैं)। यदि 'दश' शब्द का ग्रहण किये बिना ही 'सर्वे' शब्द का ग्रहण किया जाता तो प्रयुक्त उदाहरणों की सम्पूर्णता (=कार्त्स्न्य) का बोध होता। 'दश' शब्द का ग्रहण करने से प्रयुक्त उदाहरणों की सम्पूर्णता का बोध हो जाने पर तो 'सर्वे' शब्द का प्रयोग अधिक (=अतिरिच्यमान=अतिरिक्त) है तथा यह प्रयुक्त उदाहरणों के सदृश (अन्य सभी) उदाहरणों का बोध कराने के लिये है। वे सब स्वभावानुपलब्धि में

---

१. नास्ति H.N., इम इत्यादि A.B.D.E.P.
२. ०न्तरप्रयोगान्ता E.H., ०न्तरप्रयोक्तान नि० A.,
३. प्रसक्ते सत्याह E.H.N.P., प्रसक्तेत्याह A.,
४. 'तत्र' नास्ति A.B.E.H.N.P.
५. प्रसङ्गे आह B.
६. प्रयुक्ता C.
७. गम्यते A.B.C.D.E.H.N.P.
८. दशग्रहणोदाहरण० B.
९. दाहृतका० C.

त्स्यार्थाऽवगतये[1] जायते[2]। ते स्वभावानुपलब्धौ संग्रहं तादात्म्येन गच्छन्ति। स्वभावानुपलब्धिस्वभावाः—इत्यर्थः ॥४२॥

ननु च स्वभावानुपलब्धिप्रयोगाद् भिद्यन्ते कार्यानुपलब्ध्यादयः। तत् कथम् [3]अन्तर्भवन्ति? इत्याह—

पारम्पर्येणार्थान्तरविधिप्रतिषेधाभ्यां प्रयोगभेदेऽपि ॥४३॥

प्रयोगभेदेऽपि—प्रयोगस्य शब्दव्यापारस्य भेदेऽपि अन्तर्भवन्ति। कथं प्रयोगभेद इत्याह—अर्थान्तरविधीति[4]। प्रतिषेध्याद् [5]अर्थाद् अर्थान्तरस्य विधिः=उपलब्धिः स्वभावविरुद्धाद्युपलब्धिप्रयोगेषु। प्रतिषेधः कार्यानुपलब्ध्यादिषु प्रयोगेषु। अर्थान्तरविधिना, अर्थान्तरप्रतिषेधेन च प्रयोगा भिद्यन्ते। यदि प्रयोगान्तरेष्वर्थान्तरविधिप्रतिषेधौ कथं तर्हि[6] अन्तर्भवन्ति? इत्याह—पारम्पर्येण प्रणालिकयेत्यर्थः।

संग्रह अर्थात् तादात्म्य को प्राप्त होते हैं (उससे तादात्म्य रखते हैं अतः उसमें संगृहीत हो जाते हैं)। भाव यह है कि स्वभावानुपलब्धि ही उनका स्वरूप है ॥४२॥

दशग्रहणमन्तरेण—श्चेरबात्स्की का कथन है कि सम्भवतः यह विनीतदेव की व्याख्या पर आक्षेप करते हुए कहा गया है। उसकी व्याख्या के अनुसार सर्व शब्द का अर्थ है—अनुपलब्धि के इन सभी दस प्रकारों का स्वभावानुपलब्धि में अन्तर्भाव हो जाता है। इनमें से कोई भी ऐसा नहीं जिसका उसमें अन्तर्भाव न होता हो (मि० बु० लॉ० २, पृ० ९९ टि० १)।

ननु चेति—जब कि कार्यानुपलब्धि इत्यादि स्वभावानुपलब्धि के प्रयोग से भिन्न हैं तो उनका (स्वभावानुपलब्धि में) कैसे अन्तर्भाव हो सकता है? यह बतलाते हैं—

अन्य अर्थ की विधि या प्रतिषेध करने के कारण प्रयोग का भेद होने पर भी परम्परया (कार्यानुपलब्धि आदि का स्वभावानुपलब्धि में अन्तर्भाव हो जाता है) ॥४३॥

प्रयोगभेदेऽपि=(प्रयोग का भेद होने पर भी) प्रयोग अर्थात् शब्दों के अर्थ-कथन-प्रकार का भेद होने पर भी वे (कार्यानुपलब्धि इत्यादि स्वभावानुपलब्धि में) अन्तर्भूत हो जाती हैं। प्रयोग-भेद कैसे है? यह बतलाते हैं—अर्थान्तर विधि इत्यादि। प्रतिषेध्य वस्तु से अन्य (=भिन्न=विरुद्ध) वस्तु की विधि अर्थात् उपलब्धि स्वभाव-विरुद्ध आदि उपलब्धि के प्रयोगों (नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेः) में तथा (प्रतिषेध्य वस्तु से अन्य का) प्रतिषेध कार्यानुपलब्धि आदि के प्रयोगों (नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकार-णानि सन्ति धूमाभावात्) में (दिखलाया जाता है)। इस प्रकार अन्य अर्थ की उप-लब्धि और अन्य अर्थ का प्रतिषेध दिखलाने के कारण ये प्रयोग नाना प्रकार के हो

---

१. ०याधिगतये C.
२. जातम् E.
३. ०मन्तर्भावः C.
४. विधीत्यादि E.H.N.P.
५. 'अर्थाद्' नास्ति B,
६. 'तर्हि' नास्ति C.

एतद् उक्तं भवति—न साक्षाद् एते प्रयोगा दृश्यानुपलब्धिम् अभिदधति, दृश्यानुपलब्ध्यव्यभिचारिणं त्वर्थान्तरस्य विधिं निषेधं वाऽभिदधति । ततः प्रणालिकयामीषां स्वभावानुपलब्धौ संग्रहो न साक्षाद् इति ॥४३॥

यदि प्रयोगभेदाद्[1] एष [2]भेदः, परार्थानुमाने वक्तव्य एषः । शब्दभेदो हि प्रयोगभेदः । शब्दश्च[3] परार्थानुमानम् इत्याशङ्क्याह—

जाते हैं । (किन्तु प्रश्न है) यदि भिन्न २ प्रयोगों में अन्य अर्थ की (कहीं) विधि तथा (कहीं) प्रतिषेध किया जाता है तो उनका (स्वभावानुपलब्धि में) कैसे अन्तर्भाव हो जाता है ? इस पर कहते हैं—परम्परा से, माध्यम के द्वारा (प्रणालिकया)—यह अर्थ है ।

यह कहा जा सकता है कि ये (कार्यानुपलब्धि आदि) प्रयोग साक्षात् रूप से दृश्य (पदार्थ की) अनुपलब्धि को नहीं बतलाते; अपि तु किसी अन्य पदार्थ की ऐसी उपलब्धि (विधि) या निषेध का कथन करते है जो (विधि या निषेध) दृश्य पदार्थ की अनुपलब्धि का अविनाभावी (=अव्यभिचारी) होता है । इस प्रकार परम्परा से उन (कार्यानुपलब्धि इत्यादि) का स्वभावानुपलब्धि में अन्तर्भाव होता है, साक्षात् रूप से नहीं ॥४३॥

शब्दव्यापारस्य—शब्द के अभिधा रूप व्यापार का । भाव यह है कि स्वभावविरुद्धोपलब्धि इत्यादि में शब्द साक्षात् रूप (अभिधा) से किसी भाव (विधि) रूप पदार्थ की उपलब्धि के द्वारा अन्य के अभाव की सिद्धि दिखलाता है, जैसे—नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेः—यहाँ शीत–स्पर्श नहीं है, क्योंकि यहाँ अग्नि है । यहाँ पर अग्नि की उपलब्धि से शीत-स्पर्श का अभाव दिखलाया जाता है । उपलब्ध अग्नि शीत स्पर्श के के अभाव की अव्यभिचारी है, (यत्र अग्निः तत्र शीतस्पर्शाभावः) अतः इसका परम्परया स्वभावानुपलब्धि में अन्तर्भाव हो जाता है, इसी प्रकार कारणविरुद्धोपलब्धि आदि का भी । कार्यानुपलब्धि इत्यादि में शब्द अभिधा से किसी वस्तु का निषेध करके अन्य वस्तु का अभाव दिखलाता है, जैसे—यहाँ अबाधित सामर्थ्य वाले धूम के कारण नहीं हैं, क्योंकि यहाँ धूम नहीं है । यहाँ पर धूम के अभाव से (अन्य पदार्थ) धूम के समर्थ कारणों का अभाव दिखलाया गया है । धूमाभाव ही समर्थ धूम कारणाभाव का अव्य-भिचारी है (यत्र धूमाभावः तत्र समर्थधूमकारणाभावः) । इस प्रकार इसका परम्परया स्वभावानुपलब्धि में अन्तर्भाव हो जाता है । इसी प्रकार व्यापकानुपलब्धि इत्यादि का भी । अतः शब्दप्रयोग के भेद से ही अनुपलब्धि के एकादश भेद हैं ।

यदि प्रयोगभेदाद् इति—यदि प्रयोग के भेद से ही यह भेद है, तब तो इस भेद (एषः) को परार्थानुमान में कहना चाहिये था; क्योंकि प्रयोग-भेद तो शब्दों का भेद है और शब्द-प्रयोग (त्रिरूपलिङ्ग के वाक्य का प्रयोग) तो परार्थानुमान ही है; यह आशङ्का करके धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

---

१. प्रयोगभेदेन भेदः A.E.H.N.P. २. एव B.C.
३. शब्दस्तु B.C.

प्रयोगदर्शनाभ्यासात् स्वयम् अप्येवं व्यवच्छेदप्रतीतिर्भवतीति[1] स्वार्थेऽप्यनुमानेऽस्याः प्रयोगनिर्देशः ॥४४॥

प्रयोगदर्शनेत्यादि । प्रयोगाणां [2]शास्त्रपरिपठितानां दर्शनम् उपलम्भः । तस्याभ्यासः पुन पुनरावर्तनम् । तस्मान् निनित्तात् । स्वयम् अपीति प्रतिपत्तु-रात्मनोऽपि । एवम् इत्यनन्तरोक्तेन क्रमेण । व्यवच्छेदस्य प्रतिषेधस्य प्रतीति-र्भवतीति[3], इति शब्दस्तस्मादर्थे ।

तद् अयम् अर्थः—यस्मात् स्वयम् अप्येवम् अनेनोपायेन प्रतिपद्यते प्रयोगाभ्यासात्, तस्मात् स्वप्रतिपत्तावप्युपयुज्यमानस्यास्य प्रयोगभेदस्य स्वार्थानुमाने निर्देशः । यत् पुनः परप्रतिपत्तावेवोपयुज्यते तत् परार्थानुमान एव वक्तव्यम् इति ॥४४॥

प्रयोगों को देखने के अभ्यास से ज्ञाता को स्वयंभी प्रतिषेध का निश्चय हो जाता है, इसलिये स्वार्थानुमान में अनुपलब्धि के प्रयोगों का निर्देश किया गया है ॥४४॥

शास्त्र में बतलाये गये प्रयोगों का दर्शन अर्थात् उपलब्धि (= ज्ञान)। उसका अभ्यास अर्थात् बार वार आवृत्ति, उस हेतु से (अभ्यासात्)। स्वयं को भी अर्थात् ज्ञाता को अपने आप भी। इस प्रकार (= एवम्) = अभी ऊपर कहे गये (स्वभावानु-पलब्धि आदि प्रयोग के) क्रम से अभाव (= व्यवच्छेद) की प्रतीति हो जाती है। 'इति' शब्द इसलिये के अर्थ में है।

इस प्रकार यह अर्थ होता है—क्योंकि इन प्रयोगों के अनुशीलन (= अभ्यास) से ज्ञाता स्वयं भी इस (स्वभावानुपलब्धि आदि प्रयोग के) उपाय से (अभाव का) ज्ञान प्राप्त करता है (प्रतिपद्यते), इसलिये अपने ज्ञान (अनुमान) में उपयोगी होने वाले इस प्रयोग—भेद का स्वर्थानुमान में निर्देश किया गया है। किन्तु जो (प्रयोग) केवल दूसरों को ज्ञान कराने में ही उपयोगी है उसको तो परार्थानुमान में ही कहना है ॥४४॥

शब्दभेदः = त्रिरूपलिङ्गवाक्यनानात्वम् (धर्मो० प्र०, पृ० १४३), त्रिरूप लिङ्ग को प्रकट करने वाले वाक्य की भिन्नता।

अभ्यासः—शास्त्र में दिखलाये गये अनुपलब्धि के प्रयोगों की पुनः पुनः आवृति, यह आवृत्ति दो प्रकार की होगी—शब्दावृत्ति और अर्थावृत्ति। शब्दों का पुनः पुनः उच्चारण ही शब्दावृत्ति है और अर्थ को बार २ मन में विचारना अर्थ की आवृत्ति है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १४३)

---

१. प्रतीतिरिति स्वार्थानुमानेऽप्यस्याः प्रभेदनिर्देशः C.
२. शास्त्रघटितानाम् A.E.H.N.P., शास्त्रपरिघटितानाम् B.
३. भवति इतिश० B.C,

ननु च कार्यानुपलब्ध्यादिषु कारणानाम् अदृश्यानाम् एव निषेधः', दृश्यनिषेधे 'स्वभावानुपलब्धिप्रयोगप्रसङ्गात्। तथा च सति न तेषां दृश्यानुपलब्धेर्निषेधः। तत् कथम् एषां प्रयोगाणां दृश्यानुपलब्धावन्तर्भावः? इत्याह—

सर्वत्र चास्याम् 'अभावव्यवहारसाधन्याम् अनुपलब्धौ येषां स्वभावविरुद्धादीनाम्' उपलब्ध्या कारणादीनाम् अनुपलब्ध्या च प्रतिषेध उक्तस्तेषाम् उपलब्धिलक्षणप्राप्तानाम् एवोपलब्धिरनुपलब्धिश्च वेदितव्या ।।४५।।

सर्वत्र चेत्यादि'। अभावश्च 'तद्व्यवहारश्च अभावव्यवहारौ। स्वभावानुपलब्धावभावव्यवहारः साध्यः। शिष्टेऽभावः। तयोः साधन्याम् अनुपलब्धौ। सर्वत्र चेति च शब्दो हिशब्दस्यार्थे। यस्मात् सर्वत्रानुपलब्धौ' येषां

प्रतिपत्तुः=ज्ञाता को, त्रिरूप लिङ्ग से परोक्ष अर्थ का ज्ञान करने वाले को।

यत् पुनः—भाव यह है कि जो अनुपलब्धि के प्रयोग अनुमाता के अपने ज्ञान के लिये भी उपयोगी हैं उन्हें यहाँ दिखला दिया गया है, किन्तु जो प्रयोग केवल दूसरों को ज्ञान कराने के लिये ही हैं उनको परार्थानुमान में दिखलाया जायेगा।

ननु चेति—(शङ्का) कार्यानुपलब्धि आदि में तो अदृश्य कारण आदि का निषेध किया जाता है; यदि वहाँ दृश्य (कारण आदि) का निषेध किया जाता तो स्वभावानुपलब्धि का ही प्रयोग होने लगता। और; जब ऐसा है (कार्यानुपलब्धि आदि में अदृश्य कारण का निषेध किया जाता है) तो उनमें दृश्यानुपलब्धि से अभाव (का ज्ञान) नहीं होता। फिर इन (कार्यानुपलब्धि आदि) प्रयोगों का दृश्यानुपलब्धि में अन्तर्भाव कैसे हो सकता है? इस पर कहते हैं—

अभाव तथा अभाव-व्यवहार को सिद्ध करने वाली इस अनुपलब्धि में जिन पदार्थों का स्वभाव के विरुद्ध (धर्म आदि) की उपलब्धि और कारण आदि की अनुपलब्धि से प्रतिषेध बतलाया गया है; उनमें सभी जगह दृश्य की ही उपलब्धि तथा अनुपलब्धि समझनी चाहिये ।।४५।।

सर्वत्र चेत्यादि। अभाव और उसका व्यवहार=अभावव्यवहार। स्वभावानुपलब्धि में अभाव का व्यवहार सिद्ध किया जाता है और शेष प्रयोगों में अभाव भी (तथा अभाव का व्यवहार भी)। उन दोनों (अभाव तथा अभाव-व्यवहार) को सिद्ध करने वाली अनुपलब्धि में। 'सर्वत्र च'—यहाँ 'च' शब्द 'हि' (=क्योंकि) के अर्थ में है। क्योंकि सभी अनुपलब्धियों में जिन (पदार्थों) का प्रतिषेध कहा गया है, उनके ग्रहण की योग्यता को प्राप्त होने वाले अर्थात् दृश्य पदार्थों का ही प्रतिषेध कहा

---

१. प्रतिषेधः A.E..H.N.P. २. स्वभावानुपलम्भप्र० A.B.E.H.N.P. ३. अभावाभावव्यव E. ४. विरुद्धानाम् C. ५. नास्ति H.N. ६. अभावश्च तस्य च व्यवहारोऽभावव्य० A.E.H.P. ७. ०लब्धौ सत्यां B.H.

प्रतिषेध उक्तस्तेषाम् उपलब्धिलक्षणप्राप्तानां [1]दृश्यानाम् एव [2]प्रतिषेधस्तस्माद् दृश्यानुपलब्धावन्तर्भावः।

कुत एतद् दृश्यानाम् एवेत्याह—स्वभावेत्यादि। अत्रापि चकारो हेत्वर्थः। यस्मात् स्वभावविरुद्ध आदिर्येषां तेषाम् उपलब्ध्या; कारणम् आदिर्येषां तेषाम् अनुपलब्ध्या प्रतिषेध उक्तस्तस्माद् दृश्यानाम् एव प्रतिषेध इत्यर्थः।

यदि नाम स्वभावविरुद्धाद्युपलब्ध्या कारणाद्यनुपलब्ध्या[3] च प्रतिषेध उक्तस्तथापि कथं दृश्यानाम् एव प्रतिषेध इत्याह—उपलब्धिरित्यादि। अत्रापि

गया है; इसलिये सब का दृश्यानुपलब्धि (=स्वभावानुपलब्धि) में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

शिष्टेष्वभावः—अभावः = अभावोऽपि (धर्मो० प्र०, पृ० १४५), अन्य अनुपलब्धिप्रयोगों में अभाव तथा अभावव्यवहार दोनों सिद्ध किये जाते हैं। यहाँ अपि (भी) शब्द से अभाव-व्यवहार का संग्रह हो जायेगा। सिद्धान्त यह है कि स्वभावानुपलब्धि केवल अभाव को सिद्ध करती है तथा कार्यानुपलब्धि आदि शेष दश प्रयोग अभाव तथा अभाव-व्यवहार दोनों को सिद्ध करते हैं (मि०, मो०, तर्कभाषा, पृ० १८ तथा हेतुबिन्दु टीका, पृ० १७४)।

उपलब्धिलक्षणप्राप्तानाम् = दृश्यानाम् (देखिये ऊपर २.१३)।

कुत एतदिति—यह कैसे कहा जा सकता है कि सर्वत्र दृश्यों का ही प्रतिषेध बतलाया गया है? इस पर कहते हैं—स्वभाव इत्यादि। यहाँ भी 'च' शब्द हेतु के अर्थ में है। क्योंकि जिनके आदि में 'स्वभावविरुद्ध' है उन (स्वभाव-विरुद्ध आदि) की उपलब्धि से तथा जिनके आदि में कारण (जैसे, कारणानुपलब्धि) है उन (कारण-आदि) की अनुपलब्धि से (अन्य वस्तु का) प्रतिषेध दिखलाया गया है, इसलिये केवल दृश्य पदार्थों का ही प्रतिषेध कहा गया है—यह अभिप्राय है।

दृश्यानाम् एव—पदार्थों के विरोध आदि का ग्रहण होते समय दृश्यानुपलब्धि अवश्य ही होती है। अतः स्वभावविरुद्ध आदि को देखकर अन्य पदार्थ का अभाव जाना जाता है, इस कथन से यह प्रकट ही है कि दृश्य पदार्थों का ही प्रतिषेध किया जाता है (धर्मो० प्र०, पृ० १४५)।

यदि नामेति—(शङ्का) ठीक है कि स्वभाव-विरुद्ध आदि की उपलब्धि से और कारण आदि की अनुपलब्धि से प्रतिषेध (का ज्ञान) बतलाया गया है, तथापि दृश्यों का ही प्रतिषेध कहा गया है—यह कैसे? इस पर कहा है—उपलब्धि इत्यादि। यहाँ भी 'च' शब्द हेतु के अर्थ में है क्योंकि जो प्रतिषेध्य के विरोधी, उसके व्याप्य या व्यापक अथवा कार्य या कारण के रूप में जाने जाते हैं, अवश्य ही उनकी उपलब्धि

---

१. दृश्यमानानाम् B.
२. स प्रति० A.F.H.N.P.
३ कारणानुपलब्ध्या C.

चकारो हेत्वर्थः । यस्माद् ये विरोधिनः, व्याप्यव्यापकभूताः कार्यकारणभूताश्च ज्ञातास्तेषाम् अवश्यम् एवोपलब्धिः; उपलब्धिपूर्वा चानुपलब्धिर्वेदितव्या ज्ञातव्या । उपलब्ध्यनुपलब्धी च द्वे येषां स्तस्ते दृश्या एव । तस्मात् स्वभावविरुद्धाद्युपलब्ध्या कारणाद्यनुपलब्ध्या चोपलब्ध्यनुपलब्धिमतां विरुद्धादीनां प्रतिषेध क्रियमाणो दृश्यानाम् एव कृतो द्रष्टव्यः ।

बहुषु चोद्येषु प्रक्रान्तेषु परिहारसमुच्चयार्थश्चकारो हेत्वर्थो भवति । यस्माद् इदं चेदं च समाधानम् अस्ति तस्मात् तत् तच्चोद्यम् अयुक्तम् इति चकारार्थः ॥४५॥

कस्मात् पुनः प्रतिषेध्यानां विरुद्धादीनाम् उपलब्ध्यनुपलब्धी वेदितव्ये ? इत्याह—

तथा उपलब्धिपूर्वक अनुपलब्धि समझनी चाहिये। और, जिन पदार्थों की उपलब्धि तथा अनुपलब्धि ये दोनों होती हैं, वे अवश्य ही दर्शन-योग्य होते हैं। इस प्रकार स्वभावविरुद्ध आदि की उपलब्धि से तथा कारण आदि की अनुपलब्धि से जो उपलब्ध तथा अनुपलब्ध होने वाले विरुद्ध (पदार्थ) आदि का प्रतिषेध किया जा रहा है, वह दृश्यों का ही प्रतिषेध है, यह समझना चाहिये।

बहुत से आक्षेपों (चोद्य) का प्रसङ्ग होने पर (=प्रक्रान्तेषु) निराकरण (समाधान) का समुच्चय करने के लिये दिया गया (प्रयुक्त) 'च' शब्द हेतु के अर्थ में हो गया है; "क्योंकि यह और यह भी (=अनेक प्रकार का) समाधान है इसलिये वह और वह भी (=विविध) आक्षेप अयुक्त है"—यह 'च' शब्द का तात्पर्य (अर्थ) है ॥४५॥

वेदितव्या—ज्ञातव्या। इस प्रकार न्यायबिन्दु-टीका में सूत्रस्थ वेदितव्या शब्द का अर्थ दिखलाया गया है।

हेत्वर्थो भवति—भाव यह है कि यहाँ 'च' समुच्चय (संयोजन) के अर्थ में प्रयुक्त होकर भी हेतु की प्रतीति करा देता है हेतु को प्रकट करना 'च' शब्द का अभिप्राय (अर्थ) है। (धर्मो० प्र०, पृ० १४५)।

श्चेरबात्स्की का कथन है—जो यहाँ तीन 'च' शब्दों का अर्थ 'हेतु' किया गया है तथा तीन प्रकार के भिन्न २ प्रश्नों की सङ्गति लगाई गई है वह कृत्रिम प्रतीत होती है। विनीतदेव ने इस प्रकार नहीं किया। मल्लवादी ने इस अवतरण पर टिप्पणी नहीं लिखी (बु० लॉ० २, पृ० १०३-१०४, टि० ४)।

१३. विरोध आदि की सिद्धि दृश्यानुपलब्धि से ही होती है।

कस्मात् पुनरिति—किन्तु प्रतिषेध्य जो विरुद्ध आदि हैं, उनकी उपलब्धि तथा अनुपलब्धि को कैसे जाना जाता है? इस पर कहते हैं—

---

१. नास्ति A.B.E.H.N.P.

अन्येषां विरोधकार्यकारणभावाभावासिद्धेः[1] ॥४६॥

अन्येषाम् इति । उपलब्ध्यनुपलब्धिमद्भ्योऽन्येऽनुपलब्धा एव ये तेषां विरोधश्च कार्यकारणभावश्च केनचित् सहाभावश्च व्याप्यस्य व्यापकस्याभावे[2] न सिध्यति यस्मात् ततो विरोधकार्यकारणभावाभावासिद्धेः कारणाद् उपलब्ध्यनुपलब्धिमन्त एव विरुद्धादयो निषेध्याः । उभयवन्तश्च दृश्या एव तस्माद् दृश्यानाम् एव प्रतिषेधः ।

क्योंकि (जिनकी उपलब्धि तथा अनुपलब्धि होती है उनसे) भिन्न पदार्थों का विरोध, कार्यकारणभाव तथा व्याप्यव्यापकभाव (=अभाव) सिद्ध नहीं होता ॥४६॥

अन्येषामिति । जिन (पदार्थों) की उपलब्धि तथा अनुपलब्धि होती है उनसे भिन्न पदार्थ वे हैं, जो अनुपलब्ध (=अदृश्य) ही हैं । क्योंकि उनका किसी के साथ विरोध, (किसी के साथ) कार्यकारणभाव और व्यापक के न होने पर व्याप्य का न होना (=अभावश्च) सिद्ध नहीं होता; इसलिये विरोध, कार्यकारणभाव और अभाव (व्याप्य-व्यापक-भाव) की सिद्धि न होने के कारण ऐसे विरुद्ध (पदार्थ) आदि का ही निषेध किया जा सकता है, जिनकी उपलब्धि तथा अनुपलब्धि (दोनों) होती हैं । जिन (पदार्थों) की ये दोनों (उपलब्धि तथा अनुपलब्धि) होती हैं वे अवश्य ही दृश्य (ग्रहण के योग्य) होते हैं । इस प्रकार दृश्यों का ही प्रतिषेध किया जाता है ।

विरोध०—विरोधश्च कार्यकारणभावश्च अभावश्च विरोधकार्यकारणभावाभावाः तेषाम् असिद्धेः—यह विग्रह है ।

अभावश्च व्याप्यस्य व्यापकाभावे=व्यापक के न होने पर व्याप्य का न होना, जैसे अग्नि के न होने पर धूम का न होना । इस शब्द के द्वारा व्यापकानुपलब्धि (२.३३) आदि लक्षित होती हैं, क्योंकि "नात्र शिंशपा वृक्षाभावात्"—इत्यादि में वृक्षत्व (व्यापक) के अभाव में शिंशपात्व (व्याप्य) का अभाव दिखलाया गया है । इस प्रकार सूत्र में अभाव=व्यापकस्य अभावे व्याप्यस्य अभावः । किन्तु सूत्र में 'व्याप्य' शब्द नहीं है, उसका अध्याहार करना होगा ।

विनीतदेव (पृ० ८२) के अनुसार सूत्रच्छेद है—विरोध+कार्यकारण+भावाभावौ । जिसका अर्थ है—विरोधस्य भावश्च अभावश्च कार्यकारणस्य भावश्च अभावश्च । इस प्रकार सूत्र का तात्पर्य होगा—क्योंकि अन्यों के विरोध और कार्यकारणभाव का होना तथा न होना निश्चित नहीं है ।

श्चेरबात्स्की का कथन है कि विनीतदेव की व्याख्या वरीयान् (preferable) प्रतीत होती है; क्योंकि धर्मोत्तर की व्याख्या कृत्रिम है । विनीतदेव की व्याख्या में व्यापकानुपलब्धि को विरोध के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १०४ टि० २) ।

---

१. ० कारणभावासिद्धेः E. ० कारणभावासिद्धिः B.H.P.
२. व्यापकाभावे C.
३. विरोधिकार्य० A.B.H.E..N.P.

तदयम् अर्थः । विरोधश्च[1] कार्यकारणभावश्च व्यापकाभावे व्याप्याभावश्च दृश्यानुपलब्धेरेवेति । 'एकसन्निधावपराभावप्रतीतौ ज्ञातो विरोधः। कारणाभिमताभावे च कार्याभिमताभावप्रत्ययेऽवसितः[3] कार्यकारणभावः । व्यापकाभिमताभावे च 'व्याप्याभिमताभावे निश्चिते निश्चितो व्याप्यव्यापकभावः । तत्र[5] व्याप्यव्यापकभावप्रतीतेर्निमित्तम् अभावः प्रतिपत्तव्यः । इह गृहीते वृक्षाभावे हि शिंशपात्वाभावप्रतीतौ 'प्रतीतो व्याप्यव्यापकभावः । अभावप्रतिपत्तिश्च सर्वत्र दृश्यानुपलब्धेरेव । तस्माद् विरोधम्, कार्यकारणभावम्, व्याप्यव्यापकभावं च स्मरता विरोध-कार्यकारणभाव-व्याप्यव्यापकभाव-विषयाभाव-

---

यहाँ यह विचारणीय है कि विरोध' में व्यापकानुपलब्धि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है। व्यापकानुपलब्धि का संग्रह करने की दृष्टि से धर्मोत्तर की व्याख्या ही संगत प्रतीत होती है। हाँ, इसमें अर्थ का अध्याहार अवश्य करना पड़ता है।

दृश्यानाम् एव प्रतिषेधः—यदि पहिले से किसी वस्तु का अन्य के साथ विरोध अथवा दो वस्तुओं का कार्यकारणभाव या व्यापक के अभाव में व्याप्य का अभाव निश्चित होता है तभी विरोध आदि के द्वारा अभाव का निश्चय हो सकता है। और, यह विरोध, कार्यकारणभाव तथा व्याप्यव्यापकभाव उन्हीं वस्तुओं का निश्चित किया जा सकता है, जिनकी कभी उपलब्धि होती है, कभी नहीं। ऐसी वस्तुएँ दृश्य अर्थात् ग्रहण-योग्य होती हैं। इसलिये अनुपलब्धि द्वारा दृश्यों का ही प्रतिषेध किया जाता है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १४६)।

तदयमर्थ इति—इस प्रकार यह अर्थ है—(किसी वस्तु का अन्य के साथ) विरोध, कार्यकारणभाव तथा व्यापक के न होने पर व्याप्य का अभाव—(ये तीनों) दृश्यानुपलब्धि से ही (निश्चित किये जाते हैं। (कैसे ?) जब एक (वस्तु) के उपस्थित होने पर दूसरी का अभाव प्रतीत होता है, तब (उन दोनों का) विरोध जाना जाता है। जब कारण रूप में मानी गई वस्तु के न होने पर कार्य रूप में मानी गई वस्तु के अभाव की प्रतीति होती है, तब कार्यकारणभाव का निश्चय किया जाता है। जब व्यापक मानी गई वस्तु के न होने पर व्याप्य मानी गई वस्तु का अभाव निश्चित किया जाता है तभी व्याप्य-व्यापक-भाव का निश्चय होता है। इस प्रकार व्याप्य-व्यापक-भाव की प्रतीति का निमित्त अभाव को ही मानना चाहिये। किसी स्थान पर (इह) जब वृक्ष के अभाव का ज्ञान होने पर शिंशपा के अभाव का ज्ञान होता है, तभी व्याप्य-व्यापक-भाव जाना जाता है (प्रतीतः)। क्योंकि सभी स्थलों पर दृश्यानुपलब्धि से ही अभाव का ज्ञान होता है; इसलिये विरोध, कार्यकारणभाव और व्याप्य-व्यापकभाव का स्मरण करने वाले व्यक्ति को (स्मरता) इन (विरोध आदि) के मूल

---

१. 'च' नास्ति A.E.H.P.
२. सन्निधाने परा० C.
३. ०सितकार्य० A.B.H.P.
४. व्याप्याभावे A.B.D.E.H.N.P.
५. तत् C.
६. 'प्रतीतो' नास्ति B.

प्रतिपत्तिनिबन्धनं दृश्यानुपलब्धिः स्मर्तव्या । दृश्यानुपलब्ध्यस्मरणे विरोधादीनाम् अस्मरणात् । तथा च सति न विरुद्धादिविधिप्रतिषेधाभ्याम् इतराभावप्रतीतिः स्यात् । विरोधादिग्रहणकालभाविन्यां च दृश्यानुपलब्धाववश्यस्मर्तव्यायां तत एवाभावप्रतीतिः ।

तत्र यद्यपि सम्प्रतितनी[1] नास्ति दृश्यानुपलब्धिर्विरोधादिग्रहणकाले त्वासीत् । या दृश्यानुपलब्धिः सम्प्रति स्मर्यमाणा सैवाभावप्रतिपत्तिनिबन्धनम् । ततः सम्प्रति नास्ति 'दृश्यानुपलब्धिरित्यभावसाधनत्वेन दृश्यानुपलब्धिप्रयोगाद् भिद्यन्ते कार्यानुपलब्ध्यादिप्रयोगाः ।

विरुद्धविधिना कारणादिनिषेधेन च यतो दृश्यानुपलब्धिराक्षिप्ता ततो दृश्यानुपलब्धेरेव[3] कालान्तरवृत्तायाः स्मृतिविषयभूताया अभावप्रतिपत्तिः । अमीषां च प्रयोगाणां दृश्यानुपलब्धावन्तर्भावः । तदनेन सर्वेण दृश्यानुपलब्धावन्तर्भावो दशानाम् अनुपलब्धिप्रयोगाणां पारम्पर्येण दर्शित इति वेदितव्यम् ॥४६॥

में स्थित (=विषय) अभावज्ञान की निमित्तभूत (=निबन्धन) दृश्यानुपलब्धि का अवश्य स्मरण रखना होगा (=स्मर्तव्या) । दृश्यानुपलब्धि का स्मरण न होने पर विरोध आदि का स्मरण न होगा और ऐसा होने पर विरुद्ध पदार्थ आदि की उपलब्धि तथा अनुपलब्धि से अन्य पदार्थ के अभाव की प्रतीति न होगी । इस प्रकार विरोध आदि के ग्रहण के समय होने वाली दृश्यानुपलब्धि का अवश्य स्मरण करना होता है अतः उस दृश्यानुपलब्धि से ही (ततः) वहाँ अभाव की प्रतीति होती है (यह समझना चाहिये) ।

यहाँ, यद्यपि दृश्यानुपलब्धि इस (विरोध आदि के द्वारा अभावज्ञान के) समय नहीं है; तथापि जब विरोध आदि का ग्रहण किया गया था, उस समय तो थी । जिस दृश्यानुपलब्धि का इस समय स्मरण किया जा रहा है वही अभावज्ञान का निमित्त है । इस प्रकार कार्यानुपलब्धि आदि अभाव के साधन ऐसे हैं, जिनमें दृश्यानुपलब्धि इस समय नहीं है (अर्थात् भूतकालिक दृश्यानुपलब्धि है) इसीलिये दृश्यानुपलब्धि (=स्वभावानुपलब्धि) के प्रयोग से उन (के प्रयोगों) का भेद हो जाता है ।

(दूसरी ओर) क्योंकि विरुद्ध की उपलब्धि से तथा कारण आदि की अनुपलब्धि से दृश्यानुपलब्धि की अर्थतः प्रतीति हो जाती है (=आक्षिप्ता); इसलिये वहाँ भी अन्य समय (भूत) में होने वाली, स्मरण की गई दृश्यानुपलब्धि से ही अभाव का निश्चय होता है । अतः इन सब (कार्यानुपलब्धि आदि) प्रयोगों का स्वभावानुपलब्धि में ही अन्तर्भाव हो जाता है । इस प्रकार इस सब (अनन्तरोक्त ग्रन्थ) से (कार्यानुपलब्धि आदि) दस अनुपलब्धि के प्रयोगों का परम्परया स्वभावानुपलब्धि में अन्तर्भाव दिखलाया गया है—यह समझना चाहिये ॥४६॥

---

१. सम्प्रति नास्ति A.E.H.N.P. २. दृश्योपलब्धि० A.B.E.H.N.P.
३. लब्धिरेव C.

उक्ता दृश्यानुपलब्धिरभावे, अभावव्यवहारे च साध्ये प्रमाणम्। अदृश्यानुपलब्धिस्तु[1] किंस्वभावा, किंव्यापारा [2]चेत्याह—

विप्रकृष्टविषया [3]पुनरनुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा संशयहेतुः ॥४७॥

विप्रकृष्टेति। विप्रकृष्टस् त्रिभिर्देशकालस्वभावविप्रकर्षैर्यस्या विषयः सा विप्रकृष्टविषयेति संशयहेतुः। किंस्वभावा सेत्याह—प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणं स्वभावो यस्याः सा प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा। न ज्ञानज्ञेयस्वभावेति यावत् ॥४७॥

अनेन = इससे, 'इमे सर्वे' (सूत्र ४२) से लेकर 'अन्येषाम्०' (सूत्र ४६) तक के न्यायविन्दु ग्रन्थ द्वारा आचाय धर्मकीर्ति ने कार्यानुपलब्धि आदि दस अनुपलब्धि के प्रयोगों का दृश्यानुपलब्धि (=स्वभावानुपलब्धि) में परम्परया अन्तर्भाव दिखलाया है। सारांश यह है कि दृश्यानुपलब्धि से ही विरोध, कार्यकारणभाव तथा व्याप्य-व्यापकभाव का ज्ञान होता है फिर विरोध आदि के द्वारा कार्यानुपलब्धि आदि से किसी वस्तु के अभाव का निश्चय होता है। यद्यपि कार्यानुपलब्धि आदि के प्रयोग के समय दृश्यानुपलब्धि नहीं होती तथापि उसका स्मरण तो अवश्य होता है। इसलिये दृश्यानुपलब्धि ही अन्य अनुपलब्धियों का आधार है। दृश्यानुपलब्धि में वर्तमानकालीन दृश्य की अनुपलब्धि होती है किन्तु अन्य अनुपलब्धियों में भूतकालिक दृश्यानुपलब्धि का स्मरण होता है—यही अन्य अनुपलब्धियों का दृश्यानुपलब्धि से भेद है। इसी आधार पर प्रयोग का भेद हो जाता है। और, प्रयोग-भेद से ही अनुपलब्धि के अनेक प्रकार हो जाते हैं।

कुछ व्याख्याकारों का यह भी विचार है कि वस्तुतः दृश्यानुपलब्धि अनुमान है और कार्यानुपलब्धि आदि अनुमितानुमान (अनुमित से अनुमान) है अर्थात् वहाँ दृश्यानुपलब्धि से अनुमित विरोध आदि के द्वारा किसी वस्तु के अभाव का निश्चय किया जाता है। (धर्मो० प्र०, पृ० १४७–१४८)।

१४. अदृश्यानुपलब्धि से अभाव का निश्चय नहीं होता

उक्तेति—(ऊपर) बतलाई गई दृश्यानुपलब्धि अभाव तथा अभावव्यवहार की सिद्धि कराने वाला प्रमाण है। अब, अदृश्यानुपलब्धि का क्या स्वरूप है? और, उसका क्या व्यापार है? यह बतलाते हैं—

अप्राप्य या अदृश्य (=विप्रकृष्ट=दूर) है विषय जिसका ऐसी अनुपलब्धि तो संशय का हेतु होती है; क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान (दोनों प्रमाणों) की निवृत्ति ही उसका स्वरूप है ॥४७॥

विप्रकृष्ट इत्यादि। जिसका विषय देश, काल और स्वभाव इन तीनों की विप्रकृष्टता (दूरी) के कारण अदृश्य है, वह (अनुपलब्धि) विप्रकृष्टविषया कही गई है, वह (=विप्रकृष्ट- विषया) संशय को उत्पन्न करने वाली (=हेतु) होती है। उसका स्वरूप क्या है? यह बतलाते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान का न होना (=निवृत्ति) ही उसका लक्षण (=स्वभाव=स्वरूप) है, अतः वह (अदृश्यानुपलब्धि) प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा कही गई है। भाव यह है कि उसका स्वभाव ज्ञान से जानने योग्य नहीं है ॥४७॥

---

१. 'तु' नास्ति A.E.H.P. २. 'च' नास्ति B.D.
३. 'पुनः' नास्ति B.C.E.H.N.

ननु च प्रमाणात् प्रमेयसत्ताव्यवस्था । ततः प्रमाणाभावात् प्रमेयाभाव-प्रतिपत्तिर्युक्तेत्याह—

प्रमाणनिवृत्तावप्यर्थाभावासिद्धेरिति ॥४८॥

॥[1]स्वार्थानुमानपरिच्छेदो द्वितीयः समाप्तः ॥

प्रमाणनिवृत्तावपीत्यादि[2] । कारणं व्यापकं च निवर्तमानं कार्यं व्याप्यं च निवर्तयेत् । न च प्रमाणं प्रमेयस्य कारणं नापि व्यापकम् । अतः प्रमाणयोर्निवृत्तावपि अर्थस्य प्रमेयस्य निवृत्तिर्न सिध्यति । ततोऽसिद्धेः संशयहेतुर् अदृश्यानुपलब्धिः, न निश्चयहेतुः । यत् पुनः प्रमाणसत्तया प्रमेयसत्ता सिध्यति तद् युक्तम् । प्रमेयकार्यं हि प्रमाणम् । न च कारणम् अन्तरेण कार्यम् अस्ति । न [3]तु

न ज्ञानज्ञेयस्वभावा०—जैसा कि ऊपर (२.१४) विस्तार से बतलाया जा चुका है, जो वस्तु देश, काल और स्वभाव से अतीन्द्रिय होती है वह अदृश्य कही जाती है । यदि ऐसी वस्तु न प्रत्यक्ष से जानी जाये न अनुमान से तो वह अग्राह्य कही जाती है । न ज्ञानज्ञेयस्वभावा = अज्ञेय, न ज्ञानेन ज्ञेयः स्वभावो यस्य = जिसका स्वरूप ज्ञान का विषय नहीं । बौद्धन्याय में प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं इसलिये जो इनसे ज्ञेय नहीं, वह ज्ञेय स्वभाव वाली ही नहीं । जब कोई वस्तु प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाणों का विषय नहीं होती तो उस अदृश्य वस्तु की अनुपलब्धि (अदृश्यानुपलब्धि) कहलाती है । अदृश्यानुपलब्धि से किसी वस्तु के अभाव का निश्चय नहीं हो सकता, केवल उसकी सत्ता में सन्देह हो सकता है । इस प्रकार अदृश्यानुपलब्धि का स्वरूप है—प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाणों की निवृत्ति (अप्रवृत्ति) । इस का कार्य (= व्यापार) है किसी वस्तु की सत्ता में सन्देह उत्पन्न करना । यह अभाव-व्यवहार में प्रमाण नहीं होती, हाँ किसी वस्तु की सत्ता के निश्चय का निषेध अवश्य कर सकती है (असद्व्यवहारे साध्ये न प्रमाणम्, ऐकान्तिकसद्व्यवहारनिषेधे तु प्रमाणम् इति, धर्मो० प्र०, पृ० १४६) ।

ननु चेति—(शङ्का) क्योंकि प्रमाण से ही प्रमेय की सत्ता का निर्णय होता है; इसलिये प्रमाण के न होने से प्रमेय के अभाव का निश्चय होना युक्तियुक्त ही है । इस पर कहा है—

क्योंकि प्रमाणों की प्रवृत्ति न होने पर भी वस्तु का अभाव सिद्ध नहीं होता ॥४८॥

प्रमाणनिवृत्तावपीत्यादि । कारण और व्यापक की निवृत्ति होने पर कार्य और व्याप्य की निवृत्ति (निषेध) हो जाती है । किन्तु प्रमाण न तो प्रमेय का कारण है, न व्यापक ही । इसलिये (प्रत्यक्ष और अनुमान) दोनों प्रमाणों की निवृत्ति होने पर भी वस्तु का अभाव सिद्ध नहीं होता । उससे अभाव की सिद्धि न होने के कारण अदृश्यानुपलब्धि संशय का हेतु होती है, (अभाव के) निश्चय का हेतु नहीं होती ।

---

१. ॥द्वितीयपरिच्छेदः॥ B.D., ॥न्यायबिन्दुप्रकरणे द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः॥ E.

२. प्रमाणनिवृत्तावपीत्याह' T.

३. न च B.D.

कारणान्यवश्यं कार्यवन्ति भवन्ति। तस्मात् प्रमाणात् प्रमेयसत्ता व्यवस्थाप्या, न प्रमाणाभावात् प्रमेयाभावव्यवस्थेति ॥४८॥

॥[1]आचार्यधर्मोत्तरकृतायां न्यायबिन्दुटीकायां स्वार्थानुमानो द्वितीयः परिच्छेदः ॥

(दूसरी ओर) यह तो युक्तियुक्त है कि प्रमाण की सत्ता से प्रमेय की सत्ता सिद्ध होती है; क्योंकि प्रमाण (=प्रमा=सम्यक् ज्ञान) प्रमेय से उत्पन्न होता है (=कार्य), और, बिना कारण के कार्य नहीं होता; परन्तु कारण अवश्य ही कार्य को उत्पन्न करने वाले नहीं हुआ करते। इस प्रकार प्रमाण से प्रमेय की सत्ता का निश्चय किया जाता है, प्रमाण के अभाव से प्रमेय के अभाव का निश्चय नहीं किया जाता ॥४८॥

॥ आचार्यधर्मोत्तरकृत न्यायबिन्दुटीका में स्वार्थानुमान नामक द्वितीयपरिच्छेद (समाप्त) ॥

प्रमाणाभावात् प्रमेयाभावप्रतिपत्तिर्युक्ता=प्रमाण के न होने से प्रमेय के अभाव का निश्चय हो जाता है—इस प्रकार का मन्तव्य नैयायिक (?) का था। इसी प्रकार पाश्चात्य दर्शन में Sigwart के समय तक यही मन्तव्य रहा (बु० लॉ० २, पृ० १०७ टि० ७)।

न निश्चयहेतुः—जब अदृश्य वस्तु की अनुपलब्धि से उसके अभाव का निश्चय नहीं होता और प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा उसकी सत्ता का भी निश्चय नहीं होता तो अदृश्यानुपलब्धि के द्वारा संशय ही उत्पन्न हो जाया करता है।

प्रमेयकार्यं हि प्रमाणम्—यहाँ प्रमाणम्=प्रमा=सम्यक् ज्ञान। प्रत्येक प्रमा प्रमेय से ही उत्पन्न होती है अतः वह प्रमेय का कार्य है और कार्य के द्वारा कारण का अनुमान किया जाता है। अतः प्रमा के होने से प्रमेय की सत्ता का अनुमान किया जाता है।

न प्रमाणाभावात् प्रमेयाभावव्यवस्था—इस कथन से यह प्रकट होता है कि बौद्धदर्शन के अनुसार कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनका प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण द्वारा निश्चय नहीं होता। वे इन दोनों ही प्रमाणों के विषय नहीं, अतः अदृश्य हैं, अज्ञेय हैं। उनकी अनुपलब्धि से उनके अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता, इसीलिये ऐसे तत्त्वों का अभाव है, यह कहना असम्भव है। 'सर्वज्ञ' इत्यादि ऐसे ही तत्त्व हैं, जिनको धर्मकीर्ति ने अन्य सन्दर्भों (न्यायबिन्दु ३.९५ तथा सन्तानान्तरसिद्धि का उपसंहार आदि) में दिखलाया है (मि० बु० लॉ० २, पृ० १०७ टि० ८)।

इति द्वितीयः स्वार्थानुमानपरिच्छेदः।

---

१. ॥ न्यायबिन्दुटीकायां द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥ A.B.E.H.P:, ॥न्यायबिन्दुटीकायां द्वितीयः परिच्छेदः ॥ D.

तृतीयः परार्थानुमानपरिच्छेदः ।

स्वार्थ-परार्थानुमानयोः स्वार्थं व्याख्याय परार्थं व्याख्यातुकाम आह—

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं [1]परार्थमनुमानम् ॥१॥

त्रिरूपलिङ्गाख्यानमिति । त्रीणि रूपाणि—अन्वय-व्यतिरेकपक्षधर्मत्व-संज्ञकानि यस्य तत् त्रिरूपम् । त्रिरूपं च [2]तल्लिङ्गं च तस्याख्यानम् । आख्यायते प्रकाश्यतेऽनेन[3] त्रिरूपं [4]लिङ्गम् इति, आख्यानम् । किं पुनस्तत् ? वचनम् । वचनेन हि त्रिरूपं[5] लिङ्गम् आख्यायते । परस्मायिदं [6]परार्थम् ॥१॥

---

१. परार्थानुमान का लक्षण

स्वार्थेति—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान में से स्वार्थानुमान की व्याख्या करके परार्थानुमान की व्याख्या करने के अभिलाषी (आचार्य धर्मकीर्ति) कहते हैं—

त्रिरूप लिङ्ग का कथन करना परार्थानुमान है ॥१॥

त्रिरूपलिङ्गाख्यानमिति । तीन रूप अर्थात् अन्वय, व्यतिरेक और पक्षधर्मता नामक तीन रूप, जिसमें होते हैं, वह 'त्रिरूप' है । जो तीन रूपों वाला (रूपत्रय-सम्पन्न) लिङ्ग है, उसका आख्यान (=कथन) । जिसके द्वारा त्रिरूपलिङ्ग को प्रकट किया जाता है (आख्यायते=प्रकाश्यते) वह 'आख्यान' कहलाता है । फिर वह क्या है ? वचन (अनुमान-वाक्य, Proposition) । वस्तुतः वचन के द्वारा ही तीन रूपों वाले लिङ्ग को प्रकट किया जाता है । दूसरे के (ज्ञान के) लिये यह होता है अतः यह परार्थानुमान कहलाता है ॥१॥

त्रिरूप लिङ्ग—१. लिङ्गस्य अनुमेये सत्त्वमेव, २. सपक्ष एव सत्त्वम्, ३. असपक्षे चासत्त्वम् एव निश्चितम् (ऊपर २.५) ।

अन्वय—सपक्ष एव सत्त्वम् = लिङ्ग का सपक्ष में ही होना, जैसे 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है'—यहाँ अग्नियुक्त स्थान ही सपक्ष हैं, धूम उन सपक्षों में ही रहता है उनसे भिन्न स्थलों में नहीं ।

व्यतिरेक—असपक्षे चासत्त्वम् एव = लिङ्ग का विपक्ष में कहीं भी न रहना; जैसे—जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ धूम नहीं होता, यहाँ विपक्ष जो जलाशय आदि हैं, उनमें लिङ्ग (धूम) कहीं भी नहीं रहता ।

---

१. परार्थानुमा० B.E.H.N,P.
२. तत्'—नास्ति A.
३. ऽनेनेति, A.B.H.P,T.
४. त्रिरूपलि० E.
५. त्रिरूपलि० C.
६. परस्मायिति परा० E.

ननु [1]च सम्यग्ज्ञानात्मकम् अनुमानम् उक्तम्। तत् किमर्थं सम्प्रति वचनात्मकम् अनुमानम् उच्यते ? इत्याह—

कारणे कार्योपचारात् ॥२॥

कारणे कार्योपचारादिति। त्रिरूपलिङ्गाभिधानात् [2]त्रिरूपलिङ्गस्मृतिरुत्पद्यते। स्मृतेश्चानुमानम्। [3]तस्माद् अनुमानस्य परम्परया त्रिरूपलिङ्गाभिधानं कारणम्। तस्मिन् कारणे वचने कार्यस्य अनुमानस्योपचारः = समारोपः क्रियते। ततः समारोपात् कारणं वचनम् अनुमानशब्देनोच्यते। औप-

---

पक्षधर्मत्व—अनुमेये सत्त्वम् एव = लिङ्ग का पक्ष में अवश्य होना; जैसे—'पर्वत अग्नि वाला है, धूम होने से'—यहाँ पर पर्वत पक्ष है, उसमें 'धूम' विद्यमान है ही।

त्रिरूपं लिङ्गमाख्यायते—जिस अर्थक्रम से अनुमाता को परोक्ष अर्थ का ज्ञान होता है दूसरे व्यक्ति (परसन्तान) को साध्य का ज्ञान कराने के लिये अनुमाता उसी क्रम से त्रिरूप लिङ्ग को प्रकट करने वाला वचन (वाक्य) कहता है, वही वचन परार्थानुमान कहलाता है (धर्मो० प्र०, पृ० १५०)।

इस प्रकार दुर्वेक मिश्र के अनुसार स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दोनों में ही एक क्रम से (येनार्थक्रमेणात्मनः परोक्षार्थज्ञानम् उत्पन्नं तेनैव क्रमेण, धर्मो० प्र०, पृ० १५०) त्रिरूप लिङ्ग का विचार या कथन किया जाता है। किन्तु श्चेरबात्स्की का मत है कि स्वार्थानुमान में 'पक्ष-सत्त्व' से आरम्भ करके अनुमाता सपक्ष-सत्त्व (= अन्वय, व्याप्ति) पर पहुँचता है किन्तु परार्थानुमान में अनुमान वाक्य साधारण नियम (व्याप्ति) से आरम्भ होता है तथा उसके पश्चात् पक्ष-सत्त्व बतलाया जाता है (बु० लॉ० २, पृ० १०६ टि० १)।

वचनम्—पाश्चात्य दर्शन विशेषकर इंग्लैंड में यह विवाद का विषय रहा है कि तर्कशास्त्र का सम्बन्ध विचार से है या अनुमान वाक्य से। धर्मकीर्ति ने यहाँ स्पष्ट विवेचन कर दिया है कि तर्क में कितना अंश विचार से सम्बन्ध रखता और कितना अनुमान वाक्य से (मि० बु० लॉ० २, पृ० १११ टि० १)

ननु चेति—(शङ्का) पहले (१.२, ३) तो अनुमान को सम्यक्ज्ञानरूप बतलाया गया है, तब यहाँ अनुमान को वचनरूप क्यों कहा जा रहा है ? इस पर कहा है—

क्योंकि कारण (वचन) में कार्य (ज्ञान) का समारोप कर लिया गया है ॥२॥

कारणे कार्योपचाराद् इति। त्रिरूप लिङ्ग का कथन करने से (श्रोता के मन में) त्रिरूप लिङ्ग की स्मृति उत्पन्न होती है और उस स्मृति से अनुमान होता है।

---

१. 'च' नास्ति A,

२. त्रिरूपलिङ्गालम्बना स्मृतिः B.C.D. ३. तस्यानुमानस्य A.B.E.H.N.P.

चारिकं[1] वचनम् अनुमानम्, न मुख्यम् इत्यर्थः। न[2] यावत् किञ्चिद् उपचाराद् अनुमानशब्देन वक्तुं शक्यं तावत् सर्वं व्याख्येयम्। किन्त्वनुमानं व्याख्यातुकामेनानुमानस्वरूपस्य[3] व्याख्येयत्वान्निमित्तं व्याख्येयम्। निमित्तं च त्रिरूपं लिङ्गम्। तच्च स्वयं वा प्रतीतम् अनुमानस्य निमित्तं भवति, परेण वा प्रतिपादितं भवति[4]। तस्माल्लिङ्गस्य स्वरूपं च[5] व्याख्येयम्, तत्प्रतिपादकश्च शब्दः। तत्र स्वरूपं स्वार्थानुमाने व्याख्यातम्। प्रतिपादकश्च[6] शब्द इह व्याख्येयः। ततः प्रतिपादकं शब्दम् [7]अवश्यंवक्तव्यं दर्शयन् अनुमानशब्देनोक्तवान् आचार्य इति परमार्थः ॥२॥

इसलिये त्रिरूप लिङ्ग का कथन परम्परा से अनुमान का कारण है। उस कारण अर्थात् (त्रिरूप लिङ्ग के) कथन में कार्य अर्थात् अनुमान का उपचार अर्थात् समारोप (गौण प्रयोग) किया गया है। उस समारोप से (अनुमान के) हेतु अर्थात् त्रिरूप-लिङ्ग-कथन को अनुमान शब्द से कहा गया है। भाव यह है कि औपचारिक रूप से 'वचन' अनुमान है, मुख्य रूप से नहीं। फिर भी अनुमान शब्द के द्वारा उपचार (लक्षणा) से जो अर्थ प्रकट किया जा सकता है उस सबकी ही व्याख्या यहाँ नहीं करनी है, किन्तु अनुमान की व्याख्या करने के इच्छुक आचार्य (धर्मकीर्ति) को अनुमान के स्वरूप की व्याख्या करनी है, इसलिये उस (अनुमान) के (असाधारण) निमित्त का ही विवेचन करना है (=व्याख्येयम्)। और, (अनुमान का) निमित्त त्रिरूप-सम्पन्न लिङ्ग होता है वह (लिङ्ग) स्वयं जाना गया अथवा दूसरे के द्वारा प्रतिपादित किया गया होकर अनुमान (ज्ञान) का निमित्त होता है। इसलिये लिङ्ग के स्वरूप का विवेचन करना है तथा उसको प्रकट करने वाले शब्द (वचन) का भी। उनमें से (लिङ्ग के) स्वरूप की स्वार्थानुमान में व्याख्या की जा चुकी है। (लिङ्ग को) प्रकट करने वाले वचन की यहाँ व्याख्या करनी है। इस प्रकार आचार्य (दिङ्नाग) ने यह प्रकट करते हुए कि लिङ्ग के प्रतिपादक शब्दों (अनुमानवाक्य) का अवश्य विवेचन करना चाहिये, शब्द (वचन) को अनुमान नाम से कहा है—यह अभिप्राय है ॥२॥

औपचारिकं वचनम् अनुमानम्—वचनम् इति औपचारिकम् अनुमानम्। भाव यह है कि त्रिरूप लिङ्ग का कथन (=वचनम्) लिङ्ग का स्मरण करा देता है तथा परोक्ष अर्थ की प्रतीति में परम्परया कारण होता है इसलिये उसे औपचारिक रूप में अनुमान कहा गया है।

औपचारिकम्=उपचार से होने वाला।

न यावत् किञ्चिद्०—शङ्का यह है कि यदि परम्परया अनुमान का हेतु होने से त्रिरूप लिङ्ग—कथन को अनुमान शब्द से कहा गया है तब तो जिज्ञासा, स्वास्थ्य

१, ओपचारकम् A. २. न च A.B,D.E.H.N.P. ३. स्वरूपस्यैव C.
४. 'भवति' नास्ति A.C.E.N.P. ५. 'च' नास्ति A.E.H.N.P.
६. 'च' नास्ति A.B.E.H.N.P. ७. अवश्यवक्तव्यं N.

परार्थानुमानस्य प्रकारभेदं दर्शयितुम् आह—

तद् द्विविधम् ॥३॥

तद् द्विविधमिति । तद् इति परार्थानुमानम् । द्वौ विधौ प्रकारौ यस्य तद् द्विविधम् ॥३॥

कुतो द्विविधम् ? इत्याह—

प्रयोगभेदात् ॥४॥

प्रयोगस्य शब्दव्यापारस्य भेदात् । प्रयुक्तिः प्रयोगोऽर्थाभिधानम् । शब्दस्यार्थाभिधानव्यापार-भेदाद् द्विविधम् अनुमानम् ॥४॥

इत्यादि को भी अनुमान शब्द से कहा जाना चाहिये; क्योंकि वे भी परम्परया अनुमान के हेतु होते हैं । इसका समाधान यह है कि अनुमान का जो असाधारण निमित्त (हेतु) है उसकी व्याख्या यहाँ करनी है । जिज्ञासा आदि उसके असाधारण निमित्त नहीं । उसका निमित्त है—त्रिरूप लिङ्ग । वह दो प्रकार से अनुमान का निमित्त होता है—(१) स्वयं जाना गया अथवा (२) दूसरे के द्वारा बतलाया गया । इसी से स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दो भेद हो जाते हैं । उन दोनों का विवेचन ही इस ग्रन्थ में किया गया है (मि० धर्मो० प्र०, पृ० १५१) ।

२. परार्थानुमान के प्रकार

परार्थानुमानस्येति—परार्थानुमान का प्रकार-भेद दिखलाते हुए कहा है—

वह (परार्थानुमान) दो प्रकार का है ॥३॥

तद् द्विविधम् इति । तद् वह=परार्थानुमान । दो प्रकार (=विधा) हैं जिसके वह द्विविध कहलाता है ॥३॥

वह दो प्रकार का क्यों है ? यह बतलाते हैं—

प्रयोग के भेद से ॥४॥

प्रयोग अर्थात् शब्द-व्यापार के भेद से । प्रयोग=प्रयुक्ति; अर्थात् अर्थ का कथन करना । शब्द के अर्थ-कथन नामक कार्य के भेद से परार्थानुमान दो प्रकार का होता है ॥४॥

प्रयोग=अनुमान-वाक्य का प्रयोग । किन्तु यहाँ तथा ऊपर (सूत्र २ ३०) प्रयोग शब्द का अर्थ है—अभिधा (=शक्ति), शब्द की वह वृत्ति (=व्यापार) जिसके द्वारा साक्षात् रूप से मुख्य अर्थ का बोध होता है । अभिधा से भिन्न जो शब्द की दो वृत्तियाँ लक्षणा तथा व्यञ्जना मानी गई हैं, उनके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से (अर्थतः, indirectly) किसी अर्थ की प्रतीति होती है । यहाँ अनुमान वाक्य के दो भेद अभिधा-व्यापार के भेद से ही दिखलाये गये हैं । (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ११२ टि० ६) ।

तद् एवाभिधान-व्यापार-निबन्धनं द्वैविध्यं दर्शयितुम् आह—

साधर्म्यवद् वैधर्म्यवच् चेति[1] ॥५॥

साधर्म्यवद्वैधर्म्यवच्चेति। समानो धर्मोऽस्य[2] सोऽयं सधर्मा। तस्य भावः साधर्म्यम्। विसदृशो धर्मोऽस्य विधर्मा। विधर्मणो भावो वैधर्म्यम्। दृष्टान्तधर्मिणा सह साध्यधर्मिणः सादृश्यं हेतुकृतं साधर्म्यम् उच्यते। असादृश्यं च हेतुकृतं वैधर्म्यम् उच्यते। तत्र यस्य साधनवाक्यस्य साधर्म्यम् अभिधेयं तत् साधर्म्यवत्। यथा—यत् कृतकं तद् अनित्यं यथा घटः, तथा च कृतकः शब्दः— इत्यत्र कृतकत्वकृतं दृष्टान्तसाध्यधर्मिणोः सादृश्यम् अभिधेयम्। यस्य तु वैधर्म्यम् अभिधेयम् तद् वैधर्म्यवत्। यथा—यन्नित्यं तद् अकृतकं दृष्टं यथाकाशम्, शब्दस्तु कृतक इति [3]कृतकत्वाऽकृतकत्वकृतं शब्दाकाशयोः साध्य-दृष्टान्तधर्मिणोरसादृश्यम् इहाभिधेयम् ॥५॥

तद् एवाभिधानेति—उस अभिधा-व्यापार (=अर्थप्रकाशन कार्य method of expression) के निमित्त से होने वाले दो प्रकारों को दिखलाते हुए कहते हैं—

साधर्म्य वाला और वैधर्म्य वाला ॥५॥

साधर्म्यवद् वैधर्म्यवत् चेति। समान है धर्म जिसका, वह सधर्मा (=सधर्मन् =समान धर्म वाला) कहलाता है। उसका भाव साधर्म्य है। भिन्न प्रकार का धर्म हैं जिसका, वह विधर्मा (=विधर्मन्=भिन्न धर्म वाला कहलाता है) विधर्मन् का भाव वैधर्म्य होता है। यहाँ दृष्टान्तधर्मी के साथ पक्ष (=साध्यधर्मी) के हेतु द्वारा किये गये सादृश्य को ही साधर्म्य कहा गया है और हेतु द्वारा किये गये असादृश्य(=असमानता) को ही वैधर्म्य कहा गया है। इनमें से (तत्र) जिस साधन-वाक्य (अनुमान-वाक्य= प्रयोग) के द्वारा साधर्म्य का साक्षात् कथन किया जाता है वह साधर्म्यवत् कहलाता है जैसे—

जो कार्य (कृतक) है, वह अनित्य, यथा घट। (व्याप्ति)
उसी प्रकार शब्द भी कार्य है। (पक्षधर्मता)

यहाँ पर कार्यत्व के द्वारा होने वाले दृष्टान्तधर्मी (घट) और साध्यधर्मी शब्द का सादृश्य शब्दों द्वारा (साक्षात्) कहा गया है। जिस साधन-वाक्य के द्वारा वैधर्म्य का कथन किया जाता है वह वैधर्म्यवत् है, जैसे—

जो नित्य है, वह अकार्य (=अकृतक) देखा गया है, यथा—आकाश। (व्याप्ति)
किन्तु शब्द तो कार्य है। (पक्षधर्मता)

इस प्रकार यहाँ साध्यधर्मी (पक्ष) शब्द और दृष्टान्तधर्मी आकाश का क्रमशः कृतकत्व और अकृतकत्व के द्वारा किया गया असादृश्य शब्दों द्वारा साक्षात् कहा गया है ॥५॥

---

१. 'इति' नास्ति C.
२. यस्य A.C.E.H.N.P.
३. इति अकृतकत्वकृतम् C.

यद्यनयोः प्रयोगयोरभिधेयं भिन्नं कथं तर्हि त्रिरूपं लिङ्गम् अभिन्नं प्रकाश्यम् ? इत्याह—

साधर्म्य—साधर्म्यवान् और वैधर्म्यवान् दो प्रकार का अनुमान-प्रयोग होता है। इसे ही न्याय-वैशेषिक आदि में अन्वयी तथा व्यतिरेकी कहा गया है। (मि०, प्र० वा० स्वो०, पृ० ३५८)।

दृष्टान्तधर्मी—जिस धर्मी में साध्य धर्म का होना अथवा न होना निश्चित होता है वह दृष्टान्तधर्मी कहलाता है (=सपक्ष तथा विपक्ष)। साधर्म्यवत् साधन-वाक्य में दृष्टान्तधर्मी सपक्ष होता है और वैधर्म्यवत् वाक्य में विपक्ष, जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है।

साध्यधर्मी=जिसमें साध्य धर्म रहता है, पक्ष।

साधनवाक्य=अनुमान वाक्य (परार्थानुमान), Syllogism.

कृतक=कार्य=हीनयान में प्रसिद्ध संस्कृत या संस्कार; जैसे अनित्याः सर्वे संस्काराः (मि०, बु० लॉ० २, पृ० ११३ टि० ४)।

आकाश—हीनयान-सम्प्रदाय में आकाश को परमार्थसत् वस्तु या धर्म माना गया है। इसे असंस्कृत धर्म मानकर निरोध के समान ही नित्य धर्म कहा गया है। किन्तु सौत्रान्तिक सम्प्रदाय तथा महायानी बौद्ध दार्शनिक किसी भी वस्तु को नित्य नहीं मानते। उनके अनुसार आकाश परमार्थसत वस्तु भी नहीं है। फिर भी दृष्टान्त-रूप में इसे प्रस्तुत किया जाता है–'वस्तु अवस्तु वा वैधर्म्यदृष्टान्त इष्यते' (आगे ३.१२२)। न्याय-वैशेषिक आदि दार्शनिक सम्प्रदाय आकाश को एक नित्य तत्त्व मानते हैं (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १३४ टि० १)।

साधर्म्य-वैधर्म्य—इन दोनों प्रकार के दृष्टान्तों का न्यायसूत्र (१.१.३४–३५) में पहले ही निरूपण किया गया है। इन्हीं दो प्रकार के दृष्टान्तों के आधार पर अनु-मान-वाक्य दो प्रकार का हो जाता है। योरोपीय तर्कशास्त्र में जे० एस० मिल० ने Methods of experimental inquiry (=प्रयोगात्मक जिज्ञासा की पद्धति) के नाम से इनकी स्थापना की है तथा Sigwart (op. cit. II. 477 ff) ने इसी नाम से इनका विवेचन किया है किन्तु A. Bain. (Logic³, II ·51) ने Methods of 'Agreement' नाम से इसका वर्णन किया है। (द्र०; बु० लॉ० २, पृ० ११४, टि० २)।

यत्कृतकम्०—धर्मकीर्ति ने स्पष्टतः यह स्थापना की थी कि साधनवाक्य के दो ही अवयव होते हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता। व्याप्ति के साथ ही साधर्म्य या वैधर्म्य दृष्टान्त का निर्देश किया जाता है। तथा पक्षधर्मता में निगमन (=निर्णय) भी अन्तर्भूत हो जाता है। इसी हेतु यहाँ साधन-वाक्य के केवल दो ही अवयवों का निर्देश किया गया है। इस विषय का विशद निरूपण आगे (३.३४ टि०) किया जायेगा।

यद्यनयोर् इति—यदि इन दोनों साधर्म्यवत् और वैधर्म्यवत् (परार्थानुमान

नानयोरर्थतः कश्चिद् भेदः ॥६॥

नानयोरर्थत इति । अर्थः प्रयोजनम् । [1]यत् प्रयोजनं प्रकाशयितव्यं वस्तु [2]उद्दिश्यानुमाने प्रयुज्येते, ततः [3]प्रयोजनाद् अनयोर्न भेदः कश्चित् ।

त्रिरूपं हि लिङ्गं प्रकाशयितव्यम् । तद् उद्दिश्य द्वे अप्येते प्रयुज्येते । द्वाभ्याम् अपि त्रिरूपं लिङ्गं प्रकाश्यत एव । ततः प्रकाशयितव्यं प्रयोजनम् अनयोरभिन्नम् । तथा च न ततो भेदः कश्चित् ॥६॥

अभिधेयभेदोऽपि तर्हि न स्याद् ? इत्याह—

अन्यत्र प्रयोगभेदात् ॥७॥

अन्यत्र प्रयोगभेदादिति । प्रयोगोऽभिधानं वाचकत्वम् । वाचकत्वभेदाद् अन्यो भेदः प्रयोजनकृतो नास्ति, इत्यर्थः । एतद् उक्तं भवति । अन्यद् अभिधेयम् अन्यत् प्रकाश्यं प्रयोजनम् । तत्राभिधेयापक्षेया वाचकत्वं भिद्यते । प्रकाश्यं त्वभिन्नम् । अन्वये हि कथिते वक्ष्यमाणेन न्यायेन व्यतिरेकगतिर्भवति । व्यतिरेके

के) प्रयोगों का अभिधेय अर्थ भिन्न २ है तो इनके द्वारा एक समान ही त्रिरूप-सम्पन्न लिङ्ग को कैसे प्रकट किया जा सकता है ? यह बतलाते हैं—

इन दोनों प्रयोगों का प्रयोजन की दृष्टि से कोई भेद नहीं है ॥६॥

नानयोरर्थत इति। अर्थ = प्रयोजन । जिस प्रयोजन अर्थात् प्रकट करने योग्य वस्तु को लक्ष्य करके दोनों प्रकार के परार्थानुमानों का प्रयोग किया जाता है, उस प्रयोजन की दृष्टि से उन दोनों का कोई भेद नहीं है । वस्तुतः (हि) रूपत्रय-सम्पन्न लिङ्ग (हेतु) को प्रकट करना है, इसी प्रयोजन से इन दोनों का प्रयोग किया जाता है और दोनों के द्वारा त्रिरूप लिङ्ग प्रकट हो ही जाता है । इस प्रकार लिङ्ग को प्रकट करना (प्रकाशयितव्यम्) इन दोनों का समान ही प्रयोजन है और उस प्रयोजन की दृष्टि से (= ततः) इनमें कोई भेद नहीं है ॥६॥

अभिधेयं भिन्नम्—साधर्म्यवत् प्रयोग मे अन्वय और पक्षधर्मता दिखलाई जाती है, किन्तु वैधर्म्यवत् प्रयोग में व्यतिरेक और पक्षधर्मता दिखलाई जाती है ।

अर्थतः = प्रयोजनतः; यहाँ प्रयोजन का अर्थ है—साधनवाक्य का प्रवर्तक लिङ्ग-कथन । दोनों ही प्रयोगों से त्रिरूप-सम्पन्न लिङ्ग को प्रकट किया जाता है । इसलिये त्रिरूप लिङ्ग को प्रकट करना जो इनका प्रयोजन है, वह समान ही है और प्रयोजन की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं ।

अभिधेयभेदोऽपीति—इस प्रकार तो इन दोनों के अभिधेय (वाच्य) अर्थ में भी कोई भेद नहीं होना चाहिये ? इस पर कहते हैं—

प्रयोग के भेद के अतिरिक्त (इनमें कोई भेद नहीं है) ॥७॥

---

१. 'यत् प्रयोजनम्' नास्ति A.E.H.N.P. २. यदुद्दिश्या० A.E.H.N.P.
३. प्रयोजनानानयोर्भेदः B. D.

चान्वयगतिः । ततस्त्रिरूपं लिङ्गं प्रकाश्यम् अभिन्नम् । न च यत्राभिधेयभेदस्तत्र सामर्थ्यगम्योप्यर्थो भिद्यते । यस्मात् 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते', 'पीनो देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते'—इत्यनयोर्वाक्ययोरभिधेयभेदेऽपि गम्यमानम् एकम् एव । तद्वद् इहाभिधेयभेदेऽपि गम्यमानं वस्त्वेकम् एव ॥७॥

प्रयोग का अर्थ है--शब्दों द्वारा अर्थकथन; अर्थात् शब्दों की अर्थवाचकता। भाव यह है कि वाचकता के भेद के अतिरिक्त कोई प्रयोजन का भेद नहीं है। यह कहा जा सकता है—वाच्य अर्थ भिन्न होता है तथा प्रकाश्य (प्रतीयमान) जो प्रयोजन होता है वह अन्य ही होता है। यहाँ (साधर्म्यवत् तथा वैधर्म्यवत् अनुमानवाक्य में) वाच्य अर्थ के भेद से वाचक (शब्द) भिन्न-भिन्न हो जाते हैं; किन्तु उनका प्रकाश्य (=प्रयोजन) तो समान ही रहता है। क्योंकि अन्वय (सपक्ष-सत्त्वम्) का शब्दों द्वारा कथन करने पर आगे कहे जाने वाले न्याय से व्यतिरेक (विपक्षेऽसत्त्वम्) की प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार व्यतिरेक का कथन करने पर अन्वय की प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार त्रिरूप लिङ्ग— जिसे प्रकट किया जाता है—समान ही रहता है। और, जहाँ वाच्य अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं, वहां प्रतीयमान (=सामर्थ्यगम्य= अर्थापन्न implied तथा indicated) अर्थ भी भिन्न-भिन्न हों, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि 'देवदत्त मोटा है और दिन में नहीं खाता एवं 'देवदत्त मोटा है तथा रात्रि में खाता है'-- इन दोनों वाक्यों का अभिधेय (वाच्यार्थ) भिन्न-भिन्न होने पर भी इनका प्रतीयमान अर्थ एक ही है। इसी प्रकार यहाँ भी यद्यपि वाच्यार्थ का भेद है तथापि प्रतीयमान वस्तु एक ही है ॥७॥

वक्ष्यमाणेन न्यायेन—देखिये, न्यायविन्दु ३.२६.।

पीनो देवदत्तः०—यह मीमांसक के अनुसार अर्थापत्ति का उदाहरण है। "देवदत्त दिन में नहीं खाता किन्तु मोटा है"—यहाँ देवदत्त का मोटापन भोजन के विना अनुपपन्न है अतः अर्थापत्ति से रात्रि-भोजन की प्रतीति हो जाती है। इस अर्थापत्ति को मीमांसक ने पृथक् प्रमाण माना है। नैयायिक आदि के मत से इस प्रकार के उदाहरणों में अनुमान प्रमाण से ही अर्थ-प्रतीति हो जाती है; अतः अर्थापत्ति का अनुमान में ही अन्तर्भाव माना जाता है। योरोपीय तर्कशास्त्र में इस प्रकार के उदाहरणों का Immediate or apparent inference के अन्तर्गत निरूपण किया गया है (मि०, बु०, लॉ० २, पृ० ११५, टि० ६)। अर्थापत्ति के विषय में बौद्ध-न्याय का कथन है—यदि प्रमाण द्वारा ज्ञात अर्थ का परोक्ष अर्थ से कोई तादात्म्य या तदुत्पत्ति का सम्बन्ध है तब तो अर्थापत्ति से होने वाला ज्ञान अनुमान ही है और यदि सम्बन्ध नियत नहीं है तो वह ज्ञान प्रमाण ही नहीं (मो० तर्कभाषा, पृ० ६, ७)।

अभिधेयभेदेऽपि—प्रथम वाक्य का अभिधेय अर्थ है—'दिन में भोजन न करना और द्वितीय वाक्य का अभिधेय अर्थ है—रात्रि में भोजन करना। इस प्रकार दोनों वाक्यों के अभिधेय अर्थ भिन्न—२ हैं।

तत्र साधर्म्यवत् प्रयोगः[1]—यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते सोऽसद्व्यवहारविषयः सिद्धः । यथाऽन्यः कश्चिद् दृष्टः शशविषाणादिः । नोपलभ्यते च क्वचित् प्रदेशविशेष[2]उपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इत्यनुपलब्धि-प्रयोगः[3] ॥८॥

तत्रेति तयोः साधर्म्य-वैधर्म्यवतोरनुमानयोः साधर्म्यवत् तावद् [4]उदाहर-न्ननुपलब्धिम् आह— यद् इत्यादिना । यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तम्—यद् दृश्यं सन्नोपलभ्यते इत्यनेन दृश्यानुपलम्भोऽनूद्यते । सोऽसद्व्यवहारविषयः [5]सिद्धः—तद् असद् इति व्यवहर्तव्यम इत्यर्थः । अनेनासद्व्यवहारयोग्यत्वस्य विधिः कृतः । ततश्चासद् व्यवहारयोग्यत्वे[6] दृश्यानुपलम्भो नियतः कथितः । दृश्यम् अनुपलब्धम् असद्व्यवहारयोग्यम् एवेत्यर्थः ।

गम्यमानम् एकम्—'देवदत्त का मोटा होना भोजन का ही कार्य है' (भोजन-विशिष्टं देवदत्तस्य पीनत्वम्)—यह प्रकाश्य अर्थ है जो दोनों में एक ही है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १५४)। अथवा दिन में भोजन न करके मोटा होना, रात्रि-भोजन का ही कार्य है—यह प्रतीयमान अर्थ है जो दोनों में एक ही है (गम्यं दिवा भोजना-भावविशेषं पीनत्वं रात्रिभोजनकार्यम् एकमेव; धर्मो० प्र०, पृ० १५३ टि० २ ।

३. साधर्म्यवान् अनुपलब्धि हेतु का प्रयोग

तत्रेति—

उन (साधर्म्यवत तथा वैधर्म्यवत्) में साधर्म्यवित् प्रयोग है—

(व्याप्ति) जो पदार्थ उपलब्धि के योग्य होकर भी उपलब्ध नहीं होता वह अभाव-व्यवहार का विषय होता है; जैसे अन्य कोई प्रमाण से (अभाव-व्यवहार के योग्य) निश्चित किया गया शशविषाण आदि।

(पक्ष-धर्मता) किसी निश्चित प्रदेश में उपलब्धि के योग्य होकर भी घट उपलब्ध नही हो रहा है (अतः वह अभाव-व्यवहार का विषय है)—यह अनुपलब्धि का प्रयोग है ।।८।।

(तत्र=तयोः) उन दोनों साधर्म्यवत और वैधर्म्यवत् अनुमान में से साधर्म्यवत् का उदाहरण देते हुए प्रथमतः अनुपलब्धि (का प्रयोग) दिखलाते हैं— 'यद्' इत्यादि (वाक्य द्वारा)। जिस पदार्थ की उपलब्धि-जनक-सामग्री उपस्थित है; अर्थात् जो दर्शन के योग्य (=दृश्य) है, फिर भी उपलब्ध नहीं हो रहा है—इस कथन के द्वारा (=अनेन) दृश्यानुपलब्धि का अनुवाद किया गया है (अर्थात् दृश्यानुपलब्धि उद्देश्य है)। वह अभाव-व्यवहार का विषय होता है, इसका अर्थ है—'वह नहीं है' ऐसा व्यवहार करना चाहिये । इस (कथन) के द्वारा अभाव-व्यवहार की योग्यता का

---

१. 'प्रयोग.'—नास्ति B D.E N P
२. ०विषये C.
३ 'अनुपलब्धिप्रयोगः'—नास्ति B.D E.H.N.P.
४. उदाहरणमुदाहर्तुम् अनु० B.C.
५. सिद्धः'—नास्ति B C.D.
६. व्यवहारस्य योग्यत्वे A.B.E.H.N.P

साधनस्य च साध्येऽर्थे नियतत्वकथनं व्याप्तिकथनम् । यथोक्तम्—"व्याप्तिर्व्यापकस्य तत्र भाव एव, व्याप्यस्य वा[1] तत्रैव भावः" इति (हेतु०, पृ० ५३) । व्याप्तिसाधनस्य प्रमाणस्य विषयो दृष्टान्तः । तम् एव दर्शयितुम् आह—यथाऽन्य इति । साध्यधर्मिणोऽन्यो दृष्टान्त इत्यर्थः । दृष्ट इति प्रमाणेन निश्चितः । शशविषाणं हि न चक्षुषा विषयीकृतम्, अपि तु प्रमाणेन दृश्यानुपलम्भेनासद्व्यवहारयोग्यं विज्ञातम् । शशविषाणम् आदिर्यस्यासद्व्यवहारविषय-

---

विधान किया गया है (अर्थात् अभाव-व्यवहार की योग्यता विधेय है)। इस प्रकार अभाव-व्यवहार की योग्यता में दृश्यानुपलब्धि को व्याप्य (=नियत=अविनाभूत=अविनाभावी=प्रतिबद्ध) अर्थात् हेतु बतलाया गया है। भाव यह है कि जो वस्तु दर्शन के योग्य होती हुई भी उपलब्ध नहीं होती, वह अभाव-व्यवहार के योग्य है।

अनुपलब्धिम्—ऊपर कहा जा चुका है कि त्रिरूपसम्पन्न लिङ्ग तीन प्रकार का होता है—अनुपलब्धि, स्वभाव तथा कार्य। इनमें से प्रत्येक का साधर्म्यवत् तथा वैधर्म्यवत् प्रयोग हो सकता है। इस प्रकार हेतु या लिङ्ग ६ प्रकार के होते हैं। उनके उदाहरण क्रमशः आगे दिये जा रहे हैं।

उपलब्धिलक्षणप्राप्त=ज्ञानविषयभूत, दृश्य (द्र०, ऊपर २.१३)।

असद्व्यवहार=अभाव-व्यवहार, (i) यह नहीं है—ऐसा ज्ञान (ii) यह नहीं है ऐसा कथन और (iii) निशङ्क होकर गमनागमन रूप प्रवृत्ति।

अनूद्यते······विधिःकृतः—जिसको उद्देश्य किया जाता है, वह व्याप्य होता है जिसको विधेय किया जाता है, वह व्यापक होता है। अथवा कहिये कि व्याप्य को उद्देश्य करके व्यापक का विधान किया जाता है। व्याप्य (हेतु, लिङ्ग) ही व्यापक (साध्य) में नियत=अविनाभावी=प्रतिबद्ध होता है (धर्मो० प्र०, पृ० १५५) (यहाँ दृश्यानुपलब्धि ही व्याप्य है तथा अभाव-व्यवहार की योग्यता व्यापक है। जिस दृश्य पदार्थ की अनुपलब्धि होती है वह अभावव्यवहार के योग्य होता है—यह व्याप्ति है।

साधनस्य चेति—साधन (लिङ्ग, हेतु) का साध्य वस्तु में नियत सम्बन्ध (अविनाभाव) दिखलाना व्याप्ति-कथन ही है; जैसा कि कहा गया है (हेतुबिन्दु, पृ० ५३)—"व्यापक (साध्य) का वहाँ जहाँ व्याप्य है) निश्चित रूप से रहना तथा व्याप्य (साधन) का केवल वहीं (जहाँ व्यापक है) रहना—व्याप्ति है"। व्याप्ति को सिद्ध करने वाले प्रमाण (=साधन) का विषय (Sphere, क्षेत्र) दृष्टान्त है। उस (दृष्टान्त) को दिखलाने के लिये कहा गया है—यथाऽन्य इत्यादि। इसका अर्थ है—साध्यधर्मी (=पक्ष) से भिन्न; अर्थात् दृष्टान्त। (दृष्टान्त शब्द में) 'दृष्ट' शब्द का अर्थ है—प्रमाण द्वारा निश्चित किया गया। क्योंकि शशविषाण (=खरगोश के सींग) को चक्षु के द्वारा नहीं देखा गया है अपि तु दृश्यानुपलब्धि रूप प्रमाण-द्वारा यह निश्चित किया गया है कि वह अभाव-व्यवहार के योग्य है (अर्थात् हम कह सकते हैं कि वह नहीं है)।

---

१. व्याप्तिर्व्या० A. २. च B.C.D.E.H.N.P.

स्य स तथोक्तः। शशविषाणादौ हि दृश्यानुपलम्भमात्रनिमित्तोऽसदव्यवहारः प्रमाणेन सिद्धः। तत एव[३] प्रमाणाद् अनेन वाक्येनाभिधीयमाना व्याप्तिर्ज्ञातव्या।

जिस अभाव-व्यवहार के विषय के आदि में शशविषाण है, वह उस प्रकार का (शशविषाणादि) कहा गया है। दृश्य होकर भी उपलब्ध न होने के कारण ही (=मात्र) शशविषाण आदि में अभाव-व्यवहार (दृश्यानुपलब्धि रूप) अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है। उसी (अनुमान) प्रमाण से इस वाक्य द्वारा बतलाई गई व्याप्ति को ज़ानना चाहिये।

व्याप्ति-कथनम्—साधन-वाक्य में बौद्धन्याय की दृष्टि से दो अवयव बतलाने होते हैं— व्याप्ति और पक्षधर्मता। न्यायबिन्दु में "यदुपलब्धि···शशविषणादिः।" इस वाक्य द्वारा व्याप्ति दिखलाई गई है।

व्याप्तिः०—व्याप्ति का यह लक्षण व्यापक (अग्नि आदि) और व्याप्य (धूम आदि) दोनों की दृष्टि से किया गया है; क्योंकि व्याप्ति—व्याप्य तथा व्यापक-दोनों का धर्म होती है (व्याप्यव्यापकधर्मलक्षणा व्याप्तिः—धर्मो० प्र०, पृ० १५५)। जब व्याप्ति को व्यापक का धर्म बतलाना हो तो व्याप्ति का स्वरूप होगा—व्यापकस्य तत्र भाव एव=जिस धर्मी में व्याप्य रहता है वहाँ व्यापक का अवश्य होना (सपक्षे एव सत्त्वम्) इसे ही अन्वय कहा जाता है। जब व्याप्ति को व्याप्य का धर्म बतलाना हो तो व्याप्ति का स्वरूप होगा—व्याप्यस्य तत्रैव भावः जिस धर्मी में व्यापक है उसमें ही व्याप्य का होना, व्यापक के अभाव में कहीं भी न होना (विपक्षे असत्त्वम् एव)। इसे ही व्यतिरेक कहा जाता है (मि०, हेतुबिन्दुटीका पृ० १७–१८)।

दृष्टान्त०—"व्याप्ति को सिद्ध करने वाले प्रमाण का विषय दृष्टान्त कहलाता है"। जिस स्थल पर व्याप्ति की सिद्धि हो चुकी होती है, वही दृष्टान्त दिया जाता है। 'दृष्टान्त' शब्द में दृष्ट=निश्चित। इस प्रकार 'दृष्टान्त' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–दृष्टः निश्चितः साध्यसाधनयोः अन्तः अवसानं (=यथायोगं नियतत्व-नियमविषयत्वनिपुणः) यस्मिन् सः। यह दृष्टान्त साधन के अवयव व्याप्ति-ज्ञान का निमित्त होता है, साधन का साक्षात् निमित्त नहीं होता, न साध्य-सिद्धि का निमित्त ही होता है। यह व्याप्ति का स्मरण कराता है इसलिये इसका साधन-वाक्य में प्रयोग किया जाता है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १५६)।

दृष्टः=प्रमाणेन निश्चितः; यहाँ दृष्ट शब्द का अर्थ है—किसी प्रमाण द्वारा निश्चित। यदि दृष्ट शब्द का अर्थ—'चक्षु द्वारा देखा गया' किया जाये तो शशविषाण आदि को दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि शश-विषाण को तो चक्षु द्वारा देखा नहीं जा सकता किन्तु दृश्यानुपलब्धि नामक अनुमान प्रमाण द्वारा उसके अभाव का निश्चय किया जाता है। प्रमाण=सम्यक् ज्ञान का साधन।

तत एव······ज्ञातव्या—'यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते सोऽसद्-व्यवहारविषयः सिद्धः'—इस वाक्य के द्वारा (=अनेन) न्यायबिन्दु में व्याप्ति-कथन किया गया है। इसमें 'यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते' (=दृश्यानुपलब्धि) —यह हेतु कथन है तथा 'सोऽसद्व्यवहार–विषयः सिद्धः'—यह साध्य का

३. 'एव'–नास्ति C.

सम्प्रति व्याप्तिं कथयित्वा दृश्यानुपलम्भस्य पक्षधर्मत्वं दर्शयितुम् आह—नोपलभ्यते चेति । प्रदेश एकदेशः पृथिव्याः । स एव विशिष्यतेऽन्यस्माद् इति विशेषः एकः । प्रदेशविशेष इत्येकस्मिन् प्रदेशे । क्वचिद् इति—प्रतिपत्तुः प्रत्यक्ष[1] एकोऽपि प्रदेशः । स एवाभावव्यवहाराधिकरणं यः प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षो नान्यः । उपलब्धिलक्षणप्राप्त इति दृश्यः । यथा चासतोऽपि घटस्य समारोपितम् उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं तथा व्याख्यातम् ।।८।।

कथन है । इस प्रकार यह व्याप्ति होती है—जहाँ दृश्यानुपलब्धि है वहाँ अभाव-व्यवहार की योग्यता है । इस व्याप्ति की सिद्धि अनुमान प्रमाण द्वारा होती है (तत एव प्रमाणात् = अनुमानात्मनः प्रमाणात्, धर्मो० प्र०, पृ० १५६) । अनुमान का प्रयोग है—यच्च यन्मात्रनिमित्तं तत् तस्मिन् सति भवति, यथा बीजादिसामग्रीमात्रनिमित्तोऽङ्कुरः; दृश्यानुपलम्भमात्रनिमित्तश्चासद्व्यवहारः । (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १५६) ।

सम्प्रतीति—अब, व्याप्ति का कथन करके दृश्यानुपलब्धि की पक्षधर्मता दिखलाने के लिये कहा गया है—नोपलभ्यते चेति (= उपलब्ध नहीं होता है) । प्रदेश का अर्थ है—पृथिवी का एक स्थल । वह अन्य प्रदेशों से भिन्न है इसलिये वह विशेष है, अर्थात् एक प्रदेश । प्रदेश-विशेषे = एक स्थल में । क्वचित् (= कहीं) का अभिप्राय है—ज्ञाता का प्रत्यक्ष कोई प्रदेश । वही प्रदेश अभाव के व्यवहार का आधार होता है, जिसका ज्ञाता को प्रत्यक्ष होता है. अन्य नहीं । उपलब्धिलक्षणप्राप्त का अर्थ है—दृश्य = दर्शनयोग्य (जिसके उपलब्ध होने की सम्भावना की जा सकती है) । अविद्यमान घट में भी किस प्रकार दृश्य होने का समारोप किया जाता है, यह (ऊपर २.१२,२८) विवेचन किया जा चुका है ।।८।।

स एवाभाव-व्यवहाराधिकरणं यः प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षः, नान्यः—भाव यह है कि जिस स्थल पर किसी वस्तु के अभाव का व्यवहार करना होता है, वह स्थल ज्ञाता के प्रत्यक्ष का विषय होना चाहिये । तभी उसमें किसी वस्तु के दृश्य होने की सम्भावना की जाती है तथा दृश्य की अनुपलब्धि से उसका निश्चय किया जाता है ।

शशशृङ्ग, आकाशकुसुम, वन्ध्यापुत्र आदि वस्तुतः मिथ्या ही हैं । उनके अभाव का घट आदि के अभाव से अन्तर है, क्योंकि उनका तो सर्वथा अभाव है, घट आदि का तो सर्वथा अभाव नहीं होता । फिर भी शशशृङ्ग आदि की दृश्यता का आरोप करके ही उनके अभाव का निश्चय दृश्यानुपलब्धि से किया जाता है । उनका अभाव भी शून्यमात्र या तुच्छ नहीं है, अपि तु जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है—एकज्ञानसंसर्गी वस्तु और उसका ज्ञान ही उनका अभाव है, अर्थात् जहाँ यह सम्भावना की जा सकती है—यदि यहाँ शशशृङ्ग होता तो दृश्य होता' वहीं शशशृङ्ग के अभाव का निश्चय होता है । इस प्रकार अभाव निषेधात्मक या तुच्छ नहीं है । न ही नैयायिक

---

१. प्रत्यक्षें । एको० C.D.E.N.

स्वभावहेतोः साधर्म्यवन्तं प्रयोगं दर्शयितुम् आह—

तथा स्वभावहेतोः प्रयोगः–यत् सत् तत् सर्वम् अनित्यम्, यथा घटादिरिति शुद्धस्य[1] स्वभावहेतोः प्रयोगः ॥९॥

आदि के समान यह कोई पदार्थान्तर ही है। फिर भी ज्ञाता द्वारा प्रत्यक्षीकृत किसी स्थल में दृश्यानुपलब्धि से अभाव का व्यवहार किया जाता है अतः इस अभाव का व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्व है ही।

व्याख्यातम्—न्यायविन्दु टीका परि० २ सूत्र १२ तथा २८।

४. साधर्म्यवान् स्वभावहेतु का प्रयोग

स्वभावहेतु के साधर्म्यवान् प्रयोग को दिखलाते हुए कहा है—

उसी प्रकार स्वभावहेतु का प्रयोग होता है—जो सत् (विद्यमान) है, वह सब अनित्य (क्षणिक) है; जैसे घट इत्यादि। यह शुद्ध (=विशेषणरहित) स्वभावहेतु का प्रयोग है ॥९॥

यत् सत्—बौद्ध दर्शन के विविध सम्प्रदायों में सत्ता की परिभाषा भिन्न २ प्रकार से की गई है। सर्वास्तिवादी इत्यादि हीनयानी सम्प्रदाय के अनुसार सत् (धर्म) वह है जो धर्म-स्वभाव को धारण करता है (स्व–स्वभावधारणाद् धर्मः)। इसमें विश्व का अनेकतावादी (Pluralistic) दृष्टिकोण है। माध्यमिक के अनुसार अनपेक्ष पदार्थ ही परमार्थसत् है। इसमें विश्व का एकत्ववादी (monistic) दृष्टिकोण है। सौत्रान्तिक, योगाचार और बौद्धन्याय के अनुसार सत्ता की परिभाषा है–अर्थक्रिया-कारिता। क्योंकि वस्तु का एक क्षण ही अर्थक्रियाकारी होता है, उदाहरणार्थ बीज का समर्थ क्षणं ही अङ्कुर को उत्पन्न करता है, इसलिये सत्ता क्षणिक वस्तु में ही रहती है; अक्षणिक या स्थिर वस्तु में अर्थक्रियाकारिता - सत्ता नहीं होती। यहाँ अनित्य = क्षणिकम् (मि०, इ० लॉ० २, पृ० १३० टि० ६)। इस क्षणिकवाद का बौद्धदर्शन के ग्रन्थों में विशद निरूपण किया गया है—(द्र०—ज्ञानश्रीनिबन्धावलि-क्षणभङ्गाध्याय, रत्नकीर्ति–क्षणभङ्गसिद्धि) न्याय आदि के ग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में इसकी स्थापना करके खण्डन भी किया गया है (द्र० न्यायकणिका, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, न्यायमञ्जरी तथा आत्मतत्त्वविवेक इत्यादि)।

यथा घटादिः—घट आदि अनित्य = क्षणिक हैं—यह कथन सहज बुद्धि से अद्भुत सा प्रतीत होता है। लौकिक धारणा के अनुसार तथा न्याय-वैशेषिक आदि के दृष्टिकोण से तो ऐसा लगता है कि घट आदि तब तक स्थिर ही रहते हैं जब तक मुद्गर आदि से उनका ध्वंस न कर दिया जाये। किन्तु बौद्ध दर्शन के ग्रन्थों में पैने तर्कों और प्रबल युक्तियों से यह सिद्ध किया गया है कि घट आदि क्षणध्वंसी हैं, नित्य नहीं। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में धर्मकीर्ति के प्रमाण–विनिश्चय के आधार पर इस विषय का विशद विवेचन किया है। वे युक्तियां पाश्चात्य दार्शनिक रसल (B.

---

१. शुद्धस्वभावस्य प्रयोगः C.

तथेति । यथाऽनुपलब्धेस्तथा स्वभावहेतोः साधर्म्यवान् प्रयोग इत्यर्थः । यत् सद् इति सत्त्वम् अनूद्य तत् सर्वम् अनित्यम् इत्यनित्यत्वं विधीयते । सर्वग्रहणं च नियमार्थम् । सर्वम् अनित्यम् । न किञ्चिन्नानित्यम् । यत् सत् तद् अनित्यम् एव । अनित्यत्वाद् अन्यत्र नित्यत्वे सत्त्वं नास्ति-इत्येवं सत्त्वम् अनित्यत्वे साध्ये नियतं व्यापितं भवति । तथा च सति व्याप्तिप्रदर्शनवाक्यम् इदम् । यथा घटादिरिति व्याप्तिसाधनस्य[1] प्रमाणस्य विषयकथनम् एतत् । शुद्धस्येति निर्विशेषणस्य स्वभावस्य प्रयोगः[2] ॥९॥

Russel, Mysticism, P. 184 ff)की युक्तियों से अधिकांश में समानता रखती हैं। भाव यह है कि घट आदि में प्रत्येक क्षण अदृश्य रूप से उत्पत्ति तथा विनाश (परिवर्तन) होता रहता है। घट आदि में स्थिरता की प्रतीति तो भ्रान्ति है। यहाँ सर्वदर्शन-संग्रह में "जलदपटल" को दृष्टान्त के रूप में रक्खा गया है। (मि०, बु० ला० २, पृ० १२१ टि० १)।

सर्वम् अनित्यम्—Rgyal-thsab (f 1. 34) ने 'सर्वं सत्' का अनुवाद किया है—dnos—par—yod—pa = वस्तुतः सत् । इससे प्रकट होता है कि यहाँ स्वलक्षण (परमार्थसत् वस्तु) को ही पक्ष बनाया गया है। बु०, लॉ० २, पृ० १२१ टि० १)।

तथेति । जैसे अनुपलब्धि का साधर्म्यवान् प्रयोग होता है, उसी प्रकार स्वभाव-हेतु का भी—यह अर्थ है। 'यत् सत्' इत्यादि में 'सत्ता' को उद्देश्य करके (= अनूद्य = अनुवाद करके) 'वह सब अनित्य है'—इस (वाक्यांश) से अनित्यता का विधान किया गया है (अर्थात् यहाँ 'सत्' = विद्यमान वस्तु, पक्ष है तथा अनित्यता साध्य है) 'सर्व' शब्द का ग्रहण नियम के लिये किया गया है। सब ही अनित्य है। ऐसी कोई चीज नहीं है जो अनित्य न हो। जो सत् = विद्यमान है, वह अवश्य ही अनित्य है (—अन्वय)। अनित्य से भिन्न अर्थात् नित्य में सत्ता ही नहीं है (—व्यतिरेक)। अतः यह निरूपित किया गया है (= व्यापितं भवति) कि अनित्यत्व साध्य में सत्त्व (= सत्ता) नियत (= व्याप्य = प्रतिबद्ध = अविनाभावी necessarily dependent) अर्थात् हेतु है। इस प्रकार यह (यत् सत् तद् अनित्यम्) व्याप्ति को दिखलाने वाला वाक्य है। जैसे घट आदि—यह व्याप्ति-ज्ञान के साधन प्रमाण के विषय (= दृष्टान्त) का कथन है। शुद्ध अर्थात् विशेषणरहित स्वभावहेतु का (यह) प्रयोग है ॥९॥

नियमार्थम्—यहाँ श्चेरबात्स्की के अनुसार नियम का अर्थ है—अवधारण (emphasis)। भाव यह है कि सभी अनित्य है। दुर्वेक मिश्र के अनुसार—'साधन या हेतु साध्य के अधीन होता है'—यह नियम है (साधनस्य साध्यायत्तताख्यो यो नियमः, धर्मो० प्र०, पृ० १५९)। इस प्रकार नियम = प्रतिबन्ध = व्याप्ति। इस व्याप्ति को न्यायबिन्दुटीका में स्पष्ट किया गया है।

---

१. व्याप्तिसाधकस्य T. २. प्रयोगस्य विशेषणं दर्श० B.

सविशेषणं दर्शयितुम् आह—

यद् उत्पत्तिमत् तद् अनित्यम् इति स्वभावभूतधर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोगः ॥१०॥

यदुत्पत्तिमदिति। उत्पत्तिः स्वरूपलाभो[1] यस्यास्ति तद् उत्पत्तिमत्। 'उत्पत्तिमत्त्वम् अनूद्य तद् अनित्यम् इत्यनित्यत्वविधिः[2]'। तथा च सत्युत्पत्तिमत्त्वम् अनित्यत्वे नियतम् आख्यातम्।

तथा च सति—नियतत्व और नियमविषयत्व का कथन कर देने पर (मि० धर्मो० प्र०, पृ० १५७)। यहाँ समस्त वस्तुओं की सत्ता ही नियतप्रतिबद्ध या व्याप्य है तथा अनित्यता (=क्षणिकता) ही नियम का विषय—प्रतिबन्ध का विषय= व्यापक है। जो सत् है वह क्षणिक होता है—यह व्याप्ति है।

व्याप्तिसाधनस्य प्रमाणस्य—बौद्ध दर्शन की युक्ति है कि स्थिर पदार्थ अपने द्वारा होने वाली अर्थक्रियाओं को न तो क्रमशः (एक-एक करके) ही कर सकता है न युगपत् (सबको एक साथ) ही, अतः उसकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती; क्योंकि सत्ता=अर्थक्रियाकारिता। इस प्रकार अनुमान (व्यापकानुलब्धि) द्वारा यह सिद्ध होता है कि जो सत् है, वह क्षणिक है। यहाँ अनुमान ही व्याप्ति-साधक प्रमाण है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १५७)।

सविशेषणम् इति—(स्वभाव हेतु के) विशेषणयुक्त प्रयोग को दिखलाते हुए कहा है—

'जो उत्पत्तिमान् है, वह अनित्य है'—यह वस्तुतः अभिन्न (स्वभाव-भूत) धर्म को भिन्न मानकर स्वभाव-हेतु का प्रयोग किया जाता है ॥१०॥

यदुत्पत्तिमदिति। उत्पत्ति=स्वरूप की प्राप्ति, यह जिसको होती है, वह उत्पत्तिमान् कहलाता है। यहाँ उत्पत्तिमत्ता को उद्देश्य करके 'वह अनित्य है—इन शब्दों से अनित्यत्व (साध्य) का विधान किया गया है (विधिः)। इस प्रकार उत्पत्ति-मत्त्व (=उत्पन्न होना) अनित्यता का व्याप्य (नियत) है—यह दिखलाया गया है।

स्वभावभूतधर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोगः—स्वभाव शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है—१. स्वभावप्रतिबन्ध=अपनी सत्ता के लिये पराधीन होना (स्वस्य भावः सत्ता=स्वभावः)। २. स्वभावहेतु=ऐसा हेतु जो साध्य का स्वभाव मात्र होता है, उससे भिन्न नहीं (स्वभाव=तद्रूप=तदात्मक)। ३. स्वभावविशेष (१·१५)=वस्तु का स्वरूप, व्यक्तित्व। 'स्वभावभूत'—शब्द में 'स्वभाव' शब्द दूसरे अर्थ (=तदात्मक) में प्रयुक्त हुआ है।

स्वभावहेतु साधर्म्य और वैधर्म्य भेद से दो प्रकार का होता है। साधर्म्यवान् स्वभावहेतु भी प्रथमतः दो प्रकार का है—शुद्ध और विशिष्ट स्वभाव हेतु। सूत्र ३·९ में शुद्ध स्वभावहेतु का साधर्म्यवान् प्रयोग दिखलाया गया है।

---

१. ०लाभः स यस्यास्ति B. २. यदुत्पत्तिमदिति उत्पत्ति० A.
३. ०विधे A.H.P.

स्वभावभूतः[1] 'स्वभावात्मको धर्मः । तस्य भेदेन । भेदं हेतूकृत्य प्रयोगः । अनुत्पन्नेभ्यो हि व्यावृत्तिम् आश्रित्योत्पन्नो भाव[3] इत्युच्यते । सैव व्यावृत्ति-र्यदा व्यावृत्त्यन्तरनिरपेक्षा वक्तुम् इष्यते तदा व्यतिरेकिणीव निर्दिश्यते—भावस्य उत्पत्तिरिति । तया च व्यतिरिक्तयेवोत्पत्त्या विशिष्टं[4] वस्तु उत्पत्तिमद् उक्तम् । तेन स्वभावभूतेन धर्मेण कल्पितभेदेन विशिष्टः स्वभावः प्रयुक्तो द्रष्टव्यः ॥१०॥

विशिष्ट स्वभावहेतु के भी दो भेद हैं—एक तो अव्यतिरिक्त (तद्रूप) विशेषण से विशिष्ट और दूसरा व्यतिरिक्त (भिन्न) विशेषण से विशिष्ट । इनमें से प्रथम का साधर्म्यवान् प्रयोग सूत्र १० में तथा द्वितीय का सूत्र ११ में दिखलाया जा रहा है ।

स्वभावभूत इति—'स्वभावभूत' का अर्थ है—तदात्मक धर्म = वस्तुतः अभिन्न विशेषण । उसके भेद से, अर्थात् उसके कल्पित भेद को निमित्त बनाकर स्वभावहेतु का प्रयोग यह है । उत्पन्न न होने वाली वस्तुओं से भेद (= व्यावृत्ति) मानकर किसी पदार्थ को उत्पन्न होने वाला कहा जाता है । उस भेद (व्यावृत्ति) को जब अन्य किसी भिन्नता (महत्त्व आदि) की अपेक्षा किये बिना ही कहना अभीष्ट होता है तब (उत्पत्ति) उस पदार्थ से भिन्न सी निर्दिष्ट कर दी जाती है—जैसे भाव की उत्पत्ति । उस भिन्न सी प्रतीत होने वाली उत्पत्ति से विशिष्ट वस्तु को 'उत्पत्तिमत्' (उत्पत्ति वाली) कहा गया है । इस प्रकार जो स्वभावात्मक (तद्रूप = वस्तुतः अभिन्न) है किन्तु जिसमें भेद की कल्पना कर ली गई है, उस धर्म से विशिष्ट स्वभावहेतु का प्रयोग समझना चाहिये ॥१०॥

स्वभावभूतेन धर्मेण कल्पितभेदेन—जो धर्म वस्तुतः धर्मी का स्वभाव मात्र है, परमार्थतः वस्तु से भिन्न नहीं है, किन्तु विकल्प प्रत्यय के द्वारा उसे भिन्न मान लिया गया है; जैसे—'जो उत्पत्ति वाला है, वह अनित्य है' यहाँ उत्पत्ति ऐसा ही धर्म है । बौद्धों के सिद्धान्त के अनुसार वस्तुतः उत्पन्न होने वाली वस्तु से उत्पत्ति भिन्न नहीं होती; क्योंकि क्षणिक घट आदि का स्वरूप को प्राप्त करना ही उत्पत्ति है जो घट आदि से भिन्न नहीं है । किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उत्पत्ति को उत्पन्न होने वाले से भिन्न माना जाता है, अतः उत्पत्ति से विशिष्ट को 'उत्पत्तिमान्' कहा जाता है । इस व्यावहारिक बुद्धि का आधार यह है कि जो आकाश आदि उत्पन्न नहीं होते उनसे उत्पन्न होने वाला घट आदि भिन्न (व्यावृत्त) है, इसलिये 'घट उत्पन्न होता है' इस प्रकार का प्रयोग किया जाता है । यद्यपि आकाश और घट आदि में महत्त्व आदि परिमाण का भी भेद है तथापि यदि हम उन भेदों का ध्यान न रखकर केवल उत्पत्ति का भेद ही दिखलाना चाहते हैं तो 'घट की उत्पत्ति' (अस्य उत्पत्तिः) इत्यादि कह देते हैं । संक्षेप में जब घट आदि को उत्पन्न न होने वाले आकाश आदि से भिन्न

---

१. स्वभाव भूतः T. २. तदात्मको T.
३. भाव उच्यते A.B.D.E.H.N.P. ४. विशिष्टं च C.

यत् कृतकं तद् अनित्यम् इत्युपाधिभेदेन ॥११॥

यत् कृतकम् इति कृतकत्वम् अनूद्य अनित्यत्वं विधीयत इति 'अनित्यत्वे नियतं कृतकत्वम् उक्तम् । अतो व्याप्तिरनित्यत्वेन कृतकत्वस्य दर्शिता । उपाधिभेदेन स्वभावस्य प्रयोग इति सम्बन्धः । उपाधिर्विशेषणम् । तस्य भेदेन भिन्नेनोपाधिना विशिष्टः स्वभावः प्रयुक्त इत्यर्थः ।

इह कदाचिद् शुद्ध एवार्थं उच्यते, कदाचिद् अव्यतिरिक्तेन विशेषणेन विशिष्टः कदाचिद् व्यतिरिक्तेन । देवदत्त इति शुद्धः, लम्बकर्ण इत्यभिन्न-

---

कहना होता है तो 'उत्पन्नो घटः' इस प्रकार का कथन किया जाता है; जब घट की आकाश आदि से केवल उत्पन्न होने (उत्पत्तिमात्र) की व्यावृत्ति दिखलानी होती है तब 'घटस्य उत्पत्तिः' यह प्रयोग किया जाता है । इस प्रकार घट आदि से उत्पत्ति वस्तुतः भिन्न नहीं है, घट का स्वभाव ही है किन्तु उसे भिन्न मान लिया गया है अतः 'जो उत्पत्ति वाला है, वह अनित्य है'—यह स्वभावहेतु का प्रयोग अव्यतिरिक्त विशेषण से विशिष्ट है ।

यत् कृतकम् इति—

"जो कार्य होता है, वह अनित्य होता है"—यह (स्वभावहेतु का) भिन्न विशेषण से (विशिष्ट) प्रयोग है ॥११॥

'यत् कृतकम्' इत्यादि में कृतकत्व (कार्यत्व) को उद्देश्य करके अनित्यता का विधान किया गया है, इस प्रकार अनित्यता में कृतकत्व को व्याप्य (=नियत=प्रतिबद्ध=अविनाभावी) कह दिया गया है तथा अनित्यता के साथ कृतकत्व की व्याप्ति दिखला दी गई है । उपाधि के भेद से स्वभावहेतु का प्रयोग है—यह अन्वय है । उपाधि का अर्थ है—विशेषण । उसके भेद से अर्थात् भिन्न विशेषण से युक्त स्वभाव हेतु का यह प्रयोग किया गया है—यह अर्थ है ।

उपाधिभेदेन—अव्यतिरिक्त विशेषण से विशिष्ट स्वभावहेतु का प्रयोग सूत्र १० में दिखलाया जा चुका है । भिन्न या व्यतिरिक्त विशेषण से विशिष्ट स्वभावहेतु का प्रयोग है—"जो कार्य है, वह अनित्य होता है ।" यहाँ कारणों के द्वारा किया जाना (=कृतकत्व=कार्यत्व) हेतु है । इसमें वस्तु के स्वभाव से भिन्न 'कारण-व्यापार की अपेक्षा' की प्रतीति हो रही है । यही 'कारण-व्यापार की अपेक्षा' यहाँ उपाधि या विशेषण है ।

इह कदाचिद् इति—यहाँ कभी तो (१) शुद्ध (विशेषण रहित) अर्थ को कहा जाता है, (२) कभी ऐसे विशेषण से युक्त, जो कि (उस पदार्थ से) अभिन्न है और (३) कभी भिन्न विशेषण से युक्त, जैसे (१) 'देवदत्त'—यह विशेषण रहित है, (२) 'लम्बे कानों वाला (देवदत्त)—यह (देवदत्त से) अभिन्न दो कानों से विशिष्ट है और (३) 'कबरी गायों वाला' (देवदत्त)—यहाँ (देवदत्त से) भिन्न कबरी गायों से विशिष्ट

---

१. अनियतत्वे A.

कर्णद्वयविशिष्टः, चित्रगुरिति व्यतिरिक्तचित्रगवीविशिष्टः । तद्वत् सत्त्वं शुद्धम्, उत्पत्तिमत्त्वम् अव्यतिरिक्तविशेषणम्, कृतकत्वं व्यतिरिक्तविशेषणम् ॥११॥

ननु च चित्रगुशब्दे व्यतिरिक्तस्य विशेषणस्य वाचकश्चित्रशब्दो गोशब्दश्चास्ति । कृतकशब्दे तु निर्विशेपणवाचिनः शब्दस्य प्रयोगोऽस्तीत्याशङ्क्याह—

अपेक्षितव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इति ॥१२॥

(देवदत्त का कथन किया जाता है)। इसी प्रकार 'सत्त्व'—शुद्ध (स्वभावहेतु है), उत्पत्तिमान् होना—अभिन्न विशेषण से युक्त तथा कार्य होना—यह भिन्न विशेषण से युक्त (स्वभावहेतु) है ॥११॥

इह—यहाँ परार्थानुमान में; उस शब्द-प्रयोग में जो दूसरों को बोध कराने के लिये किया जाता है (परप्रतिपादनार्थे शब्दप्रयोगे, धर्मो० प्र०, पृ० १५८)। 'देवदत्तः' इत्यादि उदाहरण द्वारा लोक-व्यवहार में १. शुद्ध, २. अभिन्न-विशेषण-विशिष्ट तथा ३. भिन्न विशेषण-विशिष्ट तीन प्रकार का शब्द-प्रयोग दिखलाया गया है। इसी प्रकार 'तद्वत्' इत्यादि वाक्य से साधर्म्यवान् स्वभावहेतु का क्रमशः तीन प्रकार का प्रयोग दिखलाया गया है।

चित्रगुः—चित्रा गौः यस्य = चीती (कबरी) है गाय जिसकी।

चित्रगवीविशिष्टः—चित्रा चासौ गौश्च तया विशिष्टः = चीती गाय से विशिष्ट।

अव्यतिरिक्तविशेषणम्—अव्यतिरिक्तं विशेषणं यत्र तत् (बहुव्रीहि) = अभिन्न विशेषण से विशिष्ट। इसी प्रकार व्यतिरिक्तविशेषणम् = भिन्न विशेषण से विशिष्ट।

ननु चेति—(शङ्का) (उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये गये) 'चित्रगु' शब्द में तो भिन्न विशेषण का वाचक 'चित्र' शब्द तथा 'गो' शब्द है किन्तु 'कृतक' शब्द में तो विशेषण रहित शब्द का प्रयोग किया गया है (फिर यह विशेषणयुक्त स्वभावहेतु को कैसे प्रकट कर सकता है)—यह आशङ्का करके कहते हैं—

क्योंकि वह पदार्थ कृतक कहलाता है, जो अपने स्वरूप की सिद्धि के लिये दूसरों (= कारणों) के व्यापार की अपेक्षा रखता है ॥१२॥

ननु च—शङ्का का आशय यह है कि 'कृतक' शब्द के प्रयोग की 'चित्रगु' शब्द के प्रयोग से समता नहीं। 'चित्रगु' शब्द में तो शब्दों द्वारा व्यतिरिक्त विशेषण का कथन है किन्तु 'कृतक' शब्द में तो कोई विशेषणवाचक शब्द नहीं।

अपेक्षितव्यापारो०—इत्यादि समाधान का अभिप्राय यह है—जो पदार्थ अपने स्वरूप की सिद्धि के लिये कारणों के व्यापार की अपेक्षा रखता है, वह कृतक कहलाता है। इस प्रकार 'कृतक' शब्द द्वारा कारण-व्यापार की अपेक्षा रखने वाले पदार्थ का बोध हो जाता है। अतः यहाँ व्यतिरिक्त विशेषण का 'कृतक' शब्द में ही

अपेक्षितेति । परेषां=कारणानां व्यापारः, स्वभावस्य निष्पत्तौ=निष्पत्त्यर्थम्, अपेक्षितः परव्यापारो येन स तथोक्तः । हीति यस्मादर्थे । यस्माद् अपेक्षितपरव्यापारः कृतक उच्यते तस्माद् व्यतिरिक्तेन विशेषणेन विशिष्टः स्वभाव उच्यते । यद्यपि व्यतिरिक्तं विशेषणपदं न[1] प्रयुक्तं तथापि कृतकशब्देनैव व्यतिरिक्तं विशेषणपदम्[2] अन्तर्भावितम् । अत एव संज्ञाप्रकारोऽयं कृतकशब्दो यस्मात् संज्ञायाम् अयं कन् प्रत्ययो विहितः । यत्र च विशेषणम् अन्तर्भाव्यते तत्र विशेषणपदं न प्रयुज्यते ।

अन्तर्भाव हो गया है । मि०, स्वभावनिष्पत्तौअपेक्षितव्यापारभावो हि कृतकः । तेनेयं कृतकश्रुतिः स्वभावाभिधायिन्यपि परोपाधिम् आक्षिपति । प्र० वा० स्वो०, पृ० ३४८ ।

यहाँ विनीतदेव ने शङ्का और समाधान निम्न प्रकार से किया है—(शङ्का) 'कृतक' शब्द में तो विशेषण साक्षात् दिखलाई नहीं देता । (समाधान) यहाँ पर शब्द से नहीं कहा गया किन्तु गम्यमान (understood) है । (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १२४, टि० ३) ।

स्वभावनिष्पत्तौ—अपने स्वरूप की सिद्धि के लिये । यहाँ 'स्वभाव' शब्द स्वभावविशेष (स्वरूप) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (द्र०, सूत्र २.१५) ।

कृतक—यह 'कृतक' शब्द हीनयान सम्प्रदाय के 'संस्कृत' (कारणैः संस्कारैः सम्भूय कृतम्) शब्द का समानार्थक है । उसके अनुसार धर्म दो प्रकार के हैं—संस्कृत और असंस्कृत । किन्तु महायान तथा सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में परमार्थसत्ता (Reality) की परिभाषा बदल गई है । उनके यहाँ असंस्कृत धर्म की पृथक् वस्तुसत्ता नहीं है, (द्र०, बु० लॉ० २, पृ० १२५ टि० ६) ।

उपेक्षित इति । पर अर्थात् कारणों का व्यापार । अपने स्वरूप की (स्वभावस्य) सिद्धि के लिये (=निष्पत्तौ=निष्पत्यर्थम्) अपेक्षा की है दूसरों (=कारणों) के व्यापार की जिसने, वह ऐसा (अपेक्षितपरव्यापारः=दूसरों के व्यापार की अपेक्षा करने वाला) कहा गया है । 'हि' शब्द क्योंकि (यस्मात्) शब्द के अर्थ में है । क्योंकि कारणों की अपेक्षा रखने वाला पदार्थ कृतक कहा जाता है, इसलिये यहाँ भिन्न विशेषण से युक्त स्वभाव (कृतक' शब्द से) कहा गया है । यद्यपि यहाँ विशेषण शब्द का पृथक् प्रयोग नहीं किया गया तथापि कृतक शब्द में ही भिन्न विशेषण का अन्तर्भाव हो गया है । इसीलिये यह 'कृतक' शब्द संज्ञा के रूप में प्रयुक्त किया गया है क्योंकि संज्ञा में ही कन् प्रत्यय का विधान है । किञ्च जहाँ विशेषण का (संज्ञा में) अन्तर्भाव हो जाता है वहाँ विशेषणवाचक शब्द का पृथक् प्रयोग नहीं किया जाता ।

---

१. न च B.   २. विशेषणम् A.H.N.P.

क्वचित् तु[1] प्रतीयमानं विशेषणं यथा कृत इत्युक्ते हेतुभिरित्येतत् प्रतीयते। तत्र च[2] हेतुशब्दः प्रयुज्यते, कदाचित् न वा प्रयुज्यते ॥१२॥

एवं प्रत्ययभेदभेदित्वादयोऽपि[3] द्रष्टव्याः ॥१३॥

प्रयुज्यमानस्वशब्दश्च यथा प्रत्ययभेदभेदिशब्दे[4] प्रत्ययभेदशब्दः[5]। यथा च[6] कृतकशब्दो भिन्नविशेषणस्वभावाभिधायी एवं प्रत्ययभेदभेदित्वम् आदिर्येषां प्रयत्नानन्तरीयकत्वादीनां तेऽपि स्वभावहेतोः प्रयोगा भिन्नविशेषणस्वभावाभिधायिनो द्रष्टव्याः।

कहीं-कहीं विशेषण प्रतीयमान (understood) होता है; जैसे 'किया गया' (=कृत) यह कहने पर 'हेतुओं द्वारा (किया गया)' इस (विशेषण) की प्रतीति हो जाती है। ऐसे स्थलों पर (तत्र) 'हेतु' शब्द का कभी प्रयोग किया जाता है; कभी नहीं भी किया जाता ॥१.२

स्वभाव उच्यते—यहाँ स्वभाव=स्वभावहेतु (बु० लॉ० २, पृ० १२५, टि० ४)।

कन् प्रत्यय—'संज्ञायां कन्' (अ० ४।३।१४७) से संज्ञा अर्थ में कन् प्रत्यय होता है।

क्वचित्तु—प्रश्न यह है कि जिस विशेषण का विशेष्य में ही अन्तर्भाव हो जाता है, यदि उसके वाचक शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता तो 'हेतुना कृतम्' इत्यादि में हेतु शब्द का प्रयोग क्यों किया जाता है? उत्तर यह है कि 'कृतम्' शब्द में हेतु का अन्तर्भाव नहीं होता, अपि तु यहाँ विशेषण प्रतीयमान है—अन्यथानुपपत्ति से जाना जाता है। हेतु के विना कोई वस्तु कृत (=की गई) नहीं हो सकती, इससे यह समझ लिया जाता (understood) है कि 'हेतु' कृतम् का विशेषण है। यह वक्ता की इच्छा पर निर्भर है कि वह प्रतीयमान विशेषण का प्रयोग करे या न करे। वह केवल 'कृतम्' कहे या 'हेतुना कृतम्' कहे। इसके विपरीत 'कृतक' उस पदार्थ का नाम (संज्ञा) है जो कारण-व्यापारों की अपेक्षा से उत्पन्न होता है। यहाँ 'कारण-व्यापारों की अपेक्षा' अन्यथानुपपत्ति से प्रतीयमान नहीं है, अपि तु संज्ञा के अर्थ में ही उसका अन्तर्भाव है। इसीलिये धर्मोत्तर ने 'कृतक' शब्द को संज्ञावाची बतलाया है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १५९-१६०)।

प्रयुज्यते, कदाचिन्न—जहाँ व्यतिरिक्त विशेषण प्रतीयमान होता है, वहाँ उस विशेषण का प्रयोग करना अथवा न करना वक्ता की इच्छा के अधीन है।

एवम् इति—

इसी प्रकार कारणों के भेद से (कार्य की) भिन्नता हो जाना आदि भी (स्वभावहेतु के प्रयोग) जानने चाहियें ॥१३॥

---

१. 'तु' नास्ति A.B.E.H.N.P. २. 'च' नास्ति B.
३. 'अपि नास्ति B.E.H.N.P. ४. प्रत्ययभेदशब्दे B.
५. प्रत्ययभेदः A.B.E.H.N.P. ६. 'च' नास्ति C.

प्रत्ययानां कारणानां भेदो विशेषस्तेन प्रत्ययभेदेन भेत्तुं शीलं यस्य स प्रत्ययभेदभेदी शब्दः, तस्य भावः प्रत्ययभेदभेदित्वम् । ततः प्रत्ययभेदभेदित्वाच्छब्दस्य कृतकत्वं साध्यते । प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् अनित्यत्वम्[1] । तत्र प्रत्ययभेदशब्दो व्यतिरिक्तविशेषणाभिधायी प्रत्ययभेदभेदिशब्दे प्रयुक्तः । प्रयत्नानन्तरीयकशब्दे च प्रयत्नशब्दः ।

तद् एवं त्रिविधः स्वभावहेतुप्रयोगो[2] दर्शितः—शुद्धोऽव्यतिरिक्तविशेषणो व्यतिरिक्तविशेषणश्च । [3]एवमर्थं चैतद् आख्यातम्—वाचकभेदान्मा भूत् कस्यचित् स्वभावहेतावपि प्रयुक्ते व्यामोह इति ॥१३॥

जिसमें विशेषणवाचक (स्व) शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह है जैसे—प्रत्ययभेदभेदी शब्द में प्रत्ययभेद शब्द । जिस प्रकार कृतक शब्द भिन्न विशेषण वाले स्वभावहेतु को कहता है, इसी प्रकार प्रत्ययभेदभेदित्व है आदि में जिनके ऐसे प्रयत्नानन्तरीयकत्व आदि स्वभावहेतु के प्रयोग भी भिन्न विशेषण वाले स्वभावहेतु को कहते हैं यह समझना चाहिये ।

प्रत्ययभेदभेदित्वादयोऽपि—विनीतदेव (पृ० ८८-८९) के अनुसार यहाँ सूत्र में 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' शब्द भी है (बु० लॉ० २, पृ० १२५, टि० ८) । ये दोनों अनुमान-प्रयोग मीमांसक आदि के प्रति दिये गये हैं (धर्मो० प्र०, पृ० १६०)। प्राचीन मीमांसक ने ककार आदि शब्द-ध्वनियों को भी नित्य माना है । इन दोनों अनुमान-प्रयोगों के द्वारा उसके प्रति शब्द की कार्यता तथा अनित्यता सिद्ध की गई है ।

प्रयुज्यमानस्वशब्दश्च—प्रयुज्यमानः स्वशब्दः स्वस्य विशेषणस्य वाचकः यस्य सः=जहाँ विशेषणवाचक शब्द का प्रयोग किया जाता है । कहीं-कहीं विशेषण प्रतीयमान होता है तो भी उसका शब्द द्वारा कथन आवश्यक है—यह दिखलाने के लिये आगे के उदाहरण दिये गये हैं (मि०, धर्मो प्र०, पृ० १६०)।

प्रत्ययानाम् इति—प्रत्ययों अर्थात् कारणों का भेद=भिन्नता (=विशेषः); उस कारणों के भेद से भिन्नता को प्राप्त हो जाना है शील जिसका ऐसा वह शब्द प्रत्ययभेद-भेदी (कारणों के भेद से भिन्न प्रकार का हो जाने वाला) कहा जाता है । उसका भाव है—प्रत्ययभेदभेदित्व (कारणों के भेद से भिन्न प्रकार का हो जाना)। उस कारणों के भेद से भिन्न प्रकार का हो जाने के हेतु से शब्द की कार्यता सिद्ध की जाती है । नियमपूर्वक प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होना—इस हेतु से शब्द की अनित्यता सिद्ध की जाती है । इनमें भिन्न विशेषण के अर्थ को कहने वाला प्रत्यय-भेद शब्द 'प्रत्ययभेद-भेदिन्' शब्द में प्रयुक्त किया जाता है तथा (भिन्न विशेषण के अर्थ को कहने वाले) 'प्रयत्न' शब्द का 'प्रयत्नानन्तरीयक' शब्द में प्रयोग किया गया है ।

इस प्रकार तीन प्रकार के स्वभावहेतु के प्रयोग दिखलाये गये हैं—१. शुद्ध, २. अभिन्नविशेषणयुक्त और ३. भिन्नविशेषणयुक्त । ये इसीलिये बतलाये गये हैं कि कहीं वाचक शब्दों के भेद से स्वभाव-हेतु का प्रयोग किये जाने पर किसी को भ्रान्ति (=व्यामोह) न हो जाये ॥१३॥

१. त्वं साध्यते A.E.H.N.P. २. ०हेतुयोगो B. ३. एतदर्थम् B.

प्रत्ययभेदभेदित्वात्—प्रत्यय = कारण, हेतुसमुदाय । भेदिन = भिन्न होने के स्वभाव वाला । कारणों के भेद से भिन्न हो जाने के कारण । प्रत्येक उत्पन्न होने वाली वस्तु में यह देखा जाता है कि यदि उसके उत्पादक कारणों में भेद हो जाता है तो उसके स्वरूप में भी अवश्य भेद हो जाता है । शब्द में भी यही बात है । एक ही 'पुस्तक' आदि शब्द में उच्चारण के भेद से श्रुति-भिन्नता का अनुभव हुआ करता है । अतः शब्द को 'कार्य' (कारणों से उत्पन्न होने वाला) सिद्ध करने के लिये यह अनुमान-प्रयोग दिया गया है—

जहाँ कारण के भेद से भिन्नता हो जाती है, वह कार्य होता है ।
जैसे—घट आदि—(व्याप्ति) ।
शब्द में भी कारण-भेद से भिन्नता देखी जाती है—(पक्षधर्मता) ।

यहाँ 'प्रत्ययभेदभेदित्व' (कारणों के भेद से भिन्नता) स्वभावहेतु है । भिन्न हो जाना, उत्पन्न वस्तु का स्वभाव ही है, किन्तु कारणों का भेद उससे भिन्न है और उसका विशेषण है । इसे ही 'प्रत्यय-भेद' शब्द द्वारा बतलाया गया है । इस प्रकार यह ऐसे व्यतिरिक्त-विशेषण-विशिष्ट स्वभावहेतु का प्रयोग है जहाँ विशेषणवाची शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

श्चेरबात्स्की ने यहाँ इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है—'प्रत्ययभेद-भेदित्व' से प्रकट होता है कि प्राचीन भारतीय दार्शनिकों को आपेक्षिक परिवर्तन का सिद्धान्त (The method of concomitant variation) विदित था । इससे पूर्व वसुबन्धु के अभिधर्मकोश (१.४५) में भी इस सिद्धान्त का संकेत मिलता है । अवश्य ही प्रत्ययभेद-भेदित्व तथा तद्विकार-विकारित्व दोनों समानार्थक हैं । (बु०, लॉ० २, पृ० १२६, टि० ५) ।

प्रयत्ननान्तरीयकत्वात्—प्रयत्न का अर्थ है—चेष्टा, ज्ञानपूर्वक व्यापार (conscious effort) । चेतन का व्यापार ही प्रयत्न कहलाता है, कलम आदि का हिलना या चलना प्रयत्न नहीं है । प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने वाला पदार्थ 'प्रयत्नानन्तरीयक' कहलाता है । जो पदार्थ प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है वह अनित्य होता है, जैसे घट आदि । शब्द भी प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है अतः वह अनित्य है । यहाँ 'अनन्तर उत्पन्न होना'—यह स्वभाव है । इसका विशेषण है चेष्टा या ज्ञानपूर्वक व्यापार, जिसे प्रयत्न शब्द द्वारा प्रकट किया गया है । अतः यह भी ऐसे व्यतिरिक्त-विशेषण-विशिष्ट स्वभावहेतु का प्रयोग है कि जिसमें विशेषणवाची शब्द का प्रयोग किया गया है ।

एवमर्थं चैतद् आख्यातम्—यहाँ धर्मकीर्ति को स्वभावहेतु का साधर्म्यवान् प्रयोग दिखलाना था । उसी के प्रसङ्ग से स्वभावहेतु के विविध प्रयोग दिखला दिये हैं । कारण यह है कि ऊपर (२.१५) केवल विशेषण-रहित (शुद्ध) स्वभावहेतु का स्वरूप बतलाया गया था (न तु हेतुसत्तया व्यतिरिक्तं कञ्चिद् हेतुम् अपेक्षते) जैसे—यह वृक्ष है, शिंशपा होने से । किन्तु कभी कभी स्वभावहेतु के साथ भिन्न या अभिन्न

'सन्नुत्पत्तिमान् कृतको वा शब्द इति पक्षधर्मोपदर्शनम् ॥१४॥

विशेषण भी जुड़ा होता है। उसे देखकर यह न समझना चाहिये कि यह स्वभाव-हेतु नहीं है। यही बतलाने के लिये इन विविध प्रयोगों को दिखलाया गया है।

सन्नुत्पत्तिमान् इति—

शब्द सत् है, उसकी उत्पत्ति होती है और वह कार्य है—यह पक्ष-धर्म दिखलाया गया है ॥१४॥

सन्नुत्पत्तिमान्—प्राचीन मीमांसक का मत है कि गकार आदि वर्ण (शब्द) नित्य हैं। वे सदा आकाश में विद्यमान रहते हैं। शब्दों की उत्पत्ति नहीं होती अपि तु उच्चारण के साधन कण्ठ आदि के द्वारा उनकी अभिव्यक्ति हुआ करती है। इस शब्द-नित्यता के आधार पर मीमांसक वेद की नित्यता एवं प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। मीमांसक के इस मत का धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक (३.१२४ तथा आगे) में विस्तार से निराकरण किया गया है। यहाँ भी शब्द की अनित्यता में प्रसङ्गतः कतिपय हेतु दिखला दिये हैं।

न्याय-वैशेषिक यद्यपि वेद को प्रमाण मानता है तथापि वहाँ (न्यायसूत्र २.२.१३ तथा आगे तथा वै० सू० २.२.३२) शब्द की नित्यता का खण्डन किया गया है। उसकी मुख्य युक्तियाँ ये हैं—शब्द आदिमान् हैं। वह संयोग विभाग से उत्पन्न होता है। (२) शब्द का उच्चारण-स्थल पर ग्रहण नहीं होता अपि तु श्रोता के श्रोत्र द्वारा ग्रहण होता है। उसके मध्य में शब्दज शब्द न्याय से शब्द-सन्तान की कल्पना करनी होती है। (ऐन्द्रियकत्वात्)। (३) 'तीव्र शब्द है, मन्द शब्द है'—इस प्रकार का व्यवहार होता है यह तीव्रता और मन्दता तभी बन सकती है जब शब्द को कार्य माना जाये (कृतकवद् उपचारात्)। इनमें से अन्तिम युक्ति उद्योतकर के अनुसार बौद्धों की युक्ति है, क्योंकि यह सभी की अनित्यता सिद्ध करने वाली है (सर्वानित्यत्वसाधनधर्मः) वाचस्पतिमिश्र ने भी इसे विरुद्ध-धर्म-संसर्ग नामक बौद्धदर्शन के विरोध के सिद्धान्त के समान बतलाया है।

बौद्धदर्शन में प्रत्येक सत् वस्तु अनित्य तथा क्षणिक है, फलतः शब्द भी क्षणिक है ही। इसके अतिरिक्त शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने के लिये निम्न युक्तियाँ विशेषतः दी गई हैं— १) उत्पत्तिमान् होना (२) कारण से उत्पन्न होना। ३) आपेक्षिक-परिवर्तन अर्थात् कारण की तीव्रता और मन्दता से शब्द में तीव्रता एवं मन्दता होना (४) प्रयत्न से उत्पत्ति (प्रयत्नान्तरीयकत्व)। इन्हीं को क्रमशः उत्पत्तिमत्त्वात्, कृतकत्वात्, प्रत्ययभेद-भेदित्वात् तथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्— इन शब्दों द्वारा कहा गया है। ये सभी हेतु स्वभावहेतु के अन्तर्गत आ जाते हैं। 'सत्त्वात' यह हेतु तो शुद्ध स्वभावहेतु ही है किन्तु 'उत्पत्तिमत्त्वात्' इस हेतु में स्वभाव से अभिन्न विशेषण जोड़ा गया है तथा कृतकत्वात्, प्रत्ययभेद-भेदित्वात् और प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्—इन हेतुओं में भिन्न विशेषण (उपाधि) जुड़ा है। (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १२७ टि० २)।

१. सन्नोत्पत्ति० E.

अथ किमेते स्वभावहेतवः सिद्धसम्बन्धे स्वभावे साध्ये प्रयोक्तव्या आहोस्विद् असिद्धसम्बन्ध इत्याशङ्क्य सिद्धसम्बन्धे प्रयोक्तव्या इति दर्शयितुम् आह—

सर्व एते साधनधर्मा यथास्वं प्रमाणैः सिद्धसाधनधर्ममात्रानुबन्ध एव साध्यधर्मेऽवगन्तव्याः ।।१५।।

सर्व एत इति । गमकत्वात् साधनानि, पराश्रितत्वाच्च धर्माः, साधनधर्मा एव साधनधर्ममात्रम् । मात्रशब्देनाधिकस्यापेक्षणीयस्य निरासः । तस्यानुबन्धोऽनुगमनम् अन्वयः । सिद्धः साधनधर्ममात्रानुबन्धो यस्य स तथोक्तः । केन सिद्ध इत्याह—यथास्वं प्रमाणैरिति[1] । यस्य साध्यधर्मस्य[2] यद् आत्मीयं प्रमाणं तेनैव प्रमाणेन सिद्ध इत्यर्थः । स्वभावहेतूनां च बहुभेदत्वात् सम्बन्धसाधनान्यपि प्रमाणानि बहूनीति प्रमाणैरिति बहुवचननिर्देशः । गमयितव्यात् साध्यः, पराश्रितत्वाच्च धर्मः साध्यधर्मः ।

---

५. तादात्म्य सम्बन्ध निश्चित होने पर ही स्वभावहेतु का प्रयोग

(शङ्का) तब क्या इन स्वभाव-हेतुओं का उस स्वभावभूत साध्य की सिद्धि के लिये प्रयोग किया जाता है, जिसके साथ इनका सम्बन्ध निश्चित होता है अथवा जिसके साथ सम्बन्ध निश्चित नहीं होता, उसकी सिद्धि के लिये भी ?—यह शङ्का करके 'जहाँ सम्बन्ध निश्चित होता है, वहाँ इनका प्रयोग करना चाहिये'—यह दिखलाते हुए कहते हैं—

इन सब साधनधर्मों (हेतुओं) का ऐसे साध्य धर्म की सिद्धि में प्रयोग जानना चाहिये, जिस (साध्यधर्म) का अपने-अपने (यथास्व) प्रमाणों के द्वारा केवल साधन-धर्म का अनुसरण करना ही निश्चित हो ।।१५।।

सर्व एते, इति । बोधक होने से वे साधन कहलाते हैं और अन्य में आश्रित होने के कारण वे धर्म कहलाते हैं। केवल साधन धर्म को ही साधनधर्ममात्र कहा जाता है । 'मात्र' (केवल) शब्द के द्वारा (साधन के) अतिरिक्त (किसी अन्य) अपेक्षणीय वस्तु का निराकरण किया गया है । उस (साधनधर्ममात्र) का अनुबन्ध अर्थात् अनुसरण करना, केवल उसके होने पर अवश्य होना (=अन्वय) । निश्चित (=सिद्ध) है केवल साधनधर्म का अनुसरण करना जिस (साध्यधर्म) का, वह वैसा (सिद्धसाधनधर्ममात्रानुबन्धः) कहा गया है । वह (अनुबन्धः) किसके द्वारा निश्चित होता है ? यह बतलाते हैं—यथास्वम् इत्यादि: अर्थात् अपने-अपने प्रमाणों के द्वारा । जिस साध्यधर्म का जो अपना-अपना प्रमाण है, उस प्रमाण के द्वारा ही निश्चय होता है—यह भाव है । क्योंकि स्वभावहेतु के अनेक भेद हैं, इसलिये सम्बन्ध (अनुबन्ध=प्रतिबन्ध=व्याप्ति) को सिद्ध करने वाले प्रमाण भी अनेक हैं अतएव प्रमाणों के द्वारा (=प्रमाणैः)—यह बहुवचन का प्रयोग किया गया है । प्राप्य या बोध्य (गमयितव्य) होने के कारण वह साध्य कहलाता है और किसी अन्य (धर्मी) में आश्रित होने के कारण धर्म कहलाता है अतः वह साध्यधर्म कहा गया है ।

---

१. 'इति' नास्ति B.C.D. २. 'साध्यधर्मस्य' नास्ति B., साधनधर्मस्य C.D.

तदयं परमार्थः—न हेतुः प्रदीपवद् योग्यतया गमकोऽपि तु नान्तरीयकतया विनिश्चितः। साध्याविनाभावित्वनिश्चयनम् एव हि[1] हेतोः साध्यप्रतिपादनव्यापारो नान्यः कश्चित्।

प्रमाणैः—श्चेरवात्स्की का कथन है कि यहाँ 'प्रमाण' शब्द 'दृष्टान्त' का समानार्थक है (बु० लॉ० २, पृ० १२८, टि० ३)। वस्तुतः यह प्रतीत होता है कि सम्बन्ध को सिद्ध करने वाले जो भिन्न २ प्रकार के अनुमान हैं, उनका बोधक ही यह 'प्रमाण' शब्द है।

सिद्धसम्बन्धे—सिद्धो निश्चितः सम्बन्धः तादात्म्यलक्षणो यस्य तस्मिन् साध्ये; जिसका सम्बन्ध निश्चित हो ऐसे साध्य की सिद्धि के लिये।

पराश्रितत्वाच्च धर्माः—अन्य अर्थात् धर्मी में आश्रित होने के कारण ये धर्म कहलाते हैं। यहाँ धर्म = गुण, जो किसी धर्मी (गुणी) में रहता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि यहाँ धर्मधर्मिभाव की वास्तविकता स्वीकार की गई है। यहाँ तो केवल तर्कशास्त्र की दृष्टि से धर्म और धर्मी का सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। वस्तुतः धर्म-धर्मि-भाव की प्रतीति विकल्प-जन्य ही है। (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १२९, टि० १)।

सिद्धसाधन०—सिद्धः साधनधर्ममात्रस्य अनुबन्धः अनुगमनं यस्य तस्मिन् साध्ये; जो साध्य धर्म अपनी सिद्धि के लिये साधनधर्म के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता, केवल साधन धर्म के होने पर ही अवश्य हुआ करता है, उसकी सिद्धि के लिये ही तादात्म्य हेतु (स्वभाव हेतु) का प्रयोग ही किया जाता है।

आत्मीये—जिस प्रमाण द्वारा किसी साध्य का साधन के साथ प्रतिबन्ध सिद्ध होता है उसे साध्य का आत्मीय कहा गया है।

प्रमाणानि बहूनि—क्योंकि सत्त्वात्, उत्पत्तिमत्त्वात्, कृतकत्वात् इत्यादि बहुत प्रकार के स्वभाव हेतु हैं अतः उनका निश्चय कराने वाले प्रमाण भी बहुत प्रकार के हैं। इसीलिये 'प्रमाणैः' में बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

तदयम् इति—इस प्रकार तात्पर्यार्थ यह है—जिस प्रकार दीपक अपनी योग्यता (सत्ता) मात्र से (अर्थ का) प्रकाशक होता है, उसी प्रकार हेतु अपनी योग्यतामात्र से (साध्यधर्म का) बोधक नहीं होता; अपि तु (साध्य के) अविनाभावी रूप में निश्चित किया गया हेतु ही गमक (=बोधक) होता है। हेतु का साध्य के बिना न होने का निश्चय ही (उस हेतु में) साध्य का बोध कराने वाला व्यापार है, अन्य कुछ नहीं।

---

१. 'हि' नास्ति B.

प्रथमं बाधकेन प्रमाणेन साध्यप्रतिबन्धो निश्चेतव्यो हेतोः । पुनरनुमानकाले[1] साधनं 'साध्यनान्तरीयकं[2] सामान्येन स्मर्तव्यम्; कृतकत्वं नामानित्यस्वभावम्'[3] इति । सामान्येन स्मृतम् अर्थं[4] पुनर्विशेषे योजयति-इदमपि कृतकत्वं शब्दे वर्तमानम् अनित्यस्वभावम्[5] एवेति ।

तत्र सामान्यस्मरणं लिङ्गज्ञानम् । विशिष्टस्य तु शब्दगतकृतकत्व[6]स्याऽनित्यत्वस्वभावस्य स्मरणम् अनुमानज्ञानम्[7] । तथा च सत्यविनाभावित्वज्ञानम्

अनुमान के प्रयोग से पूर्व (प्रथमम्) बाधक प्रमाण के द्वारा (जाँच करके) हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव-सम्बन्ध निश्चित करना होता है । पुनः अनुमान के समय 'यह हेतु इस साध्य का अविनाभावी है'—यह सामान्य रूप से स्मरण करना होता है । जैसे—जो कार्य है, वह अनित्यत्वस्वभाव वाला होता है । इसके पश्चात् (पुनः) सामान्य रूप से स्मरण किये गये अर्थ का विशेष (किसी एक में) सम्बन्ध जोड़ा जाता है, जैसे शब्द में कृतकत्व (कार्यत्व) विद्यमान है अतः यह भी अनित्यत्व स्वभाव वाला ही है (अर्थात् शब्द भी कृतक होने से अनित्य है) ।

प्रदीपवत्—यह वैधर्म्य दृष्टान्त है । प्रदीप तो स्वसत्तामात्र से अर्थ का प्रकाशक होता है, किन्तु प्रमाण नहीं ।

बाधकेन प्रमाणेन—बाधक प्रमाण के द्वारा परीक्षा करके तादात्म्य सम्बन्ध का निश्चय कर लिया जाता है । कैसे ? यदि वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध न मानें तो विरोध-प्रसङ्ग हुआ करता है । उदाहरणार्थ यदि सत्त्व और अनित्यत्व का तादात्म्य न होगा तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न ही न होगा; क्योंकि स्थिर वस्तु से तो क्रमशः या एक साथ वस्तुओं की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती (मि०, Rgyalthsab, f. 35 उद्धृत, बु० लॉ० २, पृ० १३० टि० १) । इसी प्रकार यदि जो कृतक है उसे अनित्य न माना जाये तो कृतक वस्तु का नाश अवश्यम्भावी न होगा (द्र०, ऊपर २.३६) । इस प्रकार बाधक प्रमाण से तादात्म्य सम्बन्ध का निश्चय किया जाता है (मि०, तात्पर्यनिबन्धन०, पृ० १०१, उद्धृत धर्मो० प्र०, पृ० २७२) ।

अनित्यस्वभावम् = अनित्यत्वस्वभावम्—अनित्यत्वं स्वभावः यस्य तत् तथा; अर्थात जो कृतक (कार्य) है उसका अनित्य होना ही स्वभाव है ।

तत्रेति—उस में सामान्य रूप से ('जो कृतक है वह अनित्य है') स्मरण करना लिङ्गज्ञान है । विशिष्ट अर्थात् शब्द में होने वाली कृतकता भी अनित्यत्व-स्वभाव वाली है—इसका स्मरण करना अनुमान ज्ञान है । इस प्रकार (हेतु का साध्य के साथ) अविनाभाव-सम्बन्ध का निश्चय ही परोक्ष अर्थ का बोधक व्यापार है । इस

---

१. ०कालेन A.B.E.H.P.
२. साध्यानन्तरीयकं A.B.E.H.P.
३. त्यत्वस्व० C.
४. अर्थाय B.
५. ०त्यत्वस्व० C.
६. कृतकस्या० H.
७. मानं ज्ञानं C.

एव परोक्षार्थप्रतिपादकत्वं नाम। तेन निश्चिततन्मात्रानुबन्धे साध्यधर्मे स्वभावहेतवः प्रयोक्तव्या नान्यत्रेत्युक्तम् ॥१५॥

यद्येवं सम्बन्धो निश्चेतव्यः साध्यस्य साधनेन सह। साधनधर्ममात्रानुबन्धस्तु साध्यस्य कस्मान् निश्चितो मृग्यत इत्याह—

[1]तस्यैव तत्स्वभावत्वात् ॥१६॥

तस्यैवेति। सिद्धसाधनधर्ममात्रानुबन्धस्य। तत्स्वभावत्वाद् इति साधनधर्मस्वभावत्वात्। यो हि साध्यधर्मः साधनधर्ममात्रानुबन्धवान् स एव तस्य साधनधर्मस्य स्वभावो नान्यः ॥१६॥

भवतु ईदृश एव स्वभावः। स्वभाव एव तु साध्ये कस्माद्धेतुप्रयोगः?

स्वभावस्य च[2] हेतुत्वात् ॥१७॥

स्वभावस्य च[3] हेतुत्वात्। स्वभाव एव[4] इह[5] हेतुः प्रक्रान्तः। तस्मात् स

लिये यह कहा गया है कि केवल साधन-धर्म (तन्मात्र) का अनुगमन करने वाले साध्य-धर्म की सिद्धि के लिये ही स्वभावहेतुओं का प्रयोग करना चाहिये। अन्यों के लिये नहीं ॥१५॥

यद्येवम् इति—यह ठीक है कि इस प्रकार साध्य का साधन के साथ सम्बन्ध निश्चित किया जाता है। किन्तु साध्य का केवल साधन धर्म का अनुसरण करना निश्चित होना चाहिये, यह क्यों कहा गया है (मृग्यते=खोजा जाता है)? इस पर कहते हैं—

क्योंकि वही साध्य (जिसका साधनधर्ममात्र का अनुसरण करना निश्चित है) उस (साधनधर्म) का स्वभाव है ॥१६॥

तस्यैव (उसका ही)=जिस (साध्य) में केवल साधन धर्म का अनुसरण करना निश्चित है। तत्स्वभावत्वात् (उसका स्वभाव होने से)=उस साधन धर्म (शिंशपात्व आदि) का स्वभाव होने के कारण। क्योंकि जो साध्य धर्म (वृक्षत्व आदि) केवल साधन धर्म (शिंशपात्व आदि) का अनुसरण करने वाला है वही (साध्य धर्म) उस साधन धर्म का स्वभाव है, अन्य नहीं ॥१६॥

६. स्वभावरूप साध्य के लिये ही स्वभावहेतु का प्रयोग

अच्छा! ऐसा ही (साधन धर्म का) स्वभाव हो सकता है; किन्तु अपनी सत्ता (स्व+भाव) को ही सिद्ध करने के लिये हेतु का प्रयोग क्यों किया जाता है?

क्योंकि स्वभाव ही हेतु है ॥१७॥

क्योंकि स्वभाव ही हेतु है, इसका तात्पर्य है—यहाँ स्वभाव हेतु का ही प्रसङ्ग है (प्रक्रान्तः=प्रकरण—प्राप्त, प्रस्तुत); इसलिये वही साध्य किया जा सकता है। जो साधन धर्म का स्वभाव हो सके। और केवल साधन

---

१. 'तस्यैव' नास्ति H.P. २. 'च' नास्ति C.
३. 'च' नास्ति C. ४. एव' नास्ति A.H.N.P, ५. 'इह' नास्ति B.

एव साध्यः कर्तव्यः यः साधनस्य स्वभावः स्यात् । साधनधर्ममात्रानुवन्धवांश्च[1] स्वभावो नान्यः ।।१७।।

यदि साध्यधर्मः साधनस्य स्वभावः [2]स्यात् प्रतिज्ञार्थैकदेशस्तर्हि हेतुः स्याद् इत्याह—

वस्तुतस्तयोस्तादात्म्यम्[3] ।।१८।।

वस्तुत इति । वस्तुतः परमार्थतः साध्यसाधनयोस्तादात्म्यम् । समारोपितस्तु साध्यसाधनभेदः[4] । साध्यसाधनभावो हि निश्चयारूढे रूपे । निश्चयारूढं च रूपं समारोपितेन भेदेनेतरेतरव्यावृत्तिकृतेन भिन्नम् इति, अन्यत् साधनम्, अन्यत् साध्यम् । दूरादिध शाखादिमान् अर्थो वृक्ष इति निश्चीयते न शिंशपेति । अथ च स एव वृक्षः सैव शिंशपा। तस्माद् अभिन्नम् अपि वस्तु निश्चयो भिन्नम् आदर्शयति व्यावृत्तिभेदेन। तस्मान् निश्चयारूढरूपा-

---

धर्म का (नियम पूर्वक) अनुगमन करने वाला धर्म (साधन धर्म का) स्वरूप मात्र (स्वभाव) ही है, अन्य नहीं ।।१७।।

स्वभाव एव तु साध्ये कस्माद् हेतुप्रयोगः--शङ्का का आशय यह है कि जब शिंशपात्व का स्वभाव (=स्वरूप) ही वृक्षत्व है तो अपने ही स्वरूप (स्वसत्ता) को सिद्ध करने के लिये "अयं वृक्षः शिंशपात्वात्" आदि में स्वभावहेतु का प्रयोग करना व्यर्थ है । समाधान यह है कि स्वभावहेतु के प्रसङ्ग में हेतु की सत्तामात्र का अनुसरण करने वाला धर्म ही साध्य होता है । क्योंकि वह धर्म हेतु का स्वभाव ही हो सकता है । इसीलिये उस की सिद्धि के लिये स्वभाव-हेतु का प्रयोग किया जाता है ।

यदि साध्यधर्म इति—यदि साध्य धर्म साधन का स्वभाव ही है तो हेतु प्रतिज्ञा का एकदेश (अंश) हो जायेगा ? इस पर कहते हैं—

वस्तुतः उन दोनो (साध्य तथा स्वभावहेतु) की एकरूपता (तादात्म्य =तद्रूपता) है ।।१८।।

वस्तुतः (=परमार्थतः) साध्य और साधन की एकरूपता है; किन्तु साध्य और साधन में भेद का आरोप कर लिया गया है । क्योंकि वस्तु के निश्चयात्मक ज्ञान से ज्ञात (=निश्चयारूढ=अध्यवसित) रूप में साध्य-साधन-भाव होता है और वह अध्यवसित रूप अन्यव्यावृत्ति द्वारा किये गये आरोपित भेद के द्वारा भिन्न २ प्रकार का होता है; इसलिये साधन भिन्न है और साध्य भी भिन्न है । जैसे-दूर से शाखा आदि से युक्त पदार्थ में 'यह वृक्ष है'—ऐसा निश्चय कर लिया जाता है, 'यह शिंशपा है'—ऐसा निश्चय नहीं होता । किन्तु वही वृक्ष है, वही शिंशपा है (दोनों में भेद नहीं) । इसलिये निश्चयात्मक ज्ञान अभिन्न (एक) वस्तु को भी व्यावृत्ति के भेद से भिन्न २ प्रकार से दिखला देता है । इस प्रकार निश्चयात्मक ज्ञान में भासित होने

---

१. ०न्धश्च स्व० A.E.H.N.P. २. 'स्यात्' नास्ति A.B.D.E.H.N.P.
३. तादात्म्यात् B.D.E.H.N.P. ४. ०साधनयोर्भेदः A.E.H.N.P.

पेक्षयाऽन्यत् साधनम्, अन्यत् साध्यम् । अतो न प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुः । वास्तवं च तादात्म्यम् इति ॥१८॥

वाले स्वरूप की अपेक्षा से साधन अन्य है और साध्य अन्य होता है। इसीलिये हेतु प्रतिज्ञा का एक अंश नहीं होता और वस्तुस्थिति से (साध्य और साधन दोनों की) एकरूपता (अभिन्नता) है ही ॥१८॥

प्रतिज्ञैकदेशस्तर्हि हेतुः स्यात्—प्रश्न यह है कि स्वभावहेतु में साध्य और हेतु का तादात्म्य होता है। साध्य का निर्देश करना ही प्रतिज्ञा कहलाता है। इस प्रकार जो प्रतिज्ञा में कहा गया है उसका एक अंशमात्र ही हेतु होगा, जैसे "यह वृक्ष है, क्योंकि यह अशोक वृक्ष है"—यहाँ अशोकवृक्षत्व (=शिंशपात्व) जो हेतु है वह वृक्षत्व का ही एक देश है। अतः सिद्धसाधन मात्र ही है जो कि हेतु-दोष है।

उत्तर यह है कि यहाँ साध्य और हेतु का वस्तुतः (परमार्थतः) तादात्म्य है, किन्तु दोनों में समारोपित भेद है ही। क्योंकि वस्तु का जो रूप निश्चयात्मक ज्ञान में जाना जाता है उसी में साध्य-साधन-भाव होता है।

यह कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक आदि वस्तुवादियों की दृष्टि से वृक्षत्व और शिंशपात्व दोनों की सत्ता परमार्थतः भिन्न है, किन्तु बौद्धन्याय के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय जो वस्तु का परमार्थसत् स्वरूप (स्वलक्षण) है, वहाँ वृक्षत्व और शिंशपात्व दोनों एक ही वस्तु के स्वभाव हैं अतः अभिन्न हैं। फिर भी निश्चयात्मक ज्ञान में वृक्षत्व और शिंशपात्व का भिन्न २ बोध होता है। इस प्रकार यह भेद समारोपित है, वास्तविक नहीं।

व्यावृत्तिभेदेन—निश्चयात्मक ज्ञान अभिन्न वस्तु को भी भिन्न सा कैसे दिखला देता है? व्यावृत्ति-भेद से। व्यावृत्ति का अर्थ है—अन्यव्यावृत्ति=अपोह=अन्य वस्तुओं से भिन्नता, अर्थात् कहीं किसी वस्तु से भिन्नता (व्यावृत्ति) दिखलाई जाती है कहीं किसी से, उदाहरणार्थ जब हम किसी वस्तु को "अशोक" कहते हैं तो उसकी आम, जामुन आदि के वृक्षों से व्यावृत्ति (=भेद) विवक्षित होती है, किन्तु जब हम उसी वस्तु को वृक्ष कहते है तो उसकी पर्वत, नदी, लता आदि से व्यावृत्ति विवक्षित होती है। इस प्रकार एक ही परमार्थसत् वस्तु को व्यावृत्ति के भेद से भिन्न भिन्न रूप में कहा जाता है। अथवा यह कहिये कि न्याय-वैशेषिक आदि वृक्षत्व और शिंशपात्व नामक परमार्थसत्—सामान्यों के द्वारा दोनों वस्तुओं का वास्तविक भेद मानते हैं, किन्तु बौद्धन्याय प्रथम तो सामान्य को परमार्थसत् नहीं मानता, उसके स्थान पर कल्पित अन्यव्यावृत्ति (=अतद्व्यावृत्ति या अपोह) को ही रखता है तथा फिर उसी व्यावृत्ति के भेद से वृक्षत्व और शिंशपात्व का समारोपित भेद मानता है।

"शब्दोऽनित्यः कृतत्वात्' इत्यादि में भी कृतकत्व और अनित्यत्व का व्यावृत्ति-भेद से ही भेद होता है, वस्तुतः नहीं। कृतक का अर्थ है—कारणों से उत्पन्न (हेतु-

कस्मात् पुनः साधनधर्ममात्रानुबन्ध्येव[1] साध्यः स्वभावो नान्य इत्याह—

तन्निष्पत्तावनिष्पन्नस्य तत् स्वभावत्वाभावात्[2] ।।१६।।

तन्निष्पत्ताविति । यो हि यन्नानुबध्नाति स तन्निष्पत्तावनिष्पन्नः[3]। तस्य तन्निष्पत्तावनिष्पन्नस्य साधनस्वभावत्वम् अयुक्तम् । यतो निष्पत्त्यनिष्पत्ती भावाभावरूपे । भावाभावौ च परस्परपरिहारेण स्थितौ । यदि च पूर्वनिष्पन्नस्य, अनिष्पन्नस्य चैक्यं भवेद् एकस्यैवार्थस्य भावाभावौ स्यातां युगपत् । न च विरुद्धयोर्भावाभावयोरैक्यं युज्यते, विरुद्धधर्मसंसर्गात्मकत्वाद् एकत्वाभावस्य ।

किञ्चद् पश्चाद् उत्पद्यमानं पूर्वनिष्पन्नाद् भिन्नहेतुकम् । हेतुभेदपूर्वकश्च कार्यभेदः । ततो निष्पन्नानिष्पन्नयोर् विरुद्धधर्मसंसर्गात्मको भेदो भेदहेतुश्च कारणभेद इति कुत एकत्वम् ? तस्मात् साधनधर्ममात्रानुबन्ध्येव साध्यः स्वभावो नान्यः ।।१६।।

प्रत्ययैः कृतम्) । इस कथन से असंस्कृत (अकृतक) धर्म आकाश आदि की व्यावृत्ति होती है । अनित्य का अर्थ है—विनश्वर, सतत विनाशशील, क्षणिक (स्वरसविनाश-स्वभाव) । इस कथन से वस्तुओं में किञ्चित्काल-स्थिरता की व्यावृत्ति होती है (मि० बु० लॉ० २, पृ० १३४ टि० १) ।

कस्माद् इति—(शङ्का) केवल साधन धर्म का अनुगमन करने वाला साध्य ही उसका स्वभाव क्यों है; अन्य क्यों नहीं ? यह बतलाते हैं—

उस (साधन) की उपस्थिति (=निष्पत्ति=उत्पत्ति) होने पर भी जो पदार्थ उपस्थित नहीं होता, वह उस (साधन) का स्वभाव नहीं हो सकता ।।१६।।

तन्निष्पत्तौ—इति । जो पदार्थ जिसका नियमपूर्वक अनुगमन नहीं करता, वह उसकी उपस्थिति में अनुपस्थित कहा जायेगा । उस (साधन की उपस्थिति होने पर भी अनुपस्थित होने वाले पदार्थ) का साधन का स्वभाव होना युक्त नहीं; क्योंकि उपस्थिति और अनुपस्थिति ये दोनों तो किसी पदार्थ का होना (भाव) तथा न होना (अभाव) ही है और भाव तथा अभाव एक दूसरे को त्यागकर ही रहते हैं । यदि पूर्व उपस्थित तथा अनुपस्थित पदार्थों की एकरूपता हो जाये तो एक ही पदार्थ का एक साथ (=युगपत्) भाव तथा अभाव होने लगे । भाव तथा अभाव, जो एक दूसरे के विरुद्ध हैं, उनकी एकरूपता होना सम्भव नहीं । क्योंकि विरुद्ध-धर्मों का संसर्ग होना ही एकत्व (तादात्म्य=एकरूपता) के अभाव (=भेद) का स्वरूप है ।

इसके अतिरिक्त बाद में उत्पन्न होने वाली वस्तु पूर्वोपस्थित वस्तु से भिन्न हेतुओं द्वारा उत्पन्न होती है और हेतु के भेद से कार्य का भी भेद हो जाता है । इस प्रकार उपस्थित तथा अनुपस्थित वस्तुओं में विरुद्ध धर्मों का संसर्ग होने के रूप में भिन्नता है । और, इस भिन्नता का हेतु है—कारणों का भेद; तब दोनों की एक-रूपता कैसे हो सकती है ? इसलिये केवल साधन-धर्म का अनुसरण करने वाला साध्य ही उस साधन का स्वभाव है, अन्य नहीं ।।१६।।

---

१. ०बन्धे च साध्यः B. २. तत्स्वभावात् C.

३. 'तन्निष्पत्तावनिष्पन्नः तस्य' नास्ति A.

मा भूत् पश्चान्निष्पन्नः पूर्वजस्य स्वभावः । साध्यस्तु कस्मान्न भवतीत्याह—

व्यभिचारसम्भवाच्च ॥२०।

व्यभिचारेत्यादि[1]। पूर्वजेन पश्चान्निष्पन्नस्य व्यभिचारः परित्यागो यस्तस्य सम्भवाच्च न पूर्वनिष्पन्नस्य पश्चान्निष्पन्नः साध्यः । तस्मात् साधनधर्ममात्रानुबन्ध्येव [2]स्वभावः । स एव च साध्यः । तथा च सिद्धसाधन-धर्ममात्रानुबन्ध एव स्वभावे स्वभावहेतवः प्रयोक्तव्या इति स्थितम् ॥२०॥

परस्परपरिहारेण—परिहार = परित्याग = विरोध, एक दूसरे से भिन्नता, अन्योन्याभाव । आगे ३.७२ में जो दो प्रकार का पदार्थों का विरोध दिखलाया जायेगा, उनमें से यह दूसरा विरोध है। यदि एक पदार्थ की निष्पत्ति (= उपस्थिति = भाव) होने पर भी दूसरे की निष्पत्ति नहीं होती है तो दोनों में भाव तथा अभाव—इन दो विरुद्ध धर्मों का संसर्ग होगा । अतः दोनों भिन्न होंगे, एक नहीं हो सकते; क्योंकि विरुद्ध धर्मों का संसर्ग ही दो पदार्थों का भेद होता है।

किञ्च—इत्यादि कथन द्वारा भेद का हेतु बतलाया गया है। कारणों के भेद से ही दो पदार्थों में भेद हो जाता है। पूर्वोत्पन्न वस्तु का हेतु भिन्न होता है तथा पश्चात् उत्पन्न वस्तु का हेतु भिन्न होता है (यदि दोनों का हेतु एक ही हो, तो दोनों की एक साथ उत्पत्ति होगी); अतः दोनों में भेद होता है। उदाहरणार्थ पूर्व वस्तु-क्षण द्वितीय वस्तु-क्षण से भिन्न होता है। इस प्रकार भेद का स्वरूप है—विरुद्ध धर्मों का संसर्ग होना (विरुद्धधर्मसंसर्गात्मकः भेदः) और इस भेद का हेतु है—कारणों का भेद (भेदहेतुश्च कारणभेदः)। कभी २ इन दोनों को ही वस्तुओं का भेद भी कहा जाता है जैसे—'अयमेव भेदो भावानां विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च' (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १६३ तथा टि० ४)।

मा भूद् इति—अच्छा, पश्चात् उत्पन्न होने वाला पदार्थ पूर्वोत्पन्न पदार्थ का स्वभाव नहीं होता; किन्तु वह उसका साध्य क्यों नहीं हो सकता ? इस पर कहते हैं—

क्योंकि (उन दोनों का एक दूसरे से) पृथक् रहना (व्यभिचार= परित्याग) सम्भव है ॥२०॥

व्यभिचारेत्यादि। पूर्व उपस्थित पदार्थ से पश्चात् उपस्थित पदार्थ का व्यभिचार अर्थात् परित्याग किया जाना सम्भव है; अतः पूर्व उपस्थित पदार्थ का पश्चात् उपस्थित पदार्थ साध्य नहीं हो सकता। इसीलिये केवल साधन धर्म का नियम से अनुसरण करने वाला पदार्थ ही उसका स्वभाव होता है और वही साध्य होता है। इस प्रकार जिस स्वभावात्मक साध्य में केवल साधन धर्म का अनुसरण करना निश्चित है, उसकी सिद्धि के लिये ही स्वभाव-हेतुओं का प्रयोग किया जाना चाहिये; यह सिद्ध होता है ॥२०॥

---

१. 'व्यभिचारेत्यादि' नास्ति A,B.D.H.N.P २. यः स्वभावः B.C.D.E.

कार्यहेतोः[1] प्रयोगः—यत्र धूमस्तत्राग्निः । यथा महानसादौ । अस्ति चेह धूम इति ॥२१॥

कार्यहेतोः प्रयोगः । साधर्म्यवान् इति प्रकरणाद् अपेक्षणीयम् । यत्र धूम इति धूमम् अनूद्य तत्राग्निः—इत्यग्नेर्विधिः[2] । तथा च नियमार्थः पूर्ववद् अवगन्तव्यः । तद् अनेन कार्यकारणभावनिमित्ता व्याप्तिर्दर्शिता । व्याप्ति-साधनप्रमाणविषयं दर्शयितुम् आह—यथा महानसादाविति । महानसादौ हि प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां कार्यकारणभावात्माऽविनाभावो निश्चितः । अस्ति चेहेति साध्यधर्मिणि पक्षधर्मोपसंहारः । २१॥

इति स्थितम्—यह निश्चित हुआ, यह सिद्ध हुआ । सूत्र ३–१६ की अवतर-णिका में उठाई गई शङ्का के समाधान का हाँ उपसंहार किया गया है । केवल साधन धर्म का नियम से अनुसरण करने वाला पदार्थ ही उस साधन-धर्म का स्वभाव होता है तथा वही स्वभाव-हेतु का साध्य होता है; इसलिये उस प्रकार के साध्य की सिद्धि के लिये ही स्वभाव-हेतु का प्रयोग करना चाहिये ।

७. साधर्म्यवान् कार्यहेतु का प्रयोग

कार्यहेतोः प्रयोग इति—

कार्यहेतु का प्रयोग है—जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है, जैसे पाकशाला आदि में, और यहाँ भी धूम है ॥२१॥

(साधर्म्यवान्) कार्यहेतु का प्रयोग यह है । यहाँ 'साधर्म्यवान् यह शब्द प्रकरण से जानना चाहिये । 'जहाँ धूम है' इत्यादि से धूम को उद्देश्य करके (=अनूद्य) 'वहाँ अग्नि है' इससे अग्नि का विधान किया गया है । यहाँ नियतसम्बन्ध (नियमार्थः) पहले (अनुपलब्धि तथा स्वभावहेतु) के समान जानना चाहिये । इस प्रकार इस वाक्य (यत्र धूमस्तत्राग्निः) के द्वारा कार्य-कारण-भाव से होने वाली व्याप्ति दिखलाई गई है । व्याप्ति के साधक प्रमाण का विषय (=दृष्टान्त) दिखलाते हुए कहा गया है—यथा महानस (=पाकशाला) आदि में । क्योंकि पाकशाला आदि में प्रत्यक्ष तथा अनुपलब्धि के द्वारा कार्यकारणसम्बन्ध के रूप में अविनाभाव का निश्चय किया जाता है । 'यहाँ भी धूम है' (अस्ति चेह) इत्यादि के द्वारा साध्यधर्म वाले (पर्वत आदि पक्ष) में पक्ष-धर्म (धूम) का होना दिखलाया गया है ॥२१॥

नियमार्थः—नियमः=अव्यभिचारः तल्लक्षणोऽर्थः, नियत होना=नियत सम्बन्ध=अविनाभाव ।

पूर्ववद्=अनुपलब्ध्यादिवत् (धर्मो० प्र०, पृ० १६५), स्वभाव-हेतु के समान (बु० लॉ० २ अनुवाद, पृ० १३७) ।

---

१. कार्यहेतुप्रयोगः C., कार्यहेतोरपि प्रयोगः B.D.E.H.N.P.

२. ०त्यग्निविधिः B.

इहापि सिद्ध एव कार्यकारणभावे कारणे साध्ये 'कार्यहेतुर्वक्तव्यः ॥२२॥

इहापीति। न केवलं स्वभावहेताविहापि कार्यहेतौ[1]। सिद्ध एवेति निश्चिते कार्यकारणत्वे। कार्यकारणभावनिश्चयो[2] ह्यवश्यं कर्त्तव्यः। यतो न योग्यतया हेतुर्गमकोऽपि तु नान्तरीयकत्वाद् इत्युक्तम् ।.२२।।

साधर्म्यवान् स्वभावकार्यानुपलम्भानां प्रयोगो दर्शितः। वैधर्म्यवन्तं दर्शयितुम् आह—

कार्यकारणभावनिमित्ता व्याप्तिः—व्याप्ति = अविनाभाव = प्रतिबन्ध = साधन का साध्य के अधीन होना = साध्यनियतत्व। व्याप्ति दो प्रकार की है—१. अन्य पदार्थ की अन्य के साथ, जैसे धूम की अग्नि के साथ, जो कार्य-कारण-भाव के आधार पर होती है। २. किसी पदार्थ की अपने स्वभाव के साथ जैसे शिंशपात्व की वृक्षत्व के साथ जो तादात्म्य से होती है (दे०, ऊपर सूत्र २.२४)।

प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्याम्—देखिये, ऊपर न्यायविन्दु टीका सूत्र २.१७।

पक्षधर्मोपसंहार—पक्ष = पर्वतादि, उसका धर्म = धूम आदि, उसका उपसंहार = सत्ता दिखलाना (सत्त्वप्रदर्शनम्, धर्मो० प्र०, पृ० १७५)। 'अस्ति चेह धूमः'—इस वाक्य के द्वारा पक्षधर्मता का कथन किया गया है।

इहापीति—

यहाँ भी, जिसके साथ कार्यकारणभाव निश्चित होता है, उस कारण की सिद्धि के लिये ही कार्यहेतु का प्रयोग करना चाहिये ॥२२॥

'इहापि' (= यहाँ भी) का अभिप्राय है कि केवल स्वभावहेतु में ही नहीं अपि तु कार्यहेतु में भी। 'सिद्ध एव' (= निश्चित में ही) का अर्थ है—जहाँ कार्य-कारणभाव निश्चित हो। कार्यकारणभाव का निश्चय अवश्य करना होता है; क्योंकि केवल योग्यता होने से कोई हेतु (साध्य का) बोधक नहीं होता अपि तु उसका अविनाभावी होने से ही (उसका बोधक होता है); यह कहा जा चुका है ॥२२॥

निश्चयः—देखिये ऊपर न्यायविन्दुटीका सूत्र २.५।

उक्तम्—यतो न योग्यतया लिङ्गं परोक्षज्ञानस्य निमित्तम्। न्यायविन्दुटीका, सूत्र २.५।

८. वैधर्म्यवान् हेतु के प्रयोग

साधर्म्यवान् इति—स्वभाव, कार्य तथा अनुपलब्धि का साधर्म्यवान् प्रयोग (अभी) दिखलाया गया है। इनके वैधर्म्यवान् प्रयोगों को दिखलाते हुए कहते हैं—

वैधर्म्यवान् (परार्थानुमान्) का प्रयोग है—जो विद्यमान वस्तु उपलब्धि के योग्य है, वह अवश्य उपलब्ध होती है; जैसे नील आदि क्षण (विशेष =

---

१. कार्यं हेतु० C.D. २. कार्यहेतोः B,
३. कार्यकारणत्वनिश्चयो A.H.N.P., कार्यकारणनिश्चयो C.

वैधर्म्यवतः[1] प्रयोगः – यत् सद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं तद् उपलभ्यत एव; यथा नीलादिविशेषः। न चैवम् इहोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य सत उपलब्धिर्घटस्येति, अनुपलब्धिप्रयोगः ॥२३॥

वैधर्म्यवत इति[2]। यत् सद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तम् इति यत् सत् दृश्यम् इत्यस्तित्वानुवादः। तद् उपलभ्यत इत्युपलम्भविधिः। तद् अनेन दृश्यस्य सत्त्वं दर्शनविषयत्वेन व्याप्तं कथितम्।

असत्त्वनिवृत्तिश्च सत्त्वम्, अनुपलम्भनिवृत्तिश्च उपलम्भः। तेन साध्यनिवृत्त्यनुवादेन साधननिवृत्तिर्विहिता। तथा च साध्यनिवृत्तिः साधननिवृत्तौ नियतत्वात् साधननिवृत्त्या व्याप्ता कथिता। यदि च धर्मिणि साध्यधर्मो न

स्वलक्षण)—(व्याप्ति) किन्तु। उपलब्धि के योग्य होते हुए भी घट की यहाँ उपलब्धि नहीं हो रही है (इसलिये यहाँ घट नहीं है)—(पक्षधर्मता)। यह अनुपलब्धि का (वैधर्म्यवान्) प्रयोग है ॥२३॥

जो विद्यमान वस्तु उपलब्धि के योग्य है=जो विद्यमान वस्तु दृश्य है—यहाँ सत्ता (अस्तित्व=सत्त्व) को उद्देश्य बनाया गया है। 'वह उपलब्ध होती है'—यहाँ उपलब्धि को विधेय बतलाया गया है। इस प्रकार इस वाक्य से दृश्य वस्तु की सत्ता को दर्शन का विषय (=उपलब्ध) होने का व्याप्त कहा गया है।

नीलादिविशेषः – नील आदि स्वलक्षण। बौद्धन्याय के अनुसार नील आदि स्वलक्षण ही वस्तुसत् है अतः उसका ही सत् रूप में दृष्टान्त दिया गया है।

दर्शनविषयत्वेन व्याप्तम्—जो दर्शनयोग्य वस्तु विद्यमान है, उसका अवश्य दर्शन होता है—यह व्याप्ति है। इसमें दृश्य की सत्ता व्याप्य या व्याप्त है दर्शनविषय व्यापक या साध्य है।

कथितम्—यहाँ प्रायः सभी पुस्तकों में 'कथितम्, असत्त्वनिवृत्तिश्च सत्त्वम्। अनुपलम्भनिवृत्तिश्च उपलम्भः।' इस प्रकार का पाठ है। उसमें विरामचिह्नों के प्रयोग अशुद्ध है। अर्थ की दृष्टि से स्वीकृत पाठ ही युक्तियुक्त है श्चेरबात्स्की ने भी यही पाठ माना है (बु० लॉ० २, पृ० १३९ टि० २)।

असत्त्वनिवृत्तिश्चेति—असत्त्व (न होना) का निषेध सत्त्व (होना) है और अनुपलब्धि का निषेध उपलब्धि है। अतः साध्य के अभाव को उद्देश्य करके साधन के अभाव का विधान किया गया है (जहाँ साध्य नहीं है वहाँ साधन नहीं होता—यह कहा गया है)। इस प्रकार साध्य के अभाव (सत्त्व) को साधन के अभाव (=उपलम्भ) का व्याप्य (=व्याप्त) कहा गया है; क्योंकि वह (साध्याभाव=सत्त्व) साधन के अभाव (=उपलम्भ) का अविनाभावी है (नियतत्वात्)। यदि धर्मी (पक्ष) में साध्यधर्म न हो तो हेतु भी न रहे; क्योंकि हेतु के अभाव से साध्याभाव व्याप्त

---

१. वैधर्मवतः E.

२. इति' नास्ति C.

भवेद्—[1]हेतुरपि न भवेत् । हेत्वभावेन साध्याभावस्य व्याप्तत्वात् । अस्ति च हेतुः । अतो व्यापकस्य साधनाभावस्याभावाद् व्याप्यस्य साध्याभावस्याभाव इति [2]साध्यनिश्चयो भवति । ततो वैधर्म्यप्रयोगे साधनाभावे साध्याभावो [3]नियतो दर्शनीयः सर्वत्रेति न्यायः ॥२३॥

होता है । किन्तु यहाँ हेतु (अनुपलम्भ) विद्यमान है; इसलिये व्यापक जो साधन का अभाव (उपलम्भ) है, उसके न होने से व्याप्य जो साध्य का अभाव (सत्त्व) है उसका अभाव सिद्ध होता है—इस प्रकार साध्य का निश्चय हो जाता है। इस प्रकार वैधर्म्यवान् प्रयोग में सर्वत्र साधनाभाव में साध्याभाव को व्याप्य (नियत) दिखलाना चाहिये, यह नियम (न्याय) है ॥२३॥

वैधर्म्य प्रयोगे साधनाभावे साध्याभावो नियतो दर्शनीयः—सूत्र ३.८ में अनुपलब्धि का साधर्म्यवान् प्रयोग दिखलाया गया है। वहाँ कहा गया है कि जो सत् उपलब्धि-योग्य पदार्थ उपलब्ध नहीं होता, वह अभाव व्यवहार के योग्य है जैसे शशविषाण आदि । इस प्रकार वहाँ

उपलब्धियोग्य की अनुपलब्धि—हेतु, व्याप्य या लिङ्ग, साधन ।
अभाव-व्यवहार योग्यता (=असत्त्व)—साध्य व्यापक ।
शशविषाण आदि —साधर्म्य दृष्टान्त ।

उसी साध्य और साधन (हेतु) का प्रस्तुत सूत्र (३.२३) में वैधर्म्यवान् प्रयोग दिखलाया जा रहा है । नैयायिक आदि की व्यतिरेक व्याप्ति (द्र० तर्कभाषा पृ० १०-११ तथा श्लोकवार्त्तिक, अनुमान १२१-१२३) के समान इस वैधर्म्यवान् प्रयोग में साध्याभाव को व्याप्य तथा साधनाभाव को व्यापक माना जाता है और वैधर्म्य दृष्टान्त दिया जाता है जैसे—

जो उपलब्धियोग्य सत् है (व्याप्य) उसकी उपलब्धि होती है (व्यापक) यथा नीलस्वलक्षण (वैधर्म्य दृष्टान्त)

इस प्रयोग में सत्त्व व्याप्य है, जो पूर्वोदाहरण के साध्य (=असत्त्व) का अभाव है । यहां उपलब्धि (उपलम्भ] व्यापक है, जो पूर्वोदाहरण के साधन अनुपलब्धि का अभाव है ।

पूर्वोदाहरण में घट का अभाव साध्य है, अतएव अभावात्मक 'शशविषाण' साधर्म्य दृष्टान्त है । किन्तु यहाँ जो दृष्टान्त 'नीलस्वलक्षण' दिया गया है वह सत् है—भावरूप है, वह घटाभाव के विपरीत धर्मवाला है । वह वैधर्म्य दृष्टान्त है । इसप्रकार साधर्म्यवान् और वैधर्म्यवान् दोनों प्रकार के प्रयोग में दृष्टान्त सहित व्याप्ति का स्वरूप एक दूसरे के विपरीत होता है; किन्तु पक्षधर्मता तथा अनुपलब्धि से होने वाला निश्चयात्मक ज्ञान समान ही बना रहता है ।

---

१. हेतुरपि । हेत्व० B.H.P., हेतुरपि न स्यात् D.
२. साध्यगतिर्भवति T. ३. नियमः B.

स्वभावहेतोः वैधर्म्यप्रयोगम् आह—

असति—अनित्यत्वे नास्त्येव[1] सत्त्वम् उत्पत्तिमत्त्वं कृतकत्त्वं वा। [2]संश्च शब्द उत्पत्तिमान् कृतको वेति स्वभावहेतोः प्रयोगः ॥२४॥

असत्यनित्यत्व इति। इहानित्यत्वस्य साध्यस्याभावो हेतोरभावे नियत[3] उच्यते। तेन हेत्वभावेन साध्याभावो व्याप्त उक्तस्त्रिष्वपि स्वभावहेतुषु। सन् उत्पत्तिमान् कृतको वा शब्द इति त्रयाणामपि पक्षधर्मत्वप्रदर्शनम्। इह च साधनाभावस्य व्यापकस्याभाव उक्तः। ततो व्याप्योऽपि साध्याभावो निवर्तत[4] इति साध्यगतिः ॥२४॥

सर्वत्र—तीनों (अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य) प्रकार के हेतु के ही प्रयोग में।

स्वभावहेतोर् इति—स्वभावहेतु का वैधर्म्यवान् प्रयोग दिखलाते हैं—

अनित्यता न होने पर सत्ता, उत्पत्तिमत्ता अथवा कायता नहीं होती; किन्तु शब्द सत् है, उत्पत्तिमान् है तथा कृतक है—यह वैधर्म्यवान् स्वभाव हेतु का प्रयोग है ॥२४॥

असत्यनित्यत्वे इति। यहाँ (स्वभावहेतु के तीनों प्रयोगों में) अनित्यत्व साध्य है, उसका अभाव हेतु के अभाव का व्याप्य (=नियत=प्रतिबद्ध=अविनाभावी) कहा गया है। अत तीनों ही स्वभावहेतुओं में हेत्वभाव के द्वारा साध्याभाव व्याप्त है। शब्द सत्, उत्पत्तिमान् या कृतक है; इससे तीनों (हेतुओं) की पक्षधर्मता दिखलाई गई है। स्वभावहेतु के इन तीनों प्रयोगों में (साध्याभाव के) व्यापक साधनाभाव का न होना बतलाया गया है। साधन के अभाव से (ततः) उसका व्याप्य जो साध्य का अभाव है, वह भी निवृत्त हो जाता है (=उसका भी अभाव निश्चित होता है) तथा साध्य (अनित्यत्व) के होने का निश्चय हो जाता है ॥२ ॥

हेत्वभावेन साध्याभावो व्याप्तः—स्वभावहेतु के वैधर्म्यवान् प्रयोग में भी साध्याभाव व्याप्य होता है और हेत्वभाव उसका व्यापक होता है। उदाहरणार्थ ऊपर ३·९ में साधर्म्यवान् प्रयोग है—जो सत् है वह अनित्य है, जैसे घट आदि। यहां 'सत्त्व, साधन या हेतु है तथा 'अनित्यत्व' साध्य है। वैधर्म्यवान् प्रयोग में साध्याभाव (= अनित्यत्व का अभाव) व्याप्य होगा और साधनाभाव (=सत्त्वाभाव = असत्त्व) व्यापक होगा। प्रयोग इस प्रकार का हो जायेगा—जो अनित्य नहीं वह सत् नहीं। इसी प्रकार जो अनित्य नहीं वह उत्पत्तिमान् नहीं, वह कृतक नहीं इत्यादि। इस प्रकार यहाँ तीन स्वभावहेतु दिखलाये गये हैं।

साध्यगतिः - साध्यनिश्चय, साध्य है—अनित्यत्व या क्षणिकत्व उसका निश्चय। असत्त्व (साधनाभाव) के न होने से अनित्यत्व का अभाव भी नहीं रहता अतः अनित्यत्व सिद्ध हो जाता है।

---

१. 'एव' नास्ति B·D.E.H.N.P. २. असंश्च B.H.N.P.
३. नियमः B. ४. निवृत्त इति A.E.H.N.P.

कार्यहेतोर्वैधर्म्यवत् प्रयोगम्[1] आह—

असत्यग्नौ न भवत्येव धूमः। अत्र चास्ति धूम[2] इति कार्यहेतोः प्रयोगः ॥२५॥

असत्यग्नाविति। इहापि[3] वह्न्यभावो धूमाभावेन व्याप्त उक्तः। [4]अस्ति चात्र धूम इति व्यापकस्य धूमाभावस्याभाव उक्तः। ततो व्याप्यस्य वह्न्यभाव-स्याभावे साध्यगतिः ॥२५॥

ननु च साधर्म्यवति[5] व्यतिरेको नोक्तः, वैधर्म्यवति चान्वयः। तत् कथम् एतत् त्रिरूपलिङ्गाख्यानम् इत्याह—

साधर्म्येणापि हि प्रयोगेऽर्थाद् वैधर्म्यगतिरिति[6] ॥२६॥

कार्यहेतोर् इति—कार्यहेतु का वैधर्म्यवान् प्रयोग बतलाते हैं—

'अग्नि के न होने पर धूम नहीं होता और यहाँ धूम है'—यह कार्यहेतु का (वैधर्म्यवान्) प्रयोग है ॥२५॥

असति—अग्नौ, इत्यादि। यहां भी अग्नि का अभाव धूमाभाव का व्याप्त कहा गया है। 'यहाँ धूम है', इस कथन से व्यापक जो धूमाभाव है, उसका न होना (अभाव) बतलाया है। उस व्यापक (धूमाभाव) के न होने से (=ततः) व्याप्य जो अग्नि का अभाव है, उसका न होना (सिद्ध होता है) तथा तब साध्य (अग्नि) का निश्चय हो जाता है ॥२५॥

वह्न्यभावो धूमाभावेन व्याप्तः—साधर्म्यवान् कार्यहेतु का प्रयोग है—जहाँ धूम है वहाँ अग्नि होती है जैसे पाकशाला आदि में (३.२१)। इसमें अग्नि साध्य है, धूम साधन है। वैधर्म्यवान् प्रयोग में साध्याभाव (अग्नि का अभाव) व्याप्य होगा और साधनाभाव (धूम का अभाव) व्यापक होगा। प्रयोग इस प्रकार हो जायेगा जहाँ अग्नि का अभाव है वहाँ धूम का अभाव है।

साध्यगतिः=साध्यनिश्चय, अग्नि के होने का निश्चय। यहाँ धूम है, यह कहने से व्यापक (धूमाभाव) का अभाव बतलाया जाता है। इससे व्याप्य (साध्याभाव =अग्नि का अभाव) का निषेध हो जाता है। इस प्रकार अग्नि के अभाव का निषेध होने से अग्नि के होने का निश्चय हो जाता है।

९. साधर्म्यवान् तथा वैधर्म्यवान् सभी प्रयोगों में त्रिरूप लिङ्ग का कथन

ननु चेति—(शङ्का) साधर्म्यवान् प्रयोग में व्यतिरेक (हेतु का विपक्ष में न होना) तथा वैधर्म्यवान् में अन्वय (सपक्ष में होना) नहीं दिखलाया गया; फिर यह त्रिरूप लिङ्ग का कथन कैसे हुआ? इस पर कहते हैं—

साधर्म्य से युक्त प्रयोग में भी सामर्थ्य से वैधर्म्य की प्रतीति हो जाती है ॥२६॥

---

१. वैधर्म्यप्रयोग० A.E.H.N.P.
२. 'धूमः' नास्ति C.D.
३. इहापि च C.D.
४. अत्र चास्ति धूम इति C.D.
५. साधर्म्यव्यतिरेको B.
६. 'इति' नास्ति C,

साधर्म्येणेति। साधर्म्येणापि अभिधेयेन युक्ते प्रयोगे क्रियमाणे अर्थात्[3]=सामर्थ्यात् वैधर्म्यस्य व्यतिरेकस्य गतिर्भवतीति[4]। हीति यस्मात्। तस्मात् त्रिरूपलिङ्गाख्यानम् एतत्[5]। यदि नाम व्यतिरेकोऽन्वयवता[6] नोक्तस्तथापि अन्वयवचनसामर्थ्याद् एवावसीयते ॥२६॥

कथम् ?

असति तस्मिन् साध्येन हेतोरन्वयाभावात् ॥२७॥

साधर्म्येण, इत्यादि। क्योंकि (हि=यस्मात्) जब अन्वय रूप अभिधेय अर्थ से युक्त प्रयोग दिखलाया जाता है तो उसमें भी सामर्थ्य से व्यतिरेक (=वैधर्म्य) का निश्चय हो जाता है। इसलिये यह त्रिरूप लिङ्ग का कथन ही है। यद्यपि अन्वय-युक्त (साधर्म्य) प्रयोग के द्वारा व्यतिरेक (शब्दों द्वारा) नहीं कहा जाता तथापि अन्वय कथन के सामर्थ्य से ही निश्चित कर लिया जाता है (अवसीयते) ॥२६॥

त्रिरूपलिङ्गाख्यानम्—परार्थानुमान का लक्षण है—'त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्' (३.१)। वे लिङ्ग के तीन रूप हैं—लिङ्गस्य अनुमेये सत्त्वम् एव, सपक्षे एव सत्त्वम्, असपक्षे चाऽसत्त्वम् एव (२.५)। इनमें से 'सपक्षे एव सत्त्वम्' (=सपक्षसत्त्व) को अन्वय कहते हैं तथा 'असपक्षे चासत्त्वम् एव' (विपक्ष-असत्त्व) को व्यतिरेक कहते हैं। साधर्म्यवान् प्रयोग में विपक्ष-असत्त्व (व्यतिरेक) नहीं कहा जाता और वैधर्म्यवान् में 'सपक्ष-सत्त्व' (अन्वय)। अतः इन दोनों प्रयोगों में ही हेतु के तीनों रूपों का ही कथन नहीं होता तथा इनमें परार्थानुमान का लक्षण घटित न होगा—यह शङ्का है।

सामर्थ्यात्—सामान्यतः सामर्थ्यात् का अर्थ है–अन्यथानुपपत्ति (=अर्थापत्ति) से, किन्तु बौद्धन्याय में अर्थापत्ति कोई प्रमाण ही नहीं है। अतः यहाँ इस शब्द का आशय यह है—वस्तुतः अन्वय और व्यतिरेक दोनों का तादात्म्य है। उनमें जो भेद है वह तो व्यावृत्तिनिमित्तक है। इसलिये स्वभावहेतुक अनुमान द्वारा एक के शब्दों द्वारा कथन से दूसरे की प्रतीति हो जाती है दूसरा अर्थलभ्य है, शब्द से नहीं कहा जाता। (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १६७)।

इस प्रकार बौद्धन्याय में सभी हेतु अन्वय-व्यतिरेकी होते हैं यहाँ न्यायवैशेषिक के समान केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी हेतु नहीं होते।

कथम् इति—कैसे ?

क्योंकि उस (व्यतिरेक) के न होने पर साध्य के साथ हेतु का अन्वय (जहाँ साधन है वहाँ अवश्य साध्य है—इस प्रकार का सम्बन्ध) भी नहीं हो सकता ॥२७॥

---

३. अर्थादिति C.

४. 'इति' नास्ति B.C.D.

५. मेव तत् C.

३. ०वति नोक्तोऽन्वय० A.C.E.P.

असति तस्मिन् व्यतिरेके[1] बुद्ध्याध्यवसिते[2] साध्येन हेतोरन्वयस्य 'बुद्ध्याध्यवसितस्याभावात्'[3][4]। साध्ये नियतं साधनम्[5] अन्वयवाक्याद् अवस्यता साध्याभावे साधनं नाशङ्कनीयम् । इतरथा 'साध्यनियतम् एव न प्रतीतं स्यात् । साध्याभावे च साधनाभावगतिर्व्यतिरेकगतिः । अतः साध्यनियतस्य साधनस्याभिधानसामर्थ्याद् अन्वयवाक्येऽवसितो व्यतिरेकः ॥२७॥

तथा वैधर्म्येणाप्यन्वयगतिः ॥२८॥

तथेति । यथाऽन्वयवाक्ये तथाऽर्थाद् एव वैधर्म्येण प्रयोगेऽन्वयस्यानभिधीयमानस्यापि गतिः ॥२८॥

यदि वह व्यतिरेक (हेतु का विपक्ष में न होना) ज्ञान का विषय न होगा तो साध्य के साथ हेतु के अन्वय (=सपक्षे सत्त्वम् जहाँ साधन है वहाँ अवश्य साध्य है) का भी निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता; इसलिये अन्वय (साधर्म्य) वाक्य से साध्य में व्याप्त (=नियत=प्रतिबद्ध) साधन का निश्चय करने वाले व्यक्ति को (अवस्यता) साध्य के न होने पर साधन (के होने) की शङ्का भी न करनी चाहिये. अन्यथा वह (साधन) साध्य का अविनाभावी (नियत) है, यही निश्चित न हो सकेगा। क्योंकि (=च) साध्य के अभाव में साधन के अभाव का ज्ञान ही व्यतिरेक (वैधर्म्य, विपक्षेऽसत्त्वम्) निश्चय है; इसलिये साध्य से व्याप्त साधन का कथन करने के सामर्थ्य से ही साधर्म्य-प्रयोग में भी वैधर्म्य का निश्चय हो ही जाता है ॥२७॥

बुद्ध्याध्यवसित=बुद्ध्यवसित=बुद्ध्यारूढ=निश्चयापेक्ष । यहाँ बुद्धि शब्द का अर्थ है—सविकल्पक ज्ञान, क्योंकि अन्वय या व्यतिरेक का निश्चय सविकल्पक ज्ञान द्वारा ही होता है । कहीं २ बुद्धि शब्द निर्विकल्पक ज्ञान या संवित् के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है (मि०, बु० लॉ० २; पृ० १४३ टि० ५)।

इतरथा—अन्यथा=नहीं तो । जब अन्वय-कथन से साध्य में साधन की व्याप्ति का निश्चय हो जाता है तो 'साध्य के न होने पर भी साधन होगा'—इस प्रकार की शङ्का भी नहीं हो सकती । यदि ऐसी शङ्का हो जाये तो साध्य में साधन की व्याप्ति का निश्चय कहाँ रहा ? इस प्रकार अन्वय-कथन से व्यतिरेक का भी निश्चय हो जाता है; क्योंकि साध्याभाव होने पर साधनाभाव होना ही व्यतिरेक है ।

तथेति—

उसी प्रकार वैधर्म्य से युक्त प्रयोग के द्वारा भी अन्वय (सपक्ष-सत्त्व) का निश्चय हो जाता है ॥२८॥

तथा का अभिप्राय है—जिस प्रकार साधर्म्य के प्रयोग में (व्यतिरेक की प्रतीति हो जाती है) उसी प्रकार वैधर्म्य से युक्त प्रयोग से शब्दों द्वारा अनुक्त (अनभिहित) भी अन्वय का निश्चय हो जाता है ॥२८॥

---

१. व्यतिरेकवु० A. २. वुद्ध्यध्यवसिते A.B.E.H.N.P.
३. वुद्ध्यावसितस्य A.E.H.N.P., बुद्ध्यवसितस्य B.D.
४. ०सितत्वाभावात् C. ५. साध्ये नियत० C.

कथम् ?

असति तस्मिन् साध्याभावे हेत्वभावस्यासिद्धेः ॥२९॥

असति तस्मिन् अन्वये बुद्धिगृहीते[1]साध्यभावे हेत्वभावस्यासिद्धेरनवसायात् । हेत्वभावे साध्याभावं नियतं व्यतिरेकवाक्याद् अवस्यता हेतुसम्भवे साध्याभावो नाशङ्कनीयः । इतरथा हेत्वभावे [2]नियतः साध्याभावो न स्यात् प्रतीतः । हेतुसत्त्वे च [3]साध्यसत्त्वगतिरन्वयगतिः । अतः [4]साधनाभावनियतस्य साध्याभावस्याभिधानसामर्थ्याद् व्यतिरेकवाक्येऽन्वयगतिः ॥२९॥

कैसे ?

क्योंकि उस (अन्वय) के न होने पर साध्य के अभाव में हेतु का अभाव (=व्यतिरेक) ही सिद्ध नहीं होता ॥२९॥

उस अन्वय के बुद्धिस्थित न होने पर साध्य के अभाव में हेतु के अभाव की सिद्धि नहीं होती, अर्थात् निश्चय नहीं होता ।

वैधर्म्य—प्रयोग (=व्यतिरेक वाक्य) द्वारा हेतु के अभाव में साध्य के अभाव को व्याप्य (प्रतिबद्ध=नियत) जानने वाले व्यक्ति को हेतु के होने पर साध्य के न होने की शङ्का भी न होनी चाहिये; नहीं तो हेतु के अभाव में साध्य का अभाव नियत (व्याप्य=प्रतिबद्ध) है, यह निश्चित नहीं होगा । क्योंकि हेतु के होने पर साध्य के होने का निश्चय (गति) ही अन्वयज्ञान है; इसलिये साधन के अभाव में उसके व्याप्य साध्याभाव का शब्द द्वारा कथन करने के सामर्थ्य से वैधर्म्य-प्रयोग (=व्यतिरेक वाक्य) में अन्वय (सपक्षसत्त्व=साधर्म्य) की भी प्रतीति हो जाती है ॥२९॥

बुद्धिगृहीते—बुद्ध्यवसिते=बुद्धि में निश्चित । यहाँ 'गृहीत' शब्द अध्यवसित =निश्चित के अर्थ में है, किन्तु वस्तुतः ग्रहण और अध्यवसाय में भेद होता है (देखिये ऊपर न्यायबिन्दुटीका, सूत्र १.१२ तथा मि०, बु० लॉ० २, पृ० १४४, टि० ३)। दुर्वेक मिश्र के अनुसार बुद्धिगृहीते=बुद्ध्यन्तरगृहीते (धर्मो० प्र०; पृ० १६९)= दूसरे ज्ञान से निश्चित होने पर । वस्तुस्थिति यह है कि इन स्थलों पर एक ज्ञान से वैधर्म्य का निश्चय होता है तथा दूसरे ज्ञान से साधर्म्य की प्रतीति होती है ।

सामर्थ्याद् व्यतिरेकवाक्येऽन्वयगतिः—जहाँ साधन (धूम आदि) है वहाँ अवश्य ही साध्य (अग्नि) आदि होता है—इस प्रकार का निश्चय ही अन्वय–निश्चय है । यदि इस प्रकार का निश्चय न हो तो पक्ष में ही साध्य (अग्नि) के न होने पर भी साधन (धूम) के होने की शङ्का होने लगेगी । फिर तो 'साध्याभावे साधनाभावः' साध्य के न होने पर साधन का न होना—इस प्रकार का व्यतिरेक सिद्ध ही नहीं होगा । इसलिये व्यतिरेक के कथन से अन्वय भी प्रतीत हो जाता है । अन्वय सामर्थ्यलभ्य है । (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १६९) ।

---

१. ०गृहीते ते साध्या० A.H.P.
२. नियतो न स्यात् C.T.
३. साध्यसत्त्वं गतिः A.
४. साधनाभावे नियतस्य C.

यदि नामाकाशादौ साध्याभावे साधनाभावस्तथापि किमिति हेतुसम्भवे साध्यसम्भवः इत्याह—

न हि स्वभावप्रतिबन्धेऽसत्येकस्य निवृत्तावपरस्य नियमेन निवृत्ति ॥३०॥

नहीति स्वभावेन प्रतिबन्धो यस्तस्मिन् असति, एकस्य साध्यस्य निवृत्त्या नापरस्य साधनस्य नियमेन युक्ता नियमवती निवृत्तिः ॥३०॥

स च द्विप्रकारः सर्वस्य । तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणश्चेत्युक्तम् ॥३१॥

यदि नामेति—(प्रश्न) यदि आकाश इत्यादि में (अनित्यत्व रूप) साध्य का अभाव होने पर (सत्त्व, उत्पत्तिमत्त्व, कृतकत्व रूप) साधन का अभाव है तो इससे हेतु (सत्त्व आदि) के होने पर साध्य (अनित्यत्व) का होना भी सम्भव कैसे होगा ? इस पर कहते हैं—

स्वभावप्रतिबन्ध (=अविनाभाव सम्बन्ध या व्याप्ति) न होने पर एक (साध्य) के अभाव में दूसरे (साधन) का नियमपूर्वक अभाव नहीं हो सकता ॥३०॥

जो अपनी सत्ता के लिये दूसरे (साध्य) पर आश्रित रहना (अर्थात् अविनाभाव सम्बन्ध) है, उसके न होने पर एक अर्थात् साध्य के अभाव (=निवृत्ति) से दूसरे अर्थात् साधन का नियमपूर्वक (नियमेन युक्ता=नियमवती) अभाव नहीं होता ॥३०॥

यदि नाम—सिद्धान्ती के अभिप्राय को न समझकर यह शङ्का की गई है कि वैधर्म्य-प्रयोग द्वारा आकाश आदि में साध्याभाव से साधनाभाव को जानकर भी "साधन के होने पर साध्य अवश्य होता है"—इस व्याप्ति का निश्चय कैसे हो जायेगा ?

न हि०—(समाधान है) भाव यह है कि जहाँ व्याप्ति या प्रतिबन्ध होता है, वहीं साध्याभाव से साधन का अभाव हो सकता है, व्याप्ति के विना ऐसा नहीं होता। आकाश आदि में अनित्यत्व (साध्य) का अभाव होने पर कृतकत्व (साधन) का अभाव तभी वन सकता है जव कि कृतकत्व की अनित्यत्व के साथ व्याप्ति हो; अर्थात् कृतकत्व अपनी सत्ता के लिये अनित्यत्व पर आश्रित (स्वभावप्रतिवद्ध) हो।

स्वभावप्रतिबन्ध—भाव=उत्पत्ति=सत्ता, अपनी सत्ता के लिये साध्य पर आश्रित होना, स्वभावेन प्रतिबन्धः=प्रतिबद्धत्वं साध्यायत्तत्वम् (धर्मो० प्र०, पृ० १७०)।

स चेति—

वह स्वभावप्रतिबन्ध सभी हेतुओं का (सर्वस्य) दो प्रकार का होता

स च स्वभावप्रतिबन्धो द्विप्रकारः सर्वस्य [1]प्रतिबद्धस्य । तादात्म्यं लक्षणं निमित्तं यस्य स तथोक्तः । तदुत्पत्तिर्लक्षणं निमित्तं यस्य स तथोक्तः । यो यत्र प्रतिबद्धस्तस्य स प्रतिबन्धविषयोऽर्थः स्वभावः कारणं वा स्यात् । अन्यस्मिन् प्रतिबद्धत्वानुपपत्तेः । तस्मात् द्विप्रकारः स इत्युक्तम् । 'स च साध्येऽर्थे लिङ्गस्य' इत्यत्रान्तरेऽभिहितः ॥३१॥

तेन हि निवृत्तिं कथयता प्रतिबन्धो दर्शनीयः । तस्मात् निवृत्तिवचनम् आक्षिप्तप्रतिबन्धोपदर्शनम् एव भवति । यच्च प्रतिबन्धोपदर्शनं [2]तदेवान्वय-

---

है—तादात्म्य के निमित्त से होने वाला और तदुत्पत्ति के निमित्त से होने वाला, यह ऊपर (२.२१-२२) कहा जा चुका है ॥३१॥

सभी हेतुओं का वह स्वभाव-प्रतिबन्ध (व्याप्ति) दो प्रकार का होता है—(१) तादात्म्य (=साध्य के साथ एकरूपता) जिसका लक्षण अर्थात् निमित्त है ऐसा और (२) उस साध्य से उत्पत्ति होना (तदुत्पत्ति) जिसका निमित्त =लक्षण) है ऐसा। जो (हेतु) जिस (साध्य) में नियत (=प्रतिबद्ध=व्याप्य) है, उस हेतु का वह व्याप्ति का विषय (साध्य) या तो स्वभाव होगा या कारण होगा। इनसे भिन्न में व्याप्ति या प्रतिबन्ध नहीं बन सकता। इसलिये वह प्रतिबन्ध दो प्रकार है--यह कहा है। और वह (दोनों प्रकार का प्रतिबन्ध) 'स च साध्येऽर्थे लिङ्गस्य०' (२-२१-२२) इस ग्रन्थ में बतलाया गया है।

स च—यहाँ च=पुनः (फिर) या एव (=ही, केवल)। 'च पुनरर्थे एवार्थे वा तेन द्विप्रकार एवेति योजनीयम् (Mallavadi f. 85)—मि० बु० लॉ० २, पृ० १४५ टि० ४।

भाव यह है कि जो भी हेतु है, वह या तो साध्य के साथ तादात्म्य रखता है, या साध्य से उत्पन्न होता है। इन दोनों निमित्तों के विना कोई हेतु नहीं हो सकता। बौद्ध-न्याय के अनुसार केवल तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति से ही हेतु होता है (द्र०, ऊपर मूल ग्रन्थ तथा टिप्पणी २.२१–२४)।

अन्यस्मिन् प्रतिबद्धत्वानुपपत्तेः—जो पदार्थ न तो हेतु का स्वभाव है और न कारण ही है, उसमें वह हेतु नियत=प्रतिबद्ध (व्याप्य) नहीं हो सकता। इसीलिये जो न्याय-वैशेषिक आदि संयोग आदि के द्वारा स्वभाव-सम्बन्ध (व्याप्ति) मानते है, वह नहीं बन सकता (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १७०)।

१०. दोनों अन्वय-व्यतिरेक वाक्यों का प्रयोग आवश्यक नहीं

तेन हीति—क्योंकि (हि) ऐसा है, अतः (साध्य की निवृत्ति से साधन की) निवृत्ति का कथन करते हुए व्याप्ति दिखलानी होती है। इसलिये निवृत्ति का कथन करना आक्षेप से प्रतीत हुई व्याप्ति का प्रदर्शन ही होता है। और,

---

१. 'प्रतिबद्धस्य' नास्ति A.H.P. २. तदन्वय C.

वचनम् इत्येकेनापि वाक्येनान्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा प्रयुक्तेन सपक्षा-सपक्षयोर्लिङ्गस्य 'सदसत्त्वख्यापनं कृतं भवतीति नावश्यं वाक्यद्वय-प्रयोगः ॥३२॥

हि यस्मादर्थे। यस्मात् स्वभावप्रतिबन्धे निवर्त्यनिवर्तकभावस्तेन साध्यस्य निवृत्तौ साधनस्य[2] निवृत्तिं कथयता प्रतिबन्धो निवर्त्यनिवर्तकयोर्दर्शनीयः। यदि हि साधनं साध्ये प्रतिबद्धं भवेद् एवं साध्यनिवृत्तौ [3]तन्नियमेन निवर्तेत।

यतश्च तस्य प्रतिबन्धो दर्शनीयः तस्मात् साध्यनिवृत्तौ यत साधन-निवृत्तिवचनं तेनाक्षिप्तं प्रतिबन्धोपदर्शनम्[4]। यच्च तदाक्षिप्तं[5] प्रतिबन्धोप-

---

जो व्याप्ति-प्रदर्शन है, वही अन्वय-कथन है इस प्रकार अन्वय द्वारा या व्यतिरेक द्वारा प्रयुक्त एक ही वाक्य से सपक्ष में लिङ्ग का होना तथा असपक्ष में न होना प्रकट कर दिया जाता है। इसी लिये दोनों (अन्वय तथा व्यतिरेक) वाक्यों का प्रयोग आवश्यक नहीं है ॥३२॥

'हि' क्योंकि के अर्थ में है। क्योंकि स्वभावप्रतिवन्ध (व्याप्ति) होने पर ही निवर्त्य-निवर्तक-भाव हो सकता है (अर्थात् साध्य की निवृत्ति होने से साधन की निवृत्ति हो सकती है); इसलिये साध्य के अभाव में साधन का अभाव वतलाते हुए निवर्त्य (साधन) और निवर्तक (साध्य) इन दोनों का प्रतिबन्ध दिखलाना होता है। क्योंकि यदि साधन साध्य में व्याप्त होता है तभी वह साध्य की निवृत्ति होने पर नियमपूर्वक निवृत्त हो सकता है।

हि = यस्मात् क्योंकि जहाँ व्याप्ति होती है वहीं व्यापक के अभाव में व्याप्य का अभाव होना है। जैसे धूम और अग्नि की व्याप्ति है, धूम अग्नि में प्रतिबद्ध (नियत = व्याप्य) है। इसीलिये अग्नि की निवृत्ति (अभाव होने पर धूम की) निवृत्ति हो जाती है यहाँ अग्नि निवर्तक है और धूम निवर्त्य।

तेन = तस्मात् = इसलिये। क्योंकि स्वभावप्रतिवन्ध होने पर ही निवर्त्य-निवर्तक-भाव होता है। इसलिये जिनका निवर्त्य-निवर्तक-भाव दिखलाया जाता है, उनकी व्याप्ति (= प्रतिवन्ध) शब्दों से विना कहे ही प्रकट हो जाती है। वहाँ निवर्त्य (निवर्त्यमान) निवर्तक में प्रतिवद्ध (नियत = व्याप्य) है, यह प्रतीत हो जाता है।

यतश्चेति—क्योंकि उस (साधन) का प्रतिवन्ध (व्याप्ति) दिखलाना होता है, इसीलिये जो साध्य के अभाव में साधनाभाव का कथन है उसके द्वारा आक्षेप से प्रतीत हुई व्याप्ति का प्रदर्शन (प्रकटन) हो जाता है (अथवा प्रतिवन्ध का प्रकाशन आक्षेप द्वारा हो जाता है)। और, जो यह प्रतिबन्ध-प्रकाशन आक्षेप द्वारा

---

१. सदसत्त्वाख्यापनं C. २. साधननि० C.D.
३. 'तत्' नास्ति B.C.D. ४. तेनाक्षिप्तं प्रतिबन्धोपदर्शनं तदेवान्वयवचनम् B.
५. ०क्षिप्तप्रति A.E.H N.P.

दर्शनं तद् एवान्वयवचनम् । प्रतिबन्धश्चेद् अवश्यं दर्शयितव्यो न वक्तव्यस्तर्ह्य-न्वयः । यस्माद् दृष्टान्ते प्रमाणेन प्रतिबन्धो दर्श्यमान एवान्वयो नापर कश्चित्, तस्मान् निवर्त्यनिवर्तकयोः[1] प्रतिबन्धो ज्ञातव्यः । तथा चान्वय एव ज्ञातो भवति ।

इति शब्दो हेतौ । यस्माद् अन्वयेऽपि[2] व्यतिरेकगतिः व्यतिरेके चान्वय-गतिः, तस्माद् एकेनापि सपक्षे चासपक्षे च सत्त्वासत्त्वयोः ख्यापन कृतम् । अन्वयो मुखम् उपायोऽभिधेयत्वाद यस्य तद् अन्वयमुखं वाक्यम् । एवं व्यतिरेको मुखं[3] यस्येति । 'इति हेतौ । यस्माद एकेनापि वाक्येन द्वयगतिः तस्माद् एक-

---

होता है, वही अन्वय-कथन है । यदि प्रतिबन्ध दिखलाना ही आवश्यक है तो अन्वय-कथन की आवश्यकता नहीं; क्योंकि दृष्टान्त में प्रमाण के द्वारा दिखलाया गया प्रतिबन्ध ही 'अन्वय' होता है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं । इस प्रकार निवर्त्य तथा निवर्तक का प्रतिबन्ध (अवश्य) जानना होता है और उससे अन्वय भी ज्ञात हो जाता है ।

आक्षिप्तं प्रतिबन्धोपदर्शनम्—न्यायबिन्दुटीका के इस पाठ का यह अर्थ अधिक सङ्गत प्रतीत होता है—प्रतिबन्ध का प्रकाशन आक्षेप से हो जाता है (प्रतिबन्धोपदर्शनम् आक्षिप्तम्) । न्यायबिन्दु का पाठ है—'आक्षिप्तप्रबन्धोपदर्शनम् जिसका अर्थ है—आक्षेप से प्रतीत हुए प्रतिबन्ध का प्रकाशन ।

यच्च तदाक्षिप्तम्—उस (निवृत्ति-कथन) के द्वारा जो प्रतिबन्ध-प्रकाशन की आक्षेप से प्रतीति है, वही अन्वय-कथन है; शब्दों द्वारा अन्वय-कथन की आवश्यकता नहीं ।

दृष्टान्ते प्रमाणेन०—श्चेरबात्स्की के अनुसार जिस विशेष स्थल में साधन और साध्य की व्याप्ति का निश्चय किया जाता है, वही दृष्टान्त या प्रमाण है (मि० बु० लॉ० २, पृ० १४७ टि० ७) । वस्तुतः जैसा ऊपर कहा जा चुका है, दृष्टान्त और प्रमाण में अन्तर है । प्रस्तुत वाक्य से भी यही प्रकट होता है, क्योंकि दृष्टान्त सप्तमी और प्रमाण (तृतीया) शब्द में विभक्ति का भेद है अतः स्पष्ट ही दोनों भिन्न २ है । इस प्रकार प्रमाण शब्द अपने प्रसिद्ध अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है । यहाँ परार्थानुमान प्रमाण द्वारा दृष्टान्त में प्रतिबन्ध दिखलाया जाता है ।

इति शब्द इति—'इति' शब्द हेतु के अर्थ में है । क्योंकि अन्वय के कथन में भी व्यतिरेक की प्रतीति हो जाती है और व्यतिरेक से अन्वय की प्रतीति हो जाती है; इसलिये इनमें से एक के द्वारा ही (हेतु का) सपक्ष में होना तथा असपक्ष में न होना प्रकट कर दिया जाता है । अन्वय (साधर्म्य) है मुख अर्थात् वाच्य रूप में कहे जाने के कारण उपाय जिसका वह अन्वय-मुख (=अन्वय-प्रधान) अनुमान वाक्य है और व्यतिरेक है उपाय जिसका वह व्यतिरेकमुख (=व्यतिरेक-प्रधान) अनुमान-

---

१. ०वर्तकप्रति० A.D.E.H.P.
२. 'अपि' नास्ति A.E.H.N.P.
३. मुखमस्य C.
४. इतिकरणो हेतौ A.

स्मिन् साधनवाक्ये द्वयोरन्वयव्यतिरेकवाक्ययोरवश्यम् एव प्रयोगो न कर्तव्यः। अर्थगत्यर्थो हि शब्दप्रयोगः। अर्थश्चेद् अवगतः, किं शब्दप्रयोगेण? एकम् 'एवान्वयवाक्यं व्यतिरेकवाक्यं वा प्रयोक्तव्यम् ॥३२॥

अनुपलब्धावपि-यत् सद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं तद् उपलभ्यत एवेत्युक्ते—अनुपलभ्यमानं तादृशम् असद् इति प्रतीतेरन्वयसिद्धिः ॥३३॥

अनुपलब्धावपि व्यतिरेकेणोक्तेन' अन्वयगतिः। यत् सद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तम् इति साध्यस्य—असद्व्यवहारयोग्यत्वस्य निवृत्तिं दृश्यसत्त्वरूपम्' आह। तद् उपलभ्यत एवेत्यनुपलम्भस्य निवृत्तिम् उपलम्भरूपम् आह। तद् अनेन साध्यनिवृत्तिः साधननिवृत्त्या व्याप्ता दर्शिता।

यदि च साधनसम्भवेऽपि साध्यनिवृत्तिर्भवेद् न साधनाभावेन व्याप्ता

वाक्य है। फिर 'इति' शब्द हेतु के अर्थ में है। क्योंकि एक वाक्य से ही अन्वय और व्यतिरेक दोनों की प्रतीति हो जाती है; इसलिये अवश्य ही एक साधन वाक्य में अन्वय-वाक्य और व्यतिरेक-वाक्य दोनों का प्रयोग न करना चाहिये। शब्द का प्रयोग तो अर्थ-बोध के लिये किया जाता है। यदि अर्थ का बोध हो गया तो शब्द के प्रयोग की क्या आवश्यकता है? अतः किसी एक अन्वय-वाक्य या व्यतिरेक वाक्य का ही प्रयोग करना चाहिये।

एकम् एव—तुलना कीजिये—'तस्माद् अन्वयव्यतिरेकयोर्यथालक्षणम् एकोऽपि प्रयुक्तो द्वितीयम् आक्षिपतीति नानयोरर्थतः कश्चिद् भेदोऽन्यत्र प्रयोगभेदात्। इति नैकत्र साधनवाक्ये द्वयोः प्रयोगः वैयर्थ्यात्। हेतुबिन्दु, पृ० ५६, प० १०।

अनुपलब्धावपीति—

अनुपलब्धि में भी—'जो विद्यमान है, उपलब्धि के योग्य है, वह अवश्य ही उपलब्ध होता है—इस (व्यतिरेक के) कहने पर—'जो उपलब्धि के योग्य होकर भी (तादृशम्) उपलब्ध नहीं होता, वह नहीं है—ऐसी प्रतीति होने से अन्वय का निश्चय हो जाता है ॥३३॥

अनुपलब्धि में भी व्यतिरेक के कथन से अन्वय की प्रतीति हो जाती है। "जो विद्यमान होकर उपलब्धि के योग्य हैं"—इन शब्दों के द्वारा साध्य (=अभाव व्यवहार-योग्यता) की निवृत्ति अर्थात् उपलभ्यमान वस्तु की सत्ता कही गई है। "वह अवश्य उपलब्ध होता है"—इन शब्दों के द्वारा अनुपलब्धि की निवृत्ति (अभाव) अर्थात् उपलब्धि कही गई है। इस प्रकार इस कथन से (अनेन) साध्याभाव को साधनाभाव का व्याप्त दिखलाया गया है।

यदि साधन के होने पर भी साध्य का अभाव हो जाये तो साधनाभाव का साध्याभाव व्याप्य न होगा (=साध्याभाव साधनाभाव से व्याप्त न होगा)। इस प्रकार व्याप्ति का

---

१. एव त्वन्वय A.E.H.N.P. २. व्यतिरेकेण युक्तेन B.
३. सत्त्वस्वरूपम् C.

भवेत। अतो व्याप्तिं[1] प्रतिपद्यमानेन साधनसम्भवः साध्यसम्भवेन व्याप्तः प्रतिपत्तव्यः। अत एवाह—अनुपलभ्यमानं तादृशम् इति=दृश्यम् असद् इति प्रतीतेः[2]=सम्प्रत्ययाद् अन्वयसिद्धिरिति ॥३३॥

द्वयोरप्यनयोः प्रयोगयो र्नावश्यं पक्षनिर्देशः ॥३४॥

यतश्च साधनं साध्यधर्मप्रतिबद्धं तादात्म्य-तदुत्पत्तिभ्यां प्रतिपत्तव्यं

ज्ञान करने वाले व्यक्ति को यह अवश्य जानना होगा कि साधन की सत्ता साध्य की सत्ता से व्याप्त है (अर्थात् साध्य व्यापक है और साधन व्याप्य है)। इसीलिये कहा है—जो वैसा अर्थात् उपलब्धि के योग्य (=दृश्य) होकर भी उपलब्ध नहीं होता, वह नहीं है (असद्)—इस प्रकार की प्रतीति अर्थात् निश्चय से अन्वय की सिद्धि हो जाती है ॥३३॥

अनुपलब्धावपि—केवल कार्य और स्वभाव हेतु में ही नहीं अनुपलब्धि में भी वैधर्म्यवान् प्रयोग के द्वारा अन्वय की भी प्रतीति हो जाती है।

साध्यनिवृत्तिः साधननिवृत्त्या व्याप्ता दर्शिता—यहाँ साध्य है—असद्व्यवहार-योग्यता=अभावव्यवहार के योग्य होना=असद्। उसका अभाव (निवृत्ति) है—सद् तथा दृश्य। साधन है—अनुपलब्धि (=उपलब्धि का अभाव)। उसका अभाव है—उपलब्धि। वैधर्म्य प्रयोग में साध्याभाव और साधनाभाव की व्याप्ति दिखलाई जाती है जो इस प्रकार है—

जो सद् तथा दृश्य है (साध्याभाव) —व्याप्य
वह अवश्य उपलब्ध होता है (साधनाभाव) —व्यापक

अन्वयसिद्धिः—अनुपलब्धि के वैधर्म्य (व्यतिरेक) प्रयोग से अन्वय की प्रतीति हो जाती है जैसे—

जो दृश्य होकर भी उपलब्ध नहीं होता (साधन, व्याप्य)
वह असद्व्यवहार–योग्य है (साध्य, व्यापक)
जैसे शशविषाण आदि (दृष्टान्त)

११. अनुमानवाक्य में पक्षनिर्देश आवश्यक नहीं

द्वयोरपीति—

इन दोनों (साधर्म्यवत् तथा वैधर्म्यवत् परार्थानुमान) के प्रयोग में पक्ष का निर्देश करना आवश्यक नहीं ॥३४॥

क्योंकि दोनों प्रयोगों में तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति के द्वारा साध्यधर्म से प्रति-बद्ध (व्याप्त) साधन को जानना होता है। इसलिये उनमें पक्ष का अवश्य ही (कहीं भी) निर्देश न करना चाहिये। जो साधन (धूम आदि) साध्य के साथ नियत (साध्य का व्याप्य) जान लिया जाता है, साध्यधर्मी (=पक्ष, पर्वत आदि) में देखे गये उससे

---

१. व्याप्तिप्रति० A. २. 'प्रतीतेः' नास्ति A.

३. प्रयोगेऽवश्यं B.H.P., प्रयोगे नावश्यं E.N.

द्वयोरपि प्रयोगयोः, तस्मात् पक्षोऽवश्यम् एव न निर्देश्यः। यत् साधनं साध्यनियतं प्रतीतं तत एव साध्यधर्मिणि दृष्टात्[1] साध्यप्रतीतिः। अतो न किञ्चित् साध्यनिर्देशेनेति ॥३४॥

ही साध्य (अग्नि आदि) की प्रतीति हो जाती है। अतः पक्ष के निर्देश से कुछ लाभ नहीं ॥३४॥

पक्ष-निर्देश—यहाँ 'पक्ष' शब्द का अर्थ है—मत = साध्य। पक्षनिर्देश = प्रतिज्ञा, पक्ष या मत की स्थापना करना, साध्य को बतलाना है। श्चेरबात्स्की का कथन है कि पक्ष-निर्देश शब्द से नैयायिक के प्रतिज्ञा और निगमन इन दोनों अनुमान-वाक्य के अवयवों का ग्रहण किया गया है। नैयायिक के अनुसार अनुमान-वाक्य के पाँच अवयव हैं जो इस प्रकार हैं—

(i) प्रतिज्ञा—पर्वत अग्नि वाला है,

(ii) हेतु—धूम वाला होने से,

(iii) उदाहरण—जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है; जैसे पाकशाला में,

(iv) यह पर्वत भी अग्नि से व्याप्त धूम वाला है।

(v) इसलिये यह पर्वत अग्नि वाला है।

मीमांसक ने अनुमान-वाक्य के तीन अवयव माने हैं—प्रतिज्ञा, हेतु तथा उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमन (द्र०, मानमेयोदय, पृ० ६४)। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में भी अनुमान के तीन अवयव (three members) होते हैं। ये तीनों न्याय के पञ्चावयव वाक्य के अन्तिम तीन अवयवों से मिलते जुलते ही हैं। जैसे—

(i) मेजर प्रेमिस (major premise) सब मनुष्य मरण धर्मा हैं,

(ii) माइनर प्रेमिस (minor premise) सुकरात भी मनुष्य है,

(iii) परिणाम (Conclusion) इसलिये सुकरात भी मरणधर्मा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध-न्याय में वसुबन्धु ने भी तीन अवयव माने थे; किन्तु दिङ्नाग ने दो ही अवयव माने। ये दो अवयव कौन से हैं? यह अस्पष्ट है। मोक्षाकर गुप्त (तर्कभाषा, पृ० १४ प० १६) के अनुसार वे दो अवयव हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता। व्याप्ति में ही हेतु तथा उदाहरण का अन्तर्भाव हो जाता है तथा पक्षधर्मता में निगमन का, पक्ष-निर्देश (= प्रतिज्ञा) को साधन वाक्य का अङ्ग ही नहीं माना गया। पार्थसारथि मिश्र (शास्त्र दी०, पृ० २३६ बनारस १६०८) के अनुसार वे दो अवयव हैं—उदाहरण और उपनय।

नावश्यं पक्ष-निर्देशः = कहीं भी पक्ष का निर्देश (पक्ष-वचन) नहीं करना चाहिये। इस व्याख्या द्वारा उन बौद्ध व्याख्याकारों (?) का खण्डन किया गया है;

---

१. दृष्ट्वा A.H.P.

'एनम् एवार्थम् अनुपलब्धिप्रयोगे दर्शयति—

यस्मात् साधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि—यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन् नोपलभ्यते, सोऽसद्व्यवहारविषयः[२]। नोपलभ्यते चात्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इत्युक्ते सामर्थ्याद् एव नेह घट इति भवति ॥३५॥

साधर्म्यवति प्रयोगेऽपि सामर्थ्याद् एव नेह प्रदेशे[३] घट इति भवति। किं पुनस्तत् सामर्थ्यम् इत्याह—यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं[४] सन्नोपलभ्यते—इत्यनुपलम्भानुवादः। सोऽसद्व्यवहारविषयः—इत्यसद्व्यवहारयोग्यत्वविधिः। तथा च सति दृश्यानुपलम्भोऽसद्व्यवहारयोग्यत्वेन व्याप्तो दर्शितः। नोपलभ्यते

जिनके अनुसार इसका अर्थ है—'कभी पक्ष निर्देश करना चाहिये, कभी नहीं (एवञ्च व्याचक्षाणेन यत् कैश्चत् स्वयूथ्यैः विद्वस्यमानैः "अवश्यं पक्ष-निर्देशो न, किन्तर्हि ? कदाचिन् निर्देशः कदाचिन्न" इति व्याख्यातं तद् अपहस्तितं द्रष्टव्म्, धर्मो० प्र०, पृ० १७२)।

न किञ्चित् साध्यनिर्देशेन—जब यह निश्चय हो गया कि धूम अग्नि का व्याप्य है तो पर्वत में धूम को देखकर अग्नि का निश्चय हो जाता है। फिर 'पर्वत में अग्नि है' (प्रतिज्ञा) अथवा 'इसलिये यहाँ अग्नि है। (निगमन)–इस कथन की क्या आवश्यकता है (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १५० टि० १)।

एनम् एवार्थम् इति—(पक्ष-निर्देश न करना चाहिये) इस बात को ही अनुपलब्धि के प्रयोग में दिखलाते हैं—

क्योंकि साधर्म्यवत् प्रयोग में भी—"जो (पदार्थ) उपलब्धि के योग्य होकर उपलब्ध नहीं होता वह अभाव-व्यवहार का विषय है; (व्याप्ति)

और यहाँ उपलब्धि के योग्य घट उपलब्ध नहीं हो रहा है; (पक्षधर्मता)"—

ऐसा कहने पर सामर्थ्य से यह प्रतीत हो जाता है कि यहाँ घट नहीं हैं ॥३५॥

(अनुपलब्धि के) साधर्म्यवत् प्रयोग में भी सामर्थ्य से ही यह प्रतीत हो जाता है कि इस स्थान पर घट नहीं है। वह सामर्थ्य क्या है? यह बतलाते हैं—'जो उपलब्धि के योग्य होकर भी उपलब्ध नहीं होता'। यहाँ अनुपलब्धि (नोपलभ्यते) को उद्देश्य बनाया गया है। 'वह असद्व्यवहार का विषय है'—इस (कथन) से अभाव के व्यवहार की योग्यता का विधान किया है; (अर्थात् यहाँ अनुपलब्धि उद्देश्य है और असद्व्यवहार-योग्यता विधेय है)। इस प्रकार यह दिखलाया गया है कि दृश्यानुपलब्धि अभाव के व्यवहार की योग्यता से व्याप्त है (=जहाँ-जहाँ दृश्यानुपलब्धि है वहाँ-वहाँ अभाव का व्यवहार होता है, यह व्याप्ति दिखलाई गई है)। 'उपलब्ध नहीं

---

१. एवमे० A B.E.H.P. एतमे० N.
२. विषयः सिद्धः C.
३. 'प्रदेशे'–नास्ति A.B.H.N.P.
४. प्राप्तिमिति। अनु० A.H.P.

च' इत्यादिना साध्यधर्मिणि सत्त्वं लिङ्गस्य दर्शितम्। यदि च साध्यधर्मस्तत्र साध्यधर्मिणि न भवेत् साधनधर्मोऽपि न भवेत्। साध्यनियतत्वात् तस्य साधनधर्मस्येति सामर्थ्यम् ॥३५॥

तथा वैधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि—यः सद्व्यवहारविषय उपलब्धिलक्षण-प्राप्तः, स उपलभ्यत एव। न[1] तथाऽत्र तादृशो घट उपलभ्यत इत्युक्ते सामर्थ्याद् एव नेह सद्व्यवहारविषय इति भवति ॥३६॥

यथा साधर्म्यवत्प्रयोगे तथा वैधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि सामर्थ्याद् एव नेह [2]सद्-व्यवहारविषयोऽस्ति घट इति भवति।

सामर्थ्यं दर्शयितुम् आह—यः सद्व्यवहारविषय इति विद्यमानः। उपलब्धिलक्षणप्राप्त इति दृश्यः—इत्येषा साध्यनिवृत्तिः। [4]स उपलभ्यत एवेति

होता है'– इस शब्द के द्वारा पक्ष (साध्यधर्मी) में हेतु का होना दिखलाया गया है। यदि उस पक्ष में साध्यधर्म न होता तो साधन धर्म भी न होता; क्योंकि वह (साधन-धर्म) तो साध्यधर्म का अविनाभावी (=नियत, व्याप्य) है। यही सामर्थ्य है (जिसके द्वारा 'यहाँ घट नहीं' इत्यादि साध्य की प्रतीति हो जाती है) ॥३५॥

तथेति—

उसी प्रकार (अनुपलब्धि के) वैधर्म्यवत् प्रयोग में भी—जो (पदार्थ) 'यह सत् (विद्यमान) है' इस व्यवहार का विषय है तथा उपलब्धि के योग्य है, वह अवश्य उपलब्ध होता है, (व्याप्ति)

किन्तु वैसा होते हुए भी घट यहाँ उपलब्ध नहीं होता (पक्षधर्मता)

ऐसा कहने पर सामर्थ्य से ही प्रकट हो जाता है कि यहाँ घट सद्-व्यवहार का विषय (=विद्यमान) नहीं है ॥३६॥

जिस प्रकार साधर्म्यवत् प्रयोग में उसी प्रकार वैधर्म्यवत प्रयोग में भी सामर्थ्य से ही यह प्रतीत हो जाता है कि यहाँ घट सद्व्यवहार का विषय (=विद्यमान) नहीं है। सामर्थ्य को दिखलाते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं—जो सद्व्यवहार का विषय है; अर्थात् विद्यमान (उपस्थित) है। उपलब्धि के योग्य का अर्थ है—दृश्य=दर्शन के योग्य। इस प्रकार यह साध्य (असत्त्व) की निवृत्ति (=अभाव) कही गई है। 'अवश्य उपलब्ध होता है'—इसके द्वारा साधन (अनुपलब्धि) का अभाव कहा गया है। इस प्रकार साध्य के अभाव को साधन के अभाव का व्याप्य (=व्याप्त) दिखलाया गया है। 'वैसा घट नहीं' (न तथा); इसका अर्थ है—जिस प्रकार अन्य दृश्य वस्तु उपलब्ध होती है, उसी प्रकार इस स्थान पर वैसा अर्थात् दृश्य (उपलब्धि के योग्य) घट उपलब्ध नहीं हो रहा है। इस (कथन) से साध्य के अभाव का व्यापक (साधन

---

१. 'च'—नास्ति A.B.H.N.P: २. न च C.
३. सद्व्यवहारस्य विषयः C.D. ४. 'स'–नास्ति A.B.C.D.H.P.

साधननिवृत्तिरिति। अनेन च[1] साध्यनिवृत्तिः साधननिवृत्त्या व्याप्ता दर्शिता। न तथेति-यथाऽन्यो दृश्य उपलभ्यते न तथाऽत्र प्रदेशे तादृश इति दृश्यो घट उपलभ्यत इति। अनेन साध्यनिवृत्तेर्व्यापिका निवृत्तिरसती साध्यधर्मिणि दर्शिता। यदि च[2] साध्यधर्मः साध्यधर्मिणि[3] न स्यात् साधनधर्मोऽपि न भवेत्। अस्ति च साधनधर्म इति सामर्थ्यम्[4]। अतः[5] सामर्थ्यात् नास्त्यत्र घट इति प्रतीतेर्न पक्षनिर्देशः। एवं कार्यस्वभावहेत्वोरपि सामर्थ्यात् सम्प्रत्यय इति न [6]पक्षनिर्देशः ॥३६॥

कीदृशः पुनः [7]पक्ष इति निर्देश्यः ॥३७॥

कीदृशः पुनरर्थः पक्ष इति—अनेन शब्देन निर्देश्यो वक्तव्यः? इत्याह—

स्वरूपेणैव स्वयम् इष्टो[8]ऽनिराकृतः पक्ष इति[9] ॥३८॥

स्वरूपेणैवेति=साध्यत्वेनैव। स्वयमिति=वादिना। इष्ट इति=नोक्त एव, अपि त्विष्टोऽपीत्यर्थः। एवंभूतः सन् प्रत्यक्षादिभिः अनिराकृतो[10]योऽर्थः स पक्ष इत्युच्यते।

का) अभाव पक्ष (साध्यधर्मी) में अनुपस्थित दिखलाया गया है। यदि साध्यधर्म पक्ष में न हो तो साधनधर्म भी वहाँ नहीं होगा, और साधनधर्म वहाँ विद्यमान है, यही सामर्थ्य है। इस सामर्थ्य से 'यहाँ घट नहीं है'—यह प्रतीति हो जाने के कारण पक्ष का निर्देश न करना चाहिये।

इसी प्रकार कार्यहेतु और स्वभावहेतु (के प्रयोग) में भी सामर्थ्य से ही (पक्ष की) प्रतीति हो जाती है; इसलिये पक्ष का निर्देश न करना चाहिये ॥३६॥

१२. पक्ष का लक्षण

कीदृश इति—

फिर कैसा (पदार्थ) है जिसे पक्ष कहना चाहिये? ३७।

फिर कैसे पदार्थ को 'पक्ष' इस शब्द के द्वारा कहना चाहिये? (निर्देश्यः=वक्तव्यः) ॥३७॥

इस पर कहते हैं—

पक्ष वह है जो वादी के द्वारा (=स्वयम्) साध्य के रूप में (स्वरूपेण=साध्यरूपेण) स्वीकृत हो तथा जिसका (प्रत्यक्ष आदि के द्वारा) निराकरण न किया गया हो ॥३८॥

'स्वरूप से ही' का अर्थ है—साध्यरूप से ही। 'स्वयम्' का अर्थ है—वादी के द्वारा। इष्ट का अभिप्राय है—यह आवश्यक नहीं कि वह शब्दों द्वारा कहा गया हो-अपि तु अभीष्ट होता हुआ भी (कोई पदार्थ पक्ष होता है)। इस प्रकार का (स्वरूप से ही स्वयम् इष्ट) होकर जो पदार्थ प्रत्यक्ष आदि के द्वारा निराकृत नहीं है, वह पक्ष कहलाता है।

---

१. 'च'—नास्ति C.E., अनेन न H.
२. च न A.B.H.N.P.
३. ०धर्मिणि भवेत् साधन० A.B.E.H.N.P.
४. सामर्थ्यात् A.B.H.N.P.
५. ततः A.B.H.N.P.
६. पक्षो निर्देश्यः E.
७. पक्षः निर्देशः C.
८. इष्टो निरा० B.P.
९. इति निर्देश्यः C.
१०. ०कृतोऽर्थो यः स B.C.D.

अथ यदि 'पक्षो न निर्देश्यः, कथम् अनिर्देश्यस्य लक्षणम् उक्तम्? न साधनवाक्यावयवत्वाद् अस्य लक्षणम् उक्तम् अपि त्वसाध्यं[1]केचित्[2] साध्यम्, साध्यं चासाध्यं '[3]केचित् प्रतिपन्नाः। तत् साध्यासाध्यविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पक्षलक्षणम् उक्तम् ॥३८॥

स्वरूपेणेति साध्यत्वेनेष्टः ॥३९॥

पक्ष इति—न्यायसूत्र १.१ ३३ में बतलाया गया था कि साध्य का निर्देश करना ही प्रतिज्ञा है (साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा)। दिङ्नाग ने प्रतिज्ञा के उस लक्षण का खण्डन करके पक्ष का नवीन लक्षण प्रस्तुत किया था, जिसका निराकरण उद्योतकराचार्य ने न्यायवार्त्तिक में किया है। धर्मकीर्त्ति ने दिङ्नाग के पक्ष-लक्षण का परिष्कृत स्वरूप ही यहाँ प्रस्तुत किया है। (द्र०, न्यायवार्त्तिक तथा न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका न्यायसूत्र १.१.३३)। न्यायबिन्दु के अग्रिम सूत्रों में पक्ष-लक्षण की व्याख्या की जा रही है।

यद्यपि बौद्ध-न्याय 'पक्ष' (प्रतिज्ञा) को अनुमान-वाक्य का अवयव नहीं मानता तथापि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने निम्न तथ्यों को प्रकट करने के लिये पक्ष-लक्षण की विशद-व्याख्या की है—(i) न्यायसूत्र (१.१.३३) का प्रतिज्ञा-लक्षण दोषयुक्त है (ii) शब्दों का वास्तविक अर्थ अन्य-व्यवच्छेद (अपोह) होता है, [अत्र अन्यव्यवच्छेदम् (अपोहम्) वाक्यार्थं मन्वानो भदन्तः प्रतिज्ञालक्षणम् अतिव्याप्त्यव्याप्तिभ्याम् आक्षिपति न्या० वा० ता०, पृ० २६८ (मि० बु० लॉ० २, पृ० १६० टि० ६)। इसका विशद निरूपण इष्ट शब्द की व्याख्या (आगे ३.४५) में किया जायेगा।

अथ यदि—(शङ्का) यदि पक्ष का निर्देश करना आवश्यक नहीं तो निर्देश के अयोग्य उस पक्ष का लक्षण क्यों बतलाया गया है?

(समाधान) साधन-वाक्य (अनुमान वाक्य) का अवयव होने के कारण इस (पक्ष) का लक्षण नहीं कहा गया है अपि तु इसलिये (कहा गया है) कि कुछ (तार्किकों) ने जो साध्य नहीं है उसे साध्य तथा जो साध्य है उसे असाध्य मान रक्खा है (=प्रतिपन्नाः)। इस साध्य तथा असाध्य की भ्रान्ति (=विप्रतिपत्ति) का निराकरण करने के लिये पक्ष का लक्षण बतलाया गया है ॥३८॥

केचित् प्रतिपन्नाः—न्यायसूत्र १.१.३३ को लक्ष्य करके ही यह कहा गया है। यह भी प्रतीत होता है कि प्रासङ्गिक तथा स्वातन्त्रिक नामक माध्यमिक सम्प्रदायों के मत का निराकरण करने के लिये भी यह कहा गया हो। वे दोनों सम्प्रदाय तर्कशास्त्र के सभी पक्ष-निर्देशों में पारस्परिक विरोध दिखलाकर तर्कशास्त्र की मान्यताओं का खण्डन करते हैं (मि० बु० लॉ० २, पृ० १५३ टि० ३)।

स्वरूपेणेष्ट इति—

स्वरूप से अर्थात् साध्य रूप से इष्ट ॥३९॥

---

१. यदि न पक्षो A.B.E.H.N.P. २. किञ्चित् B.

३. केचित्' नास्ति A.C.E.H.N.P.

स्वरूपेणेष्ट इत्यस्य विवरणं साध्यत्वेनेष्ट इति।

पक्षस्य साध्यत्वान्नापरम् अस्ति रूपम्। अतः स्वरूपं साध्यत्वम् इति ।।३९।।

'एव' शब्दं विवरितुम आह—

स्वरूपेणैवेति साध्यत्वेनैवेष्टो[1] न साधनत्वेनापि ।।४०।।

स्वरूपेणैवेति। ननु च 'एव' शब्दः केवल एव प्रत्यवमर्ष्टव्यः, तत् [2]किमर्थं स्वरूपशब्देन सह प्रत्यवमृष्टः? उच्यते। 'एव' शब्दो निपातो द्योतकः। पदान्तराभिहितस्यार्थस्य विशेषं द्योतयति, इति पदान्तरेण विशेष्यवाचिना सह निर्दिष्टः। न साधनत्वेनापीति। यत् साधनत्वेन निर्दिष्टं तत् साधनत्वेनेष्टम्। असिद्धत्वाच् च[3] साध्यत्वेनापीष्टम। तस्य निवृत्त्यर्थं[4] 'एव' शब्दः ।।४०।।

'स्वरूप से इष्ट' की व्याख्या है—साध्यरूप से इष्ट। क्योंकि पक्ष का साध्य से भिन्न और कोई रूप नहीं है; इसलिये स्वरूप का अर्थ है—साध्यत्व = साध्य होना ।।३९।।

एव शब्दम् इति—'एव' (= ही) शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

स्वरूप से ही अर्थात् जो साध्यरूप में ही इष्ट हो साधन रूप में भी नहीं ।।४०।।

स्वरूपेणैवेति। (प्रश्न) यहाँ केवल 'एव' शब्द का ही (उद्देश्य रूप में) ग्रहण करना चाहिये, 'स्वरूप' शब्द के साथ इसका ग्रहण क्यों किया गया है? (उत्तर) कहा जाता है—'एव' शब्द निपातसंज्ञक है, जो किसी अर्थ का द्योतक होता है (वाचक नहीं)। यह दूसरे पद द्वारा उक्त अर्थ की विशिष्टता को द्योतित करता है, इसलिये विशेष्य अर्थ के वाचक दूसरे पद (स्वरूपेण) के साथ ही इस (एव) का निर्देश किया गया है। 'न साधनत्वेनापि' (= साधन रूप में भी नहीं)। इसका भाव है—जिसका साधनरूप से निर्देश किया गया है, वह साधनरूप से इष्ट है और यदि वह असिद्ध है तो साध्यरूप में भी इष्ट है, उसकी निवृत्ति के लिए 'एव' शब्द दिया गया है ।।४०।।

निपातो द्योतकः—व्याकरण में 'च', 'एव' इत्यादि अव्यय शब्दों की निपात संज्ञा की गई है। ये निपात किसी अर्थ के वाचक नहीं होते अपि तु जिस शब्द से इनका सम्बन्ध होता है उसके विशेष अर्थ के द्योतक होते हैं (द्र० परमलघुमञ्जूषा) यहाँ स्वरूपेण + एव में 'एव' शब्द इस नियम का द्योतक है—जो नियमतः साध्य रूप में ही इष्ट होता है, अन्य रूप में नहीं; वही पक्ष है।

---

१. ०त्वेनेष्टो B C E.H.N.P.
२. कथम् B.
३. 'च'–नास्ति B.
४. निवृत्त्यर्थम् D.

तद् उदाहरति—

यथा शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं हेतुः, शब्देऽसिद्धत्वात् साध्यम्। न पुनस्तद् इह साध्यत्वेनैवेष्टम्[1], साधनत्वेनाभिधानात्[2] ।।४१।।

'यथेति[3]। शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं हेतुः शब्देऽसिद्धत्वात् साध्यम्—इत्यनेन साध्यत्वेनेष्टिम् आह। तद् इति चाक्षुषत्वम्। इहेति शब्दे। साध्यत्वेनैवेष्टम्-इति साध्यत्वेनेष्टिनियमाभावम् आह। साधनत्वेनाभिधानाद् इति-यतः साधनत्वेनाभिहितम्, अतः साधनत्वेनापीष्टम्; न साध्यत्वेनैवेति ।।४१।।

असिद्धत्वाच्च—कभी कभी किसी ऐसे साधन (हेतु) का निर्देश कर दिया जाता है जो सिद्ध (निश्चित) नहीं होता अपि तु अनिश्चित होने के कारण साध्य की कोटि में आ जाता है। वहाँ वह साधन भी साध्य तो अवश्य है, किन्तु केवल साध्य ही नहीं है अपि तु साधन रूप में भी अभीष्ट है। ऐसे स्थलों पर पक्ष का लक्षण न चला जाये; इसीलिये 'साध्यत्वेन (=स्वरूपेण) एव इष्टः' (=जो केवल साध्य रूप में ही इष्ट है) यहाँ 'एव' (=ही) शब्द दिया गया है (मि० धर्मो० प्र०, पृ० १७७)।

तद् इति—उसका उदाहरण देते हैं—

जैसे-शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिये चाक्षुष होना (चक्षु से ग्राह्य होना) जो हेतु है, वह शब्द में असिद्ध होने के कारण साध्य है। किन्तु वह साध्य रूप में ही इष्ट नहीं है; क्योंकि उसे साधन रूप में कहा गया है ।।४१।।

यथा इत्यादि। शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने के लिये चक्षु से ग्राह्य होना (चाक्षुषत्व) यह हेतु है, जो शब्द में असिद्ध होने के कारण साध्य (सिद्ध करने योग्य) है—इस कथन से (अनेन) (चाक्षुषत्व का) साध्यरूप में इष्ट होना बतलाया गया है। (सूत्र में) तद् (=वह) का अर्थ है—चाक्षुष होना। 'इह' (=यहाँ) का अर्थ है—शब्द में। वह (चाक्षुष होना शब्द में) साध्य रूप से ही इष्ट नहीं है—इस कथन से साध्यरूप से इष्ट होने के नियम का (चाक्षुषत्व में) अभाव बतलाया है (अर्थात् चाक्षुषत्व केवल साध्यरूप में ही इष्ट नहीं है)। साधनरूप से कहे जाने के कारण; इसका अभिप्राय है—क्योंकि (चाक्षुषत्व को) साधनरूप से कहा गया है अतः यह साधनरूप में भी इष्ट है, केवल साध्यरूप में ही नहीं ।।४१।।

न साध्यत्वेनैव—दिङ्नाग ने 'एव' शब्द जोड़कर न्यायदर्शन के 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' (१.१.३३) इस लक्षण का संशोधन कर दिया है (डु० लॉ० २, पृ० १५५ टि० १)।

---

१. साध्यत्वेनेष्टम् C.D.E. २. ०त्वेनाप्यभिधानात् B.E.H N.P.

३. 'यथेति' नास्ति A.

स्वयम् इति वादिना ॥४२॥

स्वयम् इत्यनेन स्वयंशब्दं व्याख्येयम् उपक्षिप्य तस्यार्थम् आह—'वादिनेति'। स्वयं शब्दो निपात आत्मन इति षष्ठ्यन्तस्यात्मनेति च तृतीयान्तस्यार्थे[1] वर्तते। तद् इह तृतीयान्तस्यात्मशब्दस्यार्थे वृत्तः स्वयंशब्दः। आत्मशब्दश्च सम्बन्धिशब्दः। वादी च प्रत्यासन्नः[2]। [3]ततो यस्य वादिनः आत्मा तृतीयार्थयुक्तः[4] स एव[5] तृतीयार्थयुक्तो निर्दिष्टो वादिनेति। [6]न तु स्वयंशब्दस्य वादिनेत्येष पर्यायः ॥४२॥

कः पुनरसौ वादी ? इत्याह—

यस्तदा साधनम् आह ॥४३॥

स्वयम् इति—

'स्वयम्' का अर्थ है—वादी के द्वारा ॥४२॥

'स्वयम्' इससे स्वयम् शब्द को व्याख्यातव्य के रूप में रखकर उसका अर्थ बतलाया है—वादी के द्वारा। 'स्वयम्' शब्द निपात है जो आत्मनः (=अपना) इस षष्ठीविभक्तियुक्त अथवा आत्मना (अपने द्वारा) इस तृतीयाविभक्तियुक्त शब्द के अर्थ में है। यहाँ 'स्वयम्' शब्द तृतीयान्त आत्मन् शब्द (=आत्मना) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आत्मन् शब्द सम्बन्धवाचक (सर्वनाम) शब्द है और यहाँ वादी ही समीप में स्थित है। इसलिये जिस वादी का आत्मा (व्यक्तित्व, self) तृतीया के अर्थ से युक्त है (अर्थात् जिस वादी के द्वारा साध्यरूप में इष्ट है), उसका ही 'वादिना' (=वादी के द्वारा) इस शब्द से निर्देश किया गया है। 'स्वयम्' शब्द का 'वादिना' (=वादी के द्वारा) यह पर्याय नहीं है ॥४२॥

स्वयं शब्दः—'स्वयम्' शब्द निपात (अव्यय) है। इसके दो अर्थ होते हैं—आत्मनः (षष्ठी)=अपना तथा आत्मना (तृतीया)=अपने द्वारा। यहाँ 'आत्मना' के अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है; क्योंकि 'आत्मना इष्टः' यहाँ कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होती है। अपना (आत्मन्) शब्द सम्बन्धवाचक सर्वनाम है, वह यहाँ बुद्धिकृत सामीप्य के द्वारा 'वादी' के लिये आया है, अतः 'स्वयम्' का अभिप्राय है—वादी के द्वारा।

यहाँ श्चेरबात्स्की का कथन है कि इस प्रकार की निष्प्रयोजन व्याख्या करना धर्मोत्तर के पाण्डित्य की निजी विशेषता है। विनीतदेव ने इस सूत्र की सरल योजना की है (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १५५ टि० ३)।

कः पुनरिति—वह वादी कौन है ? यह बतलाते हैं—

जो उस समय (साध्य की सिद्धि के लिये) साधन बतलाता है ॥४३॥

---

१. ०स्यार्थेन युक्तः B.
२. प्रत्यासन्नभूतः A.B.H.P.
३. 'ततो' नास्ति A.B.H.P.
४. तृतीयार्थेन युक्तः C.D.
५. 'एव' नास्ति B.
६. ननु A.B H.P.

यस्तदेति—वादकाले साधनम् आह। अनेकवादिसम्भवेऽपि[1] स्वयंशब्द-वाच्यस्य वादिनो विशेषणम् एतत्। यद्येवं[2] वादिन इष्टः साध्यः इत्युक्तम्। एतेन च किम् उक्तेन? अनेन[3] 'तदा वादकाले तेन वादिना स्वयं यो धर्मः साधयितुम् इष्टः स एव साध्यो[4] नेतरो धर्म[5] इत्युक्तं भवति। वादिनोऽनिष्ट-धर्मसाध्यत्वनिवर्तनम् अस्य वचनस्य फलम् इति यावत् ॥४३॥

अथ कस्मिन् सत्यन्यधर्मसाध्यत्वस्य[6] सम्भवो यन्निवृत्त्यर्थं तद्[7] वक्त-व्यम्? इत्याह—

एतेन यद्यपि क्वचिच्छास्त्रे स्थितः साधनम् आह, तच्छास्त्रकारेण तस्मिन् धर्मिण्यनेकधर्माभ्युपगमेऽपि यस्तदा तेन[8] वादिना धर्मः स्वयं साध-यितुम् इष्टः, स एव साध्यो नेतर इत्युक्तं भवति ॥४४॥

जो उस समय अर्थात् वाद के समय साधन बतलाता है। अनेक वादियों के होने पर भी यह (यस्तदा साधनम् आह) उस वादी का विशेषण है जो 'स्वयम्' शब्द का वाच्य है। (प्रश्न) यदि ऐसी बात है तो "वादी का इष्ट ही साध्य है"—यह अभिप्राय हुआ (इत्युक्तम्), तब इस कथन से क्या लाभ? (उत्तर) इस कथन से (अनेन) यह अभिप्राय है कि उस वाद के समय किसी वादी को स्वयं ही जिस धर्म को सिद्ध करना इष्ट होता है, वही धर्म साध्य होता है, अन्य कोई धर्म नहीं। भाव यह है (इति यावत्) कि वादी के अनभीष्ट धर्म में साध्यता की निवृत्ति करना इस (स्वयम्) शब्द का प्रयोजन है ॥४३॥

अनेकवादिसम्भवेऽपि—यद्यपि किसी पक्ष के मानने वाले अनेक वादी हो सकते हैं तथापि जो उसके लिये हेतु प्रस्तुत करना है वही वादी यहाँ लिया गया है; इसी-लिये 'यस्तदा साधनम् आह' (=जिसने उस समय हेतु प्रस्तुत किया है)—यह वादी का विशेषण दिया गया है।

अथ कस्मिन् इति—किन्तु किस दशा में (कस्मिन् सति=क्या होने पर) (वादी के इष्ट धर्म से) अन्य धर्म के साध्य कहे जाने की सम्भावना है, जिसकी निवृत्ति के लिये वह ('स्वयम्' शब्द) कहना आवश्यक है? इस पर कहते हैं—

इस वचन (स्वयम्) से यह प्रकट कर दिया गया है (उक्तं भवति) यद्यपि किसी शास्त्र (दार्शनिक सम्प्रदाय) में स्थित कोई व्यक्ति साधन प्रस्तुत करता है और उस धर्मी में उस शास्त्रकार के द्वारा अनेक धर्म माने गये हैं; तथापि (अपि) उस समय उस वादी को जो धर्म स्वयं सिद्ध करना अभीष्ट है, वही साध्य है, अन्य कोई धर्म नहीं ॥४४॥

---

१. 'अपि' नास्ति B.C.D. २. यद्येव–A.B.H.P. ३. अनेन च C.
४. साध्यो धर्म नेतर इत्यु० C. ५. 'धर्म' नास्ति B.
६. साध्यत्वसम्भ० A.C.E.H.P. ७. चेदं A.D.E.H.N.P., चैतत् B.
८. तेन स्वयं C.

तच्छास्त्रकारेणेति—यच्छास्त्रं तेन वादिनाऽभ्युपगतं तच्छास्त्रकारेण तस्मिन् साध्यधर्मिणि अनेकस्य[1] धर्मस्याभ्युपगमे सति अन्यधर्मसाध्यत्वसम्भवः। तथा हि–शास्त्रं येनाभ्युपगतं तत्सिद्धो[2] धर्मः सर्व एव तेन साध्य इत्यस्ति विप्रतिपत्तिः। अनेनापास्यते। अनेकधर्माभ्युपगमेऽपि सति स एव साध्यो यो वादिन इष्टो नान्य इति।

'उस शास्त्रकार के द्वारा' इसका अभिप्राय है—जो शास्त्र उस वादी ने स्वीकार किया है उस शास्त्रकार के द्वारा उस पक्ष (साध्यधर्मी) में अनेक धर्म माने गये हैं अतः (वादी के इष्ट धर्म से) अन्य धर्म को साध्य मान लिये जाने की सम्भावना है। क्योंकि जिसने किसी शास्त्र को स्वीकार किया है, उस शास्त्र के द्वारा निश्चित (सिद्ध) सभी धर्म उस वादी के द्वारा साध्य हैं—यह मिथ्या धारणा है, जिसका इस (स्वयं शब्द) के द्वारा निराकरण किया गया है। इस प्रकार (किसी धर्मी में) अनेक धर्मों की स्वीकृति किये जाने पर भी वही धर्म साध्य है जो वादी को (सिद्ध करना) अभीष्ट है, अन्य कोई धर्म (साध्य) नहीं।

विप्रतिपत्तिः—कुछ आचार्य (?) यह मानते थे कि जब किसी शास्त्र को स्वीकार करके वाद आरम्भ किया जाये तो उस शास्त्र के सभी मन्तव्य उस वादी के साध्य होते हैं। इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिये 'स्वयम्' शब्द यहाँ दिया गया है (मि०, मनोरथनन्दी-टीका, प्रमाणवार्त्तिक ४.६९)।

स एव साध्यो यो वादिन इष्टो नान्यः—बौद्ध-न्याय का अभिप्राय यह है कि कोई वादी अपनी इच्छानुसार किसी मन्तव्य को भी विवाद के लिये चुन सकता है। जिसकी वह स्थापना करेगा वही उसका पक्ष होगा। वह जिस दार्शनिक सम्प्रदाय न्याय-वैशेषिक आदि का अनुयायी है, उस सम्प्रदाय के सभी मन्तव्य उस वादी के पक्ष के अन्तर्गत नहीं होंगे।

यदि पक्ष–लक्षण में केवल 'इष्ट' शब्द ही रक्खा जाता 'स्वयम्' शब्द नहीं रक्खा जाता तो उस सम्प्रदाय (शास्त्र) के सभी मन्तव्य वादी के पक्ष के अन्तर्गत आ जाते (धर्मो० प्र०, पृ० १७८) क्योंकि वे उसे इष्ट तो हैं ही। 'स्वयम्' शब्द रखने पर तो वह जिसको साध्य रूप में प्रस्तुत करता है, वही पक्ष होता है अन्य धर्म नहीं।

नैयायिक आदि ने बौद्ध-न्याय के इस मन्तव्य का विरोध किया है। उद्योतकर ने न्यायवार्त्तिक (पृ० ११६) में 'स्वयम्' शब्द की निरर्थकता दिखलाई है। इसी प्रकार वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका (पृ० २७४) में इस मन्तव्य के दोष दिखलाये हैं (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १५६ टि० २)। विशेष द्रष्टव्य प्रमाण–वार्त्तिक ४.४२ तथा आगे।

---

१. अनेकधर्म० C. २. तस्मिन् सिद्धो E.

ननु च शास्त्रानपेक्षं वस्तुबलप्रवृत्तं लिङ्गम्। अतोऽनपेक्षणीयत्वान् न शास्त्रे स्थित्वा वादः कर्तव्यः। सत्यम्। अहोपुरुषिकया तु यद्यपि क्वचिच्छास्त्रे स्थित इति किञ्चिच्छास्त्रम् अभ्युपगतः साधनम् आह, तथापि य एव तस्येष्टः, स एव[1] साध्य[2] इति ज्ञापनायेदम् उक्तम् ॥४४॥

इष्ट इति यत्रार्थे विवादेन साधनम् उपन्यस्तं तस्य सिद्धिम् इच्छता सो[3]ऽनुक्तोऽपि वचनेन साध्यः ॥४५॥

इष्ट इति। इष्टशब्दम् उपक्षिप्य व्याचष्टे—यत्रार्थं आत्मनि विरुद्धो वादः प्रक्रान्तः; 'नास्ति आत्मा' इत्यात्मप्रतिषेधवाद आत्मसत्तावादविरुद्धः, विधिप्रतिषेधयोर्विरोधात्। तेन विवादेन हेतुना साधनम् उपन्यस्तं तस्यात्मार्थस्य सिद्धिं निश्चयम् इच्छता वादिना सोऽर्थः साध्य इत्युक्तं भवति इष्टशब्देन।

ननु चेति—(शङ्का) अनुमान (लिङ्ग) तो किसी शास्त्र (सम्प्रदाय) की अपेक्षा किये बिना (केवल) तथ्य (वस्तु) के आधार पर प्रवृत्त होता है; इसलिये किसी को शास्त्र में स्थित (आग्रही) होकर वाद नहीं करना चाहिये; क्योंकि शास्त्र तो (वाद में) अपेक्षणीय नहीं है। (समाधान) ठीक है, किन्तु यदि कोई अहंभाव से किसी शास्त्र में स्थित है अर्थात् किसी शास्त्र को स्वीकार करता हुआ साधन प्रस्तुत करता है तो भी जो उसका इष्ट है, वही साध्य है (अन्य नहीं); यह प्रकट करने के लिए यह (स्वयम् शब्द) कहा गया है ॥४४॥

वस्तुबलप्रवृत्तम्—अनुमान (लिङ्ग) परमार्थसत् वस्तु या तथ्य के आधार पर प्रवृत्त होता है। यद्यपि लिङ्ग का निश्चय विकल्पों द्वारा होता है और साध्य-साधन-भाव अध्यवसित वस्तुओं का ही होता है, परमार्थसत् वस्तुओं का नहीं; तथापि उसके आधार रूप में परमार्थसत् वस्तु रहती ही है। शास्त्रीय कल्पनाओं के आधार पर लिङ्ग का निश्चय नहीं किया जा सकता। अतः लिङ्ग शास्त्र की अपेक्षा नहीं रखता।

इष्ट इति—

इष्ट शब्द का अभिप्राय है—जिस अर्थ में विवाद होने से उसकी सिद्धि की इच्छा वाले (वादी) ने साधन प्रस्तुत किया है, चाहे वह वचन द्वारा अनुक्त ही हो तो भी वह साध्य है ॥४५।

इष्ट इत्यादि से 'इष्ट' शब्द को उद्देश्य करके (उपक्षिप्य=ग्रहण करके) उसकी व्याख्या करते हैं। जिस पदार्थ में, जैसे आत्मा में विरुद्ध वाद (विवाद) आरम्भ किया गया है, यथा 'आत्मा नहीं है'—इस प्रकार का आत्मा का प्रतिषेध करने वाला (अनात्म) वाद आत्मा की सत्ता मानने वाले आत्मवाद के विरुद्ध है, क्योंकि (एक ही वस्तु की) स्वीकृति तथा निषेध में विरोध होता है। उस विवाद के कारण उस आत्मा

---

१. एव तस्य A.E. २. साध्यत इति C.

३. सोऽर्थोऽनु० C.

यत् तद् 'इत्युक्तं भवति' इति ग्रहणम् अन्ते तद् इहापेक्ष्य वाक्यं 'परिसमापयितव्यम् ।

यद्यपि परार्थानुमान उक्त एव साध्यो युक्तः, अनुक्तोऽपि तु वचनेन साध्यः, सामर्थ्योक्तत्वात् तस्य ॥४५॥

कुत एतद् इत्याह—

तदधिकरणत्वाद् विवादस्य ॥४६॥

²तदित्यादि । तद् इति सोऽर्थोऽधिकरणम् आश्रयो यस्य स तदधिकरणो विवादः । तस्य भावस्तत्त्वम् । तस्माद् इति । एतद् उक्तं भवति—यस्माद् विवादं निराकर्तुम् इच्छता वादिना साधनम् उपन्यस्तं तस्माद् यद् अधिकरणं विवादस्य तद् एव साध्यम् । यतो विरुद्धं वादम् अपनेतुं साधनम् उपन्यस्तं तच्चेत् न साध्यं किम् इदानीं ³जगति नियतं किञ्चित् साध्यं स्याद् इति ।.४६॥

नामक पदार्थ की सिद्धि अर्थात् निश्चय करने की इच्छा वाले वादी ने साधन प्रस्तुत किया है अतः वह (आत्मारूप) पदार्थ साध्य है, इष्ट शब्द के द्वारा यह तात्पर्य निकलता है (उक्तं भवति)। जो (सूत्र ३.४७ में) वाक्य के अन्त में 'इत्युक्तं भवति' यह कथन है उसका यहाँ सम्बन्ध करके (अपेक्ष्य) वाक्य की सङ्गति लगानी चाहिये ।

यद्यपि परार्थानुमान में वचन द्वारा कहा गया साध्य ही युक्त है; तथापि कहीं शब्द से न कहा गया भी साध्य होता है, क्योंकि वह सामर्थ्य से प्रतीत हो जाता है ॥४५॥

सिद्धि = निश्चय ।

समापयितव्यम्—सङ्गतार्थं कर्तव्यम् (धर्मो० प्र०, पृ० १७९) ।

अनुक्तोऽपि वचनेन—शब्दों द्वारा साक्षात् न कहा गया भी सामर्थ्य के द्वारा प्रकट होने वाला अर्थ वक्ता का इष्ट होता है। अतः वह भी साध्य होता है ।

कुत एतद् इति—ऐसा क्यों है, यह बतलाते हैं—

क्योंकि विवाद का आश्रय वही है ॥४६॥

तद् इति—वह पदार्थ है अधिकरण अर्थात् आश्रय जिसका ऐसा विवाद 'तदधिकरण' कहा जाता है; उसका भाव तदधिकरणत्व, उससे (=तदधिकरणत्वात् =क्योंकि वह पदार्थ विवाद का अधिकरण होता है) । यह कहा जा सकता है—विवाद का निराकरण करने की इच्छा से वादी ने साधन (हेतु) प्रस्तुत किया है, इसलिये विवाद का जो आश्रय है, वही साध्य है । कारण यह है कि (यतः) विरुद्ध वाद को दूर करने के लिये साधन प्रस्तुत किया गया है, यदि वह साध्य नहीं है तो फिर संसार में ऐसी कौनसी निश्चित वस्तु है जो साध्य होगी ॥४६॥

---

१. समापयितव्यम् T. २. 'तदित्यादि'—नास्ति T. ३. जातिनियतं T.

अनुक्तम् अपि परार्थानुमाने साध्यम् इष्टम् ।[1] तद् उदाहरति—

यथा परार्थाश् चक्षुरादयः सङ्घातत्वाच्छयनासनाद्यङ्गवद् इति । 'अत्रात्मार्था इत्यनुक्तावाप्यात्मार्थता साध्या तेन[2] नोक्तमात्रम् एव साध्यम् इत्युक्तं भवति ॥४७॥

परार्था इति । चक्षुरादिर्येषां श्रोत्रादीनां ते[4] चक्षुरादय इति धर्मी । परस्मायिमे परार्था इति साध्यं पारार्थ्यम् । सङ्घातत्वाद् इति हेतुः । व्याप्ति-विषयप्रदर्शनं च[5] शयनाद्यसनाङ्गवद् इति । शयनम् आसनं च ते आदी[6] यस्य तच्छयनासनादि पुरुषोपभोगाङ्गं सङ्घातरूपम् तदवत् ।

जगति नियतम्—दुर्वेक मिश्र के अनुसार 'जातिनियतम्' यह पाठ है—………किं जातिनियतं साध्यत्वजातिनियतं जातिवशं किञ्चिद् वस्तु साध्यं स्याद् भवितुम् अर्हति । क्षेपे किमः प्रयोगान्न किञ्चिद् । (धर्मो० प्र० ,पृ० १८१) ।

अनुक्तम् अपीति—परार्थानुमान में अनुक्त साध्य भी इष्ट होता है, उसका उदाहरण देते हैं—

जैसे—चक्षु इत्यादि किसी अन्य के लिये हैं; क्योंकि ये संघात हैं, शयन आसन इत्यादि उपकरणों के समान । यद्यपि यहाँ यह नहीं कहा गया कि ये आत्मा के लिये हैं तथापि आत्मा के लिये होना (=आत्मार्थता) ही साध्य है । अतः यह कहा जा सकता है कि केवल शब्द द्वारा उक्त ही साध्य नहीं होता (अपि तु जो वादी को सिद्ध करना अभीष्ट है, वह साध्य होता है ॥४७॥

परार्था इत्यादि । चक्षु है आदि में जिन श्रोत्र आदि के वे चक्षु इत्यादि हैं, यह धर्मी (पक्ष) है । परार्थ का अभिप्राय है—दूसरे के लिये; यहाँ परार्थ होना साध्य है । 'संघात होने से'—यह हेतु है । शयन, आसन इत्यादि उपकरणों के समान—इसमें व्याप्ति का विषय दिखलाया गया है (अर्थात् यह दृष्टान्त है) । शयन और आसन वे दोनों हैं आदि में जिसके वह शयन, आसन इत्यादि पुरुष के उपभोग का उपकरण संघात रूप है, उसके समान (तद्वत्), [चक्षु इत्यादि भी संघातरूप हैं अतः परार्थ हैं] ।

पुरुषोपभोगाङ्गम्—सम्भवतः यहाँ इस शब्द के दो अर्थ हैं । शयन, आसन आदि के साथ इसका अर्थ है—मनुष्य के उपभोग के उपकरण, उसके सोने, बैठने आदि के साधन । किन्तु आत्मा (पुरुष) के साथ इसका अर्थ है—आत्मा को होने वाले अनु-भव (=भोग) के साधन । यद्यपि सांख्य की दृष्टि से पुरुष को वस्तुतः सुख दुःख आदि

---

१. इष्टमुदाहरति B. साध्यं दृष्टमुदाह० C.D.
२. दिति आत्मार्था इत्यनुत्था (क्ता) प्यात्मार्थता साध्यते तेन C.
३. अनेन B..E.H.P.
४. 'ते' नास्ति B.
५. 'च' नास्ति A.B.D.E.H N.P.
६. आदिर्यस्य D.

अत्र[1]प्रमाणे यदप्यात्मार्थाश्चक्षुरादय इत्यात्मार्थता नोक्ता, [2]अनुक्ता[3]वप्यात्मार्थता साध्या। तथा हि सांख्येनोक्तम्—अस्ति आत्मा। तद्विरुद्धं बौद्धेनोक्तम्—नास्त्यात्मेति। ततः सांख्येन स्ववादविरुद्धं बौद्धवादं हेतूकृत्य विरुद्धवादनिराकरणाय स्ववादप्रतिष्ठापनाय च साधनम् उपन्यस्तम्। अतोऽनुक्ताप्यात्मार्थता साध्या, तदधिकरणत्वाद् विवादस्य।

[4]शयनासनादिषु हि पुरुषोपभोगाङ्गेष्वात्मार्थत्वेनान्वयो[5] न प्रसिद्धः संघातत्वस्य [6]पारार्थ्यमात्रेण तु सिद्धः। ततः परार्था इत्युक्तम्। चक्षुरादय

का भोग नहीं होता तथापि वद्ध पुरुष में आरोपित भोग माना ही जाता है। (मि०, (बु० लॉ० २, पृ० १६० टि० २)।

संघातरूपम्—अनेक वस्तुओं से बनने वाली वस्तु संघातरूप होती है (a composite substance)। दुर्वेक मिश्र के अनुसार 'संघात' का अर्थ है—अनेक रूपता (धर्मो० प्र०, पृ० १८१)। सांख्यकारिका (१७) में पुरुष की सिद्धि के लिये 'संघातपरार्थत्वात्' यह हेतु दिया गया है। वहाँ वाचस्पति मिश्र के अनुसार 'संघात' शब्द का अर्थ है—सुख-दुःख-मोहात्मक = त्रिगुणमय (सांख्य तत्त्वकौमुदी, का० १७)

अत्र प्रमाणे इति—यहाँ यद्यपि "चक्षु इत्यादि आत्मा के लिये हैं" इस प्रकार इनकी आत्मार्थता (आत्मा के लिये होना) नहीं कही गई तथापि अनुक्त होकर भी आत्मार्थता ही साध्य है। क्योंकि सांख्यवादी ने कहा—'आत्मा है'। उसके विरुद्ध बौद्ध ने कहा—'आत्मा नहीं है'। तब सांख्यवादी ने अपने मन्तव्य के विरुद्ध बौद्ध के मन्तव्य को लक्ष्य करके विरुद्धवाद का निराकरण करने के लिये तथा अपने मत की स्थापना करने के लिये साधन प्रस्तुत किया। इसलिये यहाँ (शब्द द्वारा) न कही गई भी आत्मार्थता (आत्मा के लिये होना) साध्य है; क्योंकि विवाद का आश्रय (विषय) वही है।

प्रमाणे—यहाँ "प्रमाण" शब्द का दृष्टान्त के अर्थ में प्रयोग किया गया है ((मि०, बु० लॉ० २, पृ० १६० टि० ३)। वस्तुतः प्रमाण = अनुमान—प्रयोग, परार्थानुमान।

हेतूकृत्य = निमित्तीकृत्य (धर्मो० प्र०, पृ० १८१); लक्ष्य करके।

विवाद = विरुद्धवाद, एक ही विषय में विरुद्ध मन्तव्य।

शयनासनादिषु हीति—शयन, आसन इत्यादि पुरुष के उपभोग के साधनों में संघातत्व की आत्मार्थता के साथ अन्वय (साधर्म्य सम्बन्ध, सपक्ष-सत्त्व) निश्चित नहीं है (अर्थात् का-जो संघात है वह आत्मा के लिये होता है, इस प्रकार की व्याप्ति निश्चित नहीं है); केवल परार्थता के साथ ही संघातत्व का सम्बन्ध (जो संघातरूप

---

१. यत् प्रमाणे A.B.H.P. २. नोक्ताप्या० B, अनुक्ताप्या A.C.D.E.H.N.P.
३. ०नुक्तावप्या० T. ४. शयनादिषु A.
५. ०र्थत्वेन प्रसिद्धः A. ६. परार्थमा० A.B.H.P. परार्थत्वमा० N,

इत्यत्रादिग्रहणाद् विज्ञानम् अपि परार्थं साधयितुम् इष्टम्। विज्ञानाच्च पर आत्मैव स्यात्। 'परस्यार्थकारि विज्ञानं सेत्स्यतीति सामर्थ्याद् आत्मार्थत्वं सिध्यति चक्षुरादीनाम् इति मत्वा परार्थग्रहणं कृतम्।

तेनेष्टसाध्यत्ववचनेन[2] नोक्तमात्रम्, अपि तु प्रतिवादिनो विवादास्पदत्वाद् वादिनः[3] साधयितुम् इष्टम् उक्तम्, अनुक्तं वा प्रकरणगम्यं साध्यम् इत्युक्तं भवति ॥४७॥

होता है, वह परार्थ होता है—यह (निश्चित है। इसीलिये (अनुमान के प्रयोग में) 'परार्थ हैं', यह कहा गया है। चक्षु इत्यादि यहाँ 'आदि' शब्द के ग्रहण से विज्ञान को भी दूसरे के लिये (परार्थ) सिद्ध करना अभीष्ट है और विज्ञान से परे (अन्य) आत्मा ही होगा। जब विज्ञान दूसरे के प्रयोजन को करने वाला सिद्ध हो जायेगा तो इस सामर्थ्य से ही चक्षु आदि का आत्मा के लिये होना सिद्ध होता है। यही मानकर 'परार्थ' शब्द का ग्रहण किया गया है।

विज्ञानमपि परार्थम्—संघात का अर्थ है—अनेकरूपता। जिस वस्तु में एक समय या भिन्न २ समयों में अनेकरूपता होती है, वही संघात है। विज्ञान क्षणिक है तथा विज्ञान सन्तान को एक मानकर उसमें भी भिन्न भिन्न कालों में अनेकरूपता होती है, अतः वह भी संघात रूप है (मि० धर्मो प्र०, पृ० १८१)। श्चेरबात्स्की के अनुसार यहाँ विज्ञान=विज्ञानस्कन्ध (बु० लॉ० २, पृ० १६० टि० ६)। इस प्रकार जब विज्ञान को परार्थ सिद्ध करना है तो बौद्ध की दृष्टि से विज्ञान का अर्थ होगा—विज्ञानसन्तान अथवा विज्ञानस्कन्ध तथा सांख्य की दृष्टि से इसका अर्थ होगा—मनस्, अन्तःकरण या बुद्धि (सत्त्व)। सांख्य के अनुसार वह बुद्धि अचेतन है→प्रकृति का विकार है→संघात रूप है अतः वह भी परार्थ है। यहाँ बौद्ध या सांख्य किसी की भी दृष्टि से 'विज्ञान शब्द का यथाश्रुत अर्थ नहीं लिया जा सकता। बौद्ध के अनुसार विज्ञान ही चेतना है, वह क्षणमात्र (स्वलक्षण) है अतः वह संघात रूप नहीं। सांख्य के मत में भी विशुद्ध अपरिणामी चितिशक्ति ही विज्ञान है, जो नित्य है, असङ्ग है। वही पुरुष या आत्मा है। वह संघात कैसे हो सकता है? (द्र०, बु० लॉ० २, पृ० १६० टि० ६)।

तेनेति—इस प्रकार इष्ट को साध्य बतलाने से यह प्रकट होता है (उक्तं भवति) कि केवल (शब्दों द्वारा) उक्त ही नहीं अपि तु प्रतिवादी के विवाद का विषय होने के कारण वादी को जिसे सिद्ध करना अभीष्ट है, चाहे वह (शब्द द्वारा) उक्त हो अथवा अनुक्त होकर प्रकरण से प्रतीत होता हो, वही साध्य है ॥४७॥

साधयितुम् इष्टम् उक्तम् अनुक्तं वा—(i) दिङ्नाग के अनुसार शब्दों का अर्थ अन्यव्यवच्छेद (=अपोह) होता है अतः 'इष्ट' शब्द में निषेधात्मक अर्थ भी निहित

---

१. 'परस्य' नास्ति B.
२. साध्यवच० A.B.E.H.N.P.
३. वादिना E.

अनिराकृत इति—एतल्लक्षणयोगेऽपि यः साधयितुम् इष्टोऽप्यर्थः प्रत्यक्षानुमानप्रतीतिस्ववचनैर् निराक्रियते, न स पक्ष[1] इति प्रदर्शनार्थम् ॥४८॥

है। इसी हेतु इष्ट शब्द द्वारा अनुक्त भी ले लिया जाता है (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १५९ टि० १)। भाव यह है कि जो वादी को सिद्ध करना अभीष्ट है, वही साध्य या पक्ष है। कहीं तो यह पक्ष शब्दों द्वारा साक्षात् रूप से उक्त होता है; किन्तु कहीं अभीष्ट पक्ष का शब्दों द्वारा साक्षात् कथन नहीं होता अपि तु प्रकरण आदि से उसकी प्रतीति हुआ करती है। वहाँ साध्य अनुक्त होता है। इस प्रकार केवल शब्दों द्वारा उक्त ही पक्ष नहीं होता प्रत्युत उक्त हो या अनुक्त, जो वादी को सिद्ध करना अभीष्ट होता है, वही पक्ष होता है। इसी लिये पक्ष के लक्षण में 'इष्ट' शब्द का ग्रहण किया गया है। अतः इष्ट शब्द से दो अर्थ निकलते हैं—उक्त (भावात्मक) तथा अनुक्त किन्तु प्रकरण आदि से प्रतीयमान (निषेधात्मक)।

(ii) उद्योतकराचार्य (न्या० वा०, पृ० ११८) तथा वाचस्पति मिश्र (न्या० वा० ता०, पृ० १८६) ने पक्ष-लक्षण में इष्ट शब्द के ग्रहण के भी दोष दिखलाये हैं।

(iii) प्रस्तुत उदाहरण से तथा पक्ष-लक्षण में 'इष्ट' शब्द के ग्रहण से यह सिद्ध होता है कि यहाँ 'पक्ष' शब्द केवल प्रतिज्ञा (साध्य-निर्देशः) के ही अर्थ में नहीं है अपि तु वादी के अभीष्ट साध्य के लिये है। (मि०, बु०, लॉ० २, पृ० १६१ टि० २)।

यद्यपि नैयायिक के प्रतिज्ञा शब्द के स्थान पर यहाँ 'पक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है तथापि धर्मोत्तर ने दोनों शब्दों 'प्रतिज्ञा और पक्ष' का समान अर्थों में ही प्रयोग किया है। वसुबन्धु ने तो वाद विधान में 'प्रतिज्ञा' शब्द का ही प्रयोग किया था (द्र०, न्या० वा०, पृ० १२१ २)। न्याय-वैशेषिक की दृष्टि से इन दोनों शब्दों के अर्थ में भेद है। साध्य का कथन प्रतिज्ञा है और साध्यरूप अर्थ पक्ष कहलाता है (वचनस्य प्रतिज्ञात्वम् तदर्थस्य च पक्षता, न्यायकन्दली पृ० ५६६)। इसी प्रकार न्या० वा०, पृ० ११७.१४ तथा न्या० वा० ता०, पृ० १८५.७ में इनका भेद दिखलाया गया है (विशेष द्रष्टव्य बु० लॉ० २, पृ० १६० टि० ६ तथा पृ० १६१ टि० २)।

अनिराकृत इति—

अनिराकृत इति—'अनिराकृत' (=अबाधित) शब्द यह दिखलाने के लिये है कि इस (उपर्युक्त) लक्षण से युक्त (वादी को) सिद्ध करने के लिये अभीष्ट होकर भी जो पदार्थ प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रतीति तथा अपने वचन से बाधित हो जाता है, वह पक्ष नहीं होता ॥४८॥

---

१. 'इति' नास्ति C.

अनिराकृत इति व्याख्येयम्। एतद् इति–अनन्तरप्रकान्तं यत् पक्ष-लक्षणम् उक्तं साध्यत्वेनेष्टेत्यादि[1] एतल्लक्षणयोगेऽप्यर्थो न पक्ष इति प्रदर्श-नार्थम्=[2]प्रतिपादनाय अनिराकृतग्रहणं कृतम्। कीदृशोऽर्थो न पक्षः साधयितुम् इष्टोऽपीत्याह–यः साधयितुम् इष्टोऽर्थः—प्रत्यक्षं चानुमानं च प्रतीतिश्च स्ववचनं च—[3]एतैर्निराक्रियते=विपरीतः साध्यते, [4]न स पक्ष इति ॥४८॥

तत्र प्रत्यक्षनिराकृतो, यथा-अश्रावणः शब्द इति ॥४९॥

तत्रेति—तेषु चतुर्षु प्रत्यक्षादिनिराकृतेषु [5]प्रत्यक्षनिराकृतः कीदृशः? यथेति–यथायं प्रत्यक्षनिराकृतस्तथाऽन्येऽपि द्रष्टव्या इति यथाशब्दार्थः। श्रवणेन

'अनिराकृत'—यह व्याख्येय है (अर्थात् इसकी व्याख्या की जा रही है)। एतत् (=यह) का अर्थ है—अभी ऊपर के सन्दर्भ में 'साध्यत्वेन इष्टः' इत्यादि जो पक्ष का लक्षण कहा गया है। इस लक्षण से युक्त होने पर भी कोई अर्थ पक्ष नहीं होता—यह दिखलाने के लिये 'अनिराकृत' शब्द का ग्रहण किया गया है। सिद्ध करने के लिये अभीष्ट होने पर भी कैसा पदार्थ पक्ष नहीं होता? यह बतलाते हैं—जिस सिद्ध करने के लिये अभीष्ट अर्थ का प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रतीति (=विकल्पज्ञान) तथा अपना कथन—इनके द्वारा बाध हो जाता है अर्थात् जिसे इनके द्वारा विपरीत सिद्ध कर दिया जाता है। वह पक्ष नहीं होता ॥४८॥

न सः पक्षः—उद्योतकर (न्या० वा०, पृ० ११३-११६) ने प्रत्यक्षनिराकृत इत्यादि चारों पदों को व्यर्थ बतलाया है। यदि इष्ट शब्द के द्वारा अनिष्ट तथा अनीप्सित का निराकरण हो जाता है तो 'अनिराकृत' कहने की क्या आवश्यकता है? इसके अतिरिक्त वसुबन्धु ने भी प्रतिज्ञा-लक्षण (साध्याभिधानं प्रतिज्ञा) में इन पदों को नहीं रक्खा था (न्या० वा०, पृ० ११६ तथा न्या० वा० ता०, पृ० २७३)। दिङ्नाग ने जो अनिराकृत पद रक्खा है' धर्मकीर्त्ति की दृष्टि में उसका प्रयोजन यह है—कोई पक्ष वादी को इष्ट होता हुआ भी प्रत्यक्ष आदि के विरुद्ध होने से श्रोताओं को अभीष्ट नहीं होता तथा निर्णायक (मध्यस्थ) उसे विवाह के अयोग्य घोषित कर देते हैं (मि० बु० लॉ० २, पृ० १६२ टि० १)।

तत्रेति—

उनमें से प्रत्यक्ष द्वारा बाधित इस प्रकार होता है, जैसे–'शब्द श्रोत्र का विषय नहीं" ॥४९॥

तत्र (=वहाँ) का अर्थ है—उन प्रत्यक्ष आदि से बाधित चारों में, प्रत्यक्ष से बाधित कैसा होता है? उसका 'यथा' इत्यादि उदाहरण है। 'यथा' शब्द का अभि-प्राय है कि जैसे यह प्रत्यक्ष द्वारा बाधित है उसी प्रकार अन्य भी समझने चाहियें।

---

१. साध्यत्वेनेष्टत्वादि C.D. २. प्रदर्शनाय A.C H.P.
३. तैर्नि० E.N. ४. स न पक्ष B.D.
५. 'प्रत्यक्ष' नास्ति B.

ग्राह्यः श्रावणः। न श्रावणोऽश्रावणः। श्रोत्रेण न ग्राह्यः, इति प्रतिज्ञार्थः। श्रोत्राग्राह्यत्वं शब्दस्य प्रत्यक्षसिद्धेन श्रोत्रग्राह्यत्वेन बाध्यते ॥४६॥

अनुमाननिराकृतो यथा-नित्यः शब्द इति ॥५०॥

अनुमाननिराकृतो यथा[1] नित्यः शब्द इति। शब्दस्य प्रतिज्ञातं नित्यत्वम् अनित्यत्वेनानुमानसिद्धेन निराक्रियते ॥५०॥

जिसका श्रोत्र से ग्रहण किया जाता है वह श्रवण-योग्य=श्रोत्रग्राह्य (=श्रावण) है। जो श्रवण योग्य नहीं है, वह अश्रावण कहलाता है। 'श्रोत्र द्वारा ग्राह्य नहीं' यह इस प्रतिज्ञा का अर्थ है। किन्तु शब्द का श्रोत्र से ग्राह्य न होना—प्रत्यक्ष द्वारा निश्चित की गई श्रोत्रग्राह्यता से–बाधित हो जाता है ॥४६॥

अश्रावणः शब्दः—दिङ्नाग के अनुसार पूर्ण अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है—'अश्रावणः शब्दः कृतकत्वात् घटादिवत्'। प्रत्यक्ष से यह सिद्ध है कि शब्द श्रोत्रग्राह्य (श्रावण) है अतः इस स्थापना का प्रत्यक्ष से बाध हो जाता है और इसे पक्ष के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इस पर उद्योतकर (न्या० वा० पृ० ११३) का आक्षेप है कि यह अनुमान-विरुद्ध का उदाहरण है प्रत्यक्षविरुद्ध का नहीं; क्योंकि श्रावणत्व (श्रोत्रग्राह्यता) तो इन्द्रिय का व्यापार (=वृत्ति) है और इन्द्रिय-वृत्ति का प्रत्यक्ष नहीं होता वह अतीन्द्रिय है। अतः शब्द की श्रोत्रग्राह्यता प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होती अपि तु अनुमान से सिद्ध होती है। प्रत्यक्ष-विरुद्ध का उदाहरण होगा—अग्नि उष्ण नहीं, कार्य होने से (अनुष्णो वह्निः कृतकत्वात्)।

उद्योतकर का यह आक्षेप युक्तियुक्त नहीं। 'शब्द नहीं है' इस स्थापना में प्रत्यक्ष बाधा है यह तो स्पष्ट ही है। अश्रावणः शब्दः (=शब्द श्रोत्रग्राह्य नहीं है) यहाँ 'श्रावण' शब्द रखने से यह अर्थ हो जाता है कि शब्द श्रुतिमात्र–ग्राह्य रूप में नहीं है। यहाँ शब्द के श्रुतिमात्र ग्राह्य रूप का प्रतिषेध किया जाता है किन्तु शब्द का श्रुतिमात्र ग्राह्य रूप प्रत्यक्ष सिद्ध ही है, अथवा कहिये कि 'श्रोत्रग्राह्यता' (श्रावणत्व) शब्द के द्वारा उपलक्षण से शब्द-स्वलक्षण को ही कहा गया है; क्योंकि शब्द का श्रोत्र-ग्राह्य स्वरूप भी शब्द-स्वलक्षण से भिन्न नहीं है और शब्द स्वलक्षण तो श्रोत्र-ज्ञान का विषय है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है अतः यहाँ साध्य प्रत्यक्ष निराकृत है (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १६२ टि० ३; धर्मो० प्र०, पृ० १८३ तथा प्र० वा० मनो०, ४.१३१-१३५)।

अनुमानेति—

अनुमान द्वारा बाधित इस प्रकार होता है; जैसे—शब्द नित्य है ॥५०॥

अनुमान द्वारा बाधित है जैसे—'शब्द नित्य है' (यह प्रतिज्ञा)। शब्द की नित्यता की जो यह प्रतिज्ञा है वह अनुमान द्वारा निश्चित की गई (शब्द की) अनित्यता से बाधित हो जाती है ॥५०॥

---

१. 'यथा' नास्ति C.D.E.H.N.

प्रतीतिनिराकृतो यथा—अचन्द्रः शशीति ।।५१।।

प्रतीत्या निराकृतः । अचन्द्र इति—चन्द्रशब्दवाच्यो न भवति शशीति प्रतिज्ञातार्थः[1] । अयं च प्रतीत्या निराकृतः । प्रतीतोऽर्थं उच्यते विकल्पविज्ञान-विषयः । प्रतीतिः प्रतीतत्वं विकल्पविज्ञानविषयत्वम् उच्यते । तेन विकल्प-ज्ञानेन[2] प्रतीतिरूपेण शशिनश्चन्द्रशब्दवाच्यत्वं सिद्धम् एव । तथा हि-यद् [3]विकल्पविज्ञानग्राह्यं तच्छब्दाकारसंसर्गयोग्यम् यच्छब्दाकारसंसर्गयोग्यं तत् साङ्केतिकेन शब्देन वक्तुं शक्यम् । अतः प्रतीतिरूपेण विकल्पविज्ञानविषय-

---

अनुमाननिराकृत:—दिङ्नाग ने इस पक्ष-दोष को आगमविरुद्ध नाम से दिख-लाया था, जिसका अर्थ है —आगम अर्थात् अपने शास्त्र के विरुद्ध । उद्योतकर (न्या० वा०, पृ० ११३) ने इस पर यह आक्षेप किया कि वैशेषिक (वै० सू० २.२.२८) ने शब्द की अनित्यता युक्तियों शे सिद्ध की है, शास्त्र प्रमाण से नहीं । इस आलोचना को स्वीकार करके धर्मकीर्ति ने आगमविरुद्ध के स्थान पर अनुमान–विरुद्ध कर दिया । यह पक्ष-दोष इसलिये है कि यदि वैशेषिक ऐसी स्थापना करेगा तो श्रोता इसे सुनने से इन्कार कर देंगे (मि०; बु० लॉ० २, पृ० १६३ टि० १) ।

नित्यः शब्दः—विनीतदेव ने यहाँ 'घटो नित्यः' पाठ माना है । श्चेरबात्स्की का विचार है कि यह पाठ अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है । इससे यह भी सूचित होता है कि अत्यन्त प्राचीन मूल पाठों में गड़बड़ी होती रही हो (मि० बु० लॉ० २, पृ० १६३ टि० १) :

प्रतीतिनिराकृत इति—

प्रतीति के द्वारा बाधित इस प्रकार होता है, जैसे शशी 'चन्द्र' (का वाच्य) नहीं है ।।५१।।

प्रतीति से बाधित (का उदाहरण) है—अचन्द्र इत्यादि । इस प्रतिज्ञा वाक्य का अर्थ (पक्ष) है—शशी चन्द्र शब्द का वाच्य नहीं है । यह कथन प्रतीति के द्वारा बाधित है । विकल्प ज्ञान का विषय जो पदार्थ होता है वह 'प्रतीत' कहलाता है । प्रतीत होना, अर्थात् विकल्पज्ञान का विषय होना ही प्रतीति कहलाती है । प्रतीतिरूप जो विकल्पविज्ञान है, उसके द्वारा "शशी 'चन्द्र' शब्द का वाच्य है"—यह सिद्ध ही है । तथ्य यह है कि जो (पदार्थ) विकल्पज्ञान का ग्राह्य है वह शब्द के आकार से सम्बन्ध के योग्य है (अर्थात् उससे शब्द का सम्बन्ध हो सकता है) । और, जो शब्द के आकार से सम्बन्ध के योग्य है वह सांकेतिक शब्द से कहने योग्य (वाच्य) है । अतः प्रतीतिरूप जो विकल्पविज्ञान का विषय होना है, उसके द्वारा यह सिद्ध है कि शशी चन्द्र शब्द का वाच्य है तथा यह (शशी चन्द्र नहीं है—इस) चन्द्र न होने का बाधक

---

१. प्रतिज्ञार्थः C.D.

२. विकल्पविज्ञानेन A., विकल्पविज्ञानविषयत्वेन B.E.H.P., विकल्पज्ञानविषय-त्वेन C.D.

३. ज्ञानग्राह्यं A., विकल्पज्ञानं० B.H.N.P.

त्वेन सिद्धं चन्द्रशब्दवाच्यत्वम् अचन्द्रत्वस्य बाधकम्। स्वभावहेतुश्च प्रतीतिः। यस्माद् विकल्पविषयत्वमात्रानुबन्धिनी साङ्केतिकशब्दवाच्यता। ततः स्वभावहेतुसिद्धं चन्द्रशब्दवाच्यत्वम् अवाच्यत्वस्य बाधकं द्रष्टव्यम् ॥५१॥

है। यह प्रतीति स्वभावहेतु ही है, क्योंकि सांकेतिक शब्द का वाच्य होना (जो साध्य) है वह विकल्प-विषयता मात्र (साधन = हेतु) का नियमपूर्वक अनुसरण करने वाला है। इस प्रकार (शशी) 'चन्द्र' शब्द का वाच्य है—यह स्वभाव हेतु से सिद्ध है तथा इसे (शशी 'चन्द्र' शब्द का वाच्य नहीं है, इस) अवाच्यता का बाधक समझना चाहिये ॥५१॥

प्रतीतिनिराकृतः—दिङ्नाग ने इसे लोकप्रसिद्धि-विरुद्ध-नाम से बतलाया था। विनीतदेव तथा तिब्बती अनुवाद में प्रतीति का अर्थ प्रसिद्धि (grags-pa) किया गया है। दिङ्नाग के कथन पर उद्योतकर (न्या० वा०, पृ० ११४) का आक्षेप था कि इसका अन्य किसी प्रकार में ही अन्तर्भाव हो सकता है। सम्भवतः इसी हेतु धर्मकीर्ति ने इसे दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है। वाचस्पति मिश्र (न्या० वा० ता०, पृ० २७१) ने प्रतीतिनिराकृत का प्रत्यक्षनिराकृत में ही अन्तर्भाव दिखलाया है (मि० बु० लॉ० २, पृ० १६४ टि० १)।

प्रतिज्ञातार्थः—प्रतिज्ञा का अर्थ, पक्ष।

प्रतीतिः—धर्मोत्तर के अनुसार प्रतीति = विकल्प-विज्ञान का विषय होना। इस के आधार पर ही कोई शब्द अपने सांकेतिक अर्थ का वाचक होता है। जैसे—चन्द्र शब्द शशी का वाचक है, या शशी चन्द्र शब्द का वाच्य है—इस प्रकार के वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध (संकेत) का निश्चय प्रतीति या विकल्पज्ञानविषयता के द्वारा ही होता है। इस सांकेतिक अर्थ का बाध होने पर ही कोई 'पक्ष' प्रतीति-निराकृत कहा जाता है (साङ्केतिकार्थनिराकरणे प्रतीतिबाधा। (मनो०, प्र० वा०, ४.१२६)।

यद्यपि प्रतीति-निराकृत का अनुमान-निराकृत में ही अन्तर्भाव हो सकता है तथापि विषय के भेद के कारण इसका पृथक् निर्देश किया गया है। अनुमान का प्राप्य विषय—अकल्पित परमार्थसत् वस्तु होती है (वस्तुविषयन्तु अनुमानम्, मनो०, प्र० वा०, ४.१२६); किन्तु प्रतीति का विषय कल्पित वस्तु होती है (कल्पितार्थविषया प्रतीतिः, मनो०, प्र० वा०, ४.१२६)। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कल्पित है—कल्पना-जन्य है किसी वस्तु का कुछ भी नाम रक्खा जा सकता है। दिङ्नाग, विनीतदेव और तिब्बती अनुवाद के अनुसार कौन अर्थ किस शब्द का वाच्य है, यह प्रसिद्धि के आधार पर निश्चित होता है अतः प्रसिद्धि = संकेत। किन्तु धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर ने इस सङ्केत के निमित्त का निरूपण किया है। प्रतीति या विकल्पज्ञानविषयता इस सङ्केत का निमित्त ही होती है (द्र०, बु० लॉ० २, पृ० १६५, टि० १, तथा प्र० वा० ४. १०८-१३२)।

स्ववचननिराकृतो यथा नानुमानं प्रमाणम् ॥५२॥

स्ववचनं प्रतिज्ञार्थस्यात्मीयो वाचकः शब्दः । तेन निराकृतः प्रतिज्ञार्थो न साध्यः । यथा नानुमानं प्रमाणम्-इत्यत्र[1] अनुमानस्य प्रामाण्यनिषेधः प्रतिज्ञार्थः । स नानुमानं[2] प्रमाणम् इत्यनेन स्ववाचकेन वाक्येन बाध्यते । वाक्यं ह्येतत् प्रयुज्यमानं वक्तुः शाब्दस्य[3] प्रत्ययस्य सदर्थत्वम् इष्टं सूचयति । तथा हि—मद्वाक्याद् योऽर्थसम्प्रत्ययस् तवोत्पद्यते सोऽसत्यार्थं इति दर्शयन् वाक्यमेव नोच्चारयेद् वक्ता, वचनार्थश् चेद् असत्यः परेण ज्ञातव्यो वचनम् अपार्थकम् ।

यद् विकल्पविज्ञानग्राह्यं तच्छब्दाकारसंसर्गयोग्यम्—बौद्ध-न्याय के अनुसार वस्तु का परमार्थसत् स्वरूप जो स्वलक्षण है, वह प्रत्यक्ष का ग्राह्य है । उसका शब्द से सम्बन्ध नहीं होता, वह शब्द का वाच्य नहीं होता । विकल्प ज्ञान का ग्राह्य जो वस्तु का साधारण रूप (सामान्यलक्षण या अपोहरूप) है, उसका ही शब्द से सम्बन्ध होता है वही शब्द का वाच्य है । इसीलिये यह स्वभावहेतुक व्याप्ति बनती है—जो पदार्थ विकल्पज्ञान का विषय है वही सांकेतिक शब्द का वाच्य है; जैसे—शाखादिमान् पदार्थ 'वृक्ष' शब्द का वाच्य है । शशी भी विकल्पज्ञान का विषय है, अतः वह चन्द्र शब्द का वाच्य है (धर्मो० प्र०, पृ० १८४)–विशेष द्रष्टव्य–न्या० वि० १.५, न्या० वा० ता०, पृ० १३३-१३४ तथा प्र० वा०, ३.९१-९३) ।

स्वभावहेतुः—प्रश्न यह है कि 'शशी' चन्द्र शब्द का वाच्य है, इस में क्या प्रमाण है ? इसके उत्तर में ही यह कहा गया है कि इसमें स्वभावहेतु ही प्रमाण है । फिर भी प्रतीतिनिराकृत का अनुमाननिराकृत में अन्तर्भाव नहीं होता, कारण यह है कि यहाँ स्वभावहेतु कल्पित है, वास्तविक नहीं । यह अभी ऊपर बतलाया गया है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० १८५) ।

स्ववचनेति—

पक्ष-बोधक शब्द (स्ववचन) से बाधित इस प्रकार होता है; जैसे—अनुमान प्रमाण नहीं है ॥५२॥

'स्ववचन' का अर्थ है—प्रतिज्ञात (पक्षरूप में कथित) अर्थ के स्वरूप (आत्मीय) का वाचक शब्द । उसके द्वारा बाधित जो प्रतिज्ञात अर्थ है वह साध्य (=पक्ष) नहीं हो सकता । जैसे—'अनुमान प्रमाण नहीं है'—यहाँ प्रतिज्ञा का अर्थ (=पक्ष) है—अनुमान की प्रामाणिकता का निषेध करना । किन्तु उसका 'अनुमान प्रमाण नहीं'—इस पक्ष (स्व) का कथन करने वाले वाक्य से बाध हो रहा है; क्योंकि इस वाक्य का प्रयोग यह सूचित करता है कि वक्ता को शब्द से उत्पन्न (शाब्द) होने वाले ज्ञान की यथार्थता अभीष्ट है । तथ्य यह है कि 'मेरे वाक्य से जो अर्थ-प्रतीति तुम्हें होगी वह अयथार्थ होगी'—इस प्रकार दिखलाने वाला वक्ता वाक्य का उच्चारण ही न कर सकेगा । यदि वचन द्वारा कहा गया अर्थ दूसरे (श्रोता) को असत्य (=अयथार्थ) समझना है तो वचन ही निरर्थक है ।

---

१. अत्र A.B.D.E.H.N.P. २. चानुमा० C. ३. शाब्दप्रत्ययस्य T.

योऽपि हि सर्वं मिथ्या ब्रवीमीति[1] वक्ति सोप्यस्य वाक्यस्य सत्यार्थत्वम् आदर्शयन् एव वाक्यम् उच्चारयति। यद्येतद् वाक्यं सत्यार्थम् आदर्शितम्, एवं वाक्यान्तराण्यात्मीयान्यसत्यार्थानि[2] दर्शितानि भवन्ति। [3]एतद् एव तु यद्यसत्यार्थम्, अन्यान्यसत्यार्थानि न दर्शितानि भवन्ति*। ततश्च न किञ्चिद् उच्चारणस्य फलम् इति नोच्चारयेत्।

तस्माद् वाक्यप्रभवं वाक्यार्थालम्बनं विज्ञानं सत्यार्थं दर्शयन् एव वक्ता वाक्यम् उच्चारयति। तथा[4] च सति बाह्यवस्तुनान्तरीयकं शब्दं दर्शयता शब्दजं विज्ञानं सत्यार्थं दर्शयितव्यम्। ततो बाह्यर्थकार्याच्छब्दाद् उत्पन्नं विज्ञानं सत्यार्थम् आदर्शयता[5] कार्यलिङ्गजम् अनुमानं प्रमाणं शाब्दं दर्शितं भवति।

जो व्यक्ति यह कहता है कि 'मैं सब मिथ्या कहता हूँ' वह भी अपने इस वाक्य की भली भाँति सत्यता दिखलाता हुआ ही इसका उच्चारण करता है। यदि यह वाक्य यथार्थ है–ऐसा भली भाँति दिखला दिया (विश्वास दिला दिया) तो अपने अन्य वाक्यों को असत्य (अयथार्थ) दिखलाया जा सकता है। किन्तु यदि यही वाक्य असत्य है तो यह नहीं दिखलाया जा सकता कि अन्य वाक्य असत्य हैं। फिर तो (वाक्य के) उच्चारण का कोई फल ही नहीं, अतः वह (वक्ता) उसका उच्चारण ही न करेगा।

फलतः (तस्मात्) जो ज्ञान वाक्य से उत्पन्न होता है, वाक्य का अर्थ ही जिसका विषय (आलम्बन) है, उसको यथार्थ दिखलाते हुए ही कोई वक्ता वाक्य का उच्चारण करता है। ऐसा होने पर 'शब्द बाह्य वस्तु का अविनाभावी है' यह दिखला कर ही उसे शब्द से उत्पन्न ज्ञान की यथार्थता दिखलानी होती है। इस प्रकार जिसने बाह्य अर्थ के कार्यभूत शब्द से उत्पन्न ज्ञान को यथार्थ दिखला दिया उसने यह भी दिखला दिया कि शाब्द ज्ञान कार्यहेतु से उत्पन्न अनुमान ज्ञान (अनुमान प्रमाण) ही है।

प्रतिज्ञार्थ—पक्ष, अनुमान प्रमाण नहीं, यह चार्वाक की स्थापना है।

विज्ञान = संज्ञा (बु० लॉ० २, पृ० १६६ टि० ६)। तिब्बती अनुवाद के अनुसार विज्ञान = ज्ञान।

तथा च सति—वाक्य से उत्पन्न ज्ञान को यथार्थ दिखलाता हुआ ही वक्ता वाक्य का उच्चारण करता है। ज्ञान की यथार्थता दिखलाने के लिये उसे शब्द को बाह्य वस्तु का अविनाभावी दिखलाना होता है; अर्थात् बाह्य वस्तु के होने पर ही शब्द का उच्चारण किया जाता है, इसीलिये शब्द से उत्पन्न होने वाला (शाब्द) ज्ञान

---

१. ब्रवीति वक्ति B. २. ०न्यसत्यानि A.
३. 'एतद्……भवन्ति* अयमंशः सूत्ररूपेण मुद्रितः H.
४. यथा A. ५. आदर्शयिता A.

तस्मात् 'नानुमानं प्रमाणम्' इति ब्रुवता शाब्दस्य प्रत्ययस्यासन् अर्थो[1]ग्राह्य उक्तः। असदर्थत्वम् एव ह्यप्रामाण्यम् उच्यते नान्यत्। शब्दोच्चारण-सामर्थ्याच् चार्थाविनाभावी स्वशब्दो दर्शितः। तथा च सन्नर्थो[2] दर्शितः। ततः कल्पिताद् अर्थकार्याच्छब्दाच् [3]छाब्दप्रत्ययार्थस्यानुमितं सत्त्वं प्रतिज्ञायमानम् असत्त्वं प्रतिबध्नाति। तद् एवं स्ववचनानुमितेन सत्त्वेनासत्त्वं बाध्यमानं[4] स्ववचनेन बाधितम् उक्तम् इत्ययम् अत्रार्थः।

यथार्थ हो सकता है और क्योंकि शब्द बाह्य वस्तु से उत्पन्न होता है उसका कार्य है; अतः शाब्द-ज्ञान कार्य हेतु से उत्पन्न होने वाला अनुमान ज्ञान ही है।

तस्माद् इति—इसलिये 'अनुमान प्रमाण नहीं'—यह कहते हुए उसने यह भी कह दिया कि शाब्द-ज्ञान का ग्राह्य अर्थ सत् (विद्यमान) नहीं है; क्योंकि (स्वप्रदर्शित) अर्थ का विद्यमान न होना ही (ज्ञान की) अप्रामाणिकता कही जाती है, अन्य कुछ नहीं। (दूसरी ओर) शब्दों का उच्चारण करने के सामर्थ्य से (अर्थापत्त्या=अर्थतः) उसने अपने शब्दों को अर्थ का अविनाभावी दिखलाया है। इस प्रकार (शाब्द-ज्ञान का) अर्थ विद्यमान है, यह दिखला दिया है। इसीलिये अर्थ के कार्य रूप में आरोपित (कल्पित) शब्द से शाब्द-ज्ञान के (विषय-भूत) अर्थ की सत्ता का अनुमान होता है, वह सत्ता पक्ष रूप में स्थापित (प्रतिज्ञायमान) असत्त्व की बाधक है। इस प्रकार यह अर्थ हुआ कि अपने (पक्ष के वाचक) शब्दों से अनुमित सत्ता के द्वारा (पक्ष रूप में कहे गये) असत्त्व का बाध होना ही स्ववचन से बाधित (स्ववचननिराकृत) कहा गया है।

शाब्दप्रत्ययार्थस्य······प्रतिबध्नाति—दुर्वेक मिश्र के अनुसार इसका अर्थ है—शाब्द-ज्ञान का ज्ञाप्य (ज्ञापित) अर्थ है—'अनुमान का प्रामाण्य'। इसकी सत्ता का शब्दलिङ्गक अनुमान से निश्चय किया गया है। यह अनुमान के प्रामाण्य की सत्ता (कर्तृ) पक्ष रूप में स्थापित अनुमान के अप्रामाण्य (=असत्त्व, कर्म) को बाधित करती है (शाब्दप्रत्ययस्य योऽर्थो ज्ञाप्योऽनुमानप्रामाण्यलक्षणः तस्यानेनैव शब्दलिङ्गेनानुमाने-नानुमितं सत्त्वं कर्तृ प्रतिज्ञायमानम् असदर्थम् अप्रामाण्यलक्षणं कर्मभूतं प्रतिबध्नाति (धर्मो० प्र०, पृ० १८६)।

भाव यह है कि ज्ञान के प्रामाण्य का अर्थ है—ज्ञान द्वारा प्रदर्शित अर्थ का विद्यमान होना। प्रामाण्य का अभाव ही अप्रामाण्य है। वादी (चार्वाक) ने 'नानुमानं प्रमाणम्' इन शब्दों का विद्यमान अर्थ की प्रतीति के लिये उच्चारण किया है। अर्थात् शाब्द ज्ञान का विषय जो अर्थ है वह विद्यमान है (=सत्त्व)। इससे प्रकट होता है कि वह शब्दों से उत्पन्न (शाब्द) ज्ञान को यथार्थ (प्रमाण) मानता है और यह शाब्द ज्ञान उपर्युक्त रीति (तथा च सति टि०) से अनुमान ही है। इस प्रकार स्वीकार न

---

१. 'अर्थो' नास्ति A.H.N.P. २. सन्नार्थो E.
३. ०च्छब्दप्र० A. ४. वाच्यमानं A.B.E.H.N.P.

अन्ये त्वाहुः—अभिप्रायकार्याच् छब्दाज् जातं ज्ञानम् अभिप्रायालम्बनं सदर्थम् इच्छतः शब्दप्रयोगः। तेनाप्रामाण्यं प्रतिज्ञातं बाध्यत इति।

तद् अयुक्तम्। यत इह प्रतीतेः स्वभावहेतुत्वम्, स्ववचनस्य च कार्य-हेतुत्वं कल्पितम् इष्टम्, न वास्तवम्[1]। अभिप्रायकार्यत्वं च वास्तवम् एव शब्दस्य। ततस्तद् इह न गृह्यते।

करते हुए भी वादी ने अनुमान का प्रामाण्य ज्ञापित कर दिया। किन्तु उसका पक्ष है—अनुमान (लिङ्ग से उत्पन्न ज्ञान) प्रमाण नहीं होता; अर्थात् अनुमान द्वारा प्रदर्शित अर्थ विद्यमान नहीं होता (=असत्त्व)। इस पक्ष (असत्त्व) का साध्य को प्रकट करने वाले शब्दों से ज्ञापित अर्थ (सत्त्व) के द्वारा बाध हो जाता है।

अन्ये त्वाहुरिति—दूसरे (शान्तभद्र आदि) तो कहते हैं कि (वक्ता के) अभि-प्राय से उत्पन्न होने वाले (=कार्य) शब्द से जो ज्ञान होता है, जिसका विषय (आलम्बन) अभिप्राय होता है, उस ज्ञान को प्रामाणिक (सदर्थम्=विद्यमान अर्थ वाला) दिखलाने का अभिलाषी (व्यक्ति) शब्द का प्रयोग करता है। उस (शब्द-प्रयोग) के द्वारा प्रतिज्ञा द्वारा उक्त अप्रामाण्य का बाध हो जाता है।

अन्ये त्वाहुः=तात्पर्यनिबन्धन टिप्पण (धर्मो० प्र०, पृ० २७३) के अनुसार यहाँ 'अन्ये' शब्द से शान्तभद्र आदि की ओर संकेत है (अन्ये त्विति शान्त-भद्रादयः, तात्पर्य० पृ० १११)। विनीतदेव की व्याख्या भी इनके समान ही है (दे०, बु० लॉ० २, पृ० १६७ टि० ४)। श्चेरवात्स्की का कथन है कि विनीतदेव की व्याख्या धर्मोत्तर की व्याख्या की अपेक्षा सरल है। धर्मोत्तर ने शब्द-प्रयोग के प्रयोजन सम्बन्धी मतभेदों का उल्लेख करके इस व्याख्या को अधिक जटिल बना दिया है (वही, पृ० १६७ टि० ४)।

शान्तभद्र आदि का भाव यह है—विद्यमान अर्थ को प्रकट करने वाले ज्ञान (शाब्द ज्ञान) को उत्पन्न करने के अभिप्राय से वक्ता शब्द-प्रयोग करता है। शब्द-प्रयोग अभिप्राय से उत्पन्न होता है; वह अभिप्राय का कार्य है। अतः शब्द से जो वक्ता का अभिप्राय जाना जाता है; वह कार्यहेतुक अनुमान ही है। इससे अनुमान का प्रामाण्य सूचित होता है; जो अनुमान के अप्रामाण्य (पक्ष) का बाधक है।

सदर्थम् इच्छतः—विद्यमान है अर्थ जिसका ऐसे ज्ञान को (सन् विद्यमानः अर्थः यस्य तत् सदर्थं ज्ञानम्)। जिस ज्ञान का प्रदर्शित अर्थ विद्यमान होता है वह प्रामाणिक होता है अतः भाव यह है—शब्द से उत्पन्न ज्ञान को प्रामाणिक दिखलाने की इच्छा वाले वक्ता का शब्द-प्रयोग।

तदयुक्तम् इति—वह (मत) युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि यहाँ प्रतीति को कल्पित स्वभाव-हेतु तथा स्ववचन को कल्पित कार्य-हेतु माना गया है, वास्तविक नहीं (वास्तविक हेतुओं का तो अनुमान-निराकृत में ही अन्तर्भाव हो जाता है)। किन्तु शब्द तो अभिप्राय का वास्तविक कार्य है, इसलिये वह यहाँ नहीं लिया जाता।

---

1. वास्तवमिति C.D.

किञ्च, यथा-अनुमानम् अनिच्छन् 'वह्न्यव्यभिचारित्वं धूमस्य न प्रत्येति, तथा शब्दस्याप्यभिप्रायाव्यभिचारित्वं न प्रत्येष्यति। बाह्यवस्तु-प्रत्यायनाय च शब्दः प्रयुज्यते। तन्न शब्दस्याभिप्रायाविनाभावित्वाभ्युपगम-पूर्वकः शब्दप्रयोगः।

'अपि च, न स्वाभिप्रायनिवेदनाय शब्द उच्चार्यंते, अपि तु 'बाह्य-वस्तुसत्त्वप्रतिपादनाय। तस्माद् बाह्यवस्त्वविनाभावित्वाभ्युपगमपूर्वकः शब्द-प्रयोगः*। ततः पूर्वकम् ' एव व्याख्यानम् अनवद्यम् ॥५२॥

किञ्च, जैसे वह (चार्वाक) अनुमान को स्वीकार न करने के कारण धूम का अग्नि के साथ अविनाभाव (=अव्यभिचारित्व) नहीं मानता उसी प्रकार शब्द का अभिप्राय के साथ अविनाभाव भी नहीं मानेगा। और, बाह्य वस्तु का बोध कराने के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है; इसलिये ऐसा नहीं है कि पहले अभिप्राय के साथ शब्द का अविनाभाव स्वीकार करके तब शब्द-प्रयोग किया जाये।

अपि च (=और भी, क्योंकि) अपने अभिप्राय को प्रकट करने के लिये शब्द का उच्चारण नहीं किया जाता, अपि तु बाह्य वस्तु की सत्ता का प्रतिपादन करने के लिये किया जाता है। इसलिये बाह्य वस्तु के साथ (शब्द का) अविनाभाव स्वीकार करके ही शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार पहला व्याख्यान ही निर्दोष है ॥५२॥

वास्तवम्—अभिप्राय (Intention) शब्द का मनोवैज्ञानिक कारण है। जब वक्ता को कुछ कहने की अभिलाषा (विवक्षा) होती है तब शब्द–प्रयोग किया जाता है। किन्तु बाह्य वस्तु का बोध कराना शब्द-प्रयोग का तर्क-सम्बन्धी या व्यावहारिक कारण माना गया है। विनीतदेव आदि ने इन दोनों में विवेक नहीं किया (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १६८ टि० ५)।

शब्दस्य अभिप्रायाविनाभावित्वाभ्युपगमपूर्वकः—शब्दस्य अभिप्रायेण अविना-भावित्वं तस्य अभ्युपगमः पूर्वं (कारणं) यस्य स तथा (शब्दप्रयोगः)। भाव यह है कि अभिप्राय के साथ शब्द का अविनाभाव स्वीकार करना शब्द-प्रयोग का आधार नहीं है।

अपि च=और भी; क्योंकि; अपि च इति यस्मादर्थेऽव्ययम्; (धर्मो० प्र०, टि० ३)।

ततः पूर्वकम् एव व्याख्यानम् अनवद्यम्—यहाँ शान्तभद्र आदि के मत का निराकरण करने के लिये धर्मोत्तर ने निम्न युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं—(i) शब्द अभिप्राय का वास्तविक कार्य है। यदि इस कार्यहेतुक अनुमान से प्रस्तुत पक्ष का बाध माना जायेगा तो इसका अनुमान-निराकृत में ही अन्तर्भाव हो जायेगा। आचार्य दिङ्नाग

---

१. अव्यव्य० D. २. अपि च ...शब्दप्रयोगः,* नास्ति B.
३. बाह्यसत्त्व० T. ४. पूर्वमेव E. ५. व्याख्यातम् T.

इति चत्वारः पक्षाभासा निराकृता भवन्ति ॥५३॥

एवं च[1]सति—अनिराकृतग्रहणेन' अनन्तरोक्ताश्चत्वारः पक्षवद् आभासन्त इति पक्षाभासा निरस्ता भवन्ति ॥५३॥

तथा धर्मकीर्ति ने जो स्ववचन-निराकृत को अनुमान-निराकृत से पृथक् रक्खा है उसका आधार यही है कि स्ववचन-निराकृत में कार्यहेतु वास्तविक नहीं अपि तु कल्पित होता है। शब्द बाह्य अर्थ का कल्पित कार्य है; क्योंकि वस्तुतः वह बाह्य अर्थ से उत्पन्न नहीं होता अपि तु बाह्य अर्थ को प्रकट करने के लिये उसका प्रयोग किया जाता है अतः उसे बाह्य अर्थ का कार्य मान लिया जाता है। (ii) जो अनुमान को नहीं स्वीकार करता, वह शब्द को अभिप्राय का अविनाभावी कैसे मानेगा ? किन्तु बाह्य वस्तु का बोध कराने के लिये वह भी शब्द का प्रयोग कर ही रहा है; अतः बाह्य वस्तु के साथ शब्द का अविनाभाव स्वीकार करता है। (iii) वस्तुतः शब्द का प्रयोग बाह्य वस्तु की सत्ता को बतलाने के लिये ही होता है; अपने अभिप्राय को प्रकट करने के लिये नहीं।

इति चत्वार इति—

इस प्रकार चारों पक्षाभासों का निराकरण हो जाता है ॥५३॥

ऐसा होने पर अर्थात् 'अनिराकृत' शब्द के ग्रहण से अभी ऊपर कहे गये चार पक्ष के समान भासित होने वाले अर्थात् पक्षाभासों का निराकरण हो जाता है ॥५३॥

चत्वारः पक्षाभासाः—पक्षवद् आभासन्ते इति पक्षाभासाः; जो पक्ष के समान भासित होते हैं किन्तु वस्तुतः पक्ष नहीं होते = दोषयुक्त पक्ष = दूषित पक्ष। पक्ष के लक्षण में 'अनिराकृत' पद के ग्रहण से पक्षाभासों में पक्ष का लक्षण नहीं जाता। दिङ्नाग के अनुसार वे चार पक्षाभास हैं—प्रत्यक्ष-आगम (अनुमान)-प्रसिद्धि-स्ववचन निराकृत। धर्मकीर्ति के अनुसार प्रत्यक्ष-अनुमान (स्वशास्त्र)-प्रतीति (प्रसिद्धि)-स्ववचन निराकृत। प्रशस्तपाद के अनुसार प्रत्यक्ष-अनुमान-अभ्युपगम (आगम)-स्वशास्त्र-स्ववचन-विरोधी—ये पक्षाभास हैं (प्रशस्त०, पृ० ५६६-५७४)। यहाँ श्चेरबात्स्की का कथन है कि प्रशस्तपाद ने इस विषय में दिङ्नाग का अनुसरण किया है; किन्तु प्रायः सभी विद्वानों ने प्रशस्तपाद को दिङ्नाग से प्राचीन माना है। बाद में श्चेरबात्स्की ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है (द्र०, रेन्डिल, फ्रेग्मेण्ट फ्रॉम दिङ्नाग, पृ० ४ टि० १) अतः स्पष्ट ही है कि प्रशस्तपाद ने दिङ्नाग का अनुसरण नहीं किया।

पक्षाभासों की संख्या के विषय में अन्य मत-भेद भी हैं। शंकर स्वामी ने न्याय-प्रवेश में ९ पक्षाभासों का उल्लेख किया है। नैयायिक तथा संयुक्त न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय का मन्तव्य है कि कोई पक्ष भी सद् या असद् नहीं होता। केवल हेतु के आधार पर ही उसे सद् (पक्ष) या असद् (पक्षाभास) कह दिया जाता है (न्या० वा०; पृ० ११४ तथा न्या० वा० ता० पृ० २७१-२७२)। पक्षाभासों को संगृहीत करने के

---

१. 'च' नास्ति A.N.P.

सम्प्रति पक्षलक्षणपदानि येषां व्यवच्छेदकानि तेषां व्यवच्छेदेन यादृशः पक्षार्थो[1] लभ्यते तं दर्शयितुं व्यवदच्छेद्यान् संक्षिप्य दर्शयति—

'एवं[2] सिद्धस्य, असिद्धस्यापि साधनत्वेनाभिमतस्य, स्वयं वादिना तदा साधयितुम् अनिष्टस्य उक्तमात्रस्य, निराकृतस्य च विपर्ययेण साध्यः। तेनैव रूपेणाभिमतो वादिन इष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति पक्षलक्षणम् अनवद्यं[3] दर्शितं भवति ॥५४॥

एवम् इत्यनन्तरोक्तक्रमेण[4]। सिद्धस्य विपर्ययेण विपरीतत्वेन हेतुना साध्यो द्रष्टव्यः। यस्माद् अर्थात् सिद्धोऽर्थो विपरीतः, स साध्य इत्यर्थः। सिद्धश्च विपरीतोऽसिद्धस्य। तस्माद् असिद्धः साध्यः। असिद्धोऽपि न सर्वोऽपि तु

लिए ही उन्होंने दो हेत्वाभास और माने हैं—सत्प्रतिपक्ष और बाधित (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १७० टि० २)।

१३. पक्ष-लक्षण का उपसंहार

सम्प्रतीति—अब, पक्ष-लक्षण के पद जिन (अर्थों) के व्यवच्छेदक (व्यावर्तक= पृथक् करने वाले) हैं, उनके व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) करने से जैसा पक्ष का अर्थ उपलब्ध होता है, उस अर्थ को दिखलाने के लिये संक्षेप में व्यावर्त्यों को दिखलाते हैं—

इस प्रकार (१) सिद्ध के अथवा ऐसे असिद्ध के भी जो (२) साधन रूप में अभिमत हो या (३) स्वयं वादी को उस समय सिद्ध करने के लिये अनिष्ट हो, या (४) केवल उक्त हो, या (५) (प्रत्यक्ष आदि से) निराकृत हो—विपरीत अर्थ साध्य (पक्ष) है। अतः उस (साध्य के) रूप से ही अभिमत, वादी का इष्ट तथा (प्रत्यक्ष आदि के द्वारा) अबाधित (अर्थ) पक्ष होता है—यह निर्दोष पक्ष का लक्षण दिखलाया गया है ॥५४॥

संक्षिप्य दर्शयति—पक्ष-विवेचन का उपसंहार करते हुए यहाँ पक्ष-लक्षण के पदों (स्वयम्, स्वरूपेणैव, इष्ट अनिराकृत) के पाँच प्रकार के व्यावर्त्य दिखलाये जा रहे हैं।

वस्तुतः बौद्ध-न्याय में शब्द का अर्थ अपोह या अन्यव्यावृत्ति ही है अतः इन पाँच प्रकार के निषेधात्मक अर्थों का बोध होने के साथ ही 'स्वयम्' इत्यादि शब्दों के अभीष्ट अर्थ का बोध होता है।

एवम् इति—'एवम्' का अर्थ है—अभी ऊपर कहे गये प्रकार से। (१) प्रथमतः सिद्ध वस्तु के विपरीत होने के कारण किसी वस्तु को साध्य (पक्ष) समझना चाहिये। कोई सिद्ध वस्तु जिस पदार्थ के विपरीत है, वह साध्य है—यह अभिप्राय है। और, सिद्ध वस्तु असिद्ध के विपरीत होती है; इसलिये असिद्ध वस्तु ही साध्य होती है। असिद्ध होते हुए भी सभी वस्तु साध्य नहीं होती, अपि तु (२) साधनरूप में कही गई

---

१. पक्षो C. २, 'एवम्' नास्ति B.H.P. ३. अवद्यं B. P.
४. ०रोक्तेन क्रमेण B.C.D.

साधनत्वेनोक्तस्यासिद्धस्यापि विपर्ययेण। स्वयं वादिना साधयितुम् अनिष्टस्य असिद्धस्य विपर्ययेण। तथा उक्तमात्रस्य असिद्धस्यापि विपर्ययेण। तथा निराकृतस्यासिद्धस्यापि विपर्ययेण साध्यः।

यश्चायं पञ्चभिर्व्यवच्छेद्यैः रहितोऽर्थः—

१. असिद्धः, २ असाधनम्, ३. वादिनः स्वयं साधयितुम् इष्टः, ४. उक्तोऽनुक्तो वा, ५ प्रमाणैरनिराकृतः साध्यः; स एवासौ स्वरूपेणैव स्वयम् इष्टोऽनिराकृत एतैः पदैरुक्त इत्यर्थः। यश्चायं साध्यः स पक्ष इति[1]—उच्यते। इतिशब्द एवमर्थे। एवं पक्षलक्षणम् अनवद्यम् इति। अविद्यमानम् अवद्यं दोषो यस्य तद् अनवद्यम्। दर्शितं कथितम् ॥५४॥

असिद्ध वस्तु से भिन्न (=विपरीत), (३) स्वयं वादी को जिसे सिद्ध करना अभीष्ट नहीं, ऐसी असिद्ध वस्तु से भिन्न (४) केवल (शब्दों से) उक्त असिद्ध वस्तु से भिन्न (अर्थात् अनुक्त भी प्रतीत होने वाली वस्तु) तथा (५) जो (प्रत्यक्ष आदि) से बाधित है ऐसी असिद्ध वस्तु से भिन्न वस्तु साध्य (पक्ष) होती है।

विपरीतत्वेन हेतुना—क्योंकि वह सिद्ध के विपरीत (उल्टा) है, वह सिद्ध नहीं है इसी हेतु वह साध्य है। संक्षेप में असिद्ध ही साध्य या पक्ष है किन्तु वह असिद्ध आगे बतलाये गये चार विशेषणों से युक्त होना चाहिये।

यश्चायम् इति—जो यह पाँच निषेध्य (=व्यवच्छेद्य=व्यावर्त्य) धर्मों से रहित पदार्थ है; अर्थात् १. सिद्ध नहीं है, २. साधन नहीं है, ३. स्वयं वादी को सिद्ध करना अभीष्ट है ४. शब्दों द्वारा कथित है या अकथित है, ५. (प्रत्यक्ष आदि) प्रमाणों द्वारा बाधित नहीं है—वह साध्य है। वही . स्वरूपेण, २. एव, ३. स्वयम्, ४. इष्टः, ५. अनिराकृतः - इन पदों के द्वारा कहा गया है, यह अर्थ है। और, जो यह साध्य है, वही पक्ष कहलाता है। (सूत्र ५४ में) इति शब्द एवम्=इस प्रकार के अर्थ में है। इस प्रकार पक्ष का लक्षण निर्दोष है। नहीं है अवद्य अर्थात् दोष जिसमें, वह अनवद्य (=निर्दोष) है। दर्शितम्=कथितम्=कहा गया है ॥५४॥

एतैः पदैरुक्तः—पक्ष-लक्षण में पांच पद हैं। इन पाँचों पदों के पांच ही व्यवच्छेद्य (=व्यावर्त्य=जिनमें से लक्षण की व्यावृत्ति करनी है) हैं, जैसे (१) स्वरूपेण (=साध्य रूप से) का अभिप्राय है कि जो वस्तु सिद्ध है, वह पक्ष नहीं हो सकती। (२) 'एव' (=ही) का अर्थ है कि जो केवल साध्य रूप में है वही पक्ष है, जो वस्तु साधन रूप में भी इष्ट है वह पक्ष नहीं हो सकती। (३) 'स्वयम्' का अभिप्राय है कि वही वस्तु साध्य होगी, जिसे वादी स्वयं सिद्ध करना चाहता है; उसके दार्शनिक-सम्प्रदाय के सभी मन्तव्य पक्ष नहीं होंगे। (४) 'इष्ट' का अभिप्राय है कि जो वस्तु शब्दों द्वारा उक्त है केवल वही साध्य नहीं है अपि तु अनुक्त भी जो इष्ट है वह पक्ष है। (५) 'अनिराकृत' पद का प्रयोजन है कि प्रत्यक्ष आदि से निराकृत वस्तु साध्य

---

१. 'इति'—नास्ति A.B.D.E.H.N.P.

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परिसमापय्य[1] प्रसङ्गागतं च पक्ष-लक्षणम् अभिधाय हेत्वाभासान् वक्तुकामस्तेषां प्रस्तावं रचयति त्रिरूपेत्यादिना ।

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम् इत्युक्तम् । तत्र त्रयाणां रूपाणाम् एकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः ॥५५॥

एतदुक्तं भवति—त्रिरूपलिङ्ग[2] वक्तुकामेन स्फुटं तद् वक्तव्यम् । एवं च तत् स्फुटम् उक्तं भवति यदि तच्च, तत्प्रतिरूपकं[3] चोच्यते । हेयज्ञाने[4] हि तद्विविक्तम् उपादेयं सुज्ञातं भवतीति त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानम्[5] (३.१) इति प्राग् उक्तम् । तत्रेति-तस्मिन् सति, त्रिरूपलिङ्गाख्याने परार्थानुमाने[6] सतीत्यर्थः । त्रयाणां रूपाणां मध्य एकस्याप्यनुक्तौ । अपि शब्दाद्द्वयोरपि । साधनस्य आभासः सदृशं साधनस्य, न साधनम् इत्यर्थः । त्रयाणां रूपाणां न्यूनता नाम साधनदोषः ॥५५॥

नहीं होती, इस पद से चार प्रकार के पक्षाभासों का निराकरण हो जाता है इस प्रकार इन ५ पदों द्वारा पक्ष का निर्दोष लक्षण दिया गया है ।

१४. हेत्वाभास

त्रिरूपेति—त्रिरूप लिङ्ग के विवेचन को समाप्त करके तथा प्रसङ्ग-प्राप्त पक्ष का लक्षण बतलाकर हेत्वाभासों का वर्णन करने के इच्छुक (आचार्य धर्मकीर्ति) 'त्रिरूप इत्यादि' (वचन) के द्वारा हेत्वाभासों की प्रस्तावना रचते हैं—

त्रिरूप लिङ्ग का कथन परार्थानुमान है—यह कहा गया है । तब तीन रूपों में से एक रूप का भी कथन न करने पर हेत्वाभास (असद् हेतु) हो जाता है ॥५५॥

यह कहा जा सकता है कि त्रिरूप लिङ्ग का कथन करने के इच्छुक व्यक्ति को उस (त्रिरूप लिङ्ग) को स्पष्टतः कहना चाहिये । और, वह इस प्रकार स्पष्ट कहा जा सकता है कि वह (त्रिरूपलिङ्ग) और उसका प्रतियोगी भी बतला दिये जायें । क्योंकि हेय (व्यावर्त्य=व्यवच्छेद्य) का ज्ञान हो जाने पर उस (हेय) से भिन्न ग्राह्य वस्तु भलीभाँति जान ली जाती है । त्रिरूप लिङ्ग का कथन परार्थानुमान है—यह पहले (३.१) कहा जा चुका है । ऐसा होने पर (=तत्र); अर्थात् जब त्रिरूप लिङ्ग का कथन परार्थानुमान है तो तीन रूपों में से किसी एक रूप का कथन न करने पर—'अपि' (=भी) शब्द के ग्रहण से दो रूपों का कथन न करने पर भी—साधनाभास (हेत्वाभास) हो जाता है । साधनाभास=साधन का आभास, अर्थात् साधन के सदृश होना, साधन नहीं—यह अर्थ है । यह तीन रूपों की न्यूनता साधन का दोष है ॥ ५॥

---

१. सामाप्य E.
२. लिङ्गाख्यानं वक्तु० A.B.E.H.N.P.
३. प्रतिरूपं वोच्यते A.B.H.P.
४. ज्ञाते E.
५. परार्थानु० A.B E.H.N.P.
६. परार्थेऽनुमाने C.

उक्तावप्यसिद्धौ सन्देहे वा प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः ॥५६॥

न केवलम् अनुक्तावुक्तावप्यसिद्धौ सन्देहे वा। कस्य? इत्याह—प्रतिपाद्यस्य=प्रतिवादिनः, प्रतिपादकस्य च=वादिनो हेत्वाभासः ॥५६॥

अथ [1]कस्यैकस्य रूपस्यासिद्धौ सन्देहे [2]वा किंसंज्ञको हेत्वाभास इत्याह—

साधनाभासः=हेत्वाभास; शब्द की व्युत्पत्ति है—आभासनम् आभासः प्रतिभासः; साधनस्येव आभासः प्रतिभासोऽस्येति तथा (धर्मो० प्र०, पृ० १८९)। हेत्वाभासों का विशद निरूपण दिङ्नाग के हेतुचक्र में किया गया है (बु० लॉ० २, पृ० १७१ टि० २)। लिङ्ग के जो तीन रूप 'पक्षे सत्त्वम् एव सपक्ष एव सत्त्वम्, विपक्षे चासत्त्वम् एव'— कहे गये हैं। उन तीन रूपों से युक्त लिङ्ग-कथन ही परार्थानुमान है यदि उनमें से एक रूप से हीन भी लिङ्ग का कथन किया जाता है तो वह हेत्वाभास हो जाता है।

प्रतिरूपकम्—प्रतियोगी, प्रतिषेध्य (negative counterpart)।

उक्तेति—

(तीनों रूपों का) कथन करने पर भी वादी (=प्रतिपादक) या प्रतिवादी (प्रतिपाद्य) के प्रति (किसी रूप के) असिद्ध होने पर अथवा (किसी में) सन्देह होने पर साधनाभास होता है ॥५६॥

केवल (त्रिरूप लिङ्ग के किसी रूप का) कथन न करने पर ही नहीं, अपि तु (तीनों रूपों के) कथन करने पर भी (किसी रूप के) असिद्ध होने पर या उसमें सन्देह होने पर हेत्वाभास होता है (हेत्वाभासः)। किसको (सन्देह होने पर या असिद्ध होने पर)? यह बतलाते हैं—प्रतिपाद्य अर्थात् प्रतिवादी को और प्रतिपादक अर्थात् वादी को (सन्देह होने पर) ॥५६॥

प्रतिपाद्य०—प्रतिपाद्यस्य प्रतिपादकस्य च प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोश्च— यह समास है। भाव यह है कि यदि लिङ्ग का कोई रूप वादी या प्रतिवादी में से किसी एक के प्रति अथवा दोनों के प्रति असिद्ध या सन्दिग्ध होता है तो वहाँ हेत्वाभास हो जाता है। यह दिङ्नाग द्वारा प्रतिपादित वाद-नियम है जिसके द्वारा वाद का यह आधारभूत सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि वादी या प्रतिवादी को ऐसे दृष्टान्त या हेतु नहीं प्रस्तुत करने चाहियें, जिन्हें दोनों स्वीकार न करते हों (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १७२ टि० १)।

१५. असिद्ध हेत्वाभास

अथेति—अब, किस रूप की असिद्धि या सन्देह होने पर किस नाम का हेत्वाभास होता है, यह बतलाते हैं—

---

१. कस्य रूप० A.E.HN.P., हेत्वाभासोऽप्येकस्य रूप० C.

२. वाक्यं सं० A.

एकस्य रूपस्य धर्मिसम्बन्धस्यासिद्धौ सन्देहे, [1]वाऽसिद्धो हेत्वाभासः ॥५७॥

एकस्य रूपस्येति। धर्मिणा सह सम्बन्धः धर्मिसम्बन्धः। धर्मिणि सत्त्वं हेतोः। तस्य असिद्धौ सन्देहे वा असिद्धसंज्ञको हेत्वाभासः। असिद्धत्वाद् एव च धर्मिण्यप्रतिपत्तिहेतुः। न साध्यस्य, न विरुद्धस्य, न संशयस्य हेतुरपि त्वप्रतिपत्तिहेतुः। न कस्यचिद् अतः प्रतिपत्तिरिति कृत्वा। अयं चार्थोऽसिद्धसंज्ञाकरणाद् एव प्रतिपत्तव्यः ॥५७॥

उदाहरणम् आह—

यथा-अनित्यः शब्द इति साध्ये चाक्षुषत्वम् उभयासिद्धम् ॥५८॥

यथेत्यादि। [2]अनित्यः शब्द इत्यनित्यत्वविशिष्टे शब्दे साध्ये चाक्षुषत्वं चक्षुर्ग्राह्यत्वं शब्दे [3]द्वयोरपि वादिप्रतिवादिनोरसिद्धम् ॥५८॥

चेतनास्तरव इति साध्ये सर्वत्वगपहरणे मरणं[4] प्रतिवाद्यसिद्धम्, विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य [5]मरणस्यानेनाभ्युपगमात्, तस्य च तरुष्वसम्भवात् ॥५९॥

धर्मी से सम्बन्ध (अर्थात् पक्ष में होना) एक रूप की असिद्धि होने पर या सन्देह होने पर असिद्ध नामक हेत्वाभास होता है ॥५७॥

धर्मि-सम्बन्ध का अर्थ है—धर्मी के साथ सम्बन्ध; अर्थात् धर्मी (पक्ष) में हेतु का होना (पक्षसत्त्वम्)। उसकी असिद्धि या उसमें सन्देह होने पर असिद्ध नामक हेत्वाभास होता है। असिद्ध होने के कारण ही वह धर्मी के ज्ञान का हेतु नहीं होता। यह न तो साध्य के, न ही उसके अभाव के ज्ञान का तथा न सन्देह का हेतु होता है, अपि तु ज्ञानाभाव (अप्रतिपत्ति) का ही निमित्त होता है; क्योंकि इससे किसी को भी निश्चित ज्ञान नहीं होता। इसका यह अर्थ 'असिद्ध' संज्ञा करने से ही समझना चाहिये ॥५७॥

इसका उदाहरण दिखलाते हैं—

जैसे-'शब्द अनित्य है'—यह सिद्ध करने के लिये दिया गया 'चाक्षुषत्व' हेतु दोनों (वादी तथा प्रतिवादी) के प्रति असिद्ध है ॥५८॥

यथा इत्यादि। शब्द अनित्य है—यहाँ शब्द को अनित्यता से युक्त सिद्ध करने के लिये दिया गया 'चाक्षुषत्व' अर्थात् नेत्र द्वारा ग्राह्य होना, जो हेतु है, वह शब्द में वादी तथा प्रतिवादी दोनों के प्रति असिद्ध है ॥५८॥

चेतानास्तरव इति—

"वृक्ष चेतन हैं"—यह सिद्ध करने के लिये (वादी जैन के द्वारा) 'समस्त

---

१. चासि० B.C.D.E.H.P.

२. नित्यः B.

३. द्वयोर्द्वयोरपि B.

४. मरणादिति C.

५. ०स्यानेन मरणस्याभ्यु० C.

चेतनास्तरव इति तरूणां चैतन्ये साध्ये । सर्वा त्वक् सर्वत्वक् । तस्या अपहरणे सति मरणं दिगम्बरैरुपन्यस्तं प्रतिवादिनो बौद्धस्यासिद्धम् । कस्माद् असिद्धम् इत्याह—विज्ञानं चेन्द्रियं चायुश्चेति द्वन्द्वः[1] । तत्र विज्ञानं[2] चक्षुरादि-जनितम्[3] । रूपादिविज्ञानोत्पत्त्या यदनुमितं [4]कायान्तर्भूतं चक्षुर्गोलकादिस्थितं रूपं[5] तद् इन्द्रियम् । आयुरिति लोके प्राणा [6]उच्यन्ते । न चागमसिद्धम् इह युज्यते वक्तुम् । अतः [7]प्राणस्वभावम् आयुरिह । तेषां निरोधो निवृत्तिः । स लक्षणं तत्त्वं यस्य तत् तथोक्तम् । तथाभूतस्य मरणस्य अनेन बौद्धेन प्रतिज्ञात-त्वात् ।

यदि नामैवं तथापि कथम् असिद्धम् इत्याह—तस्य च विज्ञानादिनिरोधा-त्मकस्य [8]तरुष्वसम्भवात् । सत्तापूर्वको निरोधः । ततश्च यो विज्ञाननिरोधं

त्वचा (छाल, बक्कल) हटा देने पर मृत्यु होना' (हेतु दिया गया है) । यह प्रतिवादी (बौद्ध) के प्रति असिद्ध है; क्योंकि यह विज्ञान, इन्द्रिय तथा आयु (प्राण) के निरोध को ही मृत्यु मानता है और वह मृत्यु वृक्षों में सम्भव नहीं है ॥५९॥

वृक्ष चेतन हैं—यहाँ वृक्षों की चेतनता को सिद्ध करने के लिये समस्त त्वचा (सर्वत्वक्=सर्वा त्वक्) के हटाने पर उनकी मृत्यु हो जाती है—यह हेतु दिगम्बर जैन ने प्रस्तुत किया है । यह प्रतिवादी बौद्ध की दृष्टि से असिद्ध है । क्यों असिद्ध है ? यह बतलाते हैं—विज्ञान और इन्द्रिय तथा आयु इनका द्वन्द्व समास है । इनमें विज्ञान चक्षु आदि से उत्पन्न (रूप आदि का) ज्ञान है । इन्द्रिय वह है, जिसका रूप-विज्ञान आदि की उत्पत्ति से अनुमान किया जाता है, जो शरीर के भीतर चक्षु-गोलक आदि में स्थित भौतिक तत्त्व (रूप=रूपस्कन्ध) है । लोक में प्राणों को आयु कहा जाता है । यहाँ आगम-प्रसिद्ध आयु नहीं कही जा सकती; इसलिये प्राणस्वरूप आयु ही यहाँ है । उन (विज्ञान, इन्द्रिय तथा आयु) का निरोध अर्थात् निवृत्ति (समाप्त हो जाना) । वह है लक्षण अर्थात् तत्त्व (=स्वरूप) जिसका, वह वैसी (मृत्यु) कही गई है; क्योंकि उस प्रकार की मृत्यु ही इस=बौद्ध के द्वारा स्वीकार की गई है ।

यदि ऐसी बात है तो भी (दिगम्बर का हेतु) असिद्ध कैसे है ? यह बतलाते हैं—क्योंकि विज्ञान आदि की निवृत्ति-स्वरूप जो मरण है, वह वृक्षों में सम्भव नहीं है । (नियम यह है कि) जिस वस्तु की पहिले सत्ता हो, उसका ही निरोध (=निवृत्ति) होता है । तब तो जो वृक्षों में विज्ञान का निरोध मानेगा, वह (उनमें) विज्ञान को

---

१. चायुश्च रूपा० A.H.P, चायुश्च तत्र B.N. २. विज्ञानचक्षु B.
३. जयित B. चक्षुरादिविज्ञानं E., चक्षुरादिज्ञानं C. ४. कार्यान्त० B.P.
५. स्थितरूपम् A.B.H.N.P. ६. उच्यते B.
७. प्रमाणस्व० H. ८. तरुष्वभावात् B.

तरुष्विच्छेत् स कथं विज्ञानं नेच्छेत् । तस्माद् विज्ञानानिष्टेर्निरोधोऽपि नेष्टस्तरुषु ।

ननु च शोषोऽपि मरणम् उच्यते । स च तरुषु सिद्धः । सत्यम् । केवलं विज्ञानसत्तया[1] व्याप्तं यत् मरणं तद् इह हेतुः । विज्ञाननिरोधश्च तत्सत्तया व्याप्तः, न शोषमात्रम् । ततो[2] यन्मरणं[3] हेतुस्तत् तरुष्वसिद्धम् । यत्तु[4] सिद्धं शोषात्मकं तद् अहेतुः ।

क्यों न मानेगा ? क्योंकि वृक्षों में विज्ञान का होना इष्ट नहीं है; इसलिये उसका निरोध भी इष्ट नहीं है ।

चेतनास्तरवः०—जैन मानते हैं कि वृक्ष भी चेतन हैं, जो केवल स्पर्शेन्द्रिय रखते हैं। वृक्षों में चेतनता की सिद्धि के लिये उनकी ओर से अनुमान प्रस्तुत किया गया है ।

विज्ञानम्—विज्ञानस्कन्ध । हीनयान के अनुसार 'विज्ञान' एक धर्म (element =तत्त्व) है । उसमें अवान्तर भेद नहीं, वह एक है, शुद्ध है । किन्तु आलम्बन विषय के भेद से 'चाक्षुष ज्ञान' आदि के रूप में उसके भेद हो जाते हैं । महायान के अनुसार चक्षुर्विज्ञान इत्यादि प्रवृत्ति-विज्ञान कहलाते हैं । उनसे भिन्न 'आलयविज्ञान' नामक विज्ञान है जिसमें पूर्व विज्ञानों की वासनायें निहित रहती हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति का दार्शनिक सम्प्रदाय आलयविज्ञान को नहीं मानता (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १७३ टि० ४) ।

इन्द्रियम्—अभिधर्म के अनुसार चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय हैं, उनका रूपविज्ञान आदि के द्वारा अनुमान किया जाता है । चक्षु—गोलक आदि में स्थित जो रूपस्कन्ध (भूत, matter) है वही इन्द्रिय है । अतः इन्द्रियाँ भौतिक धर्म (तत्त्व) मानी जाती हैं (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १७४ टि० १) ।

आगमसिद्धम्—आगम में बौद्धों के सूत्र और शास्त्र सभी का समावेश हो जाता है (बु० लॉ० २, पृ० १७४ टि० २ तथा 'तत्रागमः—सूत्रं, विनयः, अभिधर्मश्च; अभि० ८·३९) । अभिधर्मकोश (२.४५) के अनुसार आयु का लक्षण है 'आयुर्जीवितम्' यह एक चैत्त धर्म से भिन्न संस्कार (चित्तविप्रयुक्त संस्कार) माना गया है (अभि० २ ३५) । दुर्वेक मिश्र ने बतलाया है कि आगम के अनुसार 'इन्द्रिय का जीवित होना हीं आयु है (जीवितेन्द्रियमायुः (धर्मो० प्र०, पृ० १९१) ।

सत्तापूर्वकः=सत्ता पूर्वा यस्य सः ।

ननु चेति—(शङ्का) 'शोष (सूखना) भी मृत्यु कही जाती है और वह वृक्षों में सिद्ध ही है । (समाधान) ठीक है; किन्तु जो मरण (मृत्यु) विज्ञान की सत्ता से व्याप्त है, वह यहाँ हेतु है । और, विज्ञान का निरोध (रूप मरण) उस (विज्ञान) की सत्ता से व्याप्त है, शोषमात्र नहीं । इस प्रकार जो मरण यहाँ हेतु है, वह वृक्षों में सिद्ध नहीं है और जो शोष नामक मरण वृक्षों में होता है, वह यहाँ हेतु नहीं है ।

---

१. सत्ताया A. २. तत्र .A

३. मरणहेतुः A.B.H.N.P. ४. यच्च D.

दिगम्बरस्तु साध्येन व्याप्तम् अव्याप्तं वा मरणम् अविविच्य मरणमात्रं हेतुम् आह। तद् अस्य वादिनो हेतुभूतं[1] मरणं न ज्ञातम्। अज्ञानात् सिद्धं शोषरूपम्, शोषरूपस्य मरणस्य तरुषु दर्शनात्। प्रतिवादिनस्तु ज्ञातम् अतोऽसिद्धम्। यदा तु वादिनोऽपि ज्ञातं तदा वादिनोऽप्यसिद्धं स्याद् इति न्यायः ॥५९॥

अचेतनाः सुखादय इति साध्य उत्पत्तिमत्त्वम्, अनित्यत्वं[2] वा सांख्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धम् ।।६०।।

अचेतनाः सुखादय इति—सुखम् आदिर्येषां दुःखादीनां ते सुखादयः। तेषाम् अचैतन्ये साध्ये उत्पत्तिमत्त्वम् अनित्यत्वं वा लिङ्गम उपन्यस्तम्। य

दिगम्बर तो साध्य से व्याप्त या अव्याप्त 'मरण' का भेद (=विवेक) न करके सामान्यत: मरण को हेतु रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार इस वादी (दिगम्बर) को (चेतना में) हेतु होने वाले 'मरण' का (विवेकपूर्वक) ज्ञान नहीं है। इसका (भेदपूर्वक) ज्ञान न होने के कारण (वादी की दृष्टि में) शोष रूप हेतु सिद्ध ही है; क्योंकि शोषरूप जो मरण है वह वृक्षों में (अनुभव से) दिखलाई देता है। प्रतिवादी (बौद्ध) को तो (विज्ञान-निरोध रूप मरण और शोष दोनों पृथक्शः) ज्ञात हैं अतः (उसकी दृष्टि में) यह हेतु असिद्ध है। यदि वादी को भी (मरण और शोष का भेद) ज्ञात हो जाये तो वादी के प्रति भी यह (हेतु) असिद्ध हो जाये यह न्याय (नियम) है ॥५९॥

शोषोऽपि मरणम्—दिगम्बर की दृष्टि से वृक्षों का सूखना (शोष) भी मृत्यु (मरण) ही है। इस प्रकार की मृत्यु वृक्षों में सिद्ध ही है।

विज्ञानसत्तया व्याप्तं मरणम्—बौद्ध की दृष्टि से मरण का अर्थ है विज्ञान-निरोध। और, विज्ञान-निरोध तभी होगा जब कि विज्ञान की सत्ता हो। वृक्षों में विज्ञान की सत्ता ही नहीं अतः विज्ञान-निरोध रूप जो मरण है वह उनमें नहीं हो सकता।

मरणम् अविविच्य—मरण का विवेक न करके। दिगम्बर ने वृक्षों के शोष और विज्ञान-निरोध-रूप मरण में विवेक नहीं किया, उन्हें पृथक् पृथक् नहीं समझा; इसीलिये वृक्षों में विज्ञान को न मानकर भी उनका मरण मान लिया।

अचेतना इति—

'सुख आदि अचेतन हैं'—इसकी सिद्धि के लिये 'उत्पत्तिमान् होना' अथवा 'अनित्य होना'—ये हेतु स्वयं सांख्यमतानुयायी वादी के प्रति असिद्ध हैं ॥६०॥

सुख आदि अचेतन हैं इत्यादि—जिन दुःख इत्यादि के आदि में सुख है वे सुखादि हैं। उनकी अचेतनता को सिद्ध करने के लिये उत्पत्तिमान् होना अथवा

---

१. हेतुज्ञात्तं A. २. अनित्यं B.E.H.N.P.

उत्पत्तिमन्तोऽनित्या वा ते न चेतनाः, यथा रूपादयः। तथा चोत्पत्तिमन्तोऽनित्या वा सुखादयः तस्माद् अचेतनाः। चैतन्यं तु पुरुषस्य [1]स्वरूपम्।

अत्र चोत्पत्तिमत्त्वम् अनित्यत्वं वा पर्यायेण हेतुर्न युगपत्। तच्च द्वयम् अपि सांख्यस्य वादिनो न सिद्धम्। परार्थो[2] हि हेतूपन्यासः। तेन यः परस्य

अनित्य होना हेतु दिया गया है। जो उत्पत्तिमान् हैं या अनित्य हैं, वे चेतन नहीं होते; जैसे रूप इत्यादि। उसी प्रकार सुख इत्यादि भी उत्पत्तिमान् अथवा अनित्य हैं; अतः ये अचेतन है। (सांख्य के अनुसार) चैतन्य तो पुरुष का स्वरूप है।

अचेतनाः सुखादयः—सांख्य का मन्तव्य है—पुरुष नित्य और अपरिणामी है, वह शुद्ध चितिशक्ति है। प्रकृति जड़ तथा परिणामिनी है। बुद्धि आदि समस्त जगत् प्रकृति का ही परिणाम है। सुख दुःख आदि बुद्धि के धर्म हैं अतः वे भी जड़ (अचेतन) हैं। जो वस्तु पहले से विद्यमान नहीं (असत्), उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। सत् वस्तु की ही अभिव्यक्ति हुआ करती है। जैसे तिलों में तेल प्रथमतः विद्यमान है, वह कारणों द्वारा प्रकट कर दिया जाता है। यही सत्कार्यवाद या परिणामवाद है। इसके अनुसार कार्य अपने कारण से भिन्न नहीं, कारण का परिणाम ही कार्य कहलाता है। जड़ जगत् में परिवर्तन अवश्य होता है किन्तु किसी भी तत्त्व का नाश नहीं होता अतः सब कुछ परिणामी नित्य है। इस प्रकार सांख्य मतानुसार शब्द के सच्चे अर्थों में उत्पत्ति या अनित्यता नहीं होती (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १७५, टि० २)।

उत्पत्तिमत्त्वम् अनित्यत्वं वा—बौद्ध सुख दुःख आदि को विज्ञान रूप मानता है, विज्ञान से भिन्न नहीं (न्या० वि० टी०, १.१०)। साथ ही क्षणिकवाद के अनुसार वह यह भी स्वीकार करता है कि प्रत्येक सुख आदि का क्षण अपनी सन्तान (क्षण-प्रवाह) में नया ही उत्पन्न होता है और उसका सर्वथा उच्छेद (निरन्वय-विनाश) हो जाता है। वह अपने कारण से अन्वित नहीं होता और नष्ट होने पर अपना कोई अवशेष नहीं छोड़ता। इसी हेतु बौद्ध के प्रति सांख्य की ओर से ये दो अनुमान-प्रयोग प्रस्तुत किये गये हैं—सुखादयः अचेतनाः उत्पत्तिमत्वात् तथा सुखादयः अचेतनाः अनित्यत्वात्।

रूपादयः—यहाँ 'रूप' आदि का अर्थ है—'रूप' आयतन आदि (बौद्ध), अथवा न्याय-वैशेषिक इत्यादि के रूप आदि गुण। इसका अर्थ रूप-स्कन्ध आदि नहीं हो सकता क्योंकि उनमें रूप-स्कन्ध जड़ (अचेतन) अवश्य है किन्तु सभी स्कन्ध तो अचेतन नहीं हैं (मि० बु० लॉ० २, पृ० १७५, टि० १)।

अत्र चोत्पत्तिमत्त्वमिति—यहाँ उत्पत्ति वाला होना अथवा अनित्य होना पृथक्-पृथक् हेतु हैं, दोनों एक साथ मिलकर नहीं। ये दोनों ही वादी सांख्य के प्रति असिद्ध हैं। क्योंकि दूसरे (को समझाने) के लिये ही हेतु प्रस्तुत किया जाता है;

---

१. स्वं रूपम्-A.B.H.N.P:

२. परार्थादि B.

सिद्धः स हेतुर्वक्तव्यः। परस्य चासत उत्पाद उत्पत्तिमत्त्वम्, सतश्च निरन्वयो विनाशोऽनित्यत्वं सिद्धम्। तादृशं च द्वयम् अपि सांख्यस्यासिद्धम्। इहाप्य-नित्यत्वोत्पत्तिमत्त्वसाधनाज्ञानाद् वादिनोऽसिद्धम्। यदि त्वनित्यत्वोत्पत्ति-मत्त्वयोः 'प्रामाण्यं वादिनो 'ज्ञातं स्यात् 'तदा वादिनोऽपि सिद्धं स्यात्। ततः प्रमाणापरिज्ञानाद् इदं वादिनोऽसिद्धम् ।६०॥

सन्दिग्धासिद्धं दर्शयितुम् आह—

तथा स्वयं तदाश्रयणस्य वा सन्देहेऽसिद्धः ।।६१।।

स्वयम् इति हेतोरात्मनः सन्देहेऽसिद्धः। तदाश्रयणस्य 'वेति—तस्य हेतोराश्रयणम् आश्रीयतेऽस्मिन् हेतुरित्याश्रयणं हेतोर्व्यतिरिक्त आश्रयभूतः'

इसलिये जो दूसरे (प्रतिवादी) की दृष्टि से सिद्ध (निश्चित) हो वही हेतु कहना चाहिये। किन्तु दूसरे (बौद्ध) के मत में असत् की उत्पत्ति होना उत्पत्तिमत्त्व है तथा सत् (विद्यमान) वस्तु का कुछ तत्त्व पीछे न छोड़ते हुए (निरन्वय) नष्ट हो जाना ही अनित्यता है। इस प्रकार के ये दोनों ही सांख्य की दृष्टि में असिद्ध हैं। यहाँ भी अनित्यत्व और उत्पत्तिमत्त्व हेतुओं को (सम्यक्) न जानने के कारण ये दोनों वादी के प्रति असिद्ध हैं। यदि अनित्यत्व और उत्पत्तिमत्त्व का सम्यक् ज्ञान वादी को होवे तो वादी की दृष्टि में भी ये सिद्ध हो जायें। इस प्रकार सम्यक् रूप में न जानने के कारण ये वादी के प्रति असिद्ध हैं ।६०॥

परार्थः—दूसरे को ज्ञान कराने के लिये (परप्रतिपत्तिप्रयोजनः)।

निरन्वयः=सर्वथोच्छेदः (धर्मो० प्र०, पृ० १९२)।

द्वयमपि सांख्यस्यासिद्धम्—यहाँ वादी सांख्य है और प्रतिवादी बौद्ध है। सांख्य की ओर से बौद्ध के प्रति हेतु प्रस्तुत किया गया है। अतः उत्पत्ति और अनित्यता शब्दों का अर्थ ऐसा होना चाहिये जिसे बौद्ध स्वीकार करता हो। बौद्ध के अनुसार उत्पत्ति=असत् की उत्पत्ति और अनित्यता=सत् का निरन्वय-विनाश। इन दोनों अर्थों को सांख्य स्वीकार नहीं करता। उसके प्रति दोनों असिद्ध हैं। इस प्रकार यहाँ जो हेतु है वह सांख्य (वादी) की दृष्टि से असिद्ध है और यह असिद्ध नामक हेत्वाभास हो जाता है।

सन्दिग्धासिद्धम् इति—सन्दिग्धासिद्ध को दिखलाते हुए कहते हैं—

उसी प्रकार स्वयं हेतु अथवा उसके आश्रय का सन्देह होने पर असिद्ध (हेत्वाभास) होता है ।।६१।।

स्वयं का अर्थ है—हेतु के स्वरूप का (आत्मनः=अपना, स्वरूप का), सन्देह होने पर (हेतु) असिद्ध होता है। 'तदाश्रयण' का अर्थ है—उस हेतु के आश्रयण

---

१. प्रमाणं A.B.H.N.P.	२. विज्ञातं C.
३. 'तदा' नास्ति A.E.H.N.P.
४. 'चेति'–A.B.C.D.E.H.P.	५. आश्रयभूतसाध्य० E.

साध्यधर्मी कथ्यते। तत्र हि हेतुर्वर्तमानो गमकत्वेनाश्रीयते। तस्याश्रयणस्य सन्देहे सन्दिग्धः ॥६१॥

[1]स्वात्मना सन्दिह्यमानम् उदाहर्तुम् आह—

यथा वाष्पादिभावेन सन्दिह्यमानो भूतसंघातोऽग्निसिद्धावुपदिश्यमानः [2]सन्दिग्धासिद्धः ॥६२॥

यथेति। वाष्प आदिर्यस्य स वाष्पादिः। तद्भावेन वाष्पादित्वेन सन्दिह्यमानः। भूतसंघात इति भूतानां पृथिव्यादीनां संघातः समूहः। अग्निसिद्धौ—अग्निसिद्धयर्थम् उपादीयमानोऽसिद्धः। एतद् उक्तं भवति—यदा धूमोऽपि वाष्पादित्वेन सन्दिग्धो भवति तदाऽसिद्धः, गमकरूपानिश्चयात्। धूमतया

(आश्रय); अर्थात् जिसमें हेतु आश्रित होता है, वह हेतु से भिन्न उसका आश्रय होने वाला साध्यधर्मी (पक्ष) 'आश्रयण' कहा गया है। उस (साध्यधर्मी) में विद्यमान हेतु ही (साध्य का) बोधक माना जाता है। उस आश्रयण का सन्देह होने पर सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास होता है ॥६१॥

सन्दिग्धासिद्धम्—जैसा कि ऊपर (३.५७) बतलाया गया है, असिद्ध हेत्वाभास वहाँ होता है, जहाँ पक्ष में लिङ्ग का अभाव हो या सन्देह हो, अथवा कहिये कि लिङ्ग में 'पक्ष-सत्त्व' रूप का अभाव होने पर असिद्ध तथा उसका सन्देह होने पर सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। इस हेत्वाभास के स्थलों में भी कहीं विशेषण का अभाव या सन्देह होता है, कहीं विशेष्य का, इसी आधार पर विशेषणासिद्ध, विशेष्यासिद्ध तथा सन्दिग्धविशेषणासिद्ध, सन्दिग्धविशेष्यासिद्ध नाम हो जाते हैं (धर्मो० प्र०, पृ० १९०, १९३)। यह सन्दिग्धासिद्ध दो प्रकार का है—स्वयम् असिद्ध, आश्रयणासिद्ध। इनके उदाहरण आगे दिये जा रहे है।

स्वात्मनेति—अपने रूप से सन्दिग्ध (हेतु) का उदाहरण देते हुए कहा है—

जैसे—यदि वाष्प आदि के रूप में सन्दिग्ध (पृथिवी आदि) भूतों के समुदाय को अग्नि की सिद्धि के लिये प्रस्तुत किया जाता है, तो सन्दिग्धासिद्ध होता है ॥६२॥

यथा इत्यादि। जिसके आदि में वाष्प है वह वाष्पादि है। वाष्पादिभाव से अर्थात् वाष्प आदि के रूप से (वाष्प आदि होने का) जिसमें सन्देह किया जाता है। भूतसंघात का अर्थ है—पृथिवी आदि भूतों का संघात या समुदाय। उसे अग्निसिद्धि में अर्थात् अग्नि की सिद्धि के लिये ग्रहण किया जाता है तो वह असिद्ध होता है। यह कहा जा सकता है कि जब धूम भी वाष्प आदि के रूप से सन्देह का विषय है (अर्थात् जिसे हम देख रहे हैं वह धूम है या वाष्प—इस प्रकार का सन्देह है) तब वहाँ असिद्ध हेतु होता है; क्योंकि लिङ्ग रूप में उसका निश्चय नहीं होता। धूम के रूप में निश्चित

---

१. आत्मना T. २. 'सन्दिग्धासिद्धः' नास्ति C.

निश्चितो 'वह्निजन्यत्वाद् गमकः। यदा तु सन्दिग्धस्तदा न गमक इत्यसिद्धताख्यो दोषः ॥६२॥

आश्रयणासिद्धम् उदाहरन्ति—

यथेह निकुञ्जे[2] मयूरः केकायिताद् इति ॥६३॥

यथेति। इह निकुञ्ज इति धर्मी । पर्वतोपरिभागेन तिर्यङ्निर्गतेन प्रच्छादितो भूभागो निकुञ्जः। मयूर इति साध्यम् । केकायिताद् इति हेतुः। केकायितं मयूरध्वनिः ॥६३॥

[3]कथम् अयम् आश्रयणासिद्ध इत्याह—

किया गया ही वह अग्नि का लिङ्ग है; क्योंकि धूम अग्नि से उत्पन्न होता है। यदि वह धूम सन्दिग्ध है तो अग्नि का बोधक (लिङ्ग) नहीं। इस प्रकार असिद्धता नामक दोष है ॥६२॥

स्वयं सन्दिग्धासिद्ध—जहाँ हेतु में स्वरूपतः सन्देह होता है, वहाँ यह हेत्वाभास होता है—जैसे यहाँ पर्वत में अग्नि है; क्योंकि यहाँ धूम है या यहां सम्भवतः वाष्प है।

भूतसंघातः—अभिधर्म (अभिधर्मकोश १.१२) के अनुसार रूपस्कन्ध के अन्तर्गत चार प्रकार के परमाणु होते हैं जो खर (=कठिन), स्नेहन, उष्णता तथा ईरण (=गति) स्वभाव वाले होते हैं। वे ही क्रमशः पृथिवी, जल, तेज और वायु के रूप में संहत हो जाते हैं। इन पृथिवी आदि को न्याय-वैशेषिक के समान ही भूत या महाभूत कहा जाता है। प्रत्येक जड़-वस्तु इन्हीं भूतों का समुदायमात्र (संघात) है। अतः किसी भी भौतिक पदार्थ को भूतसंघात या महाभूतसंघात कहा जाता है (मि०, बु० लॉ०, २, पृ० १७७, टि० १)।

आश्रयणासिद्धम् इति—आश्रयणासिद्ध का उदाहरण देते हैं—

जैसे—इस निकुञ्ज में मयूर है; क्योंकि यहाँ मयूरध्वनि (केकायित) हो रही है ॥६३॥

यथा इत्यादि। 'इस निकुञ्ज में'—यह धर्मी है। टेढे निकले हुए पर्वत के ऊपरी भाग से ढका हुआ भू-प्रदेश निकुञ्ज कहलाता है। 'मयूर' साध्य है। 'केकारव' होने से—यह हेतु है। केकायित (=केकारव) का अर्थ है—मयूरध्वनि ॥६३॥

पर्वतोपरि०—यह उपलक्षण मात्र है। वस्तुतः पर्वत का गह्वार प्रदेश निकुञ्ज कहलाता है (धर्मो० प्र०, पृ० १९४)। अथवा तरु लता गुल्म आदि से आवृत प्रदेश निकुञ्ज है (आप्टे कोश)।

कथम् अयम् इति—यह आश्रयणासिद्ध कैसे है? यह बतलाते हैं—

---

१. वह्निकार्यत्वाद् C. २. निगुञ्जे C.
३. 'अयम् नास्ति' A.B.E.H.P.

तदापातदेशविभ्रमे ॥६४॥

'तदापात इति। तस्य केकायितस्यापात 'आगमनं तस्य देशः स उच्यते यस्माद् देशाद् आगच्छति केकायितम्। तस्य विभ्रमे व्यामोहे सत्ययम् आश्रयणासिद्धः। निरन्तरेषु बहुषु निकुञ्जेषु सत्सु यदा केकायितापातनिकुञ्जे' विभ्रमः, किम् अस्मान्–निकुञ्जात् केकायितम् आगतम्, आहोस्विद् अन्यस्माद्' इति तदाऽयम्' आश्रयणासिद्ध इति ।।६४।।

धर्म्यसिद्धावप्यसिद्धः, यथा सर्वगत आत्मेति साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम् ॥६५॥

उस (मयूरध्वनि) के आने के प्रदेश के विषय में अनिश्चय होने पर यह आश्रयणासिद्ध होता है ॥६४॥

उस मयूरध्वनि के आपात अर्थात् आगमन का प्रदेश वह कहलाता है, जिस प्रदेश से वह मयूरध्वनि आती है। उस (प्रदेश) के विषय में विभ्रम=व्यामोह (अनिश्चय) हो जाने पर यह आश्रयणासिद्ध होता है। बहुत से निकुञ्जों के समीप-समीप स्थित होने पर जब मयूरध्वनि के आगमन के विषय में यह सन्देह होता है कि इस निकुञ्ज से मयूर-ध्वनि आई है या दूसरे से। तब आश्रयणासिद्ध (हेत्वाभास) होता है ॥६४॥

आश्रयणासिद्धः — आश्रयण = आश्रितत्व = आश्रित होना। जहाँ हेतु का आश्रयण सन्दिग्ध होता है; वहाँ यह असिद्ध का प्रकार होता है; जैसे—'इस निकुञ्ज में मयूर है' क्योंकि यहाँ मयूर ध्वनि है। जब कई निकुञ्ज पास पास स्थित हैं तथा उनमें यह निश्चय नहीं होता कि मयूरध्वनि किस निकुञ्ज से आ रही है—मयूरध्वनि का आश्रयण किस में है? तब आश्रयण-सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास होता है। जैसा कि आगे न्याय-बिन्दु-टीका (३.६५) में दिखलाया जायेगा यह हेत्वाभास आश्रयासिद्ध (=धर्म्यसिद्ध) से भिन्न है।

यस्माद् देशाद् आगच्छति—दुर्वेक मिश्र का कथन है कि इस से यह दिखलाया गया है कि शब्द उत्पन्न होकर चारों दिशाओं में ही शब्द-सन्तान को उत्पन्न किया करता है और जलतरङ्गन्याय से श्रोत्रदेश में आ जाने पर उसका ग्रहण होता है (धर्मो० प्र०, पृ० १९४)।

विभ्रमः = व्यामोह, अनिश्चय सन्देह।

धर्म्यसिद्धाविति—

धर्मी के असिद्ध होने पर भी असिद्ध (हेत्वाभास) होता है; जैसे—'आत्मा सर्वव्यापक है'—इसकी सिद्धि के लिये 'उसके गुण सर्वत्र उपलब्ध होते हैं'—यह (हेतु) है ॥६५॥

---

१. तदघात A.
२. आगमः C.
३ केकायितापातविभ्रमः A.H.P.
४. अस्माद् A.H.N.P.
५. 'अयम्' नास्ति A.B.E.H.N.P.

धर्मिणोऽसिद्धावप्यसिद्धत्वम् उदाहरति—यथेति। सर्वस्मिन् गतः स्थितः सर्वगतो व्यापीति यावत्। व्यापित्व आत्मनः साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं लिङ्गम्। सर्वत्र देश उपलभ्यमानाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयो गुणा यस्यात्मनस्तस्य भावस्तत्त्वम्। न गुणा गुणिनम् अन्तरेण वर्तन्ते। गुणानां गुणिनि समवायात्। निष्क्रियश्चात्मा। ततश्च यदि व्यापी न भवेत् कथं दक्षिणापथ उपलब्धाः सुखादयो मध्यदेश उपलभ्येरन्। तस्मात् सर्वगत आत्मा।

तद् इह बौद्धस्यात्मैव न सिद्धः, किमुत सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं सिध्येत् तस्येत्यसिद्धो हेत्वाभासः।

धर्मी की असिद्धि होने पर भी (हेतु) असिद्ध होता है—इसका उदाहरण देते हैं—यथेति। सब में गया हुआ = स्थित ही सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक है। आत्मा की व्यापकता को सिद्ध करने के लिये 'उसके गुण सर्वत्र उपलब्ध होते हैं'—यह हेतु (दिया गया) है। जिस आत्मा के सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि गुण सब स्थानों में उपलब्ध होते हैं (वह 'सर्वत्रोपलभ्यमानगुणः'), उसका भाव—सर्वत्र गुणों का उपलब्ध होना (तत्त्वम् = तत्ता = सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम्)। गुणी के विना गुण रहते नहीं हैं, क्योंकि गुणी में गुणों का समवाय सम्बन्ध है। और, आत्मा निष्क्रिय है। तब यदि वह व्यापक न होगा तो दक्षिण प्रदेश में अनुभव किये गये सुख आदि का मध्य-प्रदेश में कैसे अनुभव किया जा सकेगा? इसलिये आत्मा सर्वव्यापक है।

समवायात्—न्याय-वैशेषिक के अनुसार सुख दुःख आदि आत्मा के गुण हैं। आत्मा गुणी है। गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध (नित्यसम्बन्ध) होता है। गुण समवाय सम्बन्ध से गुणी में रहते हैं और वे गुणी के विना नहीं रह सकते।

निष्क्रियत्वम्—वैशेषिक का मन्तव्य है कि क्रिया मूर्त्त द्रव्य (अविभु = अव्यापक) में ही होती है। आत्मा तो व्यापक है उसमें क्रिया नहीं होती वह निष्क्रिय है। (धर्मो० प्र०, पृ० १९५)।

सर्वगत आत्मा—न्याय-वैशेषिक के अनुसार आत्मा व्यापक (विभु = सर्वगत) निष्क्रिय और चैतनारहित है। मन के संयोग से आत्मा में चैतन्य आता है और वह सुख दुःख का अनुभव करता है। जब शरीर एक स्थान से दूसरे पर जाता है, आत्मा निष्क्रिय रहता है। किन्तु व्यापक आत्मा में सुख दुःख आदि उसी स्थान पर उत्पन्न हो जाते हैं। आत्मा के सुख दुःख आदि गुणों की सर्वत्र उपलब्धि होने से यह सिद्ध होता है कि गुणी आत्मा सर्वव्यापक है (मि० बु० लॉ० २, पृ० १७८ टि० १ तथा 'स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः'। तर्कभाषा पृ० २१)।

तद् इहेति—जब यहाँ बौद्ध के अनुसार आत्मा ही सिद्ध (निश्चित) नहीं है फिर उसके गुणों का सर्वत्र उपलब्ध होना कैसे सिद्ध हो सकेगा? इसलिये यह (धर्मी की) असिद्धि होने पर हेत्वाभास है।

तस्येत्यसिद्धो—'किमुत तस्य (= आत्मनः) सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं सिध्येत्—

पूर्वम् आश्रयणसन्देहेन धर्मिणि सन्देह उक्तः । सम्प्रति त्वसिद्धो धर्म्युक्त इत्यनयोर्विशेषः ।

तद् एवम् एकस्य रूपस्य 'धर्मिसम्बद्धस्यासिद्धावसिद्धो हेत्वाभासः ॥६५॥

यह अन्वय है । यहां असिद्धौ के स्थान पर श्चेरबात्स्की (बु० लॉ० २, पृ० १७९ टि० १) ने 'असिद्धो' पाठ शुद्ध माना है किन्तु यथाश्रुत पाठ ही उपयुक्त है: किञ्च वह पाठ किसी भी प्रति में उपलब्ध नहीं होता ।

पूर्वम् इति—पहले (३.६३-६४) में आश्रयण के सन्देह से धर्मी में सन्देह कहा गया था । अब तो धर्मी को ही असिद्ध बतलाया जा रहा है । यही इन दोनों का भेद है ।

इस प्रकार धर्मी से सम्बन्ध रखने वाले एक रूप (पक्ष-सत्त्व) की असिद्धि होने पर असिद्ध, नामक हेत्वाभास होता है ॥६५॥

इत्यनयोर्विशेषः—आश्रयण-सन्दिग्धासिद्ध और धर्म्यसिद्ध दोनों में भेद यह है कि प्रथम में धर्मी स्वतः विद्यमान होता है, किन्तु वह हेतु का आधार है या नहीं इस प्रकार का सन्देह हुआ करता है, (द्र० ३६४) । धर्म्यसिद्ध में तो धर्मी स्वरूपतः ही असिद्ध होता है, जैसे यहाँ 'आत्मा' बौद्ध के प्रति असिद्ध है । इस धर्म्यसिद्ध को ही आश्रयासिद्ध भी कहते हैं (मि० धर्मो० प्र०, पृ० १९५) ।

तदेवम्······असिद्धौ हेत्वाभासः—इस वाक्य से असिद्धहेत्वाभास का उपसंहार किया गया है । यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि असिद्ध हेत्वाभास के कितने भेद हैं ? दिङ्नाग ने असिद्ध हेतु के चार भेद माने थे । संयुक्त न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय ने कुछ भिन्न प्रकार से तीन भेद माने हैं—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध (तर्कभाषा, पृ० १३) । न्यायबिन्दु के प्रस्तुत सन्दर्भ में असिद्ध के ६ उदाहरण दिये गये हैं, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ६ भेद अभीष्ट हैं । किन्तु वस्तुतः यहाँ ४ भेद ही हैं । कैसे ?

जब लिङ्ग का पक्ष में होना (पक्ष–सत्त्व) असिद्ध होता है अथवा सन्दिग्ध होता है तभी असिद्ध हेत्वाभास होता है । अतः प्रथम तो दो भेद हुए शुद्ध असिद्ध और सन्दिग्धासिद्ध । अब, प्रथम प्रकार में कभी तो हेतु स्वरूपतः असिद्ध होता है (जैसे, सूत्र ३.५८), कभी हेतु का आश्रय (धर्मी) असिद्ध होता है (जैसे सूत्र ३.६४) । इन्हें न्याय-वैशेषिक के शब्दों में स्वरूपासिद्ध और आश्रयसिद्ध भी कह सकते हैं । इनमें से यहाँ हेतु की असिद्धि के तीन उदाहरण दिये गये हैं—सूत्र ३.५८ में उभयासिद्ध, सूत्र ३.५९ में प्रतिवादी के प्रति असिद्ध और सूत्र ६० में वादी के प्रति असिद्ध । फलतः (शुद्ध) असिद्ध के दो भेद हुए—हेत्वसिद्ध और धर्म्यसिद्ध । फिर सन्दिग्धासिद्ध के भी दो भेद कहे गये हैं—स्वयं सन्दिग्धासिद्ध (सूत्र ३.६१) और आश्रयण सन्दिग्धासिद्ध (सूत्र ३.६१) । इस प्रकार असिद्ध के अवान्तर भेदों सहित मुख्यतः चार भेद दिखलाये गये हैं ।

---

१. धर्मिबद्ध A.B.H.P.

तथैकस्य रूपस्यासपक्षेऽसत्त्वस्यासिद्धावनैकान्तिको हेत्वाभासः ॥६६॥

[1]तथापरस्यैकस्य रूपस्य—असपक्षेऽसत्त्वाख्यस्यासिद्धावनैकान्तिको हेत्वाभासः। एकोऽन्तः एकान्तो निश्चयः। स प्रयोजनम् अस्येत्यैकान्तिकः[2]। नैकान्तिकोऽनैकान्तिकः। यस्मान्न साध्यस्य न विपर्ययस्य निश्चयोऽपि तु तद्विपरीतः संशयः। साध्येतरयोः संशयहेतुरनैकान्तिक उक्तः ॥६६॥

तम् उदाहरति, यथेत्यादिना—

यथा शब्दस्यानित्यत्वादिके धर्मे साध्ये प्रमेयत्वादिको धर्मः सपक्षविपक्षयोः सर्वत्रैकदेशे वा वर्तमानः ॥६७॥

अनित्यत्वम् आदिर्यस्याऽसौ[3] अनित्यत्वादिको धर्मः। आदिशब्दाद् अप्रयत्नानन्तरीयकत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं [4]नित्यत्वं च परिगृह्यते। प्रमेयत्वम्

१६. अनैकान्तिक हेत्वाभास

तथैकस्येति—

तथा (हेतु के) एक रूप—असपक्ष में न होना–के असिद्ध होने पर अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है ॥६६॥

उसी प्रकार (हेतु के) दूसरे एक रूप अर्थात् असपक्ष में असत्त्व के असिद्ध (अनिश्चित) होने पर अनैकान्तिक नामक हेत्वाभास होता है। एक है अन्त जिसका वह एकान्त अर्थात् निश्चय; यह है प्रयोजन जिसका वह ऐकान्तिक (निश्चित) कहलाता है। जो ऐकान्तिक नहीं वह अनैकान्तिक (अनिश्चित) है। जिस (हेतु) से न साध्य का निश्चय होता है, न उसके अभाव (विपर्यय) का; अपि तु उस (निश्चय) के विपरीत (उलटा) संशय हो जाता है, साध्य और उसके अभाव (इतर) दोनों के संशय के निमित्त (उस हेतु को) अनैकान्तिक कहा गया है ॥६६॥

अनैकान्तिको हेत्वाभासः—'असपक्षे चासत्त्वम् एव'=असपक्ष (=विपक्ष) में हेतु का कभी न होना—यह सद् हेतु (=लिङ्ग) का एक रूप है। अतः जब किसी एक असपक्ष में अथवा सभी असपक्षों में हेतु विद्यमान होता है तो वह हेतु अनैकान्तिक (अनिश्चित) हेत्वाभास हो जाता है।

तम् उदाहरतीति—उसका उदाहरण देते हैं—यथा इत्यादि।

जैसे शब्द में अनित्यता आदि धर्म साध्य होने पर जो प्रमेयत्व आदि धर्म (हेतु दिया जाता) है, वह सपक्ष तथा विपक्ष में सर्वत्र या एकदेश में विद्यमान है ॥६७॥

जिसके आदि में अनित्यता है, वह अनित्यता आदि धर्म कहा गया है। 'आदि' शब्द से—२. प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न न होना, ३. प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होना तथा ४. नित्यता का ग्रहण किया जाता है। जिसके आदि में 'प्रमेयत्व' है, वह प्रमेयत्व

१ तथा पर० A.B.H.P.
२. अस्यैकान्तिकः C.D.
३. यस्य सोऽनि० A.B.D.E.H.N.P.
४. 'नित्यत्वं' नास्ति B.

आदिर्यस्य स प्रमेयत्वादिकः। आदिशब्दाद् अनित्यत्वम्, पुनरनित्यत्वम्, अमूर्तत्वं च गृह्यते[1]। शब्दस्य धर्मिणोऽनित्यत्वादिके धर्मे साध्ये प्रमेयत्वादिको धर्मोऽनैकान्तिकः। चतुर्णाम् अपि हि[2] विपक्षेऽसत्त्वम् असिद्धम्।

तथा हि—

अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्, [3]घटवद् आकाशवद्, इति प्रमेयत्वं सपक्ष-विपक्ष-व्यापि।

अप्रयत्नानन्तरीयकः शब्दोऽनित्यत्वात्, विद्युदाकाशवद् [4]घटवच्च, इत्यनित्यत्वं सपक्षैकदेशवृत्ति—विद्युदादावस्ति नाकाशादौ; [5]विपक्षव्यापि—[6]प्रयत्नानन्तरीयके सर्वत्र भावात्।

अनित्यत्वात् प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो घटवद् विद्युदाकाशवच्च,

आदि धर्म है। यहां 'आदि' शब्द से—२. अनित्यता, ३. पुनः अनित्यता तथा ४. मूर्तिमान् न होना (अमूर्त्तत्व) का ग्रहण किया जाता है। शब्द नामक धर्मी (पक्ष) में अनित्यता आदि धर्म को सिद्ध करने के लिये 'प्रमेयत्व' इत्यादि धर्म (हेतु) अनैकान्तिक (हेत्वाभास) हैं, क्योंकि इन चारों धर्मों का 'विपक्ष में न होना' असिद्ध (=अनिश्चित) है।

अनित्यवादिके—श्चेरवात्स्की का कथन है कि यहाँ 'अनित्य' के स्थान पर नित्य पाठ होना चाहिये (बु० लॉ० २, पृ० १८१ टि० ३); किन्तु यहाँ किसी प्रति में भी नित्य पाठ उपलब्ध नहीं होता तथा अर्थ की दृष्टि से भी उपलब्ध पाठ में कोई कठिनाई नहीं है।

मूर्त—परिच्छिन्न परिमाण वाला, अविभु, अव्यापक।

तथा हीति—जैसे कि—

(१) शब्द अनित्य है प्रमेय होने से; घट के समान तथा आकाश के समान। यहाँ प्रमेयत्व रूप हेतु सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में रहता है।

(२) शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होने वाला नहीं है; क्योंकि वह अनित्य है; विद्युत् के समान, आकाश के समान तथा घट के समान—यहाँ अनित्यत्व (रूप हेतु) सपक्ष के एकदेश में रहता है, क्योंकि वह (प्रयत्न से उत्पन्न न होने वाली) विद्युत् आदि में रहता है, किन्तु आकाश आदि में नहीं। यह (अनित्यत्व) विपक्ष में व्यापक है; क्योंकि प्रयत्न से उत्पन्न होने वाली सब वस्तुओं में रहता है।

(३) शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होने वाला है, अनित्य होने से; घट के समान, विद्युत् के समान तथा आकाश के समान। यहाँ अनित्यत्व (हेतु) विपक्ष के एकदेश में रहता है क्योंकि वह विद्युत् आदि में है, आकाश आदि में नहीं। यह हेतु सपक्ष में

---

१ गृह्यन्ते B.
२. 'हि' नास्ति A.B.H.N.P.
३. आकाशवद् घटवद् इति A.B.D.E.H.N.P.
४. ०काशघटव० A.
५. 'विपक्ष०......नाकाशादौ' नास्ति B.
६. सर्वत्र प्रयत्नानन्तरीयके C.

इत्यनित्यत्वं विपक्षैकदेशवृत्ति—विद्युदादावस्ति नाकाशादौ* । सपक्षव्यापि—[1]सर्वत्र प्रयत्नानन्तरीयके भावात् ।

नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वाद् आकाशपरमाणुवत् कर्मघटवच्च, इत्यमूर्तत्वम् उभयैकदेशवृत्ति—उभयोरेकदेशे आकाशे कर्मणि च वर्तते । परमाणौ तु सपक्षैकदेशे घटादौ च विपक्षैकदेशे न वर्तते । मूर्तत्वाद् घटपरमाणुप्रभृतीनाम् । नित्यास्तु परमाणवो [2]वैशेषिकैरभ्युपगम्यन्ते, ततः सपक्षान्तर्गताः ।

अस्य चतुर्विधस्य पक्षधर्मस्यासत्त्वम् असिद्धं विपक्षे । ततोऽनैकान्तिकता ॥६७॥

व्यापक है; क्योंकि जो प्रयत्न से उत्पन्न होने वाले (पदार्थ) हैं, उन सब में यह रहता है ।

शब्द नित्य है, अमूर्त होने से; आकाश के समान, परमाणु के समान तथा कर्म के समान एवं घट के समान । यहाँ अमूर्त्तत्व (हेतु) सपक्ष और विपक्ष दोनों के एकदेश में रहने वाला है; क्योंकि दोनों के एकदेश (सपक्ष) आकाश में तथा (विपक्ष) कर्म में रहता है । किन्तु सपक्ष के एकदेश परमाणु में तथा विपक्ष के एकदेश घट आदि में नहीं रहता; क्योंकि घट तथा परमाणु आदि मूर्त्त हैं । वैशेषिक ने परमाणुओं को नि य माना है अतः परमाणु सपक्ष के अन्तर्गत हैं ।

इस चारों प्रकार के पक्ष-धर्म का विपक्ष में न होना असिद्ध है, इसलिये यह अनैकान्तिक है ॥६७॥

प्रमेयत्वात् (१)—यहाँ अनित्यत्व साध्य है, अतः घट सपक्ष है; क्योंकि वह अनित्य है और आकाश विपक्ष है। इन दोनों में ही प्रमेयत्व रहता है । इस प्रकार प्रमेयत्व रूप हेतु सभी सपक्षों और विपक्षों में व्यापक है, क्योंकि सभी वस्तुएँ प्रमेय (प्रमा का विषय) होती हैं ।

अनित्यत्वात् (२)—यहाँ अप्रयत्नानन्तरीयकत्वात् (प्रयत्न से न उत्पन्न होना) साध्य है । अतः विद्युत् और आकाश दोनों सपक्ष हैं; क्योंकि ये दोनों प्रयत्न (चेष्टा) से उत्पन्न नहीं होते । इन सपक्षों में से अनित्यत्व हेतु विद्युत् में है, किन्तु आकाश में नहीं । इस प्रकार सपक्ष के एकदेश में रहता है । दूसरी ओर यहाँ प्रयत्न से उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुएँ विपक्ष के अन्तर्गत हैं । उन सभी में अनित्यत्व हेतु रहता है । इस प्रकार यह हेतु विपक्ष में व्यापक है ।

(पुनः) अनित्यत्वात् (३)—यहाँ प्रयत्नानन्तरीयकत्व साध्य है । घट सपक्ष है, क्योंकि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता है । विद्युत् और आकाश दोनों विपक्ष हैं अनित्यत्व हेतु विपक्ष के एकदेश विद्युत् में है किन्तु आकाश में नहीं । यह हेतु घट आदि सपक्षों में सर्वत्र विद्यमान है जो वस्तु प्रयत्न से उत्पन्न होती है वह अनित्य होती है; इसप्रकार यह हेतु सपक्ष-व्यापी है ।

---

१. सपक्षे सर्वत्र C.D. २. वैशेषिकैरप्यभ्युप० C.

तथा—अस्यैव रूपस्य सन्देहेऽप्यनैकान्तिकः ॥६८॥

यथा चास्य रूपस्यासिद्धावनैकान्तिकस्तथा–अस्यैव विपक्षेऽसत्त्वाख्यस्य[1] रूपस्य सन्देहेऽनैकान्तिकः ॥६८॥

तम् उदाहरति—

यथाऽसर्वज्ञः कश्चिद् विवक्षितः पुरुषो रागादिमान् वेति साध्ये वक्तृत्वादिको धर्मः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः ॥६९॥

यथेति। असर्वज्ञ इत्यसर्वज्ञत्वं साध्यम्। कश्चिद् विवक्षित इति

अमूर्तत्वात् (४)—यहाँ नित्यत्व साध्य है। आकाश और परमाणु दोनों सपक्ष हैं, क्योंकि दोनों नित्य हैं। कर्म और घट दोनों विपक्ष हैं जो अनित्य हैं। अमूर्तत्व हेतु (सपक्ष) आकाश में रहता है तथा (विपक्ष) कर्म में रहता है क्योंकि आकाश और कर्म दोनों अमूर्त हैं। दूसरी ओर अमूर्तत्व हेतु (सपक्ष) परमाणु में नहीं रहता न विपक्ष घट में ही रहता है क्योंकि दोनों ही मूर्त्त हैं। इस प्रकार अमूर्तत्व हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों के एकदेश में रहता है।

नित्यास्तु परमाणवः—वैशेषिक में परमाणु को नित्य माना गया है—"सदकारणवन्नित्यम्" वै० सू० ४. १. १। बौद्ध दर्शन में परमाणु को अनित्य ही माना जाता है।

चतुर्विधस्य पक्षधर्मस्य—'विपक्ष में कभी न होना'—लिङ्ग के इस रूप की असिद्धि होने पर जो अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है, वह चार प्रकार का है (जो अभी ऊपर दिखलाया गया है)—(१) सपक्ष-विपक्ष-व्यापी हेतु, (२) सपक्षैकदेशवृत्ति किन्तु विपक्ष-व्यापी (३) विपक्षैकदेशवृत्ति किन्तु सपक्ष-व्यापी (४) विपक्षैकदेशवृत्ति तथा सपक्षैकदेशवृत्ति।

तथेति—

उसी प्रकार इसी रूप (विपक्ष में कभी न रहना) का सन्देह होने पर भी अनैकान्तिक (हेत्वाभास) होता है ॥६८॥

जिस प्रकार (हेतु के) इस रूप की असिद्धि होने पर अनैकान्तिक होता है, उसी प्रकार 'विपक्ष में कभी न होना' इसी रूप का सन्देह होने पर अनैकान्तिक (हेत्वाभास) होता है ॥६८॥

उसका उदाहरण देते हैं—

जैसे—'कोई विवक्षित पुरुष असर्वज्ञ या रागादिमान् है' यह सिद्ध करने के लिये 'वक्तृत्व' (वक्ता होना) आदि धर्म (हेतु) दिया जाता है, जिसका विपक्ष में न होना (व्यावृत्ति) सन्दिग्ध है, यह अनैकान्तिक हेत्वाभास है ॥६९॥

असर्वज्ञ इत्यादि, यहाँ असर्वज्ञता साध्य है। कोई व्यक्ति, जिसे वक्ता (वादी)

---

१. ०ख्यरूपस्य C.

वक्तुरभिप्रेतः पुरुषो धर्मी । राग आदिर्यस्य द्वेषादेः स रागादिः । स यस्यास्ति स रागादिमान् इति द्वितीयं साध्यम् । 'वाग्रहणं रागादिमत्त्वस्य पृथक्साध्यत्व-ख्यापनार्थम् । ततोऽसर्वज्ञत्वे रागादिमत्त्वे वा[2] साध्ये प्रकृते वक्तृत्वं—वचन-शक्तिस्तदादिर्यस्य, उन्मेषनिमेषादेः स वक्तृत्वादिको धर्मोऽनैकान्तिकः । सन्दिग्धा[3] विपक्षाद् व्यावृत्तिर्यस्य स तथोक्तः । असर्वज्ञत्वे साध्ये सर्वज्ञत्वं विपक्षः । तत्र वचनादेः सत्त्वम असत्त्व वा सन्दिग्धम् । अतो न ज्ञायते किं[4] वक्ता सर्वज्ञः, उतासर्वज्ञः—इत्यनैकान्तिकं वक्तृत्वम् ॥६९॥

असर्वज्ञ कहना चाहता है (विवक्षितः=वक्तुम् इष्टः) वह वक्ता का अभिप्रेत व्यक्ति पक्ष है । राग है आदि में जिस द्वेष आदि के वह रागादि है । जिसको राग आदि होते हैं वह रागादिमान् कहलाता है । यह (रागादिमत्ता) दूसरा साध्य है । रागादिमत्ता को पृथक् साध्य दिखलाने के लिये 'वा' (अथवा) शब्द का ग्रहण किया गया है । इस प्रकार असर्वज्ञता या रागादिमत्ता के साध्य रूप में प्रस्तुत होने पर–वक्तृत्व (=वचन शक्ति) हेतु है, वह है आदि में जिस नेत्र-उन्मीलन-निमीलन आदि के ऐसा–वक्तृत्व आदि हेतु अनैकान्तिक है । जिसका विपक्ष में न होना सन्दिग्ध है, वह वैसा (अर्थात् सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः) कहा गया है । जब 'असर्वज्ञता' साध्य है तो सर्वज्ञ विपक्ष है । उस सर्वज्ञ में (तत्र) वचनशक्ति का होना या न होना सन्दिग्ध है । इसलिये यह नहीं ज्ञात होता कि वक्ता सर्वज्ञ होता है अथवा असर्वज्ञ—इस प्रकार वक्तृत्व हेतु अनैकान्तिक है ॥६९॥

असर्वज्ञः वक्तृत्वात्—बुद्ध को असर्वज्ञ सिद्ध करने के लिये न्याय तथा मीमांसा आदि की ओर से यह अनुमान प्रस्तुत किया जाता है । इसमें युक्ति यह दी जाती है कि जिस व्यक्ति को विकल्प ज्ञान होता है, वही वचन कहता है या उपदेश देता है । शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान इत्यादि विकल्प ज्ञान ही हैं । इस प्रकार के विकल्प ज्ञान के बिना उपदेश नहीं दिया जा सकता । किन्तु विकल्पज्ञान मिथ्या या भ्रान्ति होता है जो सर्वज्ञ में माना नहीं जा सकता ।इस प्रकार यह व्याप्ति होती है—जो वक्ता है, वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता । (मि०, न्यायकणिका पृ० ११२) ।

रागादिमान् वक्तृत्वात्—इसका आधारभूत तर्क यह है—बुद्ध संसारी जनों के दुःख को नष्ट करने की इच्छा से उपदेश देते हैं और परदुःखप्रहाणेच्छा राग ही है, अतः उपदेश या वक्तृत्व से बुद्ध में रागादिमत्ता सिद्ध होती है । व्याप्ति है–जो वक्ता होता है वह रागादिमान् होता है (मि०, न्यायकणिका, पृ० ११३) ।

सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः—सन्दिग्धा विपक्षाद् व्यावृत्तिः यस्य सः=जिसका विपक्ष में न होना सन्दिग्ध है ।

---

१. 'वेतिग्रहणं' C.D. २. च, C.
३. सन्दिग्धवि० B, ४. 'किं' नास्ति A.B.D.E.H.N.P.

ननु च सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते तत्कथं वचनं सर्वज्ञे सन्दिग्धम् ? अत एव—

"सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते' इत्येवंप्रकारस्यानुपलम्भस्यादृश्यात्म-विषयत्वेन 'सन्देहहेतुत्वाद् । 'ततोऽसर्वज्ञविपर्ययाद् वक्तृत्वादेर्व्यावृत्तिः सन्दिग्धा ॥७०॥

'सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते' इत्येव प्रकारस्य—'एवं जातीयस्यानुपलम्भस्य सन्देहहेतुत्वात् । कुत इत्याह–अदृश्य' आत्मा विषयो यस्य तस्य भावोऽदृश्यात्मविषयत्वं तेन सन्देहहेतुत्वम् । यतोऽदृश्यविषयोऽनुपलम्भः 'सन्देहहेतुः, न निश्चयहेतुः; ततोऽसर्वज्ञविपक्षात् सर्वज्ञाद् वक्तृत्वादेर्व्यावृत्तिः सन्दिग्धा ॥७०॥

ननु चेति—(शङ्का) जब कोई सर्वज्ञ वक्ता उपलब्ध नहीं होता तो वचन-शक्ति का सर्वज्ञ (विपक्ष) में होना सन्दिग्ध कैसे है ? (समाधान) इसलिये कि

'सर्वज्ञ वक्ता नहीं उपलब्ध होता'—इस प्रकार की अनुपलब्धि अदृश्य-वस्तु-विषयक है, अतः वह सन्देह का हेतु है। इस प्रकार असर्वज्ञ के विपक्ष (विपर्यय) सर्वज्ञ में वक्तृत्व आदि का अभाव (व्यावृत्ति) सन्दिग्ध है। ७०॥

'सर्वज्ञ वक्ता उपलब्ध नहीं होता'—इस प्रकार की (एवं प्रकारस्य=एवं जातीयस्य) अनुपलब्धि सन्देह का हेतु है। कैसे ? यह बतलाते हैं=उसका विषय अदृश्य स्वरूप (=आत्मा) वाला होता है, ऐसा होने से वह सन्देह का हेतु होता है। क्योंकि अदृश्य वस्तु की अनुपलब्धि सन्देह का हेतु होती है, निश्चय का हेतु नहीं, इसलिये असर्वज्ञ के विपक्ष अर्थात् सर्वज्ञ में वक्तृत्व आदि का न होना (व्यावृत्ति) सन्दिग्ध है ॥७०॥

ननु च–शङ्का का आशय यह है कि अनुपलब्धि से सर्वज्ञ में वक्तृत्व का अभाव निश्चित हो जाता है फिर हेतु का विपक्ष में न होना निश्चित ही है। इसलिये अनैकान्तिक हेत्वाभास यहाँ नहीं।

अदृश्यानुपलम्भस्य……सन्देहहेतुत्वात्—बौद्ध का उत्तर है कि 'सर्वज्ञ वक्ता उपलब्ध नहीं होता'—यह अदृश्य की अनुपलब्धि है, क्योंकि सर्वज्ञता तो हमारे लिये दृश्य नहीं। और, यह ऊपर कहा जा चुका है कि अदृश्यानुपलब्धि सन्देह का कारण होती है (द्र०, २.४७)।

अदृश्यात्मविषयत्वेन—अदृश्यात्मा अदृश्यस्वरूपः विषयः यस्य अर्थात् (जिसके विषय का स्वरूप अदृश्य है) सः अदृश्यात्मविषयः, तस्य भावः—अदृश्यात्मविषयत्वम्—तेन हेतुना।

---

१. 'सर्वतैकदेशे वा सर्वज्ञो' B.P.H. २. सन्देहे B.E.H.P.
३. 'ततः' नास्ति B.D.E.H.P. ४. ०जातीयकस्य B.
५. अदृश्यात्मा A.B.E.H.N.P. ६. संशयहे० A.E.H.N.P.

नानुपलम्भात् 'सर्वज्ञे वक्तृत्वम् असद् ब्रूमः, अपि तु सर्वज्ञत्वेन सह वक्तृत्वस्य विरोधात् । एतन्न[1]—

वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्विरोधाभावाच्च, यः सर्वज्ञः स वक्ता न भवतीत्य-दर्शनेऽपि व्यतिरेको न सिध्यति, सन्देहात् ॥७१॥

सर्वज्ञत्ववक्तृत्वयोर्विरोधो नास्ति । विरोधाभावाच्च कारणाद् व्यतिरेको न सिध्यति—इति सम्बन्धः । व्याप्तिमन्तं व्यतिरेकं दर्शयति—यः सर्वज्ञ इति । साध्याभावरूपं सर्वज्ञत्वम् अनूद्य 'स[3] वक्ता न भवति' इति साधनस्य वक्तृत्व-स्याभावो विधीयते । तेन साध्याभाव साधनाभावे नियतत्वात् [4]साधनाभावेन व्याप्त उक्त इति । व्याप्तिमान् ईदृशो व्यतिरेको विरोधे सति वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोः सिध्येत् । न चास्ति विरोधः । तस्मान्न सिध्यतीति[5] । कुत इत्याह—सन्देहात् । यतो विरोधाभावः, तस्मात् सन्देहः । सन्देहाद् व्यतिरेकासिद्धिः ॥७१ ।

नानुपलम्भाद् इति—(पूर्वपक्षी) हम यह नहीं कहते कि अनुपलब्धि होने से सर्वज्ञ में वक्तृत्व का अभाव है, अपि तु सर्वज्ञता के साथ वक्तृत्व का विरोध होने से (सर्वज्ञ में वक्तृत्व का अभाव है) ।

(सिद्धान्ती) यह ठीक नहीं, क्योंकि

वक्ता होने और सर्वज्ञ होने में विरोध नही है । 'जो सर्वज्ञ है, वह वक्ता नहीं होता'—इसका प्रत्यक्ष न होने पर (अदर्शने) विपक्ष में न होना सिद्ध नही होता; क्योंकि सन्देह हो जाता है ।।७१।।

सर्वज्ञ होना तथा वक्ता होना—इन दोनों में विरोध नहीं है; और विरोध न होने के कारण विपक्ष में न होना (व्यतिरेक) सिद्ध नहीं होता, इस प्रकार अन्वय (=सम्बन्ध) है । व्याप्ति-विशिष्ट व्यतिरेक दिखलाते हैं—यः सर्वज्ञः इत्यादि (जो सर्वज्ञ है वह वक्ता नहीं होता) । यहाँ साध्य (असर्वज्ञता) के अभाव अर्थात् सर्वज्ञता को उद्देश्य करके 'वह वक्ता नहीं होता' इससे साधन अर्थात् वक्तृत्व (वक्ता होने) के अभाव का विधान किया गया है । इस प्रकार साध्याभाव (सर्वज्ञता) को साधनाभाव (वक्ता न होना) पर आश्रित=अविनाभावी (नियतत्वात्) होने से साधनाभाव का व्याप्त बतलाया गया है । इस प्रकार का व्याप्ति-विशिष्ट व्यतिरेक सर्वज्ञता और वक्तृत्व का विरोध होने पर ही सिद्ध हो सकता है । किन्तु (दोनों में) विरोध नहीं है, इसलिये (व्याप्ति विशिष्ट व्यतिरेक) सिद्ध नहीं होता । ऐसा क्यों है—यह बतलाया है—सन्देह होने के कारण । क्योंकि दोनों में विरोध नहीं है इसलिये सन्देह हो जाता है । सन्देह हो जाने के कारण व्यतिरेक (विपक्ष में कभी न होना) की सिद्धि नहीं होती ॥७१॥

---

१. सन्दिग्धे B.　　२. 'एतन्न' नास्ति E.

३. न स वक्ता A. E.H.N P.

४. सधर्म्यभावेन B.　　५. 'इति' नास्ति A.E.H.N.P.

कथं विरोधाभावः ?

द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः ।।७२।।

[1]हीति यस्माद् द्विविध एव विरोधो नान्यः । तस्मान्न वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयो-विरोधः ।।७२।।

कः पुनरसौ द्विविधो विरोध इत्याह—

अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद्[2] विरोधगतिः[3] शीतोष्ण-स्पर्शवत् ।।७३,७४।।

०वक्तृत्वस्य विरोधात—पूर्वपक्षी मीमांसक आदि का कथन है कि सर्वज्ञता और वक्तृत्व का विरोध है । अतः सर्वज्ञ वक्ता नहीं हो सकता ।

एतन्न:—इत्यादि में सिद्धान्ती बौद्ध का उत्तर है कि 'सर्वज्ञ वक्ता नहीं होता,' यह बात हम प्रत्यक्ष से नहीं जान सकते; क्योंकि सर्वज्ञता हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं, वह तो अत्यन्त परोक्ष है (सर्वज्ञतायाः अत्यन्तपरोक्षायाः केनचिदपि सह प्रत्यक्षप्रतीतेन विरोधाऽनवगतेः—न्यायकणिका, पृ० १११) । इसलिये 'बुद्धो न सर्वज्ञः वक्तृत्वात्' इस हेतु का विपक्ष में असत्त्व सन्दिग्ध है और यह अनैकान्तिक है ।

व्यतिरेकः—विपक्षे चासत्त्वमेव, विपक्षे में कभी न होना ।

१७. विरोध का सिद्धान्त

कथम् इति—विरोध क्यों नहीं है, यह बतलाते हैं—

क्योंकि पदार्थों का विरोध दो प्रकार का होता है ।।७२।।

क्योंकि (=हि=यस्मात्) दो प्रकार का ही विरोध होता है, अन्य प्रकार का नहीं; इसलिये सर्वज्ञता तथा वक्तृत्व में विरोध नहीं है ।।७२।।

द्विविध एव विरोधः—विरोध के दो प्रकार हैं—१. सहानवस्थानलक्षण—दो वस्तुओं का एक समय एक स्थान में साथ न रह सकना जैसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श का विरोध है । २. परस्परपरिहारलक्षण=तादात्म्याभाव, एक दूसरे के अभाव रूप में होना; इसे न्याय-वैशेषिक के अन्योन्याभाव के समान कहा जा सकता है, जैसे जो नील है वह पीत नहीं होता । अतः नील और पीत में परस्परपरिहारलक्षण विरोध है । इन का आगे विस्तारपूर्वक निरूपण किया जा रहा है ।

कः पुनः इति—यह दो प्रकार का विरोध कौनसा होता है ? यह बतलाते हैं—

जिसके समस्त कारण होते हैं, उस विद्यमान पदार्थ का (भवतः) अन्य पदार्थ के होने पर भी जो अभाव हो जाता है, उससे दोनों का विरोध जाना जाता है; जैसे—शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श में ।।७३,७४।।

---

१. हिर्यस्मार्थे D., हिर्यस्मात् B.

२. ०भावः । अभावाद् B.H.P.

३. गतिरिति C.

अविकलकारणस्येति। अविकलानि समग्राणि कारणानि यस्य स तथोक्तः। यस्य कारणवैकल्याद् अभावो न तस्य केनचिदपि विरोधगतिः। तदर्थम् अविकलकारणग्रहणम्।

ननु च यस्यापि कारणसाकल्यं तस्यापि निवृत्तिरशक्या केनचिदपि कर्तुम्, तत् कुतो विरोधगतिः?

एवं तर्हि, अविकलकारणस्यापि यत्कृतात् कारणवैकल्याद् अभावस्तेन विरोधगतिः। तथा च सति यो यस्य विरुद्धः, स तस्य किञ्चित्कर एव। तथा हि शीतस्पर्शस्य जनको भूत्वा शीतस्पर्शान्तरजननशक्ति प्रतिबाध्नन् शीतस्पर्शस्य निवर्तको विरुद्धः। तस्माद्धेतुवैकल्यकारी विरुद्धो जनक एव निवर्त्यस्य। सहानवस्थानविरोधश्चायम्। ततो विरुद्धयोर् एकस्मिन्नपि क्षणे सहावस्थानं परिहर्तव्यम्। दूरस्थयोर् विरोधाभावाच्च निकटस्थयोर् एव निवर्त्यनिवर्तक-भावः।

अविकल अर्थात् समस्त कारण हैं जिसके वह वैसा (अविकलकारणम्) कहा गया है। जिस वस्तु का किसी कारण के न होने से अभाव होता है, उसका किसी के साथ भी विरोध प्रतीत नहीं होता। इसीलिये 'अविकलकारण' शब्द का ग्रहण किया गया है।

(शङ्का) किन्तु जिस वस्तु के समस्त कारण उपस्थित हैं, उसकी भी निवृत्ति (अभाव) कोई नहीं कर सकता; तब विरोध का ज्ञान कैसे होगा?

(समाधान) तब तो जिसके अन्य सब कारण विद्यमान हैं, उसका जिस कारण की विकलता से अभाव हो जाता है; उसके साथ विरोध जाना जाता है। ऐसा होने पर जो जिसका विरोधी है, वह उसका कुछ करने वाला ही है; जैसे कि कोई पदार्थ एक शीतस्पर्श (क्षण) का जनक होकर उसकी दूसरे शीतस्पर्श (क्षण) को उत्पन्न करने की शक्ति का बाध करता है, वह (दूसरे) शीतस्पर्श का निवर्तक है तथा उसके विरुद्ध है। इसलिये हेतु को विकल करने वाला जो विरुद्ध है, वह कार्य (=निवर्त्य, जिसकी निवृत्ति होती है) का उत्पादक ही होता है। यह सहानवस्थान नामक विरोध है। इसके अनुसार विरुद्ध पदार्थों का एक क्षण में भी साथ रहना नहीं स्वीकार किया जा सकता (परिहर्तव्यम्)। क्योंकि दूर-स्थित पदार्थों का विरोध नहीं हो सकता, इसलिये निकट स्थित पदार्थों का ही निवर्त्य-निवर्तकभाव सम्बन्ध होता है।

अविकलकारणस्य०—जिस पदार्थ की उत्पत्ति के समस्त कारण विद्यमान होते हैं, उसकी भी कभी कभी उत्पत्ति नहीं देखी जाती। इसका कारण यही है कि वहाँ उस का विरोधी पदार्थ विद्यमान होता है। वह विरोधी पदार्थ ऐसा होता है कि उसके साथ उत्पाद्य पदार्थ एक क्षण भी नहीं रह सकता। इसी हेतु उत्पाद्य वस्तु के साथ उसका सहानवस्थान नामक विरोध होता है।

किञ्चित्कर एव—किसी पदार्थ का विरोधी जो होता है, वह अवश्य ही उस

तस्माद् यो यस्य निवर्तकः स तं यदि परं तृतीये क्षणे निवर्तयति। प्रथमे क्षणे सन्निपतन् असमर्थावस्थाधानयोग्यो[10] भवति। द्वितीये विरुद्धम् असमर्थं करोति। तृतीये त्वसमर्थे निवृत्ते तद्देशम् आक्रामति।

पर कुछ प्रभाव करने वाला होता है (अकिञ्चित्करस्य विरोधित्वेऽतिप्रसक्तिः, न्याय-मञ्जरी, पृ० ५५)। इस मन्तव्य को आगे वाले उदाहरण से स्पष्ट किया जा रहा है।

विरुद्धो जनक एव निवर्त्यस्य—विरुद्ध (विरोधी) पदार्थ निवर्त्यमान (निवृत्त होने वाले) का जनक (उत्पादक) होता है ? जैसे—प्रकाश द्वारा अन्धकार की निवृत्ति होती है। यहाँ बौद्धन्याय के अनुसार प्रकाश भी अन्धकार का जनक है। कैसे ? अन्धकार की निवृत्ति में कम से कम तीन क्षण (सेकण्ड) लगते हैं तथा क्षणों (=स्वलक्षणों) के पुञ्ज से ही किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है। जब प्रथम सेकण्ड में प्रकाश—क्षण अन्धकार-क्षण के निकट आता है तो उस प्रकाश-क्षण तथा अन्धकार-क्षण आदि से सम्मिलित रूप में अग्रिम प्रकाश-क्षण एवं अन्धकार-क्षण की उत्पत्ति होती है। यहाँ द्वितीय सेकण्ड में उत्पन्न होने वाला तो अन्धकार-क्षण है, वह तृतीय क्षण में अपने सजातीय अन्धकार-क्षण को उत्पन्न नहीं कर सकता, अतः वह असमर्थ (अन्धकार) क्षण कहलाता है। इसका जनक प्रकाश-क्षण भी है ही। तृतीय सेकण्ड में प्रकाश-क्षण अन्धकार—क्षण को निवृत्त कर देता है। अतः प्रकाश-क्षण निवर्तक है और अन्धकार—क्षण निवर्त्य। यही प्रक्रिया उष्णस्पर्श के द्वारा शीत—स्पर्श की निवृत्ति में भी हुआ करती है। इस प्रकार असमर्थ निवर्त्य का जनक होकर ही कोई पदार्थ उसका निवर्तक हुआ करता है।

एकस्मिन्नपि क्षणे—दो विरोधी पदार्थों की एक क्षण भी एक स्थान (बिन्दु) पर स्थिति नहीं होती, केवल निकट स्थिति होती है, जैसे प्रकाशक्षण और अन्धकारक्षण दोनों एक ही स्थान पर नहीं रह सकते (सहावस्थानम् एकत्र स्थितिः, निकटावस्थानं तु न परिहर्तव्यम्, धर्मो० प्र०, पृ० १९९)

निकटस्थयोरेव—निवर्त्य-निवर्त्तक-भाव उनका ही होता है, जो निकट स्थित होते हैं, दूर स्थितों का नहीं। इसीलिये एक स्थान का प्रकाश सर्वत्र स्थित अधन्कार को दूर नहीं कर सकता। किन्तु निकट स्थित विरोधी पदार्थों का भी अवश्य ही निवर्त्य-निवर्तक-भाव नहीं होता, अपि तु जिस अन्धकार की ओर प्रकाश की अबाधित गति होती है, उसकी ही निवृत्ति हो सकती है, इसीलिये दीप-शिखा के नीचे का अन्धकार निवृत्त नहीं हो पाता (सति निवर्त्य-निवर्त्तकत्वे-निकटस्थयोरेव, न तु निकटस्थयोरवश्यं निवर्त्य-निवर्तकभावः, धर्मो० प्र०, पृ० २०२)।

तस्माद् इति—इसलिये जो जिसका निवर्तक है, वह उसे कम से कम (=परम् ?) तृतीय क्षण में निवृत्त करता है। प्रथम क्षण में निवर्त्य के समीप आता हुआ असमर्थ अवस्था को उत्पन्न करने योग्य होता है। द्वितीय क्षण में विरुद्ध को असमर्थ कर देता है। तृतीय क्षण में तो असमर्थ के चले जाने पर उसके स्थान को आक्रान्त कर लेता है।

---

१०. स्थाधाने योग्यो D स्थानयोग्यो A.B.E.H. P.

तत्रालोको गतिधर्मा क्रमेण जलतरङ्गन्यायेन 'देशम् आक्रामन्' यदाऽन्धकारनिरन्तरम्' आलोकक्षणं जनयति तदाऽऽलोकसमीपवर्तिनम् अन्धकारम् असमर्थं जनयति। ततोऽसामर्थ्यं तस्य यस्य समीपवर्त्यालोकः। 'असमर्थे निवृत्ते 'तद्देशो जायत आलोक इत्येवं क्रमेणाऽऽलोकेनान्धकारोऽपनेयः। तथोष्णस्पर्शेन शीतस्पर्शो निवर्तनीयः।

परम्—प्रकृष्टं यथा भवति (धर्मो० प्र०, पृ० १९९) यदि परम्=at the utmost (ब्रु० लॉ० २, पृ० १८९, टि० १)। पूर्वापर प्रसङ्ग से यहाँ अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि कोई निवर्तक कम से कम तीन क्षण में विरोधी की निवृत्ति करता है।

असमर्थावस्थाधानयोग्यः—सजातीय कार्यक्षण के उत्पादन में अशक्त अवस्था को उत्पन्न करने योग्य, असमर्था चोपादेयक्षणनिर्माणे अशक्तावस्था यस्य अन्धकारक्षणस्य तस्याधानम् उत्पादनं तत्र योग्यः समर्थो भवति (धर्मो० प्र०; पृ० १९९)। यहाँ जो प्रकाश-क्षण अन्धकार-क्षण के निकट आता है; वह उस अन्धकार-क्षण में सजातीय अन्धकार-क्षण को उत्पन्न करने की अशक्ति का आधान करने में समर्थ होता है (योग्यतामात्र)।

द्वितीये—दूसरे क्षण में प्रकाश-क्षण अन्धकार-क्षण को सजातीय क्षण की उत्पत्ति में असमर्थ कर देता है (असमर्थ करना)।

तृतीये—तृतीय क्षण में असमर्थ अन्धकार क्षण निवृत्त हो जाता है और प्रकाश उसके स्थान पर आ जाता है। (विरुद्ध की निवृत्ति)

तत्रेति—ऐसा होने पर (तत्र) प्रकाश, जो कि गतिशील है, क्रमशः जलतरङ्ग न्याय से किसी देश को आक्रान्त करता हुआ, जब अन्धकार के निकट प्रकाश-क्षण को उत्पन्न करता है, तब (द्वितीय क्षण में) प्रकाश के समीप में स्थित असमर्थ अन्धकार को भी उत्पन्न करता है (अथवा अन्धकार को असमर्थ कर देता है)। इसलिये जिसके समीप प्रकाश है, उस (अन्धकार) में (सजातीय क्षण को उत्पन्न करने का) सामर्थ्य नहीं रहता। (तृतीय क्षण में) असमर्थ अन्धकार के चले जाने पर उस प्रदेश में प्रकाश हो जाता है। इस प्रकार क्रमशः प्रकाश के द्वारा अन्धकार दूर किया जाता है। उसी प्रकार उष्ण स्पर्श के द्वारा शीतस्पर्श की निवृत्ति होती है।

तत्र—एवं स्थिते सति (मल्लवादी)—ब्रु० लॉ० २, पृ० १८९ टि० २।

जलतरङ्गन्याय—जल में कंकड़ी इत्यादि फेंकने से जो तरंगे उठती हैं वे वृत्ताकार में सब ओर फैलती जाती है। ठीक इसी प्रकार प्रकाश भी अपने सब ओर फैलता है। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि सन् १६७८ ई० में हालैण्ड के वैज्ञानिक

---

१. तद्देशमा० C.D. २. आक्रामयन् B.N.
३. कारे निर० A.B.E.H.N.P. ४. असमर्थ्ये A. असामर्थ्ये E.H.N.P.
५. तादृशो A.B.H.N.P.

यदा त्वालोकस् तत्रैवान्धकारदेशे जन्यते तदा यतः क्षणाद् अन्धकार-देशस्यालोकस्य जनकः[1] क्षणः उत्पद्यते तत एवान्धकारोऽन्धकारान्तरजननासमर्थ[2] उत्पन्नः। [3]ततोऽसमर्थावस्थाजनकत्वम् एव निवर्तकत्वम्। अतश्च यस्मिन् क्षणे जनकस्ततस्तृतीये क्षणे निवृत्तो विरुद्धो यदि शीघ्रं निवर्तते।

हाईगेन (Huyghens) ने प्रकाश की गति के विष्य में जिस तरङ्ग-सिद्धान्त (wave theory) की खोज की है क्या वह किसी रूप में धर्मोत्तर को (अष्टम शताब्दी) विदित था।

तत्रालोको गतिधर्मा—प्रकाश के द्वारा अन्धकार की निवृत्ति होती है, इसके दो क्रम देखे जाते हैं—एक तो यह कि मेघमाला में विद्युत् चमकती है, उसका प्रकाश जल तरङ्ग-न्याय से गहन वन के अन्धकार के समीप जाकर क्षण-भर के लिये उसकी निवृत्ति कर देता है। अथवा बैटरी के प्रकाश को जिस दिशा मे फेंका जाता है उस दिशा के अन्धकार की निवृत्ति हो जाती है। यहाँ अन्धकार जिस दिशा में जाता है, उसी में स्थित अन्धकार को दूर करता है, गति-क्रम के अनुसार अन्धकार का नाश होता है। दूसरा प्रकार यह है कि प्रकाश कहीं बाहर से नहीं आता है। अन्धेरे कक्ष में प्रदीप (या बल्ब) के जलते ही उस कक्ष का अन्धकार नष्ट हो जाता है। (द्रष्टव्य, आगे, पृ० २८५)।

इन दोनों स्थलों पर ही निवर्तक प्रकाश को निवर्त्य अन्धकार का जनक दिखलाया गया है। यह भी बतलाया गया है कि कम से कम तीन क्षण में निवर्त्य की निवृत्ति होती है। किन्तु बाहर से आने वाले प्रकाश को अन्धकार के निकट आने में जो क्षण लगेंगे, वे तीन क्षण के अतिरिक्त होंगे। इस प्रक्रिया को निम्न रेखाचित्र से प्रकट किया जा सकता है—

प्रकाश-सन्तति		अन्धकार-सन्तति
प्रकाशक्षण	१* —— *	१ अन्धकारक्षण
,,	२* —— *	२असमर्थ अन्धकार क्षण
		अन्धकारनिवृत्ति अन्धकारदेशस्थ प्रकाशक्षण

अन्धकारनिरन्तरम्=अन्धकाराव्यवहितम् (धर्मो० प्र०, पृ० २००)।

यदेति—किन्तु जब प्रकाश उसी अन्धकार प्रदेश में उत्पन्न होता है, तब जिस (प्रकाश) क्षण से अन्धकार के स्थान पर होने वाले प्रकाश का उत्पादक क्षण उत्पन्न होता है उससे ही (दूसरे) अन्धकार (क्षण) को पैदा करने में असमर्थ अन्धकार भी उत्पन्न होता है। इस प्रकार (ततः) निवर्तक वह है जो (निवर्त्य की) असमर्थ अवस्था का उत्पादक है। इसलिये जिस क्षण में उत्पादक (उपस्थित) होता है, उससे तीसरे क्षण में विरुद्ध की निवृत्ति होती है, यदि वह शीघ्र से शीघ्र निवृत्त होता है।

---

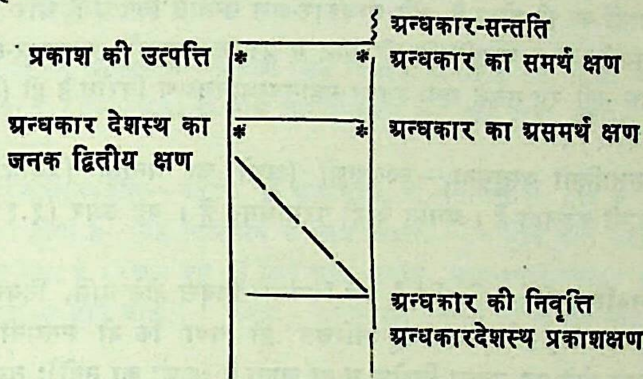
१. जनकक्षणः A.B.E H.N.P.

२. अन्धकारान्तरासमर्थः A., अन्धकारान्तराजननासमर्थः B.C.

३. ततोऽसामर्थ्याव० Ψ.

जन्यजनकभावाच्च 'सन्तानयोर्विरोधो न क्षणयोः। यद्यपि च न सन्तानो नाम वस्तु तथापि सन्तानिनो वस्तुभूताः। ततोऽयं परमार्थः—न क्षणयोर्विरोधः, अपि तु बहूनां क्षणानाम्। यतः सत्सु दहनक्षणेषु प्रवृत्ता अपि शीतक्षणा निवृत्तिधर्माणो भवन्तीति।

यदा त्वालोकः०—अन्धकार से आक्रान्त देश में उत्पन्न होने वाला प्रकाश किस प्रकार अन्धकार की निवृत्ति करता है, यह प्रक्रिया यहाँ दिखलाई गई है। इसका रेखा चित्र यह है—



अन्धकारदेशस्य— अन्धकारस्य देशो देशो यस्य = अन्धकार के स्थान पर आने वाले प्रकाश का।

जन्यजनकेति—यह विरोध दो सन्तानों में होता है, क्षणों में नहीं; क्योंकि सन्तानों में ही जन्य-जनकभाव सम्बन्ध होता है। यद्यपि सन्तान वस्तुसत् नहीं तथापि सन्तानी (= जिनका सन्तान होता है) तो वस्तुसत् हैं। इसलिये तथ्य यह है कि दो क्षणों का विरोध नहीं, अपि तु बहुत से क्षणों (क्षण-सन्तानों) का विरोध होता है; क्योंकि ताप-क्षणों के होने पर कार्य में प्रवृत्त हो जाने वाले शीत क्षण भी निवृत्त हो जाते हैं।

जन्यजनकभावाच्च सन्तानयोर्विरोधो न क्षणयोः—यहाँ शङ्का हो सकती है कि जो (प्रथम) आलोकक्षण असमर्थ अन्धकार–क्षण का जनक है, वह अन्धकार–क्षण के स्थान को आक्रान्त नहीं करता, जो (तृतीय) प्रकाश–क्षण आक्रान्त करता है, वह असमर्थ अन्धकार-क्षण का जनक नहीं होता। इस प्रकार विरुद्ध निवर्त्य का जनक होता है, यह कथन युक्तियुक्त नहीं। इसके अतिरिक्त दो क्षणों में विरोध होना भी असम्भव है, क्योंकि जो अन्धकार प्रकाश के आगमन-काल में है वह तो विरोधी है ही नही। अन्धकार का जो असमर्थ क्षण उत्पन्न होता है वह प्रकाश-जन्य होने के कारण प्रकाश का विरोधी नहीं हो सकता। जो अन्धकार-क्षण निवर्त्य है, कभी उत्पन्न ही नहीं होगा वह तो प्रकाश का विरोधी हो ही कैसे सकता है, जिसकी सत्ता ही नहीं उसके साथ विरोध कहाँ?

इस शङ्का के समाधान के लिये जन्यजनक० इत्यादि कहा गया है। भाव यह है कि निवर्त्य-निवर्तक-भाव एक प्रकार का कार्य–कारण-भाव ही है। यह कार्य कारण-

---

४. सन्तनयोः A.

सन्तानयोर् निवर्त्यनिवर्त्तकत्वनिमित्ते च विरोधे स्थिते सर्वेषां परमाणूनां सत्येकदेशावस्थानाभावे न विरोधः, इतरेतरसन्तानानिवर्तनात् तेषाम् ।

गतिधर्मा चालोको यां [1]दिशम् आक्रामति [2]तद्दिग्वर्तिनो विरोधिसन्तानान् निवर्तयति । ततोऽपवरकैकदेशस्था प्रदीपप्रभाऽन्धकारनिकटवर्तिन्यपि नान्धकारं निवर्तयति, [3]अन्धकाराक्रान्तायां दिश्यालोकक्षणान्तरजननासामर्थ्यात्

भाव लोक में दो सन्तानों का ही जाना जाता है अतः निवर्त्य-निवर्तक-भाव भी दो क्षण-सन्तानों का ही होता है, जैसे अन्धकार-क्षण सन्तान निवर्त्य है और प्रकाश-क्षण-सन्तान निवर्तक है। वस्तुस्थिति की दृष्टि से प्रकाश-क्षण और अन्धकार-क्षण एक देश में एक साथ नहीं रह सकते अतः इनका सहानवस्थानलक्षण विरोध है ही (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० २०१)।

सन्तानिनो वस्तुभूताः—स्वलक्षणों (क्षणों) का सन्तान (प्रबन्ध) होता है, वे ही सन्तानी कहलाते हैं। अर्थात् वे ही परमार्थसत् हैं। यह ऊपर (१.१४) कहा जा चुका है।

निवृत्तिधर्माणः—निवृत्ति है धर्म जिनका; निवृत्त होने वाले, निवृत्त ।

सन्तानयोर् इति—जब यह निश्चित हो गया कि दो सन्तानों का निवर्त्य-निवर्तक-भाव होने पर उनका विरोध माना जाता है (क्षणों का नहीं); तब परमाणुओं का (परस्पर) विरोध नहीं होता। यद्यपि दो परमाणु भी एक देश में स्थित नहीं रहते तथापि उनमें एक (परमाणु-सन्तान) दूसरे (परमाणु)-सन्तान की निवृत्ति नहीं करता।

एकदेशावस्थानाभावे=एक स्थान में न रहने पर भी। यही सहानवस्थानलक्षण विरोध का प्रचलित अर्थ रहा होगा—अयम् एव च विरोधार्थः, यद एकत्र उभयोर् अनवस्थानम्, न्यायमञ्जरी भाग १, पृ० ६०।

परमाणूनां……न विरोधः—बौद्ध-दर्शन में परमाणुओं को सप्रतिघ माना जाता है अर्थात् एक ही स्थान पर दो परमाणु नहीं रह सकते। तथापि परमाणुओं में सहानवस्थान-लक्षण विरोध नहीं होता, क्योंकि एक परमाणु सन्तान के द्वारा दूसरे परमाणु-सन्तान की निवृत्ति नहीं हुआ करती, अपि तु परमाणु-सन्तान साथ २ चलते रहते हैं (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० २०२)।

गतिधर्मेति—प्रकाश, जो गतिशील है, वह जिस दिशा को आक्रान्त करता है, उस दिशा में वर्तमान-विरोधी सन्तानों को दूर करता है। इसलिये कक्ष के एक भाग में स्थित प्रदीप प्रभा अन्धकार के निकट होती हुई भी (समस्त) अन्धकार को दूर नहीं करती; क्योंकि वह (प्रदीप-प्रभा) अन्धकार से आक्रान्त दिशा में प्रकाश के अन्य क्षणों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं रखती।

---

१. दिशं क्राम० C. २. तद्दिग्वर्तिनः A.
३. अन्धकारायाक्रान्तायां A.

कारणासामर्थ्यहेतुत्वक्तं[1] सन्ताननिष्ठम् एव विरोधं दर्शयता [2]भवत इति कृतम् । भवतः=प्रबन्धेन [3]प्रवर्तमानस्य [4]शीतस्पर्शसन्तानस्याभावोऽन्यस्योष्णसंतानस्य भावे सतीति ।

ये त्वाहुः—न विरोधो वास्तव इति । त इदं वक्तव्याः—यथा न निष्पन्ने कार्ये कश्चिज्जन्यजनकभावो नाम [5]द्विष्ठोऽस्ति । कारणपूर्विका तु कार्यप्रवृत्तिः[6] । अतो वास्तव एव । तद्वत् न निवृत्ते वस्तुनि कश्चित् [7]द्विष्ठो नाम विरोधोऽस्ति । दहननिमित्तं तु शीतस्पर्शस्य [8]क्षणान्तरजननासामर्थ्यम् । अतो[9] विरोधोऽपि वास्तव एव ।

यां दिशम् आक्रामति—प्रकाश जिस दिशा में जाता है उसी दिशा के अन्धकार को दूर करता है । दीप-शिखा के नीचे का अन्धकार दूर नहीं होता, क्योंकि उस ओर प्रकाश नहीं जाता ।

कारणासामर्थ्येति—कारण के असामर्थ्य के निमित्त से होने वाला विरोध सन्तान में ही होता है—यह दिखलाने के लिये 'भवतः' (=होने वाले का) शब्द का प्रयोग किया गया है । (अर्थ यह है कि) अन्य अर्थात् उष्ण-स्पर्श-सन्तान के होने पर निरन्तर प्रवाहित होने वाले (=भवतः) शीत-स्पर्श-सन्तान का अभाव होता है (यही विरोध है) ।

कारण सामर्थ्य०—(i) दो पदार्थों का विरोध जन्य-जनक भाव के आधार पर होता है तथा (ii) दो क्षणों का नहीं अपि तु दो क्षण-सन्तानों का विरोध होता है—ये दोनों तथ्य सूत्र ७३ में 'भवतः' शब्द के ग्रहण से जाने जाते हैं । कारणस्य=शीतस्पर्शादेः यद् असामर्थ्यं=सजातीयक्षणनिर्माणेऽशक्तत्वम्, तत्र यद् हेतुत्वं निवर्तकस्य तदुक्तम् । उष्ण-स्पर्श अपने विरोधी शीत-स्पर्श को असमर्थ करके उसकी निवृत्ति करता है, यह अभी ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है ।

ये त्वाहुर् इति—जो कहते हैं कि विरोध वास्तविक नहीं, उनसे यह कहना चाहिये—जिस प्रकार कार्य के सिद्ध (=निष्पन्न) हो जाने पर दोनों (कारण और कार्य) में स्थित (द्विष्ठ) कोई कार्यकारणभाव सम्बन्ध नहीं होता । किन्तु पहले कारण की सत्ता होने पर ही कार्य की प्रवृत्ति होती है, इसलिये (कारण कार्य-भाव) वास्तविक ही है । इसी प्रकार किसी वस्तु की निवृत्ति हो जाने पर दोनों (निवर्त्य-निवर्तक) में स्थित कोई विरोध दिखलाई नहीं देता । किन्तु ताप के निमित्त से शीतस्पर्श में अन्य सजातीय क्षण को उत्पन्न कर सकने का सामर्थ्य नहीं रहता, इसलिये विरोध भी वास्तविक ही है ।

---

१. हेतुक्तं A.E.H.N.P.
२. भवतेति H.P.
३. ०न्धेन वर्त० A B D E.H.N.P.
४. 'शीतस्पर्श'—नास्ति C.
५. दृष्टोऽस्ति A.B.E.H.NP.
६. कार्यवृत्तिः T.
७. कश्चिद् इष्टो A.B.H.N.P, कश्चिद् दृष्टो E.
८. क्षणान्तरासाम० A.B.E.H.N.P.
९. ततो C.

उदाहरणम् आह—'शीतश्चोष्णश्च[1] तावेव स्पर्शौ तयोरिव । शीतोष्णस्पर्शयोर्हि पूर्ववद् विरोधो योजनीयः ॥७३,७४॥

द्वितीयम् अपि विरोधं दर्शयितुम् आह—

परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया वा[2] [3]भावाभाववत् ॥७५॥

उदाहरण दिया है–शीत और उष्ण=शीतोष्ण, वे दोनों ही स्पर्श हैं, उन दोनों के समान। शीत और उष्ण स्पर्श का पहले (अन्धकार और प्रकाश) के समान विरोध समझना चाहिये ॥७३॥ ७४॥

कारणपूर्विका—कारणत्वेनाभिमतपदार्थसत्तापूर्विका (धर्मो० प्र०, पृ० २०३)। पहले कारण की सत्ता होने पर ही कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है।

कार्यवृत्तिः—कार्य की सत्ता, वृत्तिः=प्रवृत्तिः=भावः (धर्मो०, प्र०, पृ० २०३)।

ये त्वाहुः······वास्तव एव—यहाँ शान्तभद्र आदि के मत को उद्धृत करके उस का निराकरण किया गया है। शान्तभद्र आदि का कथन था कि विरोध काल्पनिक होता है, वस्तुगत् नहीं. इसीलिये धर्मकीर्ति ने 'विरोधगतिः' शब्द का प्रयोग किया है, विरोध शब्द का नहीं ["ये पुनः शान्तभद्रादयः—न तावद् आलोकादेर् उत्पन्नेनान्धकारादिना विरोधः, तस्यातीतत्वेनासत्त्वात्। न चोत्पित्सुना सह, तस्याप्यनागततयाऽसत्त्वात्। नापि वर्तमानेन, तस्यापि तज्जन्मतयाऽविरोधित्वात्। तस्मान्न विरोधो नाम द्विष्ठः सम्बन्धोऽस्ति। किन्तु काल्पनिक एव। अत एवाचार्येण विरोधगतिरित्यभिधायि (?) न तु विरोध इति।" धर्मो० प्र०, पृ० २०२]

इस पर धर्मोत्तर कहते हैं—यद्यपि वैशेषिक (वै० सू० ३.१.१०-१२) विरोध को एक प्रकार का सम्बन्ध मानते हैं जो दोनों विरोधियों में रहता है। किन्तु हम विरोध को दोनों विरोधियों में स्थित (द्विष्ठ) कोई सम्बन्ध नहीं मानते तथा न हमें कार्य-कारण-भाव ही दोनों में स्थित कोई सम्बन्ध अभिमत है। कारण के होने पर ही कार्य होता है, यही कार्य-कारण-भाव है, जो वास्तविक है। इसी प्रकार ताप के निमित्त से शीत की निवृत्ति हो जाती है। यहाँ भी निवर्त्य-निवर्तक-भाव नाम का विशेष प्रकार का कार्य-कारण-भाव ही है, जिसे विरोध कहते हैं। इस प्रकार विरोध भी वास्तविक ही है, काल्पनिक नहीं।

द्वितीयम् इति—दूसरे विरोध को भी दिखलाते हुए कहा है—

अथवा 'एक दूसरे के बिना रहना'—इस रूप से (विरोध) होता है; जैसे—भाव (=विधि) और अभाव (निषेध) का विरोध ॥७५॥

---

१. शीतश्चो० D. २. 'वा' नास्ति C.

३. वा भाववत् B.H.P.

परस्परस्य[1] परिहारः परित्यागस्तेन स्थितं लक्षणं रूपं ययोस्तद्भावः परस्परपरिहारस्थितलक्षणता [2]तया । इह यस्मिन् परिच्छिद्यमाने यद् व्यवच्छिद्यते, तत् परिच्छिद्यमानम् अवच्छिद्यमानपरिहारेण स्थितरूपं द्रष्टव्यम् । नीले च परिच्छिद्यमाने ताद्रूप्यप्रच्युतिर् अवच्छिद्यते, तदव्यवच्छेदे नीलापरिच्छेदप्रसङ्गात् । तस्माद् वस्तुनो भावाभावौ परस्परपरिहारेण स्थितरूपौ ।

परस्पर-परिहार का अर्थ है—एक दूसरे का बिल्कुल त्याग। उस प्रकार से व्यवस्थित है स्वरूप जिन दो पदार्थों का । उनका भाव (=परस्परपरिहारस्थितलक्षणता); उससे (तया) । इस संसार में जिस पदार्थ का निश्चय होने पर (परिच्छिद्यमाने) किसी रूप की व्यावृत्ति हो जाती है (व्यवच्छिद्यते) उस निश्चित वस्तु का स्वरूप व्यावृत्त की गई वस्तु के अभाव रूप में व्यवस्थित समझना चाहिये । नील का निश्चय होने पर उसकी नीलरूपता के अभाव (अर्थात् अनीलता) की व्यावृत्ति हो जाती है (वह अनील नहीं है, यह बोध हो जाता है); उस (अनीलता) की व्यावृत्ति न होने पर तो नील का निश्चय ही न हुआ करे । इसलिये वस्तु के भाव और अभाव के स्वरूप एक दूसरे के अभाव में व्यवस्थित होने वाले हैं ।

परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया = भाव (विधि, वस्तु) के न होने पर अभाव होता है और अभाव के न होने पर भाव । एक दूसरे के अभावरूप में ही इन दोनों के स्वरूप की व्यवस्था होती है । अथवा कहिये कि भाव और अभाव दोनों की प्रतीति परस्पर-सापेक्ष है या इनमें से प्रत्येक दूसरे का अभाव मात्र है । इस प्रकार भाव और अभाव इन दोनों का विरोध है । इन शब्दों में विरोध का सिद्धान्त (Law of contradiction) दिखलाया गया है । इस विरोध-सिद्धान्त का योरोपीय तर्कशास्त्र में भी अरस्तू से लेकर आधुनिक काल तक अनुशः प्रतिपादन किया गया है (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १९२ टि० २) ।

परिच्छिद्यमाने = परिच्छेद किये जाने पर, परिच्छेद = ज्ञान, विवेक, निश्चय ।

अवच्छेद = व्यवच्छेद = निषेध = हटाना = व्यावृत्ति ।

इह—इहेति जगति, मल्लवादी (f 97) बु० लॉ० २, पृ० १९३ टि० १ ।

ताद्रूप्य-प्रच्युतिः = तादात्म्य का अभाव = एकरूपता का न होना । तदेव रूपं तद्रूपम्, तद्रूपम् एव ताद्रूप्यं तस्य प्रच्युतिः अभावः·········तुच्छरूपः (धर्मो० प्र०, पृ० २०४) ।

नीले च परिच्छिद्यमाने०—जब हम कहते हैं कि 'यह नील है' तो इसका भाव होता है कि 'यह अनील नहीं है'—इसमें नीलरूपता के अभाव (तादात्म्यप्रच्युति = अनीलता) की व्यावृत्ति हो जाती है । यह कहा जा सकता है कि तादात्म्य का सिद्धान्त विरोध के सिद्धान्त का प्रतिरूप ही है (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १९३ टि० २) ।

---

१. परस्परं A.B.P., परस्परपरिहारः E H. २. 'तया'—नास्ति C.

नीलात्तु यद् अन्यद् रूपं तन्नीलाभावाव्यभिचारि । नीलस्य दृश्यस्य पीतादावुपलभ्यमानेऽनुपलम्भाद् अभावनिश्चयात् । यथा च नीलं[1] स्वाभावं परिहरति तद्वद् अभावाव्यभिचारि पीतादिकम् अपीति[2]। तथा च भावाभावयोः साक्षाद् विरोधः[3], वस्तुनोस्त्वन्योन्याभावाव्यभिचारित्वाद् विरोधः।

कस्य चान्यत्राभावावसायः ? यो नियताकारोऽर्थः,[5] तस्य[4]। न त्वनियताकारः[5] क्षणिकत्वादिवत्। क्षणिकत्वं हि सर्वेषां नीलादीनां स्वरूपात्मकम्।

भावाभावौ—भाव = विधि, वस्तु (reality, affirmation, existence) तथा अभाव = तुच्छ, अवस्तु (unreality, negation, non-existence)।

नीलात्तु यदिति—नील से जो अन्य रूप (पीत आदि) है, वह नीलाभाव (अनील) के साथ नियमतः रहता है (उसका अविनाभावी है)। जब हमें पीत आदि (कोई रूप) दिखलाई देता है तो प्रत्यक्ष-योग्य (= दृश्य) नील की अनुपलब्धि होती है तथा उस (नील के अभाव का निश्चय हो जाता है। क्योंकि जिस प्रकार नील अपने अभाव (स्व + अभाव) का परित्याग करता है, उसी प्रकार (नील के) अभाव के साथ नियमपूर्वक रहने वाले 'पीत' इत्यादि का भी। इस प्रकार भाव तथा अभाव (नील और अनील) का साक्षात् विरोध है; किन्तु दो वस्तुओं (नील तथा पीत आदि) का इसलिये विरोध है कि वे दोनों एक दूसरे के अभाव के साथ नियमपूर्वक रहती हैं।

नीलात्—दुर्वेक मिश्र (पृ० २४०) ने इस वाक्य की अवतरणिका इस प्रकार दी है—'यदि भावाभावयोर्विरोधः न तर्हि नीलपीतयोः स स्याद्, इत्याह'—अर्थात् यदि भाव (नील) और अभाव (नीलाभाव) का विरोध है तो नील और पीत का विरोध न होगा; क्योंकि ये दोनों ही भावरूप हैं।

नीलाभाव + अव्यभिचारि—नीलाभाव के साथ नियमपूर्वक रहने वाला, नीलाभाव का अविनाभावी; अर्थात् जिसका नीलाभाव में अन्तर्भाव हो जाता है।

यथा च—यहां च = क्योंकि (चो यस्मादर्थे, धर्मो० प्र०, पृ २०४)।

तथा च०—आशय यह है कि नील तथा नीलाभाव का साक्षात् विरोध होता है। किन्तु नील का पीत आदि के साथ परम्परया विरोध होता है। जहाँ जहाँ पीत आदि हैं, वहाँ नीलाभाव होता है; अतः पीत इत्यादि नीलाभाव के अविनाभावी (अव्यभिचारी) हैं। इसी हेतु पीत आदि का नील से विरोध है।

वस्तुनोः—दो वस्तुओं नील तथा पीत आदि का। इस प्रकार वस्तु का अवस्तु के साथ तथा एक वस्तु का दूसरी के साथ परस्परपरिहार-विरोध होता है।

कस्येति—अन्य वस्तु में किसके अभाव का निश्चय किया जाता है ? जो अर्थ प्रतिनियत वस्तु का स्वरूप है (अथवा जिस पदार्थ का स्वरूप नियत या सीमित है, सर्वात्मक नहीं) उसका। क्षणिकत्व आदि के समान जिसका आकार अनियत है (अथवा

---

१. नीलमभावं A.B.C.H.P.
२. 'इति' नास्ति A.B.E.H.N.P.
३. विरोधो A., विरोधः कः कस्य B.
४. 'तस्य' नास्ति E.
५. ०कारोऽर्थः A.B.E.H.N.P.

अतो न नियताकारम् । [1]यतः क्षणिकत्वपरिहारेण न किञ्चिद् दृश्यते ।

यद्येवम् अभावोऽपि न नियताकारः । [2]कथम् अनियताकारो नाम ? यावता वस्तुरूप विविक्ताकारः कल्पितोऽभावः । ततो दृष्टं कल्पितं वा नियतं रूपम् अन्यत्रासद् [3]इत्यवसीयते, नानियतम् । एवं [4]नित्यत्वपिशाचादिरपि नियताकारः कल्पितो द्रष्टव्यः ।

जो समस्त वस्तुओं का स्वरूप है), उसका नहीं । वस्तुतः क्षणिकत्व सब नील (क्षण) आदि का स्वरूप है, अतः वह नियत का आकार नहीं (अथवा उसका आकार नियत नहीं); क्योंकि क्षणिकत्व से रहित कुछ भी दिखलाई नहीं देता ।

नियताकारोऽर्थः—'नियतस्य प्रतिनियतस्य वस्तुनः आकारः स्वरूपम्' (धर्मो० प्र०, पृ० २०४-२०५); नियत या निश्चित वस्तु का स्वरूप (षष्ठी तत्पुरुष) । क्षणिकत्व आदि किसी नियत वस्तु का स्वरूप नहीं, अपि तु समस्त नील आदि वस्तुओं का स्वरूप है; अतः वह अनियताकार है । अथवा 'नियतः आकारः स्वभावो यस्य स नियताकारः'—जिसका स्वभाव नियत है (बहुव्रीहि समास) । इस विग्रह में 'नियताकार' शब्द का अर्थ है—सर्वनीलाद्यनात्मकत्व = समस्त नील आदि के रूप में न होना । इसका अभाव है—अनियताकारता, जो क्षणिकत्व में है । यद्यपि ऊपर (न्यायबिन्दु टीका १·२०) आकार, आभास आदि को पर्याय बतलाया गया है, तथापि यहाँ 'नियताकार' शब्द का अर्थ 'नियतप्रतिभास' नहीं है । नियतप्रतिभास तो केवल परमार्थसत् वस्तु (स्वलक्षण) होती है । किन्तु यहाँ अभाव, नित्यत्व और पिशाच आदि को भी नियताकार बतलाया जा रहा है ।

यद्येवम् इति—(शङ्का) यदि ऐसा है तो अभाव भी प्रतिनियत (वस्तु) का आकार नहीं है । (समाधान) यह अनियत आकार वाला कैसे है ? जबकि वस्तु के रूप से भिन्न (=विविक्त) आकार वाला अभाव कल्पित किया गया है ; इसलिये प्रमाण से जाना गया (दृष्ट) या कल्पित किया गया नियत रूप ही अन्य स्थल में अभाव रूप से निश्चित किया जाता है, अनियत रूप नहीं । इसी प्रकार नित्यता तथा पिशाच आदि भी नियत आकार में कल्पित किया जाता है—यह समझना चाहिये ।

यद्येवम्—शङ्का का आशय यह है—यदि नियताकार वस्तु की जा व्यावृत्ति की जाती है तो नील आदि के द्वारा 'नीलाभाव' की व्यावृत्ति न की सकेगी; क्योंकि नीलाभाव (=अभाव) तो नियताकार नहीं है ।

कथम्—यह सिद्धान्ती द्वारा समाधान किया गया है । तथ्य यह है कि यहाँ अभाव को भी नियताकार माना गया है; क्योंकि उसका स्वरूप दृश्य नील आदि की अनुपलब्धि के रूप में नियत ही है ।

---

१. न्तः D.E.
२. कथं न निय० A.B..H.N.P.
३. 'इति' नास्ति A.B.D.E.H.N.P.
४. नित्यत्वे पिशा० A.H.P.

'एकात्मकत्वविरोधश्चायम् । ययोर्हि 'परस्परपरिहारेणावस्थानं तयोरेकत्वाभावः। अत एव लाक्षणिकोऽयं विरोध उच्यते । लक्षणं रूपं वस्तूनां प्रयोजनम् अस्येति कृत्वा । विरोधेन ह्यनेन वस्तु तत्त्वं विभक्तं व्यवस्थाप्यते ।

कल्पितोऽभावः—अभाव नाम की कोई प्रमाण-सिद्ध परमार्थसत् वस्तु नहीं है, अपि तु विकल्प बुद्धि द्वारा आरोपित (कल्पित) वस्तु है । उसका आकार है—किसी वस्तु के स्वरूप का न होना; 'वस्तुरूप-विविक्तः = दृश्यनीलादिस्वभावरहित आकारो यस्येति'—धर्मो० प्र०, पृ० २०५ ।

नित्यत्वं० = सर्वदा रहना (नित्यत्वं सर्वकालावस्थायित्वलक्षणम्; धर्मो०, प्र०, पृ० २०५)। यह भी कल्पित नियताकार ही है; क्योंकि यह समस्त नील आदि में नहीं रहता । यह भी उल्लेखनीय है कि अक्षणिकत्व ही नित्यत्व नहीं है; क्योंकि जो वस्तु की स्थिरता मानते हैं, उनके मतानुसार भी अक्षणिक (स्थिर) जो घट आदि हैं वे सभी नित्य नहीं होते; अपि तु उनमें से आकाश आदि कुछ ही नित्य होते हैं ।

पिशाचादि०—पिशाचत्व भी कल्पित नियताकार है, क्योंकि सभी नील आदि पिशाच नहीं होते अपि तु एक निश्चित आकार वाला पदार्थ ही पिशाच कल्पित किया गया है ।

एकात्मकत्वेति यह (परस्परपरिहार) दो वस्तुओं की एकात्मता का विरोध है । क्योंकि जिन दो वस्तुओं की एक दूसरे के विना ही स्थिति होती है; उनमें एकात्मता नहीं होती; इसलिये यह विरोध लाक्षणिक कहा जाता है । लक्षण अर्थात् वस्तुओं का स्वरूप है प्रयोजन जिसका यह (व्युत्पत्ति) करके (लाक्षणिक कहलाता है) । इस विरोध के द्वारा अन्य से व्यावृत्त (विभक्तम् = भिन्न) वस्तु के स्वरूप की स्थापना की जाती है ।

वस्तूनाम्—यहाँ 'वस्तु' शब्द वस्तु तथा अवस्तु दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है (बु० लॉ० २, पृ० १६६ टि० ५) । भाव यह है कि यहाँ वस्तु शब्द केवल परमार्थसत् वस्तु के लिये ही नहीं है, अपि तु लोक-प्रसिद्ध वस्तु (पदार्थ, thing) के लिये है ।

इतिकृत्वा—एवं व्युत्पाद्य (धर्मो० प्र०, पृ० २०६)—इस प्रकार की व्युत्पत्ति करके ।

वस्तुतत्त्वं विभक्तं व्यवस्थाप्यते—परस्परपरिहारलक्षण विरोध के द्वारा वस्तु का अन्यतो व्यावृत्त रूप व्यवस्थित किया जाता है । जब हम यह कहते हैं कि यह अनील नहीं है तो अन्य पीत आदि से व्यावृत्त नील वस्तु का स्वरूप व्यवस्थित हो जाता है । यह कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक आदि के अनुसार तो 'नीलत्व' आदि सामान्य के द्वारा नील वस्तु की अन्य वस्तुओं से व्यावृत्ति (भेद) जानी जाती है । किन्तु

---

१. एकात्मत्व T. २. परस्परेणाव० B.

अत एव दृश्यमाने रूपे यन् निषिध्यते तद् दृश्यमेवाभ्युपगम्य निषिध्यते। तथा हि–अभावोऽपि पिशाचोऽपि यदा पीते निषेद्धुम् इष्यते तदा दृश्यात्मतया निषेध्य इति दृश्यत्वम् अभ्युपगम्य दृश्यानुपलब्धेरेव निषेधः।

तथा च सति रूपे परिच्छिद्यमान एकस्मिंस्तदभावो दृश्यो व्यवच्छिद्यते। यच्च तदभाववत् नियताकारं रूपं तदपि दृश्यं व्यवच्छिद्यते। ततः स्वप्रच्युतिवत् प्रच्युतिमन्तोऽपि व्यवच्छिन्ना इति ये परस्परपरिहारस्थितरूपाः सर्वे तेऽनेन निषिद्धैकत्वा इति।

बौद्ध-न्याय में 'नीलत्व' नामक कोई वास्तविक सामान्य है नहीं, इसलिये अनील की व्यावृत्ति (=अपोह) के द्वारा ही नील वस्तु का अन्य वस्तुओं से पृथक् स्वरूप निश्चित होता है।

अत एवेति—इसीलिये दृश्यमान पदार्थ के रूप में जिसका निषेध किया जाता है उसे दृश्य मानकर ही निषेध किया जाता है। जैसे कि जब पीत में अभाव (पीताभाव) या पिशाच का निषेध करना इष्ट है तब उसे (पीताभाव आदि को) दृश्यरूप मानकर ही निषेध करना होगा। इस प्रकार (निषेध्य की) दृश्यता कल्पित करके दृश्यानुपलब्धि से ही निषेध किया जाता है।

अत एव—विरोध के द्वारा अन्य से व्यावृत्त वस्तु के स्वरूप की व्यवस्था होने के कारण (विभक्तत्वव्यवस्थापनाद् एव, मल्लवादी F 98, (वु० लॉ० २, पृ० १९९ टि० ६)।

अभावोऽपि—जब पीत में नील आदि भाव का निषेध करते हैं तब तो दृश्यानुपलब्धि से निषेध होता ही है (यह पीत नील नहीं है, यदि नील होता तो दिखलाई देता) किन्तु जब पीत में अभाव (यह पीत का अभाव नहीं है) का निषेध करते हैं तब भी दृश्यता का आरोप करके ही निषेध किया जाता है जैसे—यदि पीत अभावरूप होता तो अभावरूप में दृश्य होता (न केवलं भाव इत्यपि शब्दः, धर्मो० प्र०; पृ० २०६)।

तथा चेति—जब ऐसा है (एकात्मता—निषेध में सबकी दृश्यता का आरोप करना होता है) तो किसी एक रूप का निश्चित ज्ञान होने पर उसके अभाव को दृश्य मानकर उसकी व्यावृत्ति की जाती है और जो नियत आकार वाला पदार्थ उसके अभाव के अन्तर्गत या उसका अविनाभावी (तदभाववत्) है, उसका भी दृश्य मानकर निषेध किया जाता है। इस प्रकार (वस्तु के) अपने अभाव (=प्रच्युति) के समान उस अभाव से युक्त (उसके साथ नियमपूर्वक रहने वाले या उसके अविनाभावी) पदार्थ भी व्यावृत्त हो जाते हैं। अतः जिन पदार्थों का स्वभाव एक दूसरे के बिना रहने का है उन सबके एकत्व (तादात्म्य) का निषेध इस (विरोध) के द्वारा किया जाता है।

तथा च सति—एकात्म्यनिषेधे सर्वस्य दृश्यात्मतया निषेधप्रकारे सति (धर्मो०, प्र०, पृ० २०७)।

सत्यपि चास्मिन् विरोधे सहावस्थानं स्याद् अपि। ततो भिन्नव्यापारौ विरोधौ। एकेन विरोधेन शीतोष्णस्पर्शयोर् एकत्वं वार्यते। अन्येन सहावस्थानम्। [1]भिन्नविषयौ च। सकले वस्तुन्यवस्तुनि च परस्परपरिहार-विरोधः। वस्तुन्येव कतिपये [2]सहानवस्थान-विरोधः। तस्माद् भिन्नव्यापारौ भिन्नविषयौ च। ततो नानयोरन्योन्यान्तर्भाव इति ॥७५॥

तदभाववत्—(तदभाव + मतुप्) तदभावो विद्यतेऽस्येति, धर्मो० प्र०, पृ० २०७, उसके अभाव में नियत, उसके अभाव के अविनाभावी या अन्तर्गत; जैसे नीलाभाव के अन्तर्गत पीत आदि हैं।

सत्यपीति—इस (परस्परपरिहारलक्षण) विरोध के होने पर भी (दो पदार्थों की) साथ-साथ स्थिति हो सकती है (अर्थात् सहावस्थानविरोध नहीं होता)। इसीलिये दोनों विरोधों का पृथक्-पृथक् कार्य है। एक (परस्परपरिहार) विरोध के द्वारा शीत और उष्ण स्पर्श की एकता (एकात्मता) का निवारण किया जाता है, दूसरे (सहानवस्थान) के द्वारा दो पदार्थों की एकत्र स्थिति का। इन दोनों के (प्रवृत्ति के) विषय भी भिन्न-भिन्न हैं। सभी वास्तविक या अवास्तविक (कल्पित) पदार्थों में परस्पर-परिहार नामक विरोध होता है, किन्तु कुछ वस्तुसत् पदार्थों में ही सहानवस्थान नामक विरोध होता है। इस प्रकार दोनों भिन्न-भिन्न व्यापार वाले तथा भिन्न-भिन्न विषय वाले हैं। अतः इन दोनों का एक दूसरे में अन्तर्भाव नहीं होता ॥७५॥

सहावस्थानं स्यादपि—परस्परपरिहारलक्षण विरोध होने पर भी दो पदार्थों की एकत्र स्थिति होना सम्भव है; जैसे वृक्षत्व और शिंशपात्व में एकात्मता (एकत्व) नहीं है, ये दोनों परस्परव्यावृत्त धर्म हैं तथापि दोनों एकत्र (एक ही शिंशपा नामक वृक्ष में) साथ साथ विद्यमान हैं।

नानयोरन्योन्यान्तर्भावः—इस प्रकार बौद्ध-न्याय में विरोध सम्बन्धी सिद्धान्तों की स्थापना की गई है—(१) परस्परपरिहाररूप विरोध—यह दो पदार्थों की एकात्मता (तादात्म्य) का निवारण करता है। इसके दो पहलू हैं—(क) प्रत्येक वस्तु या भाव अपने अभाव की व्यावृत्ति करता है। 'यह नील है' इसका अर्थ है कि यह अनील नहीं है—अनील की व्यावृत्ति। (ख) प्रत्येक वस्तु या भाव अन्य वस्तु या भाव से व्यावृत्त होता है। 'नील' वस्तु अन्य सभी पीत आदि से व्यावृत्त है। इस प्रकार वह सर्वतो व्यावृत्त है। इनमें से प्रथम (क) में (नील) वस्तु का अवस्तु (नीलाभाव) से विरोध है द्वितीय (ख) में नील वस्तु का पीत आदि वस्तु से विरोध है।

(२) सहानवस्थानरूप विरोध—इसके अनुसार जो वस्तुएँ एकत्र नहीं रह सकतीं, वे परस्पर विरुद्ध होती हैं जैसे शीत और उष्ण। कहीं कहीं परस्परपरिहाररूप विरोध होता है फिर भी सहानवस्थान नामक विरोध नहीं होता। अतः दोनों का कार्य तथा विषय भिन्न २ है।

---

१. भिन्नप्रवृत्तिविषयौ A.H.N..P २. सहावस्थान B.C.

स च द्विविधोऽपि विरोधो वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्न सम्भवति ॥७६॥

स चायं द्विविधोऽपि विरोधो वक्तृत्वं च सर्वज्ञत्वं च तयोर्न सम्भवति। न ह्यविकलकारणस्य सर्वज्ञत्वस्य वक्तृत्वभावाद् अभावगतिः[1]। सर्वज्ञत्वं ह्यदृश्यम्। अदृष्टस्य चाभावो नावसीयते। ततो नानेन विरोधगतिर्भवति।

संक्षेप में दोनों विरोधों का निम्न प्रकार से अन्तर है, अतः उनका एक दूसरे में अन्तर्भाव नहीं हो सकता—

	परस्परपरिहार-विरोध	सहानवस्थान-विरोध
व्यापार—	एकात्मकता का निषेध, सहावस्थान का नहीं।	सहावस्थान का निषेध
विषय—	(i)—साक्षात् विरोध, वस्तु का अवस्तु से, जैसे—नील का नीलाभाव के साथ (ii)—परम्परया विरोध—वस्तु का वस्तु से, जैसे—नील का पीत आदि के साथ।	किसी विशेष वस्तु का वस्तु से विरोध, जैसे—शीत का उष्ण से

१८. वक्तृत्व और सर्वज्ञता में विरोध नहीं

वह दोनों प्रकार का विरोध वक्तृत्व और सर्वज्ञता में सम्भव नहीं है ॥७५॥

फिर वह दोनों प्रकार का भी विरोध वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व—उन दोनों में नहीं हो सकता। जिस सर्वज्ञता (की उत्पत्ति) के समग्र कारण (उपस्थित) हैं, उसका वक्तृत्व के होने से अभाव नहीं जाना जाता। सर्वज्ञता अदृश्य (अतीन्द्रिय) है और अदृश्य वस्तु के अभाव का निश्चय नहीं किया जाया करता; इसलिये इससे (अनेन) विरोध (सहानवस्थान) का ज्ञान (गति) नहीं होता।

स चायम्—च=पुनः, फिर; स चेति चः पुनरर्थे; मल्लवादी f. 99 (बु० लॉ० २, पृ० १६८ टि० १)।

अदृष्टस्य—अदृश्यस्य (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० २०८)।

चाभावो—च=यस्मात्, क्योंकि (धर्मो० प्र०, पृ० २०८)।

अनेन—अनेनेति सर्वज्ञत्वेन (मल्लवादी); वक्तृत्वेन (धर्मो० प्र०, पृ० २०८)। वस्तुतः वाक्य का अर्थ यह प्रतीत होता है कि इस वक्तृदर्शन के द्वारा (अनेन) सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व का विरोध नहीं जाना जाता।

विरोधगतिः=सहानवस्थान विरोध का ज्ञान। यहाँ प्रथम विरोध के लिये ही विरोध शब्द का प्रयोग किया गया है। द्वितीय विरोध भी वक्तृत्व और सर्वज्ञता में नहीं हो सकता, यह 'न च' इत्यादि से दिखलाया जा रहा है।

---

१. गतिरिति D.

न च वक्तृत्वपरिहारेण सर्वज्ञत्वम् अवस्थितम् । काष्ठादयो हि[1] वक्तृत्वपरिहृताः, तेषाम् अपि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । नापि सर्वज्ञत्वपरिहारेण वक्तृत्वम् काष्ठादीनाम् अपि वक्तृत्वप्रसङ्गात् । तत एवाविरोधाद् वक्तृत्वविधेर्न[2] सर्वज्ञत्वनिषेधः ॥७६॥

स्याद् एतत्—यदि नास्त्येव विरोधो घटपटयोरिव स्यादपि तयोः सहावस्थितिदर्शनम्[3] । सहावस्थित्यदर्शनात् तु विरोधगतिः । 'विरोधाच्चाभावगतिः, इत्याशङ्क्याह—

न [4]चाविरुद्धविधेर् अनुपलब्धावप्यभाषगतिः ॥७७॥

न चाविरुद्धविधेरिति । अनुपलब्धावपि नायं विरुद्धविधिः । यद्यपि [6]सहावस्थानानुपलम्भस् तथापि न तयोर्विरोधः । यस्मान् न सहानुपलम्भमात्राद्

न चेति—(परस्परपरिहारलक्षण विरोध भी नहीं है) वक्तृत्व के बिना ही सर्वज्ञता रहती हो—यह बात नहीं; क्योंकि काष्ठ आदि भी वक्तृत्व से रहित हैं, तब तो वे भी सर्वज्ञ होने लगेंगे । (दूसरी ओर) यह भी नहीं है कि वक्तृत्व सर्वज्ञता के बिना ही रहता हो; क्योंकि इस प्रकार काष्ठ आदि भी वक्ता होने लगेंगे । इसलिये (सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व में) विरोध न होने के कारण वक्तृत्व के होने से सर्वज्ञता का निषेध नहीं होता ॥७६॥

वक्तृत्वविधः—वक्तृत्व की सत्ता से । पाठान्तर में—वक्तृत्वविधाने + न—यह पदच्छेद है (=वक्तृत्व की सत्ता होने पर) । इस प्रकार दोनों पाठों में समान ही अर्थ है ।

स्याद् एतद् इति—अच्छा, यदि (सर्वज्ञता और वक्तृता में) विरोध नहीं है तो उन दोनों की घट और पट के समान एक साथ स्थिति भी होनी चाहिये । किन्तु दोनों का सहावस्थान नहीं देखा जाता, इससे विरोध जाना जाता है और विरोध से (सर्वज्ञता का) अभाव जान लिया जाता है । यह आशङ्का करके कहते हैं—

(किसी वस्तु की) उपलब्धि न होने पर भी उसकी अविरोधी वस्तु की सत्ता से (=अविरुद्धविधेः) उसके अभाव का निश्चय (गतिः) नहीं होता ॥७७॥

न चेत्यादि । (सर्वज्ञता की वक्ता में) उपलब्धि न होने पर भी यह (वक्तृता का दर्शन) विरुद्ध वस्तु की उपस्थिति नहीं है । यद्यपि इन दोनों (सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व) की साथ-साथ स्थिति नहीं देखी जाती तथापि इनका विरोध नहीं है । क्योंकि केवल साथ-साथ उपलब्धि न होने से विरोध नहीं जाना जाता, अपि तु दो उपलब्ध होने वाली (दृश्य) वस्तुओं के निवर्त्य-निवर्तक-भाव का निश्चय होने से (उनका विरोध

---

१. ०दयोऽपि A.B.E.H.N.P., ०दयोऽपि हि C.
२. विधाने न A.B.E.H N,P.
३. ०र्शनम् । अदर्शनात् तु A.B.D.E.H.N.P.
४. 'च' नास्ति B.D.
५. न च विरु० C.
६. यद्यपि च A.B.E H.N.P.

विरोधोऽपि तु द्वयोरुपलभ्यमानयोर् [1]निवर्त्यनिवर्तकभावावसायात् । तस्माद् अनुपलब्धावपि न [2]वक्तृत्वविधेर्विरुद्धविधिः । अतोऽस्मात् नान्यस्याभावगतिः ॥७७॥

तथा न वक्तृत्वाद् रागादिमत्त्वगतिः । यतो यदि वचनादि रागादीनां कार्यं स्याद् वचनादे रागादिगतिः स्यात् । रागादिनिवृत्तौ [3]वचनादिनिवृत्तिः स्यात् । न च कार्यम् । कुतः—

रागादीनां वचनादेश्च कार्यकारणभावासिद्धेः ॥७८॥

रागादीनां वचनादेश्च कार्यकारणभावस्यासिद्धेः कारणात् न कार्यम् । अतोऽस्मात् न गतिः ॥७८॥

जाना जाता है) । इसलिये (वक्ता में सर्वज्ञता की) उपलब्धि न होने पर भी वक्तृता के होने से किसी विरुद्ध पदार्थ का विधान नहीं होता (सत्ता सिद्ध नहीं होती) । इस प्रकार वक्तृत्व के होने से अन्य (सर्वज्ञता) के अभाव का निश्चय नहीं होता ॥७७॥

स्यादेतत्—आशय यह है कि यदि सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व में सहानवस्थान विरोध नहीं है तो जैसे घट और पट एकत्र उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व की भी एकत्र उपलब्धि होनी चाहिये । श्चेरबात्स्की (बु० लॉ० २, पृ० १९९ टि० १) ने जो यहाँ धर्मोत्तर की आलोचना की है। वह विचारणीय है ।

विरोधः=सहानवस्थानलक्षणः (धर्मो० प्र०, पृ० २०९) ।

अयम्=अयमिति वक्तृत्वविधिः, मल्लवादी f 100 (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १९९ टि० ३) ।

विधि=वस्तु, सत्ता, उपस्थिति (मि०, बु० लॉ० २, पृ० १९९ टि० २) ।

अस्माद्=वक्तृत्वाद्, अन्यस्य=सर्वज्ञत्वस्य (धर्मो० प्र०, पृ० २०९) ।

तथा नेति—उसी प्रकार वक्ता होने से रागादिमत्ता का निश्चय नहीं होता । कारण यह है कि यदि वचन आदि राग आदि का कार्य होता तो वचन आदि (वक्तृत्व) से राग आदि का निश्चय हो जाता और राग आदि की निवृत्ति हो जाने पर वचन आदि की निवृत्ति हो जाती । किन्तु (वचन आदि राग आदि का) कार्य नहीं है । क्यों ?

क्योंकि राग आदि और वचन आदि का कार्यकारणभाव ही असिद्ध है ॥७८॥

राग आदि और वचन आदि का कारण-कार्य-भाव सिद्ध न होने से (राग आदि) कारण से (वक्तृत्व आदि) कार्य नहीं होता । इसलिये इस (वक्तृत्व) से (रागादिमत्ता का) निश्चय नहीं होता ॥७८॥

---

१. निर्वत्य A. २. वक्तृत्वविरोधिविरुद्धविधिः A.B.H.N.P.
३. वचननिवृत्तिः० B.C.D.

मा भूद् रागादिकार्यं वचनं सहचारि तु भवति । ततो रागादौ सहचारिणि निवृत्ते निवर्तते[1] वचनम्; इत्याशङ्क्याह—

अर्थान्तरस्य [2]चाकारणस्य निवृत्तौ न वचनादेर्निवृत्तिः ॥७९॥

अर्थान्तरस्य [3]चाकारणस्य निवृत्तौ सहचारित्व दर्शनमात्रेण नान्यस्य वचनादेर्निवृत्तिः । अतो वक्तृत्वं भवेद् रागादिविरहश्च ॥७९॥

इति [4]सन्दिग्धव्यतिरेकोऽनैकान्तिको वचनादिः ॥८०॥

इतिशब्दस् तस्मादर्थे । [5]तस्माद् असर्वज्ञत्वविपर्ययाद् विपक्षात् सर्वज्ञत्वाद्, रागादिमत्त्वविपर्ययाद् अरागादिमत्त्वात् सन्दिग्धो व्यतिरेको वचनादेः[6] । अतोऽनैकान्तिको वचनादिः ॥८०॥

(शङ्का) चाहे राग आदि का कार्य वचन न हो, उनका सहचारी तो होता है। इस प्रकार राग आदि सहचारी की निवृत्ति हो जाने पर वचन की भी निवृत्ति हो जाती है—इस प्रकार की शङ्का होने पर कहा है—(समाधान)

(जो उन (वचन आदि) का कारण नहीं है तथा (उनसे) भिन्न पदार्थ है उस (राग आदि) की निवृत्ति होने पर भी वचन आदि की निवृत्ति नहीं होगी ॥७९॥

जो (राग आदि) भिन्न पदार्थ है तथा (वचन आदि का) कारण नहीं है उसकी निवृत्ति होने पर भी केवल सहचारमात्र के दर्शन से अन्य अर्थात् वचन आदि की निवृत्ति नहीं होती। इसलिये वक्तृत्व भी हो सकता है तथा राग आदि का अभाव भी ॥७९॥

अर्थान्तरस्य॰—इस कथन का आशय यह है कि स्वभाव या कारण की निवृत्ति से ही किसी वस्तु की निवृत्ति हो सकती है। राग आदि न तो वचन आदि का स्वभाव है न कारण ही, अतः राग आदि की निवृत्ति से वचन आदि की निवृत्ति न होगी यहाँ अर्थान्तर = जो स्वभाव नहीं है (द्र०, ऊपर २.२३)।

इतीति—

इसलिये वचन आदि अनैकान्तिक हेत्वाभास है; क्योंकि इसका व्यतिरेक अर्थात् विपक्ष (सर्वज्ञ वीतराग) में न होना सन्दिग्ध है ॥८०॥

इति शब्द इसलिये (तस्मात्) के अर्थ में है। इसलिये असर्वज्ञत्व के विपरीत जो विपक्ष अर्थात् सर्वज्ञता है तथा रागादिमत्ता के विपरीत जो (विपक्ष) रागादिरहित (वीतराग) होना है, उनमें वचन आदि का न होना (व्यतिरेक) सन्दिग्ध है। इस प्रकार (व्यतिरेक के सन्दिग्ध होने से) वचन इत्यादि अनैकान्तिक है ॥८०॥

---

१. निवर्तिष्यते C. २. वा कारण॰ A.B.E.H.P., वाऽकारण॰ N.
३. वा कारण॰ A.B.E.H P., वाऽकारण॰ N. ४. सन्दिग्धव्यावृत्ते (त्ति) काऽनै॰ C.
५. तस्माद् असर्वज्ञत्वावीतरागत्वविपर्ययात् विपक्षात् सर्वज्ञत्वा (त्व) वीतरागादिमत्त्वात् सन्दिग्धो B. तस्मात् असर्वज्ञरागादिमत्त्वविपर्ययात् विपक्षात् सर्वज्ञत्वाद् अरागादिमत्त्वाच्च सन्दिग्धो C. ६. वचनादिः C.

एवम् एकैकरूपादिसिद्धिसन्देहे हेतुदोषान् आख्याय द्वयोर्द्वयो रूपयोर् असिद्धिसन्देहे हेतुदोषान् वक्तुकाम[1] आह—

द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ विरुद्धः ॥८१॥

[2]द्वयोरिति । द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ सत्यां विरुद्धः ॥८१॥

त्रीणि च रूपाणि सन्ति । ततो विशेषज्ञापनार्थम्[3] आह—

कयोर्द्वयोः ? सपक्षे सत्त्वस्य, असपक्षे चासत्त्वस्य । [5]यथा कृतकत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं च[4] नित्यत्वे साध्ये विरुद्धो हेत्वाभासः ॥८२-८३॥

अनैकान्तिको वचनादिः—संक्षेप में अनैकान्तिक हेत्वाभास दो प्रकार का कहा गया है—(१) जहाँ हेतु का विपक्ष में न होना असिद्ध होता है, जैसे "शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है'—यहाँ प्रमेयत्व हेतु है, वह विपक्ष (नित्य आकाश आदि) में भी विद्यमान है। (२) जहाँ हेतु के विपक्ष में न होने का सन्देह होता है, जैसे—'बुद्ध सर्वज्ञ नहीं, क्योंकि वह वक्ता है'—यहाँ वक्ता होना हेतु है, जिसका विपक्ष में न होना सन्दिग्ध है।

१९. विरुद्ध हेत्वाभास

एवमिति—इस प्रकार (हेतु के) एक-एक रूप की असिद्धि अथवा सन्देह होने पर जो हेतुदोष होते हैं उन्हें बतलाकर (हेतु के) दो-दो रूपों की असिद्धि या सन्देह होने पर जो हेतुदोष होते हैं उनको बतलाने के इच्छुक (आचार्य धर्मकीर्ति) कहते हैं—

(हेतु के) दो रूपों के विपरीत निश्चय होने पर विरुद्ध (नामक हेत्वाभास) होता है ॥८१॥

द्वयोः इत्यादि । जब (हेतु के) दो रूपों के विपरीत निश्चय हो जाता है तो विरुद्ध हेत्वाभास होता है ।।८१।।

एकैकरूपादिसिद्धिसन्देहे—एकैकरूपासिद्धिसन्देहे—यह पाठ शुद्ध प्रतीत होता है एक+एक+रूप+असिद्धि+सन्देहे—इस प्रकार पदच्छेद होगा। यथाश्रुत पाठ का अर्थ है—एक एक रूप आदि की सिद्धि का सन्देह होने पर। इस अर्थ के द्वारा पूर्वोक्त हेतु दोषों का संग्रह नहीं होता है। तथा "आदि" शब्द भी असङ्गत ही प्रतीत होता है।

त्रीणि चेति—(सद्हेतु के) तीन रूप होते हैं। उनमें से (दो रूपों को) विशेष रूप से दिखलाने के लिये कहा है—

किन दो के ? सपक्ष में होना और असपक्ष (विपक्ष) में न होना—इन दोनों के। जैसे—नित्यत्व को सिद्ध करने के लिये (दिया गया) कृतकत्व (=कार्य होना) अथवा प्रयत्नानन्तरीयकत्व (प्रयत्न के अनन्तर होना) विरुद्ध हेत्वाभास है ॥८२-८३॥

---

१. कामा C. २. 'इति' नास्ति D.
३. ज्ञानार्थं॰ C. ४. च C. ५. चेति C.

कयोर्द्वयोरिति। विशिष्टे रूपे दर्शयति—सपक्षे सत्त्वस्य, असपक्षे चासत्त्वस्य विपर्ययसिद्धाविति[1] सम्बन्धः। कृतकत्वम् इति स्वभावहेतुः। प्रयत्नानन्तरीयकत्वम् इति कार्यहेतुः[2]। [3]प्रयत्नानन्तरीयकशब्देन हि प्रयत्नानन्तरं जन्म ज्ञानं च प्रयत्नानन्तरीयकम् उच्यते। जन्म जायमानस्य स्वभावः। ज्ञानं ज्ञेयस्य कार्यम्। तद् इह प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं गृह्यते। [4]तेन कार्यहेतुः। एतौ हेतू नित्यत्वे साध्ये विरुद्धौ हेत्वाभासौ॥८२-८३॥

कयोः द्वयोः इत्यादि। विशिष्ट दो रूपों को दिखलाते हैं—(हेतु का) सपक्ष में होना तथा असपक्ष में न होना—इन दोनों रूपों के विपरीत सिद्ध हो जाने पर, यह अन्वय है। 'कृतकत्व' (कार्य होना) यह स्वभावहेतु है। 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' (प्रयत्न के अनन्तर होना)—यह कार्यहेतु है। वस्तुतः 'प्रयत्नानन्तरीयक' शब्द से प्रयत्न के अनन्तर होने वाली (वस्तु की) 'उत्पत्ति' और (वस्तु का) 'ज्ञान' दोनों को कहा जाता है। उत्पत्ति तो उत्पन्न होने वाले का स्वभाव है तथा ज्ञान ज्ञेय वस्तु का कार्य है। इस प्रकार यहाँ प्रयत्न के अनन्तर होने वाला 'ज्ञान' लिया जाता है। अतः यह (प्रयत्नानन्तरीयकत्व) कार्यहेतु है। नित्यत्व को सिद्ध करने के लिये (दिये गये) ये दोनों हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जाते हैं।८२—८३॥

तेन कार्यहेतुः—धर्मोत्तर का आशय यह है—ऊपर (३.१३) प्रयत्नानन्तरीयकत्व (=पुरुष व्यापार के अनन्तर उत्पत्ति) को स्वभावहेतु बतलाया गया है। किन्तु 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' दोनों प्रकार का हेतु हो सकता है—स्वभावहेतु और कार्यहेतु भी। जब इसका अर्थ है—'प्रयत्न के अनन्तर उत्पत्ति', तब यह स्वभावहेतु है; क्योंकि उत्पत्ति (जन्म) वस्तु का स्वभाव ही है, उससे भिन्न नहीं। किन्तु जब इसका अर्थ होता है—'प्रयत्न के अनन्तर ज्ञान होना', तब यह कार्यहेतु है; क्योंकि ज्ञान ज्ञेय का कार्य होता है। यहाँ इसका इसी अर्थ में प्रयोग है।

दुर्वेक मिश्र का कथन है कि वस्तुतः यहाँ प्रयत्नानन्तरीयकत्व भी स्वभावहेतु का ही उदाहरण है। आचार्य धर्मकीर्ति ने विरुद्ध हेत्वाभास के दो उदाहरण दिये हैं। ये दोनों स्वभावहेतु के हैं। कार्यहेतु और अनुपलब्धि के उदाहरण यहाँ नहीं दिये गये। विरुद्ध हेत्वाभास के दो पृथक् स्थलों को प्रदर्शित करने के लिये ही यहाँ स्वभावहेतु के दो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं (i) जब कोई वादी कहता है 'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्' (=शब्द नित्य है, क्योंकि वह कार्य है) तो वहाँ 'कृतकत्व' ऐसा हेतु है जो सपक्ष (नित्यों) में नहीं है; किन्तु विपक्ष (अनित्यों) में सर्वत्र विद्यमान (व्यापक) है। (ii) जब कोई कहता है 'शब्दो नित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' (शब्द नित्य है, क्योंकि वह प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है) तो वहाँ 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' ऐसा हेतु है जो सपक्ष (नित्यों) में तो नहीं है; किन्तु विपक्ष (अनित्यों) में कहीं (विद्युत्

---

१. सिद्धिरिति C.
२. कार्यहेतोः H.
३. ०रीयकत्वस्य C.
४. ततः C.D.

कस्मात् पुनरेतौ विरुद्धावित्याह—

अनयोः सपक्षेऽसत्त्वम्, असपक्षे च सत्त्वम् इति विपर्ययसिद्धिः[1] ॥८४॥

अनयोरिति । सपक्षे हि[2] नित्ये कृतकत्व-प्रयत्नानन्तरीयकत्वयोर् असत्त्वम् एव निश्चितम् । अनित्ये विपक्षे एव सत्त्वं निश्चितम् इति विपर्यय-सिद्धिः ॥८४॥

कस्मात् पुनर्विपर्ययसिद्धावप्येतौ विरुद्धावित्याह—

एतौ च साध्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धौ ॥८५॥

एतौ च साध्यस्य नित्यत्वस्य विपर्ययम्—अनित्यत्वं साधयतः । ततः[3] साध्यविपर्यसाधनाद विरुद्धौ ॥८५॥

यदि साध्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धावेतौ, उक्तं च परार्थानुमाने साध्यम्;

आदि में) नहीं है, कहीं (घट आदि में) है । इनमें से प्रथम (i) हेतु सपक्ष में असत् तथा विपक्ष-व्यापी है, द्वितीय (ii) हेतु सपक्ष में असत् तथा विपक्ष-अव्यापी है । धर्मोत्तर ने इस तथ्य की ओर ध्यान न देकर ही इसे कार्यहेतु बतला दिया है (द्र०, धर्मो० प्र०, पृ० २१२) ।

कस्माद इति—ये दोनों विरुद्ध क्यों हैं; यह बतलाते हैं—

इन दोनों की सपक्ष में सत्ता नहीं तथा असपक्ष में सत्ता है । इसलिये (साध्य से) विपरीत की सिद्धि हो जाती है ॥८४॥

अनयोः इत्यादि । यहाँ सपक्ष 'नित्य' (वस्तु) है उसमें 'कृतकत्व' तथा 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' का न होना ही निश्चित है । विपक्ष 'अनित्य' (वस्तु) है उसमें दोनों का होना ही निश्चित है । इस प्रकार (साध्य से) विपरीत की सिद्धि होती है ॥८४॥

कस्माद् इति—(साध्य से) विपरीत की सिद्धि होने पर भी ये दोनों विरुद्ध (हेत्वाभास) कैसे हैं, यह बतलाते हैं—

ये दोनों साध्य के विपरीत (अर्थ को) सिद्ध करने के कारण विरुद्ध (हेत्वाभास) हैं ॥८५॥

ये दोनों साध्य अर्थात् नित्यत्व के विपरीत अनित्यत्व की सिद्धि करते हैं । अतः साध्य के अभाव को सिद्ध करने के कारण ही विरुद्ध (हेत्वाभास) हैं ॥८५॥

साध्यविपर्ययसाधनात्—इस प्रकार धर्मकीर्ति के अनुसार जो हेतु साध्य के विपरीत सिद्ध करता है, वह विरुद्ध हेत्वाभास है । वह दो प्रकार का होता है—(१) सपक्ष में न होकर विपक्ष में सर्वत्र व्यापक हो, (२) सपक्ष में न होकर विपक्ष में कहीं हो कहीं नहीं ।

२०. दिङ्नागोक्त 'इष्टविघातकृत्' का उपर्युक्त दोनों में ही अन्तर्भाव

यदीति—(शङ्का) यदि ये दोनों साध्य के विपरीत सिद्ध करने के कारण

---

१. सिद्धिरिति C.　　२. 'हि' नास्ति A.B.E.H.N.P.

३. 'ततः' नास्ति A.B.H.N.P.

न त्वनुक्तम्; इष्टं च अनुक्तम् । अतोऽन्य इष्टविघातकृद् आभ्याम् इति दर्शयन् आह—

'ननु च तृतीयोऽपीष्टविघातकृद् विरुद्धः ॥८६॥

ननु च तृतीयोऽपि विरुद्ध उक्तः । उक्तविपर्ययसाधनौ द्वौ । तृतीयोऽयम् इष्टस्य शब्देनानुपात्तस्य विघातं[2] करोति विपर्ययसाधनाद् इति इष्टविघातकृत् ॥८६॥

विरुद्ध हेत्वाभास हैं, तब तो परार्थानुमान में (शब्दों द्वारा) उक्त साध्य होता है, अनुक्त नहीं, किन्तु (वादी का) इष्ट अनुक्त होता है, इसलिये इष्टविघातकृत् (अभिमत का विरोध करने वाला) इन दोनों से भिन्न होगा—यह दिखलाते हुए कहते हैं—

क्या ? इष्ट विघातकृत् भी तीसरा विरुद्ध (हेत्वाभास) नहीं है ॥८६॥

(शङ्का) तीसरा भी विरुद्ध हेत्वाभास कहा गया है—(उपर्युक्त) दो तो (वादी द्वारा) उक्त साध्य के विरुद्ध सिद्ध करने वाले हैं। यह जो तीसरा है वह (वादी के) अभिमत किन्तु शब्दों द्वारा अनुक्त साध्य का विरोध करता है। क्योंकि यह (इष्ट साध्य के) विपरीत सिद्ध करता है इसलिये इष्टविघातकृत् (इष्ट का विघात करने वाला) कहलाता है ॥८६॥

यदि०—यह शङ्का सूत्र की उत्थानिका के रूप में उठाई गई है। शङ्का का आशय यह है कि परार्थानुमान में उक्त ही साध्य होता है, अनुक्त नहीं। अतः साध्य के विपरीत सिद्ध करने वाला हेतु विरुद्ध है—यहाँ 'साध्य का तात्पर्य होगा शब्दों द्वारा कथित साध्य। इस प्रकार जहाँ वादी के द्वारा अनुक्त; किन्तु इष्ट (साध्य) का विरोध होता है, वहाँ 'इष्टविघातकृत्' एक अन्य विरुद्ध हेत्वाभास होना चाहिये।

दिङ्नाग ने इष्टविघातकृत् को एक भिन्न प्रकार का विरुद्ध हेत्वाभास माना है। किन्तु अवतरणिका की शङ्का दिङ्नाग के मन्तव्य के अनुकूल नहीं है; क्योंकि दिङ्नाग ने वादी द्वारा अनुक्त किन्तु इष्ट को भी साध्य माना ही है। दिङ्नाग के विभाजन का आधार तो यह है कि साध्य दो प्रकार का है—उक्त तथा अनुक्त उपर्युक्त दोनों हेत्वाभास उक्त साध्य के विषय में होते हैं तथा इष्टविघातकृत् अनुक्त साध्य के विषय में।

वस्तुतः धर्मोत्तर की इस प्रकार की अवतरणिका ने इस प्रसङ्ग को जटिल बना दिया है। न्याय-बिन्दु के अनुशीलन से विदित होता है कि सामान्यतः शङ्का यह है—दिङ्नाग ने 'इष्टविघातकृत्' को विरुद्ध हेत्वाभास का एक पृथक् प्रकार माना है, धर्मकीर्ति ने उसे पृथक् क्यों नहीं दिखलाया ?

---

१. वत्र B.H.P. २. विधानं A.B.H.P.

तम् उदाहरति—

यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच् छयनासनाद्यङ्गवद् इति ॥८७॥

यथेति । चक्षुरादय इति धर्मी । परोऽर्थः प्रयोजनं[1] संस्कार्य उपकर्तव्यो येषां ते परार्थाः—इति साध्यम् । संघातत्वात् सञ्चितरूपत्वाद् इति हेतुः । चक्षुरादयो हि परमाणुसञ्चितिरूपाः[2] । ततः संघातरूपा उच्यन्ते । शयनम् आसनं चादिर्यस्य तच्छयनासनादि । तदेवाङ्गं पुरुषोपभोगाङ्गत्वात् । अयं व्याप्तिप्रदर्शनविषयो दृष्टान्तः । अत्र हि पारार्थ्येन संहतत्वं[3] व्याप्तम् । यतः [4]शयनासनादयः संघातरूपाः पुरुषस्य भोगिनो भवन्त्युपकारका इति परार्था उच्यन्ते ॥८७॥

तम् इति । उसका उदाहरण देते हैं—

जैसे—चक्षु इत्यादि (इन्द्रियाँ) किसी अन्य के लिये हैं; क्योंकि ये संघातरूप हैं, शयन तथा आसन आदि साधनों के समान ॥८७॥

यथा इत्यादि । चक्षु इत्यादि (इन्द्रियाँ) यह धर्मी (पक्ष) है । अन्य है अर्थ=प्रयोजन=संस्कार करने योग्य अथवा उपकार करने योग्य—जिनके ऐसे वे परार्थ हैं—यह साध्य है । संघात होने से अर्थात् सञ्चय रूप होने से—यह हेतु है । चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ परमाणुओं का सञ्चयमात्र हैं, इसलिये ये संघात रूप कही जाती हैं । शयन और आसन हैं आदि में जिनके वे शयनासनादि हैं । वे ही पुरुष (चेतन, आत्मा) के उपभोग का साधन होने से अङ्ग (=साधन=निमित्त) कहे गये हैं । यह दृष्टान्त है, जो व्याप्ति के प्रदर्शन का विषय है (अर्थात् जहाँ व्याप्ति का प्रदर्शन किया गया है) । यहाँ 'परार्थ (दूसरे की सेवा के योग्य) होना' से 'संघातरूप (संचयरूप) होना'—व्याप्त है (जो संघात है, वह परार्थ है; जैसे शयन, आसन आदि—यह व्याप्ति है) । क्योंकि शयन, आसन आदि संघातरूप हैं तथा ये भोक्ता पुरुष के उपकारक (उपभोग के साधन) होते हैं; इसलिये ये परार्थ कहे जाते हैं ॥८७॥

परार्थ—धर्मोत्तर ने परार्थ शब्द का अर्थ प्रयोजक=उपकर्तव्य (=उपकार्य) आदि माना है । यद्यपि 'अर्थ' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ प्रयोजन है तथापि 'प्रयोजयति इति' (जो प्रयुक्त करता है) इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रयोजक' (=प्रयोजन) मान लिया गया है । दुर्वेक मिश्र का कथन है कि क्लिष्ट कल्पना अनावश्यक है; क्योंकि 'परस्मिन् अर्थः प्रयोजनं येषाम्' इस व्यधिकरण बहुव्रीहि से ही अभीष्ट अर्थ प्राप्त हो जाता है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० २१२) ।

संघातत्वात्—धर्मोत्तर ने 'संघात' का अर्थ किया है—सञ्चय । शयन (=शय्या), आसन तथा चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ सभी परमाणुओं का सञ्चय मात्र हैं—यह कथन बौद्ध दर्शन की दृष्टि से ठीक ही कहा जा सकता है । वादी (सांख्य) की

---

१. ०जनं परार्थः प्रयोजकः सं० T. २. ०संचयरू० C.D.
३. संघातत्वं D. ४. शयनादयः D.

कथम् अयम् इष्टविघातकृद् इत्याह—

तदिष्टासंहतपारार्थ्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धः ॥८८॥

तदिष्टासंहतपारार्थ्यविपर्ययसाधनादिति । असंहते विषये पारार्थ्यम् असंहतपारार्थ्यम्[1] । तस्य सांख्यस्य वादिनः 'इष्टम् असंहतपारार्थ्यं=तदिष्टासंहतपारार्थ्यम्[2] । तस्य विपर्ययः=संहतपारार्थ्यं नाम । तस्य साधनाद् विरुद्धः ।

'आत्मा अस्ति'—इति ब्रुवाणः सांख्यः 'कुत एतद्' इति पर्यनुयुक्तो बौद्धैनेदम् आत्मनः सिद्धये प्रमाणम् आह । तस्माद् असंहतस्यात्मनः उपकारकत्वं साध्यं चक्षुरादीनाम् । अयं तु हेतुर्विपर्ययव्याप्तः । यस्माद् यो यस्योपकारकः स तस्य जनकः । जन्यमानश्च[3] युगपत् क्रमेण वा भवति[4] संहतः । तस्मात् परार्थाश् चक्षुरादयः[5] संहतपरार्था इति सिद्धम् ॥८८॥

दृष्टि से 'संघात' का अर्थ है—सुखदुःखमोहात्मक=त्रिगुणमय (सुखदुःखमोहात्मकतयाऽव्यक्तादयः सर्वे संघाताः, सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० १७) अङ्ग—साधन, निमित्त (अङ्गं निमित्तम् धर्मो० प्र०, पृ० २ २) ।

कथमिति—यह (हेतु) इष्टविघातकृत् कैसे है, यह बतलाते हैं—तदिष्टासंहतपारार्थ्यविपर्ययाद् इत्यादि ।

यह (हेतु) उस (वादी सांख्य) के इष्ट असंहत-पारार्थ्य (=चक्षु इत्यादि असंहत आत्मा के लिये हैं) के विपरीत सिद्ध करता है अतः विरुद्ध (हेत्वाभास) है । ८८॥

असंहतपारार्थ्य का अर्थ है—किसी अन्य संघातरहित पदार्थ के उपकार के लिये होना । 'तदिष्टासंहतपारार्थ्य' का अभिप्राय है—उस वादी सांख्य को इष्ट है कि (चक्षु इत्यादि) किसी अन्य संघातरहित पदार्थ (पुरुष) के लिये हैं । उस (इष्ट) के विपरीत है—संहतपारार्थ्य=किसी अन्य संघातरूप पदार्थ के लिये होना । उसको सिद्ध करने के कारण यह विरुद्ध हेत्वाभास है ।

(अभिप्राय यह है कि) सांख्य कहता है—'आत्मा है' । बौद्ध के द्वारा प्रश्न किया जाता है—'यह कैसे ?' तब वह (सांख्य) आत्मा की सिद्धि के लिये यह प्रमाण देता है । इसलिये चक्षु इत्यादि संघातरहित आत्मा के उपकारक हैं—यह साध्य है । किन्तु (संघातत्वात्) यह हेतु (साध्य के) विपर्यय (अभाव) से व्याप्त है । क्योंकि जो जिसका उपकार करता है, वह उसका उत्पादक होता है । और, उत्पाद्य वस्तु एक दम (प्रारम्भ से) या क्रमशः (अवश्य ही) संघातरूप होती है । इसलिये 'चक्षु इत्यादि परार्थ हैं । इससे सिद्ध होता है कि ये किसी अन्य संघातरूप पदार्थ के लिये हैं ॥८८॥

---

१. ०र्थ्यम् । इष्टासंहतपारार्थ्यं C.D. २. इष्टासंघतपारार्थ्यम् C.D.
३. ०मानस्तु D, ४. भवतीति D.
५. चक्षुरादय इति A.B.H.N.P.

अयं च विरुद्ध आचार्यदिङ्नागेनोक्तः ।

स 'इह कस्मान्नोक्तः । ८९॥

स कस्माद् वार्तिककारेण सता त्वया नोक्तः ? ॥८९॥

इतर आह—

अनयोरेवान्तर्भावात् ॥९०॥

अनयोरेव साध्यविपर्ययसाधनयोरन्तर्भावात् ॥९०॥

पर्यनुयुक्तः = पृष्टः, पूछा गया; पर्यनुयोग = प्रश्न; जिससे प्रश्न किया गया है वह पर्यनुयुक्त कहलाता है ।

इष्टम् असंहतपारार्थ्यम्—वादी सांख्य के द्वारा पुरुष (आत्मा) की सिद्धि के लिये हेतु प्रस्तुत किया गया है—'परार्थाः चक्षुरादयः संघातत्वात्' । इस हेतु के द्वारा उसे यह सिद्ध करना अभीष्ट है कि ये चक्षु इत्यादि किसी संघातरहित पदार्थ के लिये हैं क्योंकि यदि केवल किसी अन्य के लिये ही सिद्ध करना अभीष्ट हो तो वह अन्य पदार्थ बुद्धि आदि हो सकता है । तब इस हेतु से आत्मा की सिद्धि न होगी । अतः 'परार्थ' से सांख्य को 'असंहतपारार्थ्य' सिद्ध करना अभीष्ट है तथा यही साध्य है ।

अयं तु हेतुः विपर्ययव्याप्तः—'संघातत्वात्'—यह हेतु साध्य (असंहतपारार्थ्य) के अभाव से व्याप्त है, व्याप्ति यह है कि जो जिसका उपकारक होता है वह उसका जनक होता है। चक्षु इत्यादि आत्मा के उपकारक हैं अतः वे भी आत्मा के जनक हैं आत्मा जन्य है। जो जन्य होता है, वह संघात रूप में ही होता है । अतः यह सिद्ध होता है कि चक्षु इत्यादि किसी अन्य संघात के लिये (संहतपारार्थाः) हैं । किन्तु सांख्य को सिद्ध करना है कि वे असंहत आत्मा के लिये हैं । यहाँ 'असंहतपारार्थ्य' की सिद्धि करना ही सांख्य को इष्ट है, यही साध्य है, यद्यपि यह शब्दों द्वारा नहीं कहा गया । इस प्रकार 'संघातत्वात्' हेतु इष्ट (साध्य) के विपर्यय को सिद्ध करता है तथा विरुद्ध हेत्वाभास है ।

अयं चेति—यह विरुद्ध (हेत्वाभास का भेद) आचार्य दिङ्नाग ने बतलाया है।

वह यहाँ क्यो नहीं कहा गया ॥८९॥

उस (दिङ्नाग) के वार्त्तिककार होते हुए भी तुम (धर्मकीर्ति) ने वह (इष्ट-विघातकृत्) क्यों नहीं बतलाया ॥८९॥

दूसरा (वार्त्तिककार, धर्मकीर्ति) कहता है—

क्योंकि इसका उपर्युक्त दोनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है ॥९०॥

इन दोनों में ही, जो कि साध्य के विपरीत सिद्ध करने वाले हैं, इस (इष्ट-विघातकृत्) का अन्तर्भाव हो जाता है।॥९०॥

इतर आह—इतर = अन्य, वार्त्तिककार (धर्मो० प्र०, पृ० २१३) । यहाँ सूत्र ९० से ९२ तक धर्मकीर्ति का मन्तव्य है । आशय यह है—साध्य के विपरीत सिद्ध करने के कारण ही ऊपर कथित दोनों हेतु विरुद्ध हेत्वाभास कहलाते हैं। वह साध्य

---

१. 'इह' नास्ति C.

ननु चोक्तविपर्ययं न साधयति । तत् कथम् उक्तविपर्ययसाधनयोरेवान्तर्भाव इत्याह—

न ह्ययम् आभ्यां साध्यविपर्ययसाधनत्वेन भिद्यते ॥९१॥

न ह्ययमिति । हीति यस्मादर्थे । यस्माद् अयम् इष्टविघातकृद् आभ्यां हेतुभ्यां साध्यविपर्ययस्य[1] साधनत्वेन न भिद्यते । यथा तौ साध्यविपर्ययसाधनौ तथाऽयम् अपीति । उक्तविपर्ययं तु साधयतु[2] वा मा वा, किम् उक्तविपर्ययसाधनेन । तस्माद् अनयोरेवान्तर्भावः ॥९१॥

ननु चोक्तम् एव 'साध्यं तत् कथं साध्यविपर्ययसाधनत्वेनाभेद इत्याह—

उक्त है या अनुक्त इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता । वादी को जो इष्ट है, वह भी अनुक्त साध्य होता है अतः इष्ट के विपरीत सिद्ध करने वाला जो इष्टविघातकृत् है, उसका भी उपर्युक्त दो प्रकार के विरुद्ध हेत्वाभास में ही अन्तर्भाव हो जाता है । (विशेष द्रष्टव्य, सतीशचन्द्र विद्याभूषण, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक, तथा प्रमाणवार्त्तिक मनो० ४.३२) ।

वस्तुतः दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के एतद्विषयक मन्तव्य में कोई मौलिक अन्तर नहीं है । दिङ्नाग ने सूक्ष्म अन्तर के आधार पर इष्टविघातकृत् को विरुद्ध का पृथक् भेद मान लिया था; किन्तु धर्मकीर्ति ने संकलन की दृष्टि से इसका पूर्वोक्त दो भेदों में ही अन्तर्भाव दिखला दिया ।

ननु चेति—(शङ्का) यह (इष्टविघातकृत्) तो शब्दों द्वारा कथित (साध्य) के विरुद्ध नहीं सिद्ध करता । तब कथित (साध्य) के विरुद्ध सिद्ध करने वाले (उन दोनों) में इस का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं—

यह (इष्टविघातकृत्) उपर्युक्त दोनों से भिन्न नहीं है, क्योंकि यह भी साध्य के विपरीत सिद्ध करने वाला है ॥९१॥

न ह्ययम् इत्यादि । 'हि' का अर्थ है—क्योंकि (=यस्मात्) । क्योंकि यह इष्टविघातकृत् भी साध्य के विपरीत सिद्ध करता है, अतः उपर्युक्त दोनों हेतुओं से भिन्न नहीं है । जिस प्रकार वे दोनों साध्य के विपरीत सिद्ध करने वाले हैं, उसी प्रकार यह भी है । (शब्दों द्वारा) उक्त (साध्य) के विपरीत सिद्ध करे या न करे; उक्त के विपरीत सिद्ध करने से क्या प्रयोजन है ? इसलिये उस (इष्टविघातकृत्) का इन दोनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है ॥९१॥

ननु चोक्तमिति—(शङ्का) जब शब्दों द्वारा उक्त ही साध्य होता है, तब साध्य के विपरीत सिद्ध करने के कारण उस (इष्टविघातकृत्) का (उपर्युक्त दोनों के साथ) अभेद कैसे हो जाता है ? इस पर (धर्मकीर्ति) कहते हैं—

---

१. ०विपर्ययसाध० A.B.E.H.N.P. २. ध्यतु मा वा E,D,
३. साध्ये A.B.H.N.P.

नहीष्टोक्तयोः साध्यत्वेन कश्चिद् विशेष इति ॥९२॥

न हीति। यस्माद् इष्टोक्तयोः [1]परस्परस्मात् साध्यत्वेन न कश्चिद् विशेषो भेद इति। तस्माद् अनयोरेवान्तर्भाव इत्युपसंहारः।

प्रतिवादिनो हि यज्जिज्ञासितं तत् प्रकरणापन्नम्। यच्च प्रकरणापन्नं तत् साधनेच्छया विषयीकृतं साध्यम्, इष्टम्, उक्तम्, अनुक्तं वा, न तूक्तमात्रम् एव साध्यम्। तेनाविशेष इति ॥९२॥

द्वयो रूपयोरेकस्यासिद्धावपरस्य च सन्देहेऽनैकान्तिकः ॥९३॥

द्वयो [2]रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ विरुद्ध उक्तः। [3]तयोस्तु द्वयोर्मध्य एकस्यासिद्धौ, अपरस्य च सन्देहेऽनैकान्तिकः ॥९३॥

इष्ट तथा (शब्दों द्वारा) कथित (दोनों साध्यों) में साध्यता की दृष्टि से (=साध्यत्वेन) कोई भेद नहीं है ॥९२॥

न हि इत्यादि। क्योंकि इष्ट तथा शब्दों द्वारा कथित (दोनों प्रकार के साध्य) में साध्यता की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। इसलिये उस (इष्टविघातकृत्) का उपर्युक्त दोनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है—यह उपसंहार है।

प्रतिवादी (बौद्ध) ने जिस में जिज्ञासा (प्रश्न) की है, वही वाद का विषय हो जाता है। और, जो वाद का विषय है, उसे सिद्ध करने की इच्छा से उद्देश्य करके साध्य माना जाता है; वह (शब्दों द्वारा) कहा गया हो या नहीं। केवल कथित मात्र ही साध्य नहीं होता। इस प्रकार (उस इष्टविघातकृत् और उपर्युक्त दोनों में, भेद नहीं है ॥९२॥

प्रतिवादिनः—यहाँ प्रतिवादी बौद्ध है, जो सांख्य से पूछता है कि आत्मा है यह कैसे सिद्ध होता है।

प्रकरणापन्नम्—प्रकरण का अर्थ है—पक्ष-प्रतिपक्ष को प्रस्तुत करना=वाद (प्रकरणं पक्ष-प्रतिपक्षौ, द्र० न्यायभाष्य तथा न्यायवृत्ति, न्या० सूत्र १.२.६)। जिस विषय में पक्ष-प्रतिपक्ष (वाद-प्रतिवाद) होते हैं वह प्रकरणापन्न (=प्रकरण को प्राप्त) या विवाद का विषय कहलाता है।

अविशेषः=अभेद, भेद नहीं।

२१. अनैकान्तिक हेत्वाभास का एक अन्य प्रकार

द्वयोरिति।

(सपक्ष में होना तथा विपक्ष में न होना) हेतु के इन दो रूपों में से किसी एक की असिद्धि तथा दूसरे का सन्देह होने पर अनैकान्तिक (हेत्वाभास) होता है ॥९३॥

हेतु के दो रूपों के विपरीत सिद्ध होने पर विरुद्ध हेत्वाभास होता है, यह बतलाया गया है। किन्तु इन दोनों में से एक की असिद्धि होने पर और दूसरे का सन्देह होने पर अनैकान्तिक (हेत्वाभास) होता है ॥९३॥

---

१. परस्परस्य B.D.E.H.P. २. रूपयोरसिद्धौ A.B.C.D.H.N.P.

३. अनयोस्तु D. अनयोर्द्वयो० A,B.E.H.N.P

कीदृशोऽसावित्याह—

यथा वीतरागः 'कश्चित् सर्वज्ञो वा, वक्तृत्वाद् इति' । व्यतिरेकोऽत्रासिद्धः । सन्दिग्धोऽन्वयः ॥९४॥

यथेति । विगतो रागो यस्य स वीतराग इत्येकं साध्यम् । सर्वज्ञो वेति द्वितीयम् । वक्तृत्वाद् इति हेतुः । व्यतिरेकोऽत्रासिद्ध इति । स्वात्मन्येव सरागे चासर्वज्ञे च विपक्षे वक्तृत्वं दृष्टम् । अतोऽसिद्धो व्यतिरेकः । सन्दिग्धोऽन्वयः ॥९४॥

कुत इत्याह—

सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकर्षाद् वचनादेस्तत्र सत्त्वम् असत्त्वं वा सन्दिग्धम् ॥९५॥

सपक्षभूतयोः सर्वज्ञ-वीतरागयोर्विप्रकर्षाद् अतीन्द्रियत्वाद् वचनादेर्

विरुद्ध उक्तः—जब सपक्ष में होना और विपक्ष में न होना—हेतु के ये दोनों रूप असिद्ध होते हैं, तब विरुद्ध हेत्वाभास होता है क्योंकि उससे साध्य के विपरीत पदार्थ की सिद्धि होती है। किन्तु यदि इन दोनों रूपों में से कोई एक असिद्ध होता है और दूसरा सन्दिग्ध होता है तब अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है; जैसा कि आगे उदाहरण से स्पष्ट किया जा रहा है।

कीदृश इति—वह कैसा होता है, यह बतलाते हैं—

जैसे—अमुक व्यक्ति वीतराग अथवा सर्वज्ञ है; क्योंकि वह वक्ता है। यहाँ विपक्ष में हेतु का न होना (व्यतिरेक) असिद्ध है तथा सपक्ष में होना (अन्वय) सन्दिग्ध है ॥९४॥

यथा, इत्यादि। नष्ट हो गया है राग जिसका, वह वीतराग (राग-रहित) कहलाता है—यह एक साध्य है। अथवा सर्वज्ञ—यह दूसरा साध्य है। वक्ता होने से-यह हेतु है। यहाँ विपक्ष में न होना (व्यतिरेक) असिद्ध है। कैसे ? वह (वादी) स्वयं भी रागयुक्त तथा असर्वज्ञ है, अतः विपक्ष है और उसमें वक्ता होना (वक्तृत्व) दिखाई दे रहा है। इस प्रकार हेतु का विपक्ष में न होना (व्यतिरेक) असिद्ध है, सपक्ष में होना (अन्वय) सन्दिग्ध है ॥९४॥

क्यों ? यह बतलाते हैं—

सर्वज्ञ या वीतराग होना अतीन्द्रिय है; इसलिये वचनशक्ति (वक्तृत्व) आदि का उसमें होना या न होना सन्देह का विषय है ॥९५॥

यहाँ 'सर्वज्ञ' और वीतराग' सपक्ष हैं। ये दोनों विप्रकृष्ट अर्थात् अतीन्द्रिय हैं (सर्वज्ञता या वीतरागता का इन्द्रियों द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता)। यद्यपि

---

१. 'कश्चित्' नास्ति C. २. 'इति' नास्ति C,

इन्द्रियगम्यस्यापि तत्र अतीन्द्रययोः सर्वज्ञत्ववीतरागयोः सत्त्वम् असत्वं वा सन्दिग्धम् । ततश्च न ज्ञायते किं वक्तृत्वात् सर्वज्ञ उत नेत्यनैकान्तिक इति ॥९५॥

सम्प्रति द्वयोरेव सन्देहेऽनैकान्तिकं वक्तुम् आह—

अनयोरेव द्वयोः रूपयोः सन्देहेऽनैकान्तिकः ॥९६॥

वचनशक्ति (वक्तृत्व) इन्द्रिय-ग्राह्य है तथापि अतीन्द्रिय होने वाली सर्वज्ञता और वीतरागता के साथ इस वचनशक्ति का होना या न होना सन्दिग्ध है। इस प्रकार ज्ञात नहीं होता कि वक्ता होने के कारण कोई सर्वज्ञ है अथवा नहीं, अतः यह अनैकान्तिक हेत्वाभास है ॥९५॥

विप्रकर्षात् = अतीन्द्रियत्वात्, इन्द्रिय-ग्राह्य न होने से।

अनैकान्तिकः—यहाँ व्यतिरेक का स्वरूप है—जो वीतराग या सर्वज्ञ नहीं, वह वक्ता नहीं । इस प्रकार सभी सराग या असर्वज्ञ व्यक्ति विपक्ष हैं । वादी भी सराग या असर्वज्ञ है, अतः वह भी विपक्ष के अन्तर्गत है । उसने अपने आप में वक्तृत्व का साक्षात् अनुभव किया ही है । इसलिये वक्तृत्व हेतु का विपक्ष में न होना (व्यतिरेक) असिद्ध है ।

यहाँ अन्वय का स्वरूप होगा—जो वक्ता होता है, वह वीतराग या सर्वज्ञ होता है । इस प्रकार सपक्ष हैं—वीतराग या सर्वज्ञ व्यक्ति । किन्तु सर्वज्ञता या वीतरागता का तो लौकिक जन साक्षात्कार नहीं कर सकते, वे तो अतीन्द्रिय हैं । इसलिये यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि वीतराग या सर्वज्ञ में वक्तृत्व शक्ति है या नहीं, अतः हेतु का सपक्ष में होना (अन्वय) सन्दिग्ध है । इस प्रकार यहाँ वक्तृत्व हेतु नहीं अपि तु अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।

वस्तुतः ठीक इसी प्रकार का अनुमान-प्रयोग किसी दार्शनिक सम्प्रदाय ने प्रस्तुत नहीं किया । जैन यह अवश्य मानते हैं कि उनके धर्म-प्रवर्त्तक सर्वज्ञ थे, क्योंकि उन्होंने धर्म का उपदेश दिया है । अथवा ज्योतिष आदि का यथार्थ-प्रवचन उनकी सर्वज्ञता को सूचित करता है (मि०, आगे ३.१३०) । हीनयान सम्प्रदाय के बौद्धों ने तथागत को सर्वज्ञ माना है, किन्तु उनका कथन है कि इसे तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता (मि०, बु० लॉ० २, पृ० २०७ टि० १) । बौद्ध-न्याय में बुद्ध को सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है किन्तु इस (वक्तृत्व) हेतु से नहीं (द्र०, न्यायकणिका, पृ० १४१ तथा रत्नकीर्ति, सर्वज्ञसिद्धि) ।

सम्प्रतीति—अब, (हेतु के) दोनों रूपों (सपक्ष में होना तथा विपक्ष में न होना) का ही सन्देह होने पर अनैकान्तिक (हेत्वाभास) होता है, यह बतलाते हुए कहा है—

इन दोनों रूपों (सपक्ष में होना, विपक्ष में न होना) में सन्देह होने पर अनैकान्तिक होता है ॥९६॥

अनयोरेव—अन्वय-व्यतिरेकरूपयोः सन्देहात् संशयहेतुः ॥९६॥

[1]उदाहरणम्—

[2]यथा सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वाद् इति[3] ॥९७॥

[4]यथेति । सहात्मना वर्तते सात्मकम् इति साध्यम् । शरीरम् इति धर्मी । जीवद्ग्रहणं धर्मिविशेषणम् । मृते ह्यात्मानं नेच्छति ।

प्राणाः [5]श्वासादय आदिर्यस्योन्मेषनिमेषादेः प्राणिधर्मस्य सः प्राणादिः । स यस्यास्ति तत् प्राणादिमत् जीवच्छरीरम् । तस्य भावस्तत्त्वम् । तस्माद् इत्येष हेतुः ॥९७॥

इन दोनों अर्थात् अन्वय (सपक्ष नें होना) तथा व्यतिरेक (विपक्ष में होना) में सन्देह होने से कोई हेतु सन्देह का निमित्त (=हेतु) हो जाता है ॥९६॥

उदाहरण है—

जीवित शरीर आत्मा से युक्त है, क्योंकि यह प्राण आदि वाला है ॥९७॥

जो आत्मा से युक्त है वह सात्मक कहलाता है। यह साध्य है। 'शरीर'—यह पक्ष (=धर्मी) है। 'जीवत्' (जीवित=प्राणों को धारण करने वाला) शब्द धर्मी (शरीर) का विशेषण है; क्योंकि वादी (न्याय-वैशेषिक) मृतक शरीर में आत्मा नहीं मानता है।

प्राण अर्थात् श्वास आदि जिस नेत्र-उन्मीलन-निमीलन इत्यादि जीव के धर्म के आदि में हैं, वह प्राण आदि है। वह (प्राणादि) जिसमें हैं, ऐसा 'प्राणादिमत' (प्राण आदि वाला) जीवित शरीर है। उस (प्राणादिमत्) का भाव प्राणादिमत्त्व (=तत्त्वम्); उससे (प्राणादिमत्त्वात्)—यह हेतु है ॥९७॥

सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात्—वैशेषिक सूत्र ३.२.४ में आत्मा की सिद्धि के लिये यह युक्ति दी गई है कि 'प्राण' आदि का संचार होने के कारण जीवित शरीर सात्मक होता है। दिङ्नाग ने अपने 'हेतुचक्र' में इस हेतु को असाधारण हेत्वाभास बतलाया। उद्योतकर ने दिङ्नाग का खण्डन करके इसे सद् हेतु सिद्ध किया तथा "नेदं जीवच्छरीरं निरात्मकम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात्' (न्या० वा०, पृ० ४६.७) इस रूप में इसे व्यतिरेकी हेतु बतलाया।

किञ्च न्याय-सम्प्रदाय में न्याय-सूत्र (१.१.५) के 'शेषवत्' शब्द का भी 'व्यतिरेकी' अर्थ किया गया है (व्यतिरेकिणो हि नामान्तरम् इदं परिशेष इति, न्या० वा० ता० पृ० १८३.४)। सम्भवतः इसी आधार पर आगे चलकर न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में केवल व्यतिरेकी हेतु की उद्भावना की गई।

---

१ उदाहरणं च C उदाहरणं यथा D.
२. 'यथा' नास्ति B.C.D.H.P.
३. 'इति' नास्ति C.
४. नास्ति A.B.C.D.H.N.P.
५. प्राणो आश्वा० A.B.E.H.N.P.

अयम् असाधारणः संशयहेतुर् उपपादयितव्यः। पक्षधर्मस्य च द्वाभ्यां कारणाभ्यां संशयहेतुत्वम्। संशयविषयौ यावाकारौ ताभ्यां सर्वस्य वस्तुनः संग्रहात्। तयोश्च व्यापकयोर् आकारयोर् एकत्रापि वृत्त्यनिश्चयात्।

'याभ्यां ह्याकाराभ्यां सर्वं वस्तु न संगृह्यते तयोराकारयोर्न संशयः। प्रकारान्तरसम्भवे हि पक्षधर्मो धर्मिणम् अवियुक्तं द्वयोर् एकेन धर्मेण दर्शयितुं न शक्नुयात्; अतो न संशयहेतुः स्यात्। द्वयोर् धर्मयोर् अनियतं भावं दर्शयन्

आत्मा है या नहीं; इस विषय में (आत्मवादी) न्याय-वैशेषिक वादी है तथा (अनात्मवादी) बौद्ध प्रतिवादी है। न्याय-वैशेषिक का मन्तव्य है कि जो आत्म-शून्य घट आदि पदार्थ हैं, उनमें प्राणादिमत्त्व नहीं रहता इसलिये विपक्ष-व्यावृत्ति निश्चित ही है। अतः इस व्यतिरेकी हेतु द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है। किन्तु बौद्धों के अनुसार विपक्ष-व्यावृत्ति वहीं होती है जहाँ सपक्ष में अन्वय होता है। इसलिये यहाँ विपक्ष से व्यावृत्ति भी निश्चित नहीं है (एकत्र नियमे सिद्धे सिध्यत्यन्यनिवर्तनम्; प्र० वा० ४.२२६)। अतः बौद्ध के अनुसार यह सद् हेतु नहीं अपि तु असाधारण हेत्वाभास है जैसा कि आगे सिद्ध किया जा रहा है।

अयम् असाधारण इति—यह असाधारण अनैकान्तिक) संशय का हेतु होता है, यह सिद्ध करना है। पक्ष धर्म दो कारणों से संशय का हेतु होता है—(i) संशय के विषय जो दो आकार (सपक्ष और विपक्ष) हैं, उनके द्वारा समस्त (विद्यमान) पदार्थों का संग्रह हो जाने से तथा (ii) उन व्यापक आकारों में से एक में भी (हेतु या पक्षधर्म की) स्थिति का निश्चय न होने से।

अयम्······उपपादयितव्यः—उद्योतकर (?) का मत है, कि असाधारण अनैकान्तिक अप्रतिपत्ति का हेतु होता है, संशय का नहीं (धर्मो० प्र०, पृ० २१५)। उस मत का निराकरण करने के लिये यहाँ असाधारण को संशय का निमित्त सिद्ध किया जा रहा है। अभिप्राय यह है कि जहाँ सपक्ष और विपक्ष में समस्त विद्यमान वस्तुओं का संग्रह हो जाता है और सपक्ष या विपक्ष किसी एक में भी पक्ष-धर्म के सद्भाव का निश्चय नहीं होता, वहाँ पक्ष-धर्म असाधारण होता है तथा संशय का निमित्त होता है। प्रकृत उदाहरण में हेतु संशय का निमित्त कैसे है? यह आगे (३.९८-१०१) दिखलाया जायेगा।

अब दिखलाया जा रहा है कि पक्ष-धर्म उपर्युक्त दो कारणों से संशय का निमित्त क्यों हुआ करता है—

याभ्याम् इति—जिन दो आकारों के द्वारा समस्त वस्तुओं का संग्रह नहीं किया जाता, उन आकारों में संशय नहीं होता। क्योंकि यदि कोई भिन्न प्रकार (वर्ग, राशि) है तथा उसमें पक्ष-धर्म है तो वह उस धर्मी को उन दो धर्मों में एक से युक्त (=अवियुक्त) नहीं दिखला सकता है; इसलिये वह संशय का निमित्त (=हेतु) नहीं

---

१. यकाभ्यां A.B.C.D.H.N.P.

संशयहेतुः । द्वयोस् त्वनियतम् अपि भावं दर्शयितुम् अशक्तोऽप्रतिपत्तिहेतुः । नियतं तु[1] भावं दर्शयन् [2]सम्यग् हेतुः, विरुद्धो वा स्यात् । तस्माद् [3]याभ्यां सर्वं वस्तु संगृह्यते तयोः[4] संशयहेतुर् यदि तयोर् एकत्रापि सद्भावनिश्चयो न स्यात् ।

होता । दोनों धर्मों में अनियतता (व्यभिचारिता = अनिश्चय) को दिखलाने वाला पक्ष-धर्म संशय का निमित्त होता है । किन्तु जो दोनों में अनिश्चितता (अनियतता) को दिखलाने में भी समर्थ नहीं है, वह तो ज्ञानाभाव (अप्रतिपत्ति = अज्ञान, Ignorance) का निमित्त होता है । (दोनों धर्मों में से किसी एक में) नियमपूर्वक सत्ता (नियतत्व) को दिखलाने वाला तो सद् हेतु होता है अथवा विरुद्ध (हेत्वाभास) होता है । इस प्रकार जिन (सपक्ष तथा विपक्ष) के द्वारा समस्त विद्यमान वस्तुओं का संग्रह हो जाता है, यदि उनमें से एक में भी पक्षधर्म के सद्भाव का निश्चय नहीं होता तो (पक्षधर्म) उनके विषय में संशय का निमित्त होता है ।

प्रकारान्तरसम्भवे—उदाहरणार्थ यदि सात्मक और अनात्मक से भिन्न (तीसरे) प्रकार की कोई वस्तु विद्यमान हो तो उसमें यह दिखलाया जा सकता है कि यहाँ प्राणादिमत्त्व पक्ष-धर्म विद्यमान है तथा यह निरात्मक नहीं है; अथवा यहाँ प्राणादिमत्त्व नहीं है तथा यह सात्मक भी नहीं है ।

अनियतं भावं दर्शयन् संशयहेतु—यदि सपक्ष और विपक्ष के धर्मों के साथ पक्षधर्म की सत्ता नियत रूप से नहीं, तो संशय उत्पन्न हो जाता है ।

अनियतमपि भावम्—यदि किसी पक्षधर्म का सपक्ष और विपक्ष में अनियतत्व भी न प्रकट हो तो अप्रतिपत्ति होगी, सन्देह भी न होगा । अप्रतिपत्ति का अर्थ है—किसी प्रकार का ज्ञान न होना, ज्ञानाभाव (Ignorance); संशय का अर्थ है—एक ही विषय में दो प्रकार का ज्ञान होना, उभयकोटिक ज्ञान ।

नियतं तु भावम्—यदि प्राणादिमत्त्व का सात्मकत्व के साथ नियतत्व (अविनाभाव सम्बन्ध) होता तो यहाँ सद् हेतु होता; किन्तु यदि प्राणादिमत्त्व का निरात्मकत्व के साथ नियतत्व होता तो यहाँ विरुद्ध हेत्वाभास होता ।

तस्माद्—इत्यादि कथन द्वारा इस तथ्य का उपसंहार किया गया है कि असाधारण दो निमित्तों से संशय का जनक होता है । श्चेरबात्स्की (बु० लॉ० २, पृ० २११ टि० ३) का कथन है कि असाधारणानैकान्तिक नामक हेत्वाभास दिङ्नाग सम्प्रदाय के सम्भावित हेतुओं का केन्द्र-बिन्दु है । इसके ऊपर और नीचे की ओर दो सद् हेतु हैं । दायें और बायें दो प्रकार के विरुद्ध हेत्वाभास हैं और चारों कोणों पर अनैकान्तिक हेत्वाभास हैं । इस प्रकार इन हेतुओं को एक वर्ग के आकार में रक्खा जा सकता है, जिसकी प्रत्येक भुजा में तीन-तीन हेतु हैं । यही दिङ्नाग का हेतुचक्र है जिसमें ९ हेतु हैं (मि०, बु० लॉ० २, पृ० २११, टि० ३) ।

---

१. 'तु'—नास्ति A B.E.H N P.
२. 'सम्यग्' नास्ति A.B.E.H.N.P.
३. यकाभ्यां B.C.D.H.N.P.
४. तयोराकारयोः C.

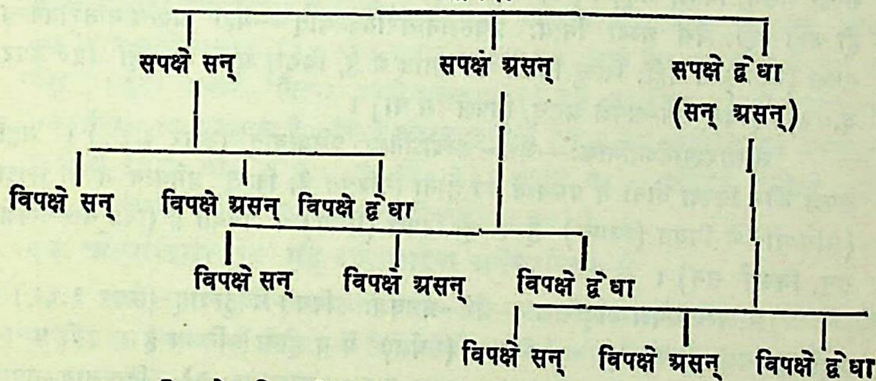
सद्भावनिश्चये तु यद्येकत्र नियतसत्तानिश्चयो [1]हेतुर्विरुद्धो वा स्यात् । अनियतसत्तानिश्चये तु साधारणानैकान्तिकः, सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः, सन्दिग्धान्वयोऽसिद्धव्यतिरेको वा स्यात् । एकत्रापि तु वृत्त्यनिश्चयाद् असाधारणानैकान्तिको भवति ॥६७॥

इस हेतु-चक्र को इस प्रकार दिखलाया जाता है:—

१. सपक्षे सन् विपक्षे सन्　२. सपक्षे सन् विपक्षे असन्　३. सपक्षे सन् विपक्षे द्वेधा ।
४. सपक्षेऽसन् विपक्षे सन्　५. सपक्षेऽसन् विपक्षेऽसन्,　६. सपक्षेऽसन् विपक्षे द्वेधा ।
७. सपक्षे द्वेधा विपक्षे सन्　८. सपक्षे द्वेधा विपक्षेऽसन्　९. सपक्षेद्वेधा विपक्षेद्वेधा ।

यहाँ द्वेधा=सन् तथा असन्, अर्थात् कहीं होना कहीं नहीं । इन ९ में से सं० २ तथा ८ सद् हेतु हैं, ४ तथा ६ विरुद्ध हेत्वाभास हैं, अन्य अनैकान्तिक हेत्वाभास हैं, जिनमें सं० ५ तथा ९ असाधारण अनैकान्तिक हैं । (द्र०, अभी आगे 'असाधारणानैकान्तिकः, टिप्पणी) ।

दिङ्नाग के इस हेतुचक्र का वाचस्पति मिश्र ने सुगम रीति से निरूपण किया है (न्या० वा० ता०, पृ० २८९) । जिसे इस रेखाचित्र द्वारा प्रकट किया जा सकता है ।



सद्भावनिश्चये इति—किन्तु (सपक्ष तथा विपक्ष में पक्ष-धर्म के) सद्भाव का निश्चय होने पर, यदि किसी एक में नियमपूर्वक (अव्यभिचारी रूप से) होने का निश्चय है तो (सपक्ष में नियत होने पर) सद् हेतु तथा (विपक्ष में नियत होने पर) विरुद्ध (हेत्वाभास) होता है । यदि अनियत रूप से होने का निश्चय होता है तो (i) साधारणानैकान्तिक (जो सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में रहता है) अथवा (ii) जिसका विपक्ष में न होना (व्यावृत्ति) सन्दिग्ध है (=सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिक) या (iii) जिसका सपक्ष में होना (अन्वय) सन्दिग्ध है, तथा विपक्ष में न होना (व्यतिरेक) असिद्ध है । किन्तु यदि (सपक्ष अथवा विपक्ष में से) एक में भी (पक्षधर्म) के होने का निश्चय नहीं होता तो असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है ॥६७॥

---

१. विरुद्धो हेतुर्वा A.B.D.E.H.N.P.

हेतुविरुद्धो वा—यहाँ हेतु=लिङ्ग, सद्हेतु। किन्तु 'संशयहेतु', 'अप्रतिपत्तिहेतु' यहाँ हेतु=निमित्त, कारण। तिब्बती अनुवाद से भी यही प्रकट होता है (मि०, बु० लॉ० २, पृ० २११ टि० ४)।

हेतु—(=सद्हेतु)—जैसा कि दिङ्नाग के हेतु-विवेचन से तथा न्यायबिन्दु टीका (२·५) से विदित होता है, सद् हेतु दो परिस्थितियों में हुआ करता है—(क) यदि पक्ष-धर्म का सपक्ष में सर्वत्र होना, किन्तु विपक्ष में कहीं भी न होना निश्चित हो, जैसे 'धूमवत्त्व' हेतु है। दिङ्नाग ने इसे 'सपक्षे सन् असपक्षे असन्—इन शब्दों में प्रकट किया है। (ख) यदि पक्षधर्म का सपक्ष में कहीं होना, कहीं न होना; किन्तु विपक्ष में सर्वत्र न होना निश्चित हो; जैसे 'शब्दोऽनित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' यहाँ 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' है। यह सपक्ष (अनित्य) विद्युत् आदि में नहीं, घट आदि में है; किन्तु विपक्ष (नित्य) में कहीं भी नहीं है (दिङ्नाग-सपक्षे द्वेधा, विपक्षेऽसन्)।

विरुद्ध—यह भी दो परिस्थितियों में होता है=(क) यदि पक्ष-धर्म सपक्ष में सर्वत्र न हो, किन्तु विपक्ष में सर्वत्र हो; जैसे—'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्'। यहाँ 'कृतकत्व' सपक्ष (नित्य) में नहीं, विपक्ष (अनित्य) में विद्यमान है (दिङ्नाग-सपक्षे असन्, विपक्षे सन्)। (ख) यदि पक्ष-धर्म सपक्ष में न हो; किन्तु विपक्ष में कहीं हो कहीं नहीं; जैसे 'शब्दो नित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्'—यहाँ प्रयत्नानन्तरीयकत्व सपक्ष (नित्य) में नहीं; किन्तु विपक्ष घट आदि में है, विद्युत् आदि में नहीं (द्र० ऊपर ३.८३)। [दिङ्नाग–सपक्षे असन्, विपक्षे द्वेधा]।

साधारणानैकान्तिकः—जैसे–'शब्दोऽनित्यः प्रमेयत्वात्' (ऊपर ३.६७)। यहाँ सपक्ष और विपक्ष दोनों में प्रमेयत्व का होना निश्चित है; किन्तु प्रमेयत्व न तो सपक्ष (अनित्यों) में नियत (व्याप्त) है न ही विपक्ष (नित्य) में नियत है (दिङ्नाग-सपक्षे सन्, विपक्षे सन्)।

सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः—जैसे–असर्वज्ञः कश्चित् वक्तृत्वात् (ऊपर ३.६९)। यहाँ पक्षधर्म (वक्तृत्व) का विपक्ष (सर्वज्ञ) में न होना सन्दिग्ध है। इसी प्रकार प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दः अनित्यत्वात् (ऊपर ३.६७, उदाहरण ३)—दिङ्नाग–सपक्षे सन्, विपक्षे द्वेधा)।

सन्दिग्धान्वयोऽसिद्धव्यतिरेकः—जैसे–अप्रयत्नानन्तरीयकः शब्दोऽनित्यत्वात् (ऊपर ३.६७, उदाहरण २)। यहाँ अनित्यत्व जो पक्षधर्म है वह विपक्ष (प्रयत्नानन्तरीयक) में सर्वत्र विद्यमान है, किन्तु सपक्ष में कहीं (विद्युत् आदि में) है, कहीं (आकाश आदि में) नहीं। अतः सन्दिग्ध है।

सर्वज्ञः कश्चित् वक्तृत्वात् (ऊपर ३.९४)। यहाँ वक्तृत्व जो पक्ष-धर्म है वह सपक्ष (सर्वज्ञ) में सन्दिग्ध है किन्तु विपक्ष (असर्वज्ञ) में विद्यमान है। इस प्रकार इनमें अन्वय (पक्ष-सत्त्व) सन्दिग्ध है तथा व्यतिरेक (विपक्ष-असत्त्व) असिद्ध है। (दिङ्नाग-सपक्षे द्वेधा विपक्षे सन्)।

श्चेरबात्स्की ने सन्दिग्धान्वय तथा असिद्धव्यतिरेक—ये दो पृथक् पृथक् प्रकार

ततोऽसाधारणानैकान्तिकस्यानैकान्तिकत्वे हेतुद्वयं दर्शयितुम् आह—

न हि 'सात्मकनिरात्मकाभ्याम् अन्यो राशिरस्ति । यत्रायं[2] प्राणादिर्वर्तते[3] ॥९८॥

न हीति । सहात्मना वर्तते सात्मकः । निष्क्रान्त आत्मा यस्मात् स निरात्मकः । [4]ताभ्यां यस्मान्नान्यो राशिर् अस्ति । किं भूतः ? यत्रायं वस्तुधर्मः प्राणादिर् वर्तेत ? तस्माद् अय [5]तयोर्भवति संशयहेतुः ॥९८॥

दिखलाये हैं (बु० लॉ० २, पृ० २११)। किन्तु दिङ्नाग के हेतुचक्र को दृष्टि में रखकर इन्हें एक हेत्वाभास मानना ही उचित है। दुर्वेक मिश्र ने भी सन्दिग्धान्वयासिद्धव्यतिरेक नामक एक ही हेत्वाभास दिखलाया है (धर्मो० प्र०, पृ० २१६)।

असाधारणानैकान्तिकः—जहाँ सपक्ष तथा विपक्ष एक में भी पक्षधर्म के सद्भाव का निश्चय नहीं होता, वहाँ असाधारण अनैकान्तिक होता है ऐसा दो परिस्थितियों में होता है (i) यदि पक्षधर्म सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में अविद्यमान हो, जैसे 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्'—यहाँ 'श्रावणत्व' न तो सपक्ष (नित्यों) में है न ही विपक्ष (अनित्यों) में (दिङ्नाग—सपक्षेऽसन्, विपक्षेऽसन्)। (ii) यदि पक्षधर्म का सपक्ष में होना तथा विपक्ष में न होना—दोनों ही सन्दिग्ध हों, जैसे—'सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वान्' (३.९७)। इसका स्वरूप अभी आगे विस्तार से दिखलाया जा रहा है। इसी प्रकार 'नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्' (३.६७ उदाहरण ४) भी असाधारण अनैकान्तिक का उदाहरण है। किन्तु श्चेरबात्स्की ने इसे असिद्ध-व्यतिरेक का उदाहरण बतलाया है (बु० लॉ० २, पृ० २११ टि० २)। वस्तुतः यहाँ व्यतिरेक असिद्ध नहीं अपि तु सन्दिग्ध है (द्र० अनुवाद तथा टिप्पणी ३.६७)।

२२. 'प्राणादिमत्त्वाद्' यह असाधारण अनैकान्तिक है

ततोऽसाधारणेति—इसलिये अब यह असाधारण अनैकान्तिक (अनिश्चित हेतु) है, इस (कथन की सिद्धि) के लिये दोनों निमित्तों को दिखलाते हुए कहा है—

क्योंकि सात्मक और अनात्मक इन दोनों से भिन्न कोई ऐसा प्रकार (=राशि) नहीं है, जहाँ यह प्राण इत्यादि विद्यमान हो ॥९८॥

न हि इत्यादि। सात्मक वह पदार्थ है जो आत्मा के सहित है। निरात्मक वह है, जिसमें आत्मा नहीं है। क्योंकि उन दोनों से भिन्न कोई ऐसा प्रकार नहीं है। कैसा ? जहाँ यह वस्तु का धर्म प्राण इत्यादि विद्यमान हो। अतः यह (प्राणादिमत्त्व हेतु) उन दोनों (सात्मक और निरात्मक) में संशय का निमित्त होता है ।।९८।।

राशिः=प्रकारः (धर्मो० प्र०, पृ० २१६)।

---

१. सात्मकानात्मका० C.
२. 'अयं' नास्ति B.D.E.H.N.P.
३. वर्तेत N.
४. आभ्यां D.
५. द्वयोर्भ० C.

कस्माद् अन्यराश्यभाव इत्याह—

आत्मनो[1] वृत्ति-व्यवच्छेदाभ्यां [2]सर्वसंग्रहात् ॥६६॥

आत्मनो वृत्तिः सद्भावो व्यवच्छेदोऽभावः। ताभ्यां सर्वस्य वस्तुनः संग्रहात् क्रोडीकरणात्। यत्र ह्यात्मा अस्ति तत् सात्मकम्। [3]अन्यत् निरात्मकम्। ततो नान्यो राशिरस्ति—[4]इति संशयहेतुत्वकारणम् ॥६६॥

प्रकाराभ्यां [5]सर्ववस्तुसंग्रहं प्रतिपाद्य द्वितीयम् आह—

नाप्यनयोर् एकत्र वृत्तिनिश्चयः ॥१००॥

नाप्यनयोः सात्मकनिरात्मकयोर्मध्य एकत्र सात्मकेऽनात्मके[6] वा वृत्तेः सद्भावस्य निश्चयोऽस्ति। द्वावपि राशी त्यक्त्वा न वर्तते प्राणादिः, वस्तुधर्मत्वात्। ततश्चानयोरेव वर्तते [7]इत्येतावद् एव ज्ञातम्। विशेषे तु वृत्तिनिश्चयो नास्तीत्ययम्[8] अर्थः ॥१००॥

वस्तुधर्मः—प्राण आदि वस्तु (सद्वस्तु) के धर्म हैं। क्योंकि ये शशश्रृङ्ग जैसी अवस्तु में नहीं रहते (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० २१६)।

तयोः=सात्मकनिरात्मकयोः (धर्मो० प्र०, पृ० २१६)।

कस्माद् इति—अन्य प्रकार (राशि) का अभाव क्यों है, यह बतलाते हैं—

क्योंकि आत्मा के होने (वृत्ति) और न होने (व्यवच्छेद=व्यावृत्ति) से समस्त (विद्यमान) वस्तुओं का संग्रह हो जाता है ॥६६॥

आत्मा की वृत्ति अर्थात् होना (उपस्थिति) तथा व्यच्छेद अर्थात् अभाव-उन दोनों के द्वारा समस्त (विद्यमान) वस्तुओं का संग्रह हो जाने से अर्थात् अन्तर्भाव हो जाने से। जहाँ आत्मा है, वह सात्मक है, उससे भिन्न (वस्तु) निरात्मक है। उन दोनों से अन्य कोई प्रकार नहीं है। यही संशय-जनकता का कारण है ॥६६॥

प्रकाराभ्याम् इति—इन दोनों प्रकारों के द्वारा समस्त वस्तुओं का संग्रह दिखलाकर (संशय का) द्वितीय कारण बतलाते हैं—

इन दोनों में से एक में भी (पक्षधर्म के) सद्भाव का निश्चय नहीं होता ॥१००॥

इन दोनों सात्मक और निरात्मक में से एक में अर्थात् सात्मक या निरात्मक में (पक्षधर्म की) वृत्ति=सद्भाव (उपस्थिति) का निश्चय नहीं है। इन दोनों प्रकारों को छोड़कर प्राण आदि कहीं नहीं रहते; क्योंकि यह वस्तु का धर्म है। इस प्रकार (प्राण आदि) इन दोनों (सात्मक-निरात्मक) में ही है, केवल इतना ही ज्ञात होता है किन्तु किसी एक (विशेष) में (प्राण आदि के) नियत सद्भाव का निश्चय नहीं होता—यह अर्थ है ॥१००॥

---

१. आत्मवृत्ति० C. २. सर्वस्य सं० C.
३. तदन्यत् A.B.H.N.P. ४. 'इति' नास्ति A.B.C.D.H.N.P.
५. 'वस्तु' नास्ति A.B.C.E.H.N.P. ६. निरात्मके C.
७. 'इति' नास्ति C. ८. 'अयम्' नास्ति C.D.

तदाह—

सात्मकत्वेनाऽनात्मकत्वेन[1] वा प्रसिद्धे प्राणादेरसिद्धेः[2] ॥१०१॥

सात्मकत्वेनाऽ[3]नात्मकत्वेन वा विशेषेण युक्ते प्रसिद्धे निश्चिते वस्तुनि प्राणादेर्धर्मस्य [4]सर्ववस्तुव्यापिनोः प्रकारयोरेकत्र नियतसद्भावस्यासिद्धेरनैकान्तिकः, अनिश्चितत्वात् ।

तदेवम् असाधारणस्य धर्मस्यानैकान्तिकत्वे कारणद्वयम् अभिहितम् ॥१०१॥

पक्षधर्मश्च भवन्[5] सर्वः साधारणोऽसाधारणो वा भवत्यनैकान्तिकः । तस्माद् उपसंहारव्याजेन पक्षधर्मत्वं दर्शयति–तस्माद् इत्यादिना ।

वस्तुधर्मत्वात्—जो वस्तु है वह अवश्य ही सात्मक या निरात्मक होगी । प्राणादिमत्त्व वस्तु (सद्वस्तु) का धर्म है । इसलिये वह सात्मक और निरात्मक में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं ।

विशेषे—विशिष्ट प्रकार में, किसी एक प्रकार में; प्राणादिमत्त्व धर्म केवल सात्मक में ही रहता है या केवल निरात्मक में ही, यह निश्चय नहीं होता ।

तदाहेति—इसीलिये (धर्मकीर्ति ने) कहा है—

क्योंकि जो सात्मक रूप में या निरात्मक रूप में प्रसिद्ध हैं, उनमें प्राण आदि का होना निश्चित नहीं है ॥१०१॥

जो वस्तु सात्मकता या अनात्मकता नामक विशेष धर्म से युक्त निश्चित (=प्रसिद्ध) की गई है, वहाँ समस्त वस्तुओं में व्यापक दो प्रकारों में से किसी एक में प्राण आदि धर्म का नियत सद्भाव (नियम से होना) अनिश्चित है । अनिश्चित होने से यह अनैकान्तिक (हेत्वाभास) है । इस प्रकार यहाँ असाधारण धर्म के अनैकान्तिक होने में दो कारण बतलाये गये हैं ॥१०१॥

नियतसद्भावस्यासिद्धेः—नियतसद्भाव=प्रतिबद्धता=अविनाभाव । क्योंकि सपक्ष (सात्मक) या विपक्ष (निरात्मक) में से किसी एक में प्राणादिमत्त्व की नियत सत्ता का निश्चय नहीं होता, इसलिये यह अनैकान्तिक (अनिश्चित) है ।

अभिहितम्—वार्त्तिककार ने बतलाया है ।

पक्षधर्मश्चेति—सब (हेतु) पक्ष का धर्म होकर ही साधारण तथा असाधारण अनैकान्तिक (हेत्वाभास) होते हैं । इसलिये उपसंहार के व्याज (बहाने) से ('प्राणादिमत्त्वात्' इस हेतु की) पक्ष में विद्यमानता (=पक्षधर्मता) दिखलाते हैं—'तस्माद्' इत्यादि के द्वारा ।

---

१. निरात्मकत्वेन B.E.H.N.P. २. ०रसिद्धिस्ताभ्यां न व्यतिरिच्यते E.

३. निरात्मकत्वेनD. ४. धर्मस्यासिद्धेरनैकान्तिकोऽनिश्चि० A.B.E.H.N.P., ०धर्मस्यासिद्धेरनिश्चि० C. ५. भवत् सर्वः A.

तस्माज्जीवच्छरीरसम्बन्धी प्राणादिः सात्मकाद् अनात्मकाच्च सर्वस्माद् व्यावृत्तत्वेनासिद्धेस्[1] ताभ्यां न व्यतिरिच्यते ॥१०२॥

जीवच्छरीरस्य सम्बन्धी पक्षधर्म इत्यर्थः। यस्मात् तयोरेकत्रापि न निवृत्तिनिश्चयस्तस्मात् ताभ्यां न व्यतिरिच्यते। वस्तुधर्मे हि सर्ववस्तुव्यापिनोः प्रकारयोर् एकत्र नियतसद्भावो निश्चितः प्रकारान्तरान्निवर्तेत[2]। 'तत एवाह[3]—सात्मकाद् अनात्मकाच्च सर्वस्माद् वस्तुनो व्यावृत्तत्वेनासिद्धेरिति। प्राणादिस्तावत् कुतश्चिद् घटादेर् निवृत्त एव। तत एतावद् अवसातुं शक्यम्—सात्मकाद् अनात्मकाद् वा कियतो निवृत्तः। सर्वस्मात् तु[4] निवृत्तो नावसीयते। ततो न कुतश्चिद् व्यतिरेकः ॥१०२॥

इस प्रकार प्राण इत्यादि जीवित शरीर (पक्ष) में विद्यमान है और क्योंकि समस्त सात्मक और निरात्मक वस्तुओं से इसकी व्यावृत्ति निश्चित नहीं है, इसलिये इसका उन दोनों (प्रकारों) से व्यतिरेक (निवृत्ति) सिद्ध नहीं होता ॥१०२॥

(प्राणादि) जीवित शरीर से सम्बन्ध रखते हैं, इसका अभिप्राय है कि यह पक्ष-धर्म है (प्राण आदि पक्ष में विद्यमान है)। क्योंकि उन दोनों प्रकारों में से एक में भी (प्राण आदि के) न होने (निवृत्ति) का निश्चय नहीं है, इसलिये यह (प्राणादि) उन दोनों से व्यावृत्त (भिन्न) नहीं होता। जिस वस्तु-धर्म का समस्त पदार्थों में व्यापक दो प्रकारों में से एक में नियमपूर्वक होना (=प्रतिबन्ध) निश्चित है, वह दूसरे प्रकार (वर्ग) से निवृत्त हो जाता है। इसी से कहा है—समस्त सात्मक और निरात्मक वस्तु से भिन्न रूप में (इसकी) सिद्धि न होने से। यद्यपि प्राण आदि किसी घट आदि से निवृत्त है ही, तथापि उससे केवल इतना निश्चित किया जा सकता है कि कुछ सात्मक अथवा निरात्मक पदार्थों से यह निवृत्त है, यह निश्चय नहीं होता कि समस्त (सात्मक अथवा निरात्मक) वस्तुओं से यह निवृत्त (भिन्न) है। इसीलिये किसी एक से भी व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता ॥१०२॥

पक्षधर्मश्च भवन्—अनैकान्तिक हेत्वाभास वहीं होता है, जहाँ हेतु रूप में प्रस्तुत किया गया धर्म पक्ष में विद्यमान होता है, पक्ष–धर्म होता है। यहाँ भी 'प्राणादिमत्त्व' धर्म जीवित शरीर (पक्ष) में विद्यमान है। वस्तुतः दिङ्नाग का हेतुचक्र, जिसमें हेतु की नौ परिस्थितियों का विवरण है, वहीं लागू होता है जहाँ हेतु रूप में दिखलाया गया धर्म पक्ष में विद्यमान (पक्षे सन्) होता है। इस प्रकार सद्हेतु, विरुद्ध और अनैकान्तिक के स्थलों पर लिङ्ग का प्रथम रूप (पक्ष-सत्त्व) अवश्य होता है। जहाँ पक्ष-सत्त्व नामक लिङ्ग का रूप नहीं होता, वहाँ असिद्ध नामक हेत्वाभास होता है।

---

१. नासिद्धिः ॥ E.
२. निवर्तते D.
३. अत एवाह–T.
४. 'तु' नास्ति C.

यद्येवम् अन्वयोऽस्तु तयोर्निश्चित इत्याह—

न[1] तत्रान्वेति ॥१०३॥

न [2]तत्र सात्मकेऽनात्मके वाऽर्थेऽन्वेति—अन्वयवान् प्राणादिः ॥१०३॥

कुत इत्याह—

एकात्मन्यप्यसिद्धेः ॥१०४॥

एकात्मन्यपीति[3]। एकात्मनि सात्मकेऽनात्मके वाऽसिद्धेः कारणात्। वस्तुधर्मतया तयोर्द्वयोर्[4]एकत्र वा [5]वर्तत इत्यवसितः प्राणादिः। न तु सात्मक एव निरात्मक एव वा वर्तत इति कुतोऽन्वयनिश्चयः ॥१०४॥

ननु च प्रतिवादिनो न किञ्चित् सात्मकम् अस्ति। ततोऽस्य हेतोर्न

नियतसद्भावो निश्चितः—यदि सात्मक या निरात्मक किसी एक में प्राण आदि का नियतत्व = प्रतिबन्ध निश्चित हो जाये तो दूसरे से उसकी निवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं।

ततो न कुतश्चिद् व्यतिरेकः—क्योंकि समस्त सात्मक या निरात्मक वस्तुओं से प्राणादिमत्त्व की व्यावृत्ति का निश्चय नहीं होता, इसलिये निरात्मक या सात्मक किसी से भी व्यतिरेक का निश्चय नहीं होता।

यद्येवम् इति—यदि ऐसा है अर्थात् व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता तो उन दोनों में अन्वय का निश्चय होना चाहिये, इस पर कहते हैं—

वहाँ इसका अन्वय भी नहीं है ॥१०३॥

वहाँ सात्मक या निरात्मक पदार्थ में प्राण आदि अन्वित (= अन्वय वाला) नहीं है ॥१०३॥

क्यों ऐसा है, यह बतलाते हैं—

क्योंकि (सात्मक या निरात्मक में से) किसी एक प्रकार में भी (प्राण आदि का) होना निश्चित नहीं है ॥१०४॥

एकात्मनि इत्यादि। एक राशि में अर्थात् सात्मक या निरात्मक में निश्चय न होने के कारण। (अन्वय नहीं है)। वस्तु का धर्म होने से प्राण आदि उन दोनों राशियों में या किसी एक में है यह जाना जाता है; किन्तु यह निश्चय नहीं होता कि वह केवल सात्मक में ही है या निरात्मक में ही। इस प्रकार अन्वय का निश्चय कैसे हो सकता है? १०४॥

ननु चेति—(शङ्का) किन्तु प्रतिवादी (बौद्ध) के मत में सात्मक कोई वस्तु नहीं है। इसलिये इस (प्राणादिमत्त्वात्) हेतु का सात्मक में न अन्वय ही है, व्यतिरेक ही।

१, न च C. D.

२. न च D.

३. 'एकात्मन्यपीति' नास्ति A.B.C.D.H.N.P.

४. ०द्वयोरप्येकत्र C.D.

५. एकत्र तावत् वर्तते C.

सात्मकेऽन्वयो न व्यतिरेक इत्यन्वयव्यतिरेकयोर् अभावनिश्चयः सात्मके, न तु सद्भावसंशय इत्याशङ्क्याह—

नापि सात्मकाद् [1]अनात्मकाच्च तस्यान्वयव्यतिरेकयोर् अभावनिश्चयः ॥१०५॥

नापि सात्मकाद् वस्तुनस्तस्य प्राणादेर् अन्वयव्यतिरेकयोर् अभावनिश्चयः। नापि च निरात्मकात्। सात्मकाद् अनात्मकाद् इति च पञ्चमी व्यतिरेकशब्दापेक्षया द्रष्टव्या ॥१०५॥

कथम् अन्वय-व्यतिरेकयोर्नाभावनिश्चय इत्याह—

अतः सात्मक में अन्वय और व्यतिरेक के अभाव का निश्चय हो जाता है, इसके सद्भाव का संशय नहीं हो सकता। यह शङ्का करके कहते हैं—

सात्मक या निरात्मक पदार्थ से उस (प्राण आदि) के अन्वय–व्यतिरेक के अभाव का निश्चय नहीं हो सकता ॥१०५॥

न तो सात्मक वस्तु से उस प्राण आदि के अन्वय-व्यतिरेक के अभाव का निश्चय होता है, न ही निरात्मक वस्तु से ही। 'सात्मकात्' और 'निरात्मकात्'—इन शब्दों में व्यतिरेक शब्द के योग में पञ्चमी विभक्ति समझनी चाहिये ॥१०५॥

प्रतिवादिनः इत्यादि—यहाँ प्रतिवादी बौद्ध है। वह रूप आदि पञ्चस्कन्ध से भिन्न आत्मा को कोई तत्त्व नहीं मानता। न्याय–वैशेषिक आदि शरीर इत्यादि से पृथक् नित्य तथा व्यापक आत्मा की सिद्धि करते हैं। किन्तु बौद्ध न्याय के अनुसार सत्ता का अभिप्राय है—अर्थक्रियाकारित्व। कोई भी स्थिर या नित्य पदार्थ अर्थक्रियाकारी हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार परमार्थसत् वस्तु में देश की दृष्टि से विस्तार भी सम्भव नहीं है (देखिये, ऊपर १.१६ टि० सामान्यलक्षणम्)। इस प्रकार क्षणिक विज्ञानों की सन्तति में ही ज्ञान, इच्छा, स्मृति, जन्म-मरण इत्यादि समस्त अर्थक्रियायें होती हैं; विज्ञान से भिन्न कोई आत्मा नहीं है।

प्रश्न यह हो सकता है कि जब बौद्ध के अनुसार सभी निरात्मक हैं तो निरात्मक घट आदि से प्राणादिमत्त्व का व्यतिरेक निश्चित ही है, फिर सन्देह कैसे? इसका उत्तर यही दिया गया है कि बौद्ध की दृष्टि से शरीर भी निरात्मक है किन्तु उसमें प्राणादिमत्त्व रहता है अतः निरात्मक से प्राणादिमत्त्व के व्यतिरेक का निश्चय नहीं होता।

दूसरा प्रश्न यह है कि जब बौद्ध की दृष्टि से सात्मक कुछ है ही नहीं तो उसके साथ अन्वय–व्यतिरेक दोनों के अभाव का निश्चय हो जायेगा तथा संशय न होगा। इसका उत्तर सूत्र ३. १०४–१०८ में दिया गया है।

कथम् इति—अन्वय-व्यतिरेक के अभाव का निश्चय क्यों नहीं होता? इस पर कहते हैं—

---

१. निरात्मका० B.D.E.H.N.P.

[1]एकाभावनिश्चयस्यापर[2]भावनिश्चयनान्तरीयकत्वात् ॥१०६॥

एकस्यान्वयस्य व्यतिरेकस्य वायोऽभावनिश्चयः [3]सोऽपरस्य द्वितीयस्य [4]भावनिश्चयनान्तरीयकः [5]भावनिश्चयस्याव्यभिचारी । तस्य भावः—तत्त्वं तस्मात् । यत एकाभावनिश्चयोऽपरभावनिश्चय[6]-नान्तरीयकः । तस्मान्न द्वयोरेकत्राभावनिश्चयः ॥१०६॥

कस्मात पुनरेकस्याभावनिश्चयोऽपरसद्भावनिश्चयाऽव्यभिचारी ? इत्याह—

[7]अन्वय-व्यतिकयोर् अन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वाद् । [8]तत एवान्वय-व्यतिरेकयोः सन्देहाद् अनैकान्तिकः ॥१०७॥

अन्वयव्यतिरेकयोर् अन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वाद् इति । अन्योन्यस्य व्यवच्छेदोऽभावः, स एव रूपं ययोस्तयोर्भावः=तत्त्वम्, तस्मात् कारणात् । अन्वय-व्यतिरेकौ भावाभावौ । भावाभावौ च परस्परव्यवच्छेदरूपौ । यस्य

क्योंकि एक (अन्वय या व्यतिरेक) के अभाव का निश्चय दूसरे के सद्भाव के निश्चय का अविनाभावी है ॥१०६॥

एक अर्थात अन्वय या व्यतिरेक से अभाव का जो निश्चय है, वह दूसरे के सद्भाव निश्चय का नान्तरीयक है; अर्थात् नियमतः दूसरे के होने का निश्चय कराने वाला है । उस (नान्तरीयक) का भाव नान्तरीयकत्व (=तत्त्वम्) उससे (=उसके साथ नियमपूर्वक रहने वाला होने के कारण) । (भाव यह है—) क्योंकि एक (अन्वय या व्यतिरेक) के अभाव का निश्चय दूसरे के सद्भाव के निश्चय का अविनाभावी है, इसलिये एक स्थल में दोनों के अभाव का निश्चय नहीं होता ॥१०६॥

कस्माद् इति—एक के अभाव का निश्चय दूसरे के सद्भाव-निश्चय का अविनाभावी नान्तरीयक क्यों है ? इस पर कहते हैं—'अन्वयव्यतिरेकयोः' इत्यादि ।

क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक एक दूसरे के अभाव (व्यवच्छेद) रूप हैं; इसलिये अन्वय और व्यतिरेक का सन्देह बना रहने के कारण अनैकान्तिक (अनिश्चित) हेत्वाभास होता है ॥१०७॥

एक दूसरे का व्यवच्छेद (=व्यावृत्ति) अर्थात् अभाव, वही है स्वरूप जिनका (वे=अन्योन्यव्यवच्छेदरूप); उनका भाव (=तत्त्वम्=अन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वम्); उस कारण से (क्योंकि एक के अभाव का निश्चय दूसरे के सद्भाव-निश्चय का अविनाभावी होता है) । अन्वय और व्यतिरेक का अर्थ है—(क्रमशः) भाव और अभाव । और, भाव तथा अभाव एक दूसरे की व्यावृत्ति (=अभाव) रूप में ही होते

---

१. एकस्याभाव० C.　२. ०पराभावनान्तरीयकत्वात् B.H.P. 'निश्चय' नास्ति D.E.
३. स एवापरस्य E.N.　४. भावे निश्च० A.B.H.P.
५. भवति निश्च० A.B.H.P.　६. 'निश्चय' नास्ति A.C.
७. अत एवान्वय० C.　८. अत B.D.E.H.N.P.

व्यवच्छेदेन यत् परिच्छिद्यते तत् तत्परिहारेण व्यवस्थितम् । स्वाभावव्यवच्छेदेन च भावः परिच्छिद्यते । तस्मात् स्वाभाव-व्यवच्छेदेन भावो व्यवस्थितः । अभावो हि नीरूपो यादृशो विकल्पेन दर्शितः । नीरूपतां च व्यवच्छिद्य रूपम् आकारवत् परिच्छिद्यते ।

तथा च सत्यन्वयाभावो व्यतिरेकः, व्यतिरेकाभावश्चान्वयः । ततोऽन्वयाभावे निश्चिते व्यतिरेको निश्चितो भवति । व्यतिरेकाभावे च निश्चितेऽन्वयो निश्चितो भवति ।

हैं । वस्तुतः जिसकी व्यावृत्ति से जो पदार्थ निश्चित किया जाता है वह उसके विना ही (स्वरूप में) व्यवस्थित हुआ करता है । क्योंकि कोई भाव (सद्वस्तु) अपने अभाव (स्व+अभाव) की व्यावृत्ति करके ही निश्चित किया जाता है । इसलिये अपने अभाव की व्यावृत्ति करके ही भाव (स्वरूप में) व्यवस्थित होता है । जैसा कि विकल्प द्वारा कल्पित किया जाता है अभाव तो आकार-रहित है और आकार-हीनता की व्यावृत्ति करके आकारयुक्त रूप का निश्चय किया जाता है ।

व्यवस्थितम्—'नील' वस्तु नील ही है, अनील नहीं है—इस रूप में जो वस्तु या भाव का निश्चय होता है, वह व्यवस्था कहलाती है । 'व्यवस्था' के विशेष विवरण के लिये न्यायविन्दुटीका (ऊपर १·२१) द्रष्टव्य है ।

स्वभावव्यवच्छेदेन = स्व + अभाव + व्यवच्छेदेन—यह पद-च्छेद है, अपने अभाव की व्यावृत्ति से ।

अभावो हि नीरूपः—नीरूप = आकर-रहित । अभाव वस्तुसत् नहीं अपि तु विकल्प ज्ञान द्वारा जाना गया एक कल्पित पदार्थ है । नियत आकार वाली परमार्थसत् वस्तु से अभाव को पृथक् दिखलाने के लिये उसे 'नीरूप' कहा गया है । जयन्त भट्ट (न्यायमञ्जरी, पृ० ५२·३) के अनुसार 'नीरूप-अभाव' का अर्थ है कि अभाव में कोई प्रत्यक्ष-योग्य आकार नहीं होता । कमलशील (तत्त्वसंग्रह, पृ० ६३४·१८) ने 'नीरूप' शब्द का 'सामान्य' के प्रसङ्ग में प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है—निःस्वभाव = शून्य (मि०, बु० लॉ० २, पृ० २१६ टि० ७) ।

तथा चेति—इस प्रकार अन्वय का अभाव व्यतिरेक है और व्यतिरेक का अभाव अन्वय है । इसलिये अन्वय का अभाव निश्चित होने पर व्यतिरेक (के होने) का निश्चय हो जाता है और व्यतिरेक का अभाव निश्चित हो जाने पर अन्वय निश्चित हो जाता है ।

तथा च सति = ऐसा होने पर, अर्थात जब नीरूपता की व्यावृत्ति से नियत आकार वाले रूप (नील आदि) का निश्चय हो जाता है तो यह स्पष्ट ही है कि अन्वय और व्यतिरेक (अर्थात् भाव और अभाव) एक दूसरे के अभाव रूप ही हैं ।

अन्वय-व्यतिरेक—सामान्यतः 'अन्वय' का अर्थ है—सपक्ष-सत्त्व अर्थात् हेतु का सपक्ष में ही होना और 'व्यतिरेक' का अर्थ है = असपक्ष-असत्त्व, अर्थात् हेतु का

तस्माद् यदि नाम सात्मकम् अवस्तु निरात्मकं च वस्तु, तथापि [1]तयोर्न प्राणादेरन्वयव्यतिरेकयोर् अभावनिश्चयः । एकत्र[2] वस्तुन्येकस्य[3] वस्तुनो युगपद् भावाभावविरोधात् तयोरभावनिश्चयायोगात्[4] । न च प्रतिवाद्यनुरोधात् सात्मकानात्मके वस्तुनी सदसती, किन्तु प्रमाणानुरोधात् । इत्युभे सन्दिग्धे । ततस्तयोः प्राणादिमत्त्वस्य सदसत्त्वसंशयः[5] ।

यत एव क्वचिद् अन्वय-व्यतिरेकयोर्न भावनिश्चयो [6]नाप्यभावनिश्चयः, तत एवान्वयव्यतिरेकयोः सन्देहः । यदि तु क्वचिद् [7]अप्यन्वय-व्यतिरेकयोर्

विपक्ष में कभी न होना । इन शब्दों का ऊपर (३.२६,२७) साधर्म्यवान् अनुमान प्रयोग और वैधर्म्यवान् अनुमान-प्रयोग के लिये भी व्यवहार किया गया है । किन्तु यहाँ इन दोनों शब्दों का भाव तथा अभाव अर्थ में प्रयोग किया गया है, जैसे-प्राण आदि का सात्मक में होना (भाव) ही अन्वय है और उसमें न होना ही व्यतिरेक है । यदि यहाँ होना (=भाव=अन्वय) का निषेध किया जाता है तो स्वतः ही न होना (=अभाव=व्यतिरेक) निश्चित हो जाता है ।

तस्माद् इति—इस प्रकार यद्यपि सात्मकता परमार्थसत् नहीं और निरात्मकता ही परमार्थसत् है तथापि उन दोनों में प्राण आदि के अन्वय-व्यतिरेक (भाव तथा अभाव) के अभाव का निश्चय नहीं होता । क्योंकि एक वस्तु में एक साथ ही किसी वस्तु के होने तथा न होने में विरोध है, इसलिये उन दोनों (अन्वय और व्यतिरेक) के अभाव का निश्चय सम्भव नहीं । किञ्च, प्रतिवादी (बौद्ध) के अनुरोध से सात्मक और अनात्मक वस्तुएँ सत् (=वास्तविक Real) और असत् (अवास्तविक unreal) नहीं होतीं, अपि तु प्रमाण के अनुसार (ऐसा होता है) । इसलिये दोनों (सात्मक और निरात्मक) सन्देह के विषय हैं । अतः उन दोनों में प्राणादिमत्त्व (हेतु) के होने या न होने का संशय है ।

सात्मकम् अवस्तु—बौद्ध के अनुसार 'आत्मा' परमार्थसत नहीं अतः 'सात्मक' कल्पित है । सभी निरात्मक हैं और निरात्मक ही वस्तुसत् हैं । केवल अभ्युपगमवाद से ही सात्मक में प्राणादिमत्त्व हेतु के होने या न होने का विचार किया गया है ।

उभे—सात्मकत्वानात्मकत्वे (धर्मो० प्र०, पृ० २२१) ।

यत एवेति—क्योंकि कहीं अन्वय-व्यतिरेक के होने का निश्चय नहीं, न ही उनके न होने का निश्चय है, इसीलिये अन्वय और व्यतिरेक में सन्देह है । यदि कहीं अन्वय और व्यतिरेक में से एक के भी अभाव का निश्चय हो जाये तो वही दूसरे के

---

१. न तयोः A.B.E.H.N.P.
२. एकवस्तु० A.B.E.H.N.P.
३. एकवस्तु० A.B.E.H.N.P.
४. निश्चययोगात् B.
५. सदसत्त्वानिश्चयः C.
६. 'अपि' नास्ति C.
७. 'अपि' नास्ति C.D.

एकस्याप्यभावनिश्चयः स्यात्, स एव द्वितीयस्य भावनिश्चय इत्यन्वयव्यतिरेकसन्देह एव न स्यात्[1]। यतश्च न क्वचिद् भावाभावनिश्चयस् तत एवान्वयव्यतिरेकयोः सन्देहः। सन्देहाच्चानैकान्तिकः[2] ॥१०७॥

कस्माद् अनैकान्तिक इत्याह—[3]

साध्येतरयोर् अतो निश्चयाभावात् ॥१०८॥

साध्यस्य इतरस्य च विरुद्धस्य अतः सन्दिग्धान्वयव्यतिरेकान्निश्चयाभावात्। सपक्षविपक्षयोर्हि सदसत्त्वसन्देहे न साध्यस्य न विरुद्धस्य सिद्धिः[4]। न च सात्मकानात्मकाभ्यां[5] परः प्रकारः सम्भवति। ततः प्राणादिमत्त्वात् धर्मिणि जीवच्छरीरे संशय आत्मभावाभावयोः, इत्यनैकान्तिकः प्राणादिर् इति ॥१०८॥

सद्भाव का निश्चय होगा। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक में सन्देह ही न होगा। क्योंकि कहीं भी उनके सद्भाव या अभाव का निश्चय नहीं होता, इसीलिये अन्वय और व्यतिरेक में सन्देह होता है। सन्देह होने के कारण ही यह (प्राणादिमत्त्व हेतु) अनैकान्तिक है ॥१०७॥

कस्माद इति—यह अनैकान्तिक क्यों है ?

क्योंकि साध्य (सात्मकता) और उससे भिन्न (निरात्मकता) का इससे निश्चय नहीं होता ॥१०८॥

साध्य (सात्मकता) का और उससे विरुद्ध (निरात्मकता) का इस सन्दिग्ध अन्वय तथा व्यतिरेक से निश्चय नहीं होता। सपक्ष में (हेतु के) होने का तथा विपक्ष में न होने का सन्देह हो जाने से न साध्य की और न उसके विरुद्ध की ही सिद्धि होती है; और सात्मक तथा निरात्मक से भिन्न (परः) कोई प्रकार सम्भव नहीं है। इसलिये 'प्राणादिमत्त्व' (प्राण आदि से युक्त होना) इस (हेतु) से जीवित शरीर नामक पक्ष (धर्मी) में आत्मा के होने या न होने का सन्देह हो जाता है। इस प्रकार 'प्राण आदि' (हेतु) अनैकान्तिक है ॥१०८॥

अतः = इससे, प्राणादिमत्त्व हेतु से न तो साध्य 'सात्मकता' का निश्चय होता है, न ही उसके विपरीत निरात्मकता का। इसीलिये यह हेतु, 'सन्दिग्धान्वयव्यतिरेकी' है, अर्थात इसमें पक्ष-धर्म का सपक्ष में होना तथा विपक्ष में न होना दोनों अनिश्चित रहते हैं। दिङ्नाग के हेतुचक्र में 'सपक्षे द्वेधा + असपक्षे द्वेधा' के द्वारा इसका संग्रह होता है। यह असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

---

१. यत तु C.D.
२. ०कान्तिक इत्याह E.
३. 'इत्याह' नास्ति A.B.C.D.H.N.P.
४. असिद्धिः B.
५. च परः A B.H.N.P.

त्रयाणां रूपाणाम् असिद्धौ[1] सन्देहे च[2] हेतुदोषान् उपपाद्योपसंहरन् आह—

एवम् [3]एषां त्रयाणां रूपाणाम् एकैकस्य द्वयोर्द्वयोर्वा रूपयोर् असिद्धौ सन्देहे वा[4] यथायोगम् असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास् त्रयो हेत्वाभासाः ॥१०९॥

एवम् इति—अनन्तरोक्तेन क्रमेण । एषां मध्ये एकैकं रूपं [5]यदाऽसिद्धं सन्दिग्धं वा[6] भवति, द्वे द्वे वाऽसिद्धे सन्दिग्धे वा भवतः; तदाऽसिद्धश्च विरुद्धश्चानैकान्तिकश्च ते हेत्वाभासाः । यथायोगम् इति—यस्यासिद्धौ सन्देहे वा यो हेत्वाभासो युज्यते स तस्यासिद्धेः सन्देहाच्च व्यवस्थाप्यत इति यस्य यस्य [7]येन येन योगो यथायोगम् इति ॥१०९॥

विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः । स इह कस्मान् नोक्तः ॥११०॥

त्रयाणाम् इति—(हेतु के) तीन रूपों की असिद्धि तथा सन्देह होने पर जो हेतुदोष (हेत्वाभास) होते हैं, उनका प्रतिपादन करके उपसहार करते हैं—

इस प्रकार (हेतु के) इन तीनों रूपों में से एक एक या दो दो रूपों की असिद्धि या सन्देह होने पर यथायोग्य असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक—ये तीन हेत्वाभास होते हैं ॥१०९॥

इस प्रकार (एवम्) का अभिप्राय है—अभी ऊपर कहे गये ढंग से । इन तीनों (रूपों) में से जब एक एक रूप असिद्ध या सन्दिग्ध होता है अथवा दो दो रूप असिद्ध या सन्दिग्ध होते हैं, तब असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक—ये हेत्वाभास होते हैं । यथायोग का अर्थ है—जिस (रूप) की असिद्धि या सन्देह होने पर जो हेत्वाभास होना युक्त है, उसकी असिद्धि या सन्देह से वही निर्धारित किया जाता है । जिस जिसका जिस जिसके साथ सम्बन्ध (योग) है वह यथायोग कहा जाता है ॥१०९॥

एवम्……त्रयो हेत्वाभासाः—संक्षेप में हेत्वाभास तीन हैं–असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक (i) जहाँ लिङ्ग का पक्ष-सत्त्व असिद्ध या सन्दिग्ध होता है, वहाँ असिद्ध हेत्वाभास होता है । (ii) जहाँ सपक्ष-सत्त्व तथा असपक्ष-असत्त्व दोनों असिद्ध होते हैं; वहाँ विरुद्ध हेत्वाभास होता है । (iii) किन्तु इन दोनों रूपों में से यदि एक असिद्ध होता है और दूसरा सन्दिग्ध अथवा दोनो सन्दिग्ध होते हैं तो अनैकान्तिक हेत्वाभास हुआ करता है ।

२३. विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास का विचार

विरुद्धेति—

'विरुद्धाव्यभिचारी' भी सन्देह का निमित्त कहा गया है। वह यहाँ क्यों नहीं बतलाया गया ? ॥११०॥

---

१. रूपसिद्धिसन्देहे हेतु० C.
२. वा D.
३. 'एषाम्'–नास्ति B.D.E.H.N.P.
४. च B.E.H N.P.
५. यदसिद्धं A.B.H.N.P.
६. 'वा' नास्ति B.
७. 'येन' नास्ति B.

ननु चाऽऽचार्येण विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः। हेत्वन्तरसाधितस्य 'विरुद्धं यत्, तन्न व्यभिचरतीति'[1] विरुद्धाव्यभिचारी। यदि वा विरुद्धश्चासौ साधनान्तरसिद्धस्य धर्मस्य विरुद्धसाधनात्,[2] अव्यभिचारी च स्वसाध्याव्यभिचाराद् विरुद्धाव्यभिचारी ॥११०॥

सत्यम् उक्त आचार्येण। मया त्विह नोक्तः। कस्माद् इत्याह—

अनुमानविषये'[3]ऽसम्भवात् ॥१११॥

अनुमानस्य विषयः प्रमाणसिद्धं त्रैरूप्यम्। यतो हि अनुमानसम्भवः[4] सोऽनुमानस्य विषयः। प्रमाणसिद्धाच्च त्रैरूप्याद् अनुमानसम्भवः[5]। तस्माद्

(शङ्का) आचार्य (दिङ्नाग) ने तो विरुद्धाव्यभिचारी को भी संशय का निमित्त कहा है। किसी दूसरे हेतु से सिद्ध किये गये साध्य के विपरीत (पदार्थ) के साथ जो नियत सम्बन्ध रखता है (उसका अविनाभावी है) वह विरुद्धाव्यभिचारी कहलाता है। अथवा—वह विरुद्ध है; क्योंकि अन्य हेतु से सिद्ध किये गये धर्म के विरुद्ध सिद्ध करता है। वह अव्यभिचारी भी है, क्योंकि वह अपने साध्य के साथ नियत सम्बन्ध रखता है (उसका अविनाभावी है) (इसलिये वह विरुद्धाव्यभिचारी (विरुद्धश्च असौ अव्यभिचारी च) कहलाता है ॥११०॥

विरुद्धाव्यभिचारी—यह हेत्वाभास न्याय-वैशेषिक के सत्प्रतिपक्ष के समान है। गौतम के न्यायसूत्र (१.२.७) में जो प्रकरणसम हेत्वाभास है, उसकी ही आगे चलकर सत्प्रतिपक्ष के नाम से व्याख्या की गई है, (द्र०, न्या० वा० ता० तथा न्याय-सूत्रवृत्ति १.२.७)। प्रशस्तपाद ने 'अनध्यवसित' हेतु में इस प्रकार के उदाहरणों का समावेश किया है। श्चेरबात्स्की का कथन है कि प्रशस्तपाद ने दिङ्नाग के मन्तव्य का निराकरण किया है; किन्तु अन्वेषण से यह सिद्ध होता है तथा श्चेरबात्स्की ने भी बाद में इसे स्वीकार किया है कि प्रशस्तपाद दिङ्नाग से पूर्ववर्ती है (द्र० रेन्डिल, फ्रेगमेन्ट फ्रॉम डिङ्नाग, पृ० ४ टि० १)।

विरुद्धाव्याभिचारी शब्द की धर्मोत्तर ने दो प्रकार से व्युत्पत्ति दिखलाई है—(i) विरुद्धं न व्यभिचरति इति (ii) विरुद्धश्च असौ अव्यभिचारी च। दोनों के तात्पर्य में कोइ अन्तर नहीं प्रतीत होता।

सत्यम् इति—ठीक है। आचार्य (दिङ्नाग) ने (हेत्वाभास का यह भेद) बतलाया है; किन्तु मैंने (धर्मकीर्ति) यहाँ नहीं कहा। क्यों? यह बतलाते हैं—

क्योंकि वह अनुमान के विषय में नहीं हो सकता ॥१११॥

अनुमान का विषय है—प्रमाण द्वारा निश्चित हेतु की त्रिरूपता (पक्ष में अवश्य होना, सपक्ष में ही होना, असपक्ष में कहीं न होना)। जिससे अनुमान का होना

---

१. यद्विरुद्धं तन्न B.D. २. ०रति स A.B.E.H.N.P.
३. ०विषये तस्यासं० C.
४. अनुमानसद्भावः A.B.C.H.N.P., अनुमानस्य सम्भवः E.
५. अनुमानसद्भावः A.B.H.N.P.

तद् एवानुमानविषयः। तस्मिन् प्रक्रान्ते न विरुद्धाव्यभिचारिसम्भवः। प्रमाणसिद्धे हि त्रैरूप्ये प्रस्तुते स एव हेत्वाभासः सम्भवति यस्य प्रमाणसिद्धं रूपम्। न च विरुद्धाव्यभिचारिणः प्रमाणसिद्धम् अस्ति रूपम्। अतो न सम्भवः। ततोऽसम्भवात्[1] नोक्तः॥१११॥

कस्माद् असम्भव इत्याह—

न हि सम्भवोऽस्ति कार्यस्वभावयोर् उक्तलक्षणयोर् अनुपलम्भस्य च[2] विरुद्धतायाः॥११२॥

न हीति। यस्मान्न सम्भवोऽस्ति विरुद्धतायाः कार्यं च स्वभावश्च तयोरुक्तलक्षणयोरिति। कार्यस्य कारणाज्जन्मलक्षणं तत्त्वम्। स्वभावस्य च साध्यव्याप्तत्वं तत्त्वम्। यत् कार्यम्, यश्च स्वभावः, स कथम् आत्मकारणं

सम्भव है वह अनुमान का विषय है। क्योंकि प्रमाण द्वारा निश्चित (हेतु की) त्रिरूपता से अनुमान की उत्पत्ति होती है इसलिये वह (त्रिरूपता) ही अनुमान का विषय है। जब उस (अनुमान) का प्रसङ्ग है तो विरुद्धाव्यभिचारी हो ही नहीं सकता। क्योंकि प्रमाण से सिद्ध त्रैरूप्य का प्रकरण होने पर वही हेत्वाभास हो सकता है जिसका स्वरूप प्रमाण (वास्तविक तथ्य) से निश्चित हो जाये। किन्तु विरुद्धाव्यभिचारी का रूप तो प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। इसलिये उसका होना सम्भव नहीं है तथा असम्भव होने से उसे नहीं कहा गया है॥१११॥

अतो न सम्भवः—भाव यह है कि यदि कोई हेतु रूपत्रय सम्पन्न है तो वह सद् हेतु है। यदि वह एक या दो रूपों से हीन है तो उपर्युक्त हेत्वाभासों में से किसी एक में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है। अतः उपर्युक्त हेत्वाभासों के अतिरिक्त कोई हेत्वाभास नहीं होता। विरुद्धाव्यभिचारी तो हेत्वाभास हो भी नहीं सकता, कारण यह है कि परमार्थसत् वस्तु के दो परस्पर विरुद्ध स्वरूप नहीं होते; इसलिये दो विरुद्ध धर्मों को सिद्ध करने वाले हेतुओं में से एक अवश्य ही रूपत्रय से हीन होगा। उसका उपर्युक्त हेत्वाभासों में ही अन्तर्भाव हो जायेगा (मि०, धर्मो, प्र०, पृ० २२५)।

कस्माद् इति—यह असम्भव क्यों है? यह बतलाते हैं—

यथोक्त लक्षण वाले कार्य तथा स्वभाव हेतु एवं अनुपलब्धि का विरुद्ध होना सम्भव ही नहीं है॥११२॥

'न हि इति'। क्योंकि विरुद्ध होने की सम्भावना ही नहीं है। कार्य और स्वभाव = कार्य-स्वभाव, उन दोनों का जैसा लक्षण ऊपर कहा गया है। (उसके विरुद्ध होने की सम्भावना नहीं है) कार्यहेतु का स्वरूप है—किसी वस्तु की कारण से ही उत्पत्ति होना (कार्य का अपनीउत्पत्ति के लिये कारण पर आश्रित होना)। स्वभावहेतु का स्वरूप है—साध्यधर्म के द्वारा व्याप्त होना)। जो कार्य है और जो स्वभाव है, वह अपने कारण या व्यापक स्वभाव

---

१. ततोऽसम्भवो० A.B.H.P. २. वा D.

व्यापकं च स्वभावं परित्यज्य भवेद् येन विरुद्धः स्यात् । अनुपलम्भस्य च उक्तलक्षणस्येति—दृश्यानुपलम्भत्वं [1]चानुपलम्भलक्षणम् । तस्यापि[2] वस्त्वभावाव्यभिचारित्वान्न विरुद्धत्वसम्भवः ॥११२॥

स्याद् एतद् एतेभ्योऽन्यो भविष्यति, इत्याह—

न चान्योऽव्यभिचारी ॥११३॥

न चान्य एतेभ्योऽव्यभिचारी त्रिभ्यः । अत [3]एवैष्वेव हेतुत्वम् ॥११३॥

क्व तर्ह्याचार्य दिङ्नागेनायं हेतुदोष उक्तः ? इत्याह—

तस्माद् अवस्तुदर्शनबलप्रवृत्तम् आगमाश्रयम् नुमानम् आश्रित्य तदर्थविचारेषु विरुद्धाव्यभिचारी साधनदोष उक्तः ॥११४॥

यस्माद् वस्तुबलप्रवृत्तेऽनुमाने न सम्भवति तस्माद् आगमाश्रयम्

को त्यागकर कैसे रह सकता है जिससे कि वह विरुद्ध हो जाय । और, ऊपर जिसका लक्षण किया गया है उस अनुपलब्धि हेतु का भी (विरुद्ध होना सम्भव नहीं) । अनुपलब्धि का स्वरूप है दर्शनयोग्य वस्तु का उपलब्ध न होना ! वह भी वस्तु के अभाव के साथ नियमपूर्वक रहता है (उसका अविनाभावी है); इसलिये विरुद्ध नहीं हो सकता ॥११२॥

न हि सम्भवोऽस्ति—कार्य या स्वभाव हेतु अपने साध्य का अविनाभावी होता है । अनुपलब्धि हेतु भी वस्तु के अभाव का अविनाभावी होता है । इन तीनों प्रकार के हेतुओं से भिन्न कोई अविनाभावी धर्म नहीं होता तथा ये तीनों परस्पर विरुद्ध धर्मों के अविनाभावी नहीं हो सकते । इसलिये विरुद्धाव्यभिचारी हेतु हो ही नहीं सकता ।

स्याद् एतद् इति—(शङ्का) फिर भी इन तीनों से अन्य (कोई हेतु) । होगा (जो विरुद्धाव्यभिचारी हो जायेगा), इस पर कहते हैं—

इनसे भिन्न कोई अविनाभावी (धर्म) नहीं होता ॥११३॥

क्योंकि इन तीनों से भिन्न कोई (धर्म) अविनाभावी (नियत सम्बद्ध) नहीं होता; इसलिये इन तीनों में ही हेतुता है (अथवा ये तीन ही हेतु हैं) ॥११२॥

क्वेति—फिर आचार्य दिङ्नाग ने यह (विरुद्धाव्यभिचारी) हेत्वाभास कहाँ बतलाया है ? इस पर कहते हैं—

इसलिये विकल्पमात्र (अवस्तुदर्शन) से प्रवृत्त होने वाले तथा आगम पर आश्रित अनुमान का आधार लेकर किये गये उन (आगम-सम्बन्धी) विषयों के विचार में ही विरुद्धाव्यभिचारी हेतुदोष (हेत्वाभास) कहा गया है ॥११४॥

क्योंकि वस्तु के आधार पर होने वाले अनुमान में नहीं हो सकता; इसलिये

---

१. 'च' नास्ति A.B.C.E.H.N,P. २. तस्यापि च स्वभावा० A.B.H.P.
३. 'एतद् नास्ति A.P.H, स्यादेति (?) तत् B.
४. एव तेष्वेव A.B.E.H.N.P. एवैतेष्वेव C.

अनुमानम् आश्रित्य विरुद्धाव्यभिचारी उक्तः। आगमसिद्धं हि यस्यानुमानस्य लिङ्गत्रैरूप्यं तस्यागम आश्रयः।

ननु चागमसिद्धम् अपि त्रैरूप्यं प्रमाणसिद्धम्, इत्याह—अवस्तुदर्शनवल-प्रवृत्तम् इति। अवस्तुनो दर्शनं विकल्पमात्रं तस्य बलं सामर्थ्यम्. ततः प्रवृत्तम् अप्रमाणाद् विकल्पमात्राद् व्यवस्थितं त्रैरूप्यम् आगमसिद्धम् अनुमानस्य। न तु प्रमाणात्।

तत् तर्ह्यनुमानम्[१] आगमसिद्ध[२]त्रैरूप्यं क्वाधिकृतम्, इत्याह—[३]तदर्थेति। तस्यागमस्य योऽर्थोऽतीन्द्रियः, प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अविषयीकृतः सामान्यादिस् तस्य विचारेषु प्रक्रान्तेषु आगमाश्रयम् अनुमानं सम्भवति। तदाश्रयो विरुद्धा-व्यभिचार्युक्त आचार्येणेति ॥११४॥

कस्मात् पुनर् आगमाश्रये[४]ऽप्यनुमाने सम्भव इत्याह—

आगम पर आश्रित अनुमान के विषय में विरुद्धाव्यभिचारी कहा गया है। जिस अनुमान के हेतु की त्रिरूपता आगम से सिद्ध होती है उस अनुमान का आगम ही आश्रय है (वह आगम पर आश्रित है)।

(शङ्का) किन्तु आगम-सिद्ध जो (हेतु की) त्रिरूपता है वह भी तो प्रमाण-सिद्ध है। इस पर कहते हैं—'अवस्तु दर्शनबलप्रवृत्त'। (इसका अर्थ है—) अवस्तु का ज्ञान अर्थात् विकल्पमात्र, उसके बल (=सामर्थ्य) से प्रवृत्त होने वाला। अनुमान की जो त्रिरूपता आगम से सिद्ध होती है वह वस्तु-तथ्य पर आश्रित न होने वाले (अप्रमाण) विकल्पमात्र से निश्चित की जाती है, प्रमाण से नहीं।

अप्रमाणात्—अविसंवादक ज्ञान ही प्रमाण कहलाता है। जो ज्ञान वस्तु से उत्पन्न होता है, वही अविसंवादक ज्ञान है। इस प्रकार प्रत्यक्ष तथा लिङ्गज विकल्प (वस्तु से उत्पन्न अनुमान) ही प्रमाण होता है, अन्य सभी ज्ञान अप्रमाण होते हैं (अप्रमाणम् अन्यज् ज्ञानम्, न्या० वि० टी० १.१)। इसीलिये वस्तुतथ्य को देखे बिना केवल आगम मात्र के आधार पर जो अनुमान प्रवृत्त होता है, वह प्रमाण-सिद्ध नहीं होता, अपि तु विकल्पमात्र या अप्रमाण ज्ञान पर आश्रित होता है।

तद् इति—किन्तु आगम-सिद्ध त्रिरूपता से युक्त अनुमान कहाँ प्रयुक्त होता है? इस पर बतलाया है—तदर्थ इत्यादि। उस आगम का जो विषय सामान्य आदि है, जो कि अतीन्द्रिय है, प्रत्यक्ष तथा अनुमान का विषय नहीं है, उसके विचार के प्रसङ्ग (सन्दर्भ) में आगम पर आश्रित अनुमान का प्रयोग सम्भव है। आचार्य (दिङ्नाग) ने उसी विषय में विरुद्धाव्यभिचारी (हेत्वाभास) बतलाया है ॥११४॥

कस्मात् पुनर् इति—आगमविषयक अनुमान में भी इस (विरुद्धाव्यभिचारी) का होना कैसे सम्भव है? इस पर कहा है—

---

१. ०नुमानेन A.B.H.P.
२. सिद्धं C.
३. 'तदर्थेति' नास्ति B.
४. अयोऽप्य A.

शास्त्रकाराणाम् अर्थेषु भ्रान्त्या[1] विपरीतस्वभावोपसंहारसम्भवात्[2] ॥११५॥

शास्त्रकृतां विपरीतस्य वस्तुविरुद्धस्य स्वभावस्य उपसंहारो ढौकनम् अर्थेषु । तस्य सम्भवाद् विरुद्धाव्यभिचारिसम्भवः । भ्रान्त्येति विपर्यासेन । विपर्यस्ता हि शास्त्रकाराः सन्तम्[3] असन्तं स्वभावम् आरोपयन्ति, इति ॥११५॥

यदि शास्त्रकृतोऽपि भ्रान्ताः, अन्येष्वपि पुरुषेषु क आश्वास इत्याह—

न ह्यस्य सम्भवो[4] यथावस्थितवस्तुस्थितिष्वात्मकार्यानुपलम्भेषु[5] ॥११६॥

न हीति । न हेतुषु कल्पनया हेतुत्वव्यवस्था । अपि तु वस्तुस्थित्या ततो—यथावस्थितवस्तुस्थितिषु आत्मकार्यानुपलम्भेषु—अस्य सम्भवो नास्ति ।

अवस्थितं परमार्थसद् वस्तु तदनतिक्रान्ता यथावस्थिता[6] वस्तुस्थिति-

---

शास्त्रकारों को पदार्थों के विषय में भ्रान्ति हो जाने के कारण वस्तु के विपरीत स्वरूप की कल्पना होना सम्भव ही है ॥११५॥

शास्त्रकारों के द्वारा विपरीत अर्थात् वस्तु के विरुद्ध स्वभाव (=स्वरूप) का उपसंहार अर्थात् अर्थों की कल्पना किया जाना सम्भव ही है । उस (कल्पना) के होने के कारण विरुद्धाव्यभिचारी हेतुदोष हो सकता है । यह भ्रान्ति = मिथ्याप्रतीति से होता है । वस्तुतः भ्रान्तियुक्त शास्त्रकार विद्यमान या अविद्यमान स्वभाव का पदार्थों में आरोप कर लेते हैं ॥११५॥

यदीति—(शङ्का) यदि शास्त्रकार भी भ्रान्त होते हैं तो अन्य मनुष्यों पर क्या विश्वास हो सकता है ? इस पर कहते हैं—

जिन स्वभाव (आत्म) कार्य तथा अनुपलब्धि में परमार्थसत् वस्तु के अनुसार निश्चय किया जाता है, उनमें इस (विरोध) का होना सम्भव नहीं है ॥११६॥

हेतुओं में कल्पना से हेतुता का निश्चय नहीं किया जाता अपि तु वस्तु-स्थिति के आधार पर । इसलिये जिन स्वभाव कार्य और अनुपलब्धि (हेतुओं) में परमार्थसत् वस्तु के अनुसार निश्चय किया जाता है, उनमें इस (विरुद्ध) का होना सम्भव नहीं है ।

अवस्थित का अर्थ है—परमार्थसत् वस्तु । उसका अतिक्रमण न करने वाली =यथावस्थिता (=परमार्थसत् वस्तु के अनुसार होने वाली), ऐसी है वस्तुस्थिति

---

१. विपरीतस्य B.E.H.P.
२. भावस्योप N.
३. तन्तम् E.
४. सम्भवोऽस्ति C.
५. कार्येपूपलम्भेपु B.H.P.
६. ०स्थितवस्तु० C.

व्यवस्था[1] येषां ते यथावस्थितवस्तुस्थितयः। ते हि यथा वस्तु स्थितं तथा स्थिताः[2], न कल्पनया। [3]ततस्तेषु न भ्रान्तेर् अवकाशोऽस्ति येन विरुद्धव्यभिचारिसम्भवः स्यात् ॥११६॥

[4]तत्रोदाहरणम्—यत् सर्वदेशावस्थितैः [5]स्वसम्बन्धिभिर् युगपत् अभिसम्बध्यते तत् सर्वगतम्; यथाकाशम्[6]। अभिसम्बध्यते च[7] सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर् युगपत् सामान्यम् इति ॥११७॥

तत्र विरुद्धाव्यभिचारिणि, उदाहरणम्। यत् सर्वस्मिन् देशेऽवस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर्युगपद् अभिसम्बध्यते—'इति। सर्वदेशावस्थितैर् अभिसम्बध्यमानत्वं सामान्यस्य अनूद्य सर्वगतत्वं विधीयते। तेन युगपद् अभिसम्बध्यमानत्वं सर्वगतत्वे नियतं तेन व्याप्तं कथ्यते।

अर्थात् व्यवस्था (=निश्चय) जिनकी वे 'यथावस्थितवस्तुस्थिति' कहे गये हैं। जैसी वस्तु विद्यमान हैं उसी प्रकार से वे (स्वभाव, कार्य अनुपलब्धि) निश्चित किये गये हैं, कल्पना से नहीं है। इसलिये उनमें भ्रान्ति का अवसर नहीं है, जिससे कि विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास का होना सम्भव हो सके ॥११६॥

परमार्थसत्—अर्थक्रिया में समर्थ, (अर्थक्रियासमर्थत्वं परमार्थसत्, धर्मो० प्र०, पृ० २२७)। श्चेरवात्स्की का कथन है कि यहाँ 'परमार्थसत्' शब्द पूर्णतः 'स्वलक्षण' के अर्थ में नहीं है, अपि तु किसी भी ऐसी वस्तु के लिये है जो परमार्थसत् वस्तु से सम्बद्ध है (बु० लॉ० २, पृ० २२५ टि० ३)।

ततः—यतः ते कल्पनया न स्थापिताः (धर्मो० प्र०, पृ० २२८); क्योंकि वे कल्पना से निश्चित नहीं किये जाते इसलिये।

येन—भ्रान्त्यवकाशेन (धर्मो० प्र०, पृ २२८) भ्रान्ति के अवसर से।

तत्रेति—

उस (विरुद्धाव्यभिचारी) में उदाहरण है—जो (पदार्थ) समस्त प्रदेशों में स्थित अपने सम्बन्धियों से एक साथ सम्बद्ध होता है, वह सर्वगत (सबमें विद्यमान) होता है, जैसे आकाश। और, सामान्य (जाति), समस्त प्रदेशों में स्थित अपने सम्बन्धियों से एक साथ सम्बद्ध होती है ॥११७॥

'उस अर्थात् विरुद्धाव्यभिचारी में उदाहरण है—जो (पदार्थ) सब प्रदेशों में विद्यमान अपने सम्बन्धियों से एक साथ सम्बद्ध होता है'—इस (कथन) से सब प्रदेशों में विद्यमान (पदार्थों) से सामान्य के सम्बन्ध को उद्देश्य करके सर्वगतता का विधान किया गया है। इसलिये 'एक साथ सम्बद्ध होना' सर्वगतता के साथ नियमपूर्वक रहने वाला (अविनाभावी) है। इस प्रकार यह व्याप्त (हेतु) कहा गया है।

---

१. ०स्थितिव्यवस्था A.B.E.H.P. २. स्थापिताः C.D
३. अतः A.B.E.H.N.P. ४. अत्रोदा० E.
५. ०तैं सम्बन्धिभिः सम्ब० C., तैः स्वसम्बन्धिभिः सम्ब० B.H.N.P.
६. काशमिति C. ७. 'च' नास्ति B.H.N.P.
८. तत् A.B.E.H.N.P.

इह सामान्यं कणादमहर्षिणा निष्क्रियं दृश्यम् एकं[1] चोक्तम् । युगपच्च च सर्वैः स्वैः[2] सम्बन्धिभिः समवायेन सम्बद्धम् । तत्र पैलुकेन कणादशिष्येण व्यक्तिषु व्यक्तिरहितेषु च देशेषु सामान्यं स्थितं साधयितुं प्रमाणम् '[3]इदम् उपन्यस्तम् । यथाकाशम् इति—व्याप्तिप्रदर्शनविषयो दृष्टान्तः । आकाशम् अपि हि सर्वदेशावस्थितैर् वृक्षादिभिः स्वसंयोगिभिर्युगपद् अभिसम्बध्यमान सर्वगतं च । अभिसम्बध्यते च[4] सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिरः, इति हेतोः पक्षधर्मत्वप्रदर्शनम् ॥११७॥

व्याप्तं कथ्यते—यहाँ समस्त सजातीय व्यक्तियों से एक साथ (युगपत्-एक समय) सम्बन्ध होना (युगपद् अभिसम्बध्यमानत्वम्) हेतु है । सम्बन्धी व्यक्तियों के स्थल में तथा उनके अन्तराल प्रदेश में भी रहना (सर्वगतत्व) साध्य है । भाव यह है—क्योंकि गोत्व आदि सामान्य सभी गोव्यक्तियों से युगपत सम्बद्ध होती हैं इसलिये गोत्व आदि गो व्यक्तियों तथा उनके अन्तराल प्रदेश में भी विद्यमान हैं ।

इहेति—सामान्य-विचार के प्रसङ्ग में (इह=यहाँ) कणाद महर्षि ने कहा है कि सामान्य निष्क्रिय है दर्शनयोग्य है तथा एक है । और, वह एक साथ अपने सभी सम्बन्धियों के साथ समवाय से सम्बद्ध है । उस प्रसङ्ग में (तत्र) कणाद के शिष्य पैलुक ने—व्यक्तियों में तथा व्यक्ति-रहित प्रदेशों में सामान्य की सत्ता को सिद्ध करने के लिये यह प्रमाण प्रस्तुत किया है । जैसे आकाश—यह व्याप्ति के प्रदर्शन का विषय दृष्टान्त है । आकाश भी समस्त प्रदेशों में स्थित वृक्ष आदि स्वसंयुक्त पदार्थों से युगपत् सम्बन्ध रखता है तथा सर्वव्यापक है (इसी प्रकार सामान्य) "समस्त प्रदेशों में स्थित अपने सम्बन्धियों के साथ सम्बद्ध होती है"—इस (कथन) से हेतु का पक्ष में होना दिखलाया गया है ॥११७॥

कणादमहर्षिणा—कणाद के नाम से जो वैशेषिक सूत्र उपलब्ध हैं उनमें इस प्रकार का कोई सूत्र दृष्टिगोचर नहीं होता । वैशेषिक सूत्र मे कहा गया है—'सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्' (१.२.३) । इसका अर्थ स्पष्ट नहीं । किञ्च, इससे उपर्युक्त अर्थ नहीं निकलता । अतः धर्मोत्तर के इस वचन का क्या आधार है ? यह विचारणीय है ।

निष्क्रियम्—क्रियाशून्य, गोत्व आदि सामान्य अमूर्त है, अतः क्रियाशून्य है, वह एक गोव्यक्ति से दूसरी में नहीं जा सकती ।

एकम्—गोत्व इत्यादि प्रत्येक गो व्यक्ति में समान ही है, उसमें कोई भेद नहीं अतः वह एक है । सभी गायों में रहने वाली 'गोत्व' नामक सामान्य एक ही है ।

दृश्यम्—वैशेषिक का मन्तव्य है कि जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस पदार्थ का ग्रहण

१, दृश्यमेवोक्तम् B. २, स्वै स्वै A.E.H.N.P. स्वैः स्वै स्वसम्ब० B.
३, 'इदम्' नास्ति C. ४, वा B.

होता है तद्गत सामान्य का भी उसी इन्द्रिय से ग्रहण हो जाता है, अतः सामान्य दृश्य है, प्रत्यक्ष ग्राह्य है (द्र०, वै० सू० ४.१.१३)।

समवायेन—कोई सामान्य अपने आश्रय में समवाय सम्बन्ध से रहती है, यथा 'गोत्व जाति गो व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से रहती है।

पैलुक—पीलु=परमाणु। यहाँ उपचार से 'पीलु' शब्द का अर्थ है—पीलुपाक। पीलुपाक को मानने वाला (पीलुपाकवादी) ही पैलुक कहलाता है (पीलुनिमित्तेन व्यवहरित इति पैलुकः)। वैशेषिक पीलुपाकवादी है और नैयायिक पिठरपाकवादी। सन्दर्भ यह है कि तेज (ताप) के संयोग से घट आदि या आम आदि का रूप बदल जाता है। उस की प्रक्रिया के विषय में वैशेषिक का मत है कि अग्नि के संयोग से घट क्रमशः कपाल रूप में तथा कपाल के अवयव आदि के रूप में टूटता हुआ परमाणु की अवस्था तक पहुँच जाता है। उन परमाणुओं में नील रूप का नाश होकर रक्त रूप उत्पन्न हो जाता है। और, फिर उन रक्त परमाणुओं से द्वयणुक आदि के क्रम से घट बन जाता है। इस प्रकार पाक अर्थात् ताप की क्रिया पीलु (परमाणु) पर होती है, घट आदि पात्र (पिठर) पर साक्षात् रूप से नहीं। अतः पीलुपाक=ताप के संयोग से परमाणुओं का पाक मानना ही युक्तियुक्त है। किन्तु नैयायिक का कथन एक है कि घट का टूटकर परमाणु अवस्था तक पहुँच जाना और फिर परमाणुओं से घट का बनना तो दिखाई नहीं देता। इस लिये यही मानना चाहिये कि ताप के संयोग से घट की अवस्था के रहते ही नील रूप का नाश होकर उसमें रक्तरूप की उत्पत्ति हो जाती है। अतः पिठर अर्थात् घट आदि पात्र (बर्तन) का पाक होता है। यही पिठरपाक-वाद है।

धर्मोत्तर की व्याख्या से यह स्पष्ट है कि सामान्य किस प्रकार व्यक्तियों में रहती है—इस विषय में प्राचीन न्याय-वैशेषिक में मत-भेद था। यद्यपि उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थों में इस मतभेद को पृथक् पृथक् नहीं दिखलाया गया, तथापि उनके अनुशीलन से यह प्रकट अवश्य हो जाता है। यहाँ उद्धृत पैलुक का मत हमें प्रशस्तपाद भाष्य (पृ० ७५३-५४) में उपलब्ध होता है तथा आगे (३.१२० में) उद्धृत पैठर का सामान्य-सम्बन्धी मन्तव्य न्यायवार्त्तिक (पृ० ३१५ प० १५ तथा आगे) में विद्यमान है। उन्हीं ग्रन्थों के आधार पर यहाँ वैशेषिक (=पैलुक) और नैयायिक (=पैठर) के सामान्य विषयक इन मतों का उल्लेख किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है।

आकाशमपि—वैशेषिक के अनुसार वृक्ष आदि के साथ आकाश का संयोग सम्बन्ध है, समवाय नहीं। यहाँ केवल "युगपत् समस्त सम्बन्धियों के साथ सम्बद्ध होना" ही आकाश नामक दृष्टान्त के साथ पक्ष का साधर्म्य है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० २२९)।

अस्य स्वभावहेतुत्वं [1]योजयितुम् आह—

तत्सम्बन्धिस्वभावमात्रानुबन्धिनी तद्देशसन्निहितस्वभावता ॥११८॥

तत्सम्बन्धीति । तेषां सर्वदेशावस्थितानां द्रव्याणां सम्बन्धी सामान्यस्य स्वभावः स एव तत्सम्बन्धिस्वभावमात्रम् । तद् अनुबध्नातीति तदनुबन्धिनी ।

कासावित्याह—तद्देशसन्निहितस्वभावता । तेषां सम्बन्धिनां देशस् तद्देशः । तद्देशे सन्निहितः स्वभावो[2] यस्य तत् तद्देशसन्निहितस्वभावम्[3] । तस्य भावस्तत्ता । यस्य हि येषां सम्बन्धी स्वभावः तन्नियमेन तेषां देशे सन्निहितं भवति । ततस तत्सम्बन्धित्वानुबन्धिनी तद्देशसन्निहितता सामान्यस्य ॥११८॥

ननु च गवां सम्बन्धी स्वामी । न च गोदेशे[4] सन्निहितस्वभावः[4] । तत् कथं

अस्येति—यह स्वभाव हेतु है, यह दिखलाने के लिये कहा है—

उन (सम्बन्धियों) के देश में उपस्थित (सन्निहित) होने का जो स्वभाव है वह उनके साथ सम्बन्ध रखने के स्वभावमात्र का अविनाभावी है ॥११८॥

उन समस्त प्रदेशों में स्थित द्रव्यों (व्यक्तियों) से सम्बद्ध होना (सम्बन्धी) सामान्य का स्वभाव है, केवल वही (=तत् सम्बन्धिस्वभावमात्रम्) उनसे सम्बद्ध होने का स्वभाव मात्र है । उस (स्वभाव) का नियमतः अनुसरण (=अनुबन्धन) करने वाली को तदनुबन्धिनी कहा गया है । यह (तदनुबन्धिनी) कौन है ? इस पर कहा है—तद्देशसन्निहितस्वभावता (=उन सम्बन्धियों के स्थल में सामान्य की सत्ता का होना) । यहाँ तद्देश का अर्थ है—उन सम्बन्धियों का देश; उस देश में उपस्थित है सत्ता जिसकी वह तद्देशसन्निहितस्वभावा होगी, उसका भाव (तत्ता)=तद्देशसन्निहित-स्वभावता, क्योंकि जिस पदार्थ का अपना स्वरूप (भाव. तत्त्व) जिनसे सम्बद्ध है, वह नियम से उन पदार्थों के स्थल में विद्यमान होता है; इसलिये सामान्य की अपने समस्त सम्बन्धियों के साथ सम्बद्धता का नियमतः अनुसरण करने वाली उन (सम्बन्धियों) के स्थल में उपस्थिति सिद्ध होती है ॥११८॥

द्रव्याणाम्=गो आदि का; यह गोत्व आदि सामान्य को दृष्टि में रखकर कहा गया है । यहाँ 'द्रव्य' शब्द उपलक्षण है अतः इसका अर्थ है—व्यक्तियों का । इसीलिये गुणों में स्थित रूपत्व आदि तथा कर्मों में स्थित उत्क्षेपणत्व आदि सामान्यों का भी संग्रह हो जाता है ।

नियमेन=नियमतः, अवश्य ही । जिस पदार्थ का स्वरूप जिन वस्तुओं से सम्बद्ध (समवेत) होता है, वह पदार्थ अवश्य ही उनमें विद्यमान रहता है—यह व्याप्ति है ।

ननु चेति—(शङ्का) गायों से सम्बन्ध रखने वाला उनका स्वामी है और उस

---

१. प्रयोजयितुम् A.B.H.N.P., योजयन्नाह E.
२. स्वभावः C.D.E.
३. तद्देशे A.B.E.H.P., तद्देशसन्नि० N.
४. ०भावः स्वामी A.B.E.H.N.P.

[1]तत्सम्बन्धित्वात् तद्देशत्वम् ? इत्याह—

न हि यो यत्र नास्ति स तद्देशम् आत्मना व्याप्नोतीति स्वभावहेतु-प्रयोगः ॥११६॥

न हीति । यो यत्र देशे नास्ति स देशो यस्य स तद्देशः तं न व्याप्नोत्यात्मना स्वरूपेण । इह सामान्यस्य तद्वतां च समवायलक्षणः [2]सम्बन्धः । स चाभिन्नदेशयोर् एव । [3]तेन यत्र यत् समवेतं तत् तद् आत्मीयेन रूपेण क्रोडीकुर्वत् [4]समवायिरूपदेशे स्वात्मानं निवेशयति । [5]तद्देशरूपनिवेशनम् एव तत्क्रोडीकरणम् । ततस् तत्समवायः । तस्माद् यद् यत्र समवेतं तत् तद्[6] द्रव्यं व्याप्नुवद् आत्मना तद्देशे सन्निहितं भवति ।

(स्वामी) की सत्ता उन गायों के प्रदेश में (सर्वत्र) नहीं होती; फिर किसी का सम्बन्धी होने के कारण उसके देश में उपस्थित रहना कैसे बन सकता है ? इस पर कहा है—

जो जहां नहीं है वह उसके स्थल को अपने स्वरूप से व्याप्त नहीं करता, यह स्वभाव हेतु का प्रयोग है ॥११६॥

न हि इत्यादि । जो पदार्थ जिस प्रदेश में नहीं होता वह अपने स्वरूप से उस देश वाली (सः देशो यस्य) वस्तु को व्याप्त नहीं करता । यहाँ सामान्य और सामान्य से युक्त वस्तुओं (व्यक्तियों) का समवाय नामक सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध एक स्थल में रहने वाली वस्तुओं में ही हो सकता है । इसलिये जो वस्तु जहाँ समवाय सम्बन्ध से रहती है वह उसको अपने रूप से व्यापती हुई (=क्रोडीकुर्वन्) समवायी के स्थल में अपने आपको स्थापित करती है । उस स्थल में अपने रूप की स्थापना ही उस (वस्तु=समवायी) में व्याप्त होना है । उसके स्थान में अपने रूप की स्थापना करने के कारण ही उस सम्बन्धी का समवाय कहलाता है । इसलिये जो (पदार्थ) जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहता है, वह उस द्रव्य में व्याप्त होता हुआ स्वयं उस प्रदेश में स्थित होता है ।

समवायिरूपदेशः—समवायिरूपस्य देशः अथवा समवायिरूपम् एव देशः यहाँ 'समवायी' शब्द का अर्थ है—आधार (धर्मो० प्र०, पृ० २३१) ।

तद्देशरूपनिवेशनम—स चासौ देशश्च तद्देशः, तत्र रूपस्य स्वरूपस्य निवेशनम्, उस स्थान में अपने रूप की स्थापना ।

ततः=तस्मात्=तद्देशरूपनिवेशनात् ।

तत्समवायः—तस्य सम्बन्धिनः समवायः, उस सम्बन्धी का समवाय ।

---

१. 'तत' नास्ति A.B.C.D.H.N.P.　　२. लक्षणसम्बन्धः A.

३. अनेन B.　　४. समवायरूप० C.

५. तद्देशे D.　　६. तत्र E.

तद् अयम् अर्थः—तद्देशस्थवस्तुव्यापनं तद्देशसत्तया व्याप्तम् । तद्देश-सत्ताभावे[1] तद्व्यापनाभावाद् व्यापनलक्षणः समवायसम्बन्धो न स्यात् । अस्ति च व्यापनम् । अतस्तद्देशे सन्निहितत्वम इति । तद् अयं स्वभावहेतुः ॥११९॥

पैठरप्रयोगं दर्शयन् आह—

द्वितीयोऽपि प्रयोगः—यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन् नोपलभ्यते न तत तत्रास्ति । तद् यथा क्वचिद् अविद्यमानो घटः[2] । नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेष्विति ॥१२० क॥

'द्वितीयोऽपि' इति । यद उपलब्धेर् लक्षणतां विषयतां प्राप्तं 'दृश्यम्' इत्यर्थः । एतेन दृश्यानुपलब्धिम अनूद्य 'न[3] तत् तत्रास्ति' इत्यसद्व्यवहार्यत्वं[4] विहितम् । ततो [5]व्याप्यदृश्यानुपलब्धेर् व्यापकम् असदव्यवहार्यत्वं दर्शितम् ।

तद् अयम् इति—इस प्रकार यह अभिप्राय है—'किसी देश में स्थित वस्तु में व्यापक होना' उसके देश में विद्यमानता से व्याप्त है (जो पदार्थ किसी देश में स्थित वस्त में व्यापक होता है वह उस देश में विद्यमान होता है. यह व्याप्ति है) । यदि उसके देश में उपस्थिति न होगी तो वह उसमें व्यापक भी नहीं हो सकता; क्योंकि एक वस्तु का अन्य वस्तु में व्यापक होना ही समवाय का स्वरूप है । किन्तु (सामान्य की व्यक्तियों में) व्यापकता है, इसलिये व्यक्तियों के प्रदेश में उपस्थिति भी है । इस प्रकार यह स्वभावहेतु है ॥११९॥

स्वभावहेतुः—यहाँ मामान्य का समस्त प्रदेशों में स्थित सम्बन्धियों (व्यक्तियों) से सम्बद्ध होना—हेतु है । 'सामान्य का सर्वगतत्व' साध्य है, जो प्रस्तुत हेतु की सत्ता मात्र से सिद्ध हो जाता है । इसलिये प्रस्तुत हेतु स्वभावहेतु है ।

पैठरप्रयोगम् इति—पैठर (नैयायिक) के प्रयोग को दिखलाते हुए कहा है—

जो दर्शन के योग्य वस्तु विद्यमान होते हुए भी उपलब्ध नहीं होती, वह वहाँ नहीं है; जैसे कहीं अविद्यमान घट । और, दर्शन के योग्य होकर भी सामान्य की व्यक्तियों के मध्य में उपलब्धि नहीं होती (अतः सामान्य सर्वगत नहीं) ॥ १२० क ॥

द्वितीयोऽपि इत्यादि । जो (पदार्थ) उपलब्धि (ज्ञान) की लक्षणता (= विषयता) को प्राप्त हुआ है; अर्थात दृश्य है । इस (कथन) से दृश्यानुपलब्धि को उद्देश्य करके 'वह वहाँ नहीं है' इस रूप में 'वह अभाव-व्यवहार के योग्य है' इसका विधान किया गया है । इस प्रकार दृश्यानुपलब्धि व्याप्य (साधन या हेतु) है, उसका व्यापक (साध्य) अभाव-व्यवहार के योग्य होना दिखलाया गया है । 'तद्यथा' इत्यादि से कहीं अविद्यमान घट दृष्टान्त कहा गया है । पक्षधर्मता दिखलाते हुए कहा गया है—

---

१. तद्देशसत्ताया अभावे B.C. २. घट इति C.
३. 'न' नास्ति B., 'त' A., ०नूद्य तत्तत्र H.P. ४. व्यवहारविषयत्वम् D.
५. व्याप्य E.

तद्यथेति क्वचिद् असन् घटो दृष्टान्तः। पक्षधर्मत्वं दर्शयितुम् आह—नोपलभ्यते चेति। 'व्यक्त्यन्तरालं—व्यक्त्यन्तरं च व्यक्तिशून्यं चाकाशम्। दृश्यम् अपि कस्याञ्चिद् व्यक्तौ गोसामान्यम् अश्वादिषु व्यक्त्यन्तरेषु व्यक्तिशून्ये[२] चाकाशे नोपलभ्यते[३]। तस्मान्न तेष्वस्तीति गम्यते॥१२०क॥

अयम् अनुपलम्भः[४] स्वभावश्च परस्परविरुद्धार्थसाधनाद्एकत्र संशयं जनयतः ॥१२०ख॥

अयम् अनुपलम्भः पूर्वोक्तश्च स्वभावः परस्परस्य[५] विरुद्धौ यावर्थौ तयोः साधनात् तावेकस्मिन् धर्मिणि संशयं जनयतः। न ह्येकोऽर्थः परस्पर-विरुद्धस्वभावो भवितुम् अर्हति। एकेन चात्र व्यक्त्यन्तरेषु[६] व्यक्तिशून्ये चाकाशे सत्त्वम्, अपरेण चानुपलम्भेनासत्त्वं साध्यते। न चैकस्यैकदैकत्र सत्त्वं असत्त्वं [७]च युक्तम्, तयोर्विरोधात्। [८]तद् आगमसिद्धस्य सामान्यस्य सर्वगतत्वासर्वगत-त्वयोः साध्ययोरेतौ विरुद्धाव्याभिचारिणौ जातौ।

नोपलभ्यते च इत्यादि। 'व्यक्तियों का मध्य', इसका अर्थ है—अन्य व्यक्तियाँ तथा व्यक्तिरहित आकाश। गोत्व इत्यादि सामान्य यद्यपि किसी (गो) व्यक्ति में दर्शनयोग्य है तथापि वह अश्व आदि अन्य व्यक्तियों में तथा व्यक्तिरहित आकाश में उपलब्ध नहीं होती। इसलिये उनमें नहीं है, यह प्रतीत होता है ॥१२० क॥

अयम् इति—

यह अनुपलब्धि और (उपर्युक्त) स्वभावहेतु परस्पर विरुद्ध अर्थों (धर्मों) को सिद्ध करते हैं अतः एक धर्मी में संशय उत्पन्न करते हैं ॥१२०ख॥

यह अनुपलब्धि और उपर्युक्त स्वभावहेतु दोनों एक दूसरे के विरुद्ध अर्थों को सिद्ध करते हैं; इसलिये वे दोनों एक धर्मी (सामान्य) में संशय उत्पन्न करते हैं। क्योंकि एक ही पदार्थ परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाला नहीं हो सकता। किन्तु यहाँ एक (स्वभावहेतु) के द्वारा तो अन्य व्यक्तियों तथा व्यक्तिरहित आकाश में (सामान्य की) सत्ता सिद्ध की जा रही है और दूसरे (अनुपलब्धि हेतु) से (सामान्य का) अभाव सिद्ध किया जा रहा है। एक ही वस्तु का एक समय एक स्थान में होना (सत्ता) तथा न होना युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि उन दोनों (सत्त्व और असत्त्व) में विरोध है। इस प्रकार यहाँ आगम-प्रतिपादित सामान्य में दो साध्य हैं—सर्वव्यापकता तथा उसका अभाव और उनकी सिद्धि में उपर्युक्त दोनों हेतु (एतौ) विरुद्धाव्यभिचारी हो जाते हैं।

एकस्मिन् धर्मिणि—सामान्य नाम का कोई एक पदार्थ है या नहीं, इस प्रकार का संशय उत्पन्न कर देते हैं; क्योंकि एक ही वस्तु में दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते।

---

१. व्यक्तेरन्तरालं A.B.H:P. २. ०रेषु शून्ये A.
३. चोपलभ्य० A.B.H.P. ४. अनुपलम्भप्रयोगः B.D.E.H.N.P.
५, परस्परविरु० A.B.C.E.H N.P,
६, 'व्यक्त्यन्तरेषु'—नास्ति B, ७. वा D, ८, तस्माद्B,

यतः सामान्यस्यैकस्य युगपत् सर्वदेशावस्थितैर् अभिसम्बन्धित्वं[1] चाभ्युपगतं दृश्यत्वं च । ततः सर्वसम्बन्धित्वात् सर्वगतत्वम्, दृश्यत्वाद् अन्तरालानुपलम्भाद्[2] असर्वगतत्वम् । ततः शास्त्रकारेणैव विरुद्धव्याप्तत्वम् अपश्यता विरुद्धव्याप्तौ धर्मावुक्त्वा[3] विरुद्धाव्यभिचार्यवकाशो दत्त इति । न च[4] वस्तुन्यस्य[5] सम्भवः ॥१२० ख॥

इत्युक्ता हेत्वाभासाः ।

आगमसिद्धस्य—कणाद के शास्त्र (वैशेषिक सूत्र) द्वारा प्रतिपादित । कणाद ने उपर्युक्त प्रकार की सामान्य का प्रतिपादन किया था । उस सामान्य के स्वरूप का विचार करते हुए पैलुक और पैठर ने दो प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत की थीं । यहाँ दुर्वेक मिश्र ने पैलुक और पैठर दोनों को कणाद का शिष्य बतलाया है (कणादस्यैवापर शिष्यः पैठरः, धर्मो० प्र०, पृ० २३२) तात्पर्यनिबन्धनटिप्पन में पैलुक को वैशेषिक तथा पैठर को नैयायिक कहा गया है (धर्मो० प्र०, पृ० २७४) । यही मत अधिक सङ्गत प्रतीत होता है (द्र०, ऊपर 'पैलुक' पर टिप्पणी) ।

यत इति—क्योंकि एक ही सामान्य का एक साथ सब स्थानों में स्थित (व्यक्तियों) में समवेत होना माना गया है और दृश्य होना भी । इस प्रकार सब से सम्बद्ध होने के कारण वह (सामान्य) सर्वगत है और दृश्य होने के कारण सर्वगत नहीं है; क्योंकि वह व्यक्तियों के बीच में दिखलाई नहीं देती । इसलिये शास्त्रकार (कणाद) ने ही विरुद्धव्याप्ति को न देखकर विरुद्ध साध्यों से व्याप्त दो धर्म (सर्वसम्बन्धित्व और दृश्य) बतला दिये हैं तथा विरुद्धाव्याभिचारी को अवसर दिया है। किन्तु परमार्थसत् वस्तु में इस (विरुद्धाव्यभिचारी) का होना सम्भव नहीं है ॥ १२० ख ॥

इस प्रकार हेत्वाभास कहे गये हैं ।

शास्त्रकारेणैव—शास्त्रकार (कणाद) ने सामान्य को युगपत् सर्वसम्बन्धिसम्बद्ध और दृश्य बतलाया है । युगपत् सर्वसम्बन्धिसम्बद्धत्व हेतु के द्वारा सामान्य का सर्वगतत्व सिद्ध किया जाता है । दूसरी ओर यदि सामान्य दृश्य है तो व्यक्तियों के मध्य में भी दिखलाई देनी चाहिये ; किन्तु दिखलाई नहीं देती । इसलिये यह 'दृश्यता' सर्वगतत्व के अभाव (असर्वगतत्व) की अविनाभावी (अव्यभिचारी) है । इस प्रकार दृश्यत्व विरुद्धव्याप्त हेतु है । शास्त्रकार ने इस विरुद्ध व्याप्ति का विवेक न करके भ्रान्ति से सामान्य में दो विरुद्ध व्याप्त धर्मों को बतला दिया है तथा विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास को अवकाश प्रदान किया है ।

---

१. ०भिसम्बद्धत्वम् B, भिसम्बन्धत्वम् D, २. अन्तरालाद् अनु० T.
३. धर्मावुक्तौ । इह विरुद्धा० B., धर्मावुक्तौ विरु० C. D.
४. 'च' नास्ति B.D. ५. ० स्य हेतोः सम्भवः B.D.

ननु च साधनावयवत्वाद् यथा हेतव उक्ताः, तत्प्रसङ्गेन 'च हेत्वाभासाः तथा साधनावयवत्वाद् दृष्टान्ता वक्तव्याः, तत्प्रसङ्गेन च दृष्टान्ताभासाः। तत् कथं नोक्ताः। इत्याह—

त्रिरूपो[2] हेतुरुक्तः। तावता [3]चार्थप्रतीतिरिति न पृथग्दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित् तेन नास्य लक्षणं पृथग् उच्यते गतार्थत्वात्।।१२१।।

त्रिरूपो हेतुरुक्तः, तत् किं दृष्टान्तैः ? स्याद् एतत् तावता नार्थप्रतीति-रित्याह—तावता चेति[4]। उक्तलक्षणेनैव हेतुना भवति साध्यप्रतीतिः। [5]अतः स एव गमकः। [6]ततस् तद्वचनम् एव साधनम्। न दृष्टान्तो नाम साधनस्यावयवः यतश्चायं नावयवः, तेन नास्य दृष्टान्तस्य लक्षणं हेतुलक्षणात् पृथग् उच्यते।

---

२४. दृष्टान्त और परार्थानुमान में उसका स्थान

ननु चेति—(प्रश्न) जैसे साधन का अवयव होने के कारण हेतु का वर्णन किया गया है; तथा हेतु के प्रसङ्ग से हेत्वाभासों का कथन किया गया है; उसी प्रकार साधन का अवयव होने के कारण दृष्टान्त का भी वर्णन करना चाहिये तथा दृष्टान्ताभासों का भी। फिर उनका वर्णन क्यों नहीं किया ?

इस पर (धर्मकीर्ति ने) कहा है—(उत्तर)

तीन रूपों मे युक्त हेतु का कथन किया गया है। इतने से ही (अनुमित) अर्थ का बोध हो जाता है; इसलिये दृष्टान्त नाम का परार्थानुमान-वाक्य का कोई पृथक् अवयव नहीं है। अतः इस (दृष्टान्त) का लक्षण पृथक् नहीं कहा जा रहा है, क्योंकि यह (हेतु के निरूपण से ही) गतार्थ है ॥१२१॥

तीन रूपों से युक्त हेतु का निरूपण किया गया है, फिर दृष्टान्त (के निरूपण) से क्या लाभ है ? यदि कोई कहे कि हेतु मात्र से तो अर्थ की प्रतीति नहीं होती तो इस पर कहा है—तावतैव इत्यादि। यथोक्त लक्षण वाले हेतु से ही साध्य (अर्थ) की प्रतीति होती है। इसलिये वही (अर्थ का) बोधक होता है और उसका शब्दों द्वारा कथन ही साधनवाक्य (परार्थानुमान) है। दृष्टान्त नाम का कोई साधन वाक्य का अवयव नहीं। क्योंकि यह अवयव नहीं है इसलिये इस दृष्टान्त का लक्षण हेतु के लक्षण से पृथक् नहीं कहा जा रहा है।

साधनावयवत्वात्—दुर्वेक मिश्र के अनुसार शङ्का का आशय यह है—हेतु और दृष्टान्त के द्वारा परोक्ष अर्थ का निश्चय होता है; अकेले हेतु से नहीं। इस प्रकार हेतु और दृष्टान्त का समुदाय ही साधन है और, हेतु तथा दृष्टान्त दोनों साधनवाक्य

१, 'च' नास्ति D. २. त्रिलक्षणो० C.

३. तावतैवार्थ० B.D.E.H.N.P., तावता वा (चा) र्थप्रतीतिसिद्धे रिति C.

४. तावता वे (चे) ति C., तावतैवेति B.D.E.H.N.P.

५. ततः B. ६. 'ततः' नास्ति A.H.P.

कथं तर्हि हेतोर् व्याप्तिनिश्चयो यद्यदृष्टान्तको हेतुर् इति चेत्; नोच्यते हेतुर् अदृष्टान्तक एव । अपि तु न हेतोः पृथग् दृष्टान्तो नाम । हेत्वन्तर्भूत एव दृष्टान्तः । अत एवोक्तं नास्य लक्षणं पृथग् उच्यत इति[1] । न त्वेवम् उक्तम् नास्य लक्षणम् उच्यत इति[2] ।

यद्येवं हेतूपयोगिनोऽपि लक्षणं वक्तव्यम् एवेत्याह—गतार्थत्वात् । गतोऽर्थः प्रयोजनम् अभिधेयं वा यस्य दृष्टान्तलक्षणस्य तत्[3] तथा । तस्य भावस्तत्त्वम्; तस्मात् । दृष्टान्तलक्षणं ह्युच्यते दृष्टान्तप्रतीतिर्यथा स्यात् । दृष्टान्तश्च हेतुलक्षणाद् एवावसितः । ततो दृष्टान्तलक्षणस्य यत् प्रयोजनम्—दृष्टान्तप्रतीतिः—तद् गतं निष्पन्नम् । अभिधेयं वा गतं ज्ञातं[4] दृष्टान्ताख्यम् ॥१२१॥

के अवयव हैं । जब धर्मकीर्ति ने साधन के अवयव हेतु का निरूपण किया है तो दृष्टान्त का निरूपण क्यों नहीं किया ।

गमकः—गमयति प्रत्याययति साध्यम् इति गमकः; जो साध्य का निश्चय कराता है ।

कथम् इति—(शङ्का) यदि हेतु दृष्टान्त-रहित है तो हेतु की व्याप्ति का निश्चय कैसे हो सकता है ? (उत्तर) यह नहीं कहा गया कि हेतु दृष्टान्त–रहित ही होता है, किन्तु यह कहा गया है कि दृष्टान्त हेतु से पृथक् नहीं है । दृष्टान्त हेतु के अन्तर्गत ही है । इसलिये यह कहा गया है कि इस का लक्षण पृथक् नहीं कहा गया, यह नहीं कि इसका लक्षण नहीं कहा गया (अर्थात् न्यायबिन्दु में 'पृथक्' शब्द का ग्रहण किया गया है ।)

(शङ्का) यदि ऐसी बात है तो हेतु के उपयोगी दृष्टान्त का भी लक्षण बतलाना ही चाहिये था । इस पर कहा है –(समाधान) गतार्थत्वात् (गतार्थ हो जाने से) । प्राप्त हो चुका है (गतः) अर्थ=प्रयोजन या वाच्यार्थ जिस दृष्टान्त के लक्षण का, ऐसा वह (=गतार्थ । उसका भाव (=गतार्थत्व), उससे (=गतार्थत्वात्) । दृष्टान्त का लक्षण इसलिये किया जाता, जिससे कि दृष्टान्त के स्वरूप की प्रतीति हो जाये । किन्तु दृष्टान्त तो हेतु के लक्षण से ही निश्चित हो गया । इसलिये दृष्टान्त के लक्षण का जो प्रयोजन है—दृष्टान्त (के स्वरूप) की प्रतीति हो जाना—वह गत अर्थात् निष्पन्न (पूर्ण) हो गया । अथवा 'दृष्टान्त' नामक जो वाच्यार्थ है वह गत=ज्ञात हो गया ॥१२१॥

गतम्—(१) निष्पन्न, दृष्टान्त के लक्षण का प्रयोजन पूर्ण हो गया अर्थात् हेतु के लक्षण से ही दृष्टान्त के स्वरूप की प्रतीति हो गई है । अथवा (२) ज्ञात; दृष्टान्त का वाच्यार्थ जान लिया गया है ।

---

१. 'इति' नास्ति B.D. २. 'इति' नास्ति B,

३. 'तत्' नास्ति E.N. ४. ज्ञानं B.E.H.P., गतं दृष्टा॰A.

कथं 'गतार्थत्वम् इत्याह—

हेतोः सपक्ष एव सत्त्वम् असपक्षाच्च सर्वतो व्यावृत्ती' रूपम् उक्तम् अभेदेन। पुर्नविशेषेण कार्यस्वभावयोर् 'उक्तलक्षणयोर् जन्मतन्मात्रानुबन्धौ दर्शनीयावुक्तौ। तच्च दर्शयता-यत्र धूमस्तत्राग्निः, असत्यग्नौ न क्वचिद् धूमो यथा महानसेतरयोः; यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वम्, अनित्यत्वाभावे कृतकत्वाऽसम्भवो' यथा घटाकाशयोः—इति दर्शनीयम्। न ह्यन्यथा सपक्ष-विपक्षयोः सदसत्त्वे यथोक्तप्रकारे शक्ये दर्शयितुम्। तत्कार्यतानियमः' कार्यलिङ्गस्य, स्वभावलिङ्गस्य च' स्वभावेन' व्याप्तिः। अस्मिंश्चार्थे' दर्शिते दर्शित एव दृष्टान्तो भवति। एतावन्मात्ररूपत्वात् तस्येति' ॥१२२॥

हेतो रूपम् ''उक्तम् अभेदेन सामान्येन। साधारणं कार्यस्वभावानुपल-

---

कथम् इति (हेतु के लक्षण से ही दृष्टान्त का स्वरूप) कैसे गतार्थ हो गया, यह बतलाते हैं—

सपक्ष में ही होना तथा विपक्ष में सर्वथा न होना—यह हेतु का स्वरूप सामान्यतः (अभेदेन) कहा गया है। फिर विशेष रूप से कहा गया है कि उपरि निर्दिष्ट लक्षण वाले (१) कार्य और (२) स्वभाव हेतु का क्रमशः (कारण से) उत्पत्ति का नियम तथा स्वरूप मात्र (तन्मात्र) के अनुसरण का नियम दिखलाना होता है। उसको दिखलाते हुए— (१) जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है जैसे महानस (पाकशाला) में, अग्नि के न होने पर कहीं भी धूम नहीं, जैसे महानस से भिन्न (इतर विपक्ष सरोवर आदि) में (२) 'जहाँ कृतकत्व है वहाँ अनित्यता है; जैसे घट में; अनित्यता के न होने पर कृतकत्व (कार्य होना) भी सम्भव नहीं, जैसे आकाश में—यह दिखलाना होता है। इसके बिना (अन्यथा) उपर्युक्त प्रकार से (हेतु का) सपक्ष में होना तथा विपक्ष में न होना दिखलाया नहीं जा सकता। साथ ही कार्यहेतु का साध्य (तत्) के कार्य होने का नियम एवं स्वभावहेतु की स्वभाव (रूप साध्य) के साथ व्याप्ति भी नहीं दिखलाई जा सकती। इस तथ्य (सपक्ष में ही होना, विपक्ष में कभी न होना) के दिखला देने पर तो दृष्टान्त भी दिखला दिया गया; क्योंकि उस दृष्टान्त का स्वरूप केवल इतना ही है ॥१२२॥

हेतु का स्वरूप सामान्यतः (अभेदेन=सामान्येन) कहा गया है। अभिप्राय यह है कि वह (हेतुस्वरूप) कार्य, स्वभाव तथा अनुपलब्धि (तीनों) का साधारण लक्षण है।

---

१ गतार्थम् E.
२. व्यावृत्तरूप० B.P., व्यावृत्तो रूप० H.
३. 'उक्तलक्षणयोर्' नास्ति B.D.E.H.N.P.
४. ०सम्भवोऽस्ति C.
५. नियमं C.
६. वा C.
७. वभावव्याप्तिरिति C.
८. 'अस्मिन्नर्थे' C.
९. 'इति' नास्ति C.
१०. अभेदेनोक्तं A.D.E.H.P.

म्भानाम् एतल्लक्षणम् इत्यर्थः। किं पुनस् तत्? सपक्ष एव 'यत् सत्त्वम्, विपक्षाच् च सर्वस्माद् व्यावृत्तिर् या। रूपद्वयम् एतद् अभेदेनोक्तम्।

न च सामान्यम् उक्तम् अपि शक्यं ज्ञातुम्। अतस् तद् एव विशेषनिष्ठं वक्तव्यम्। अतः पुनर् अपि विशेषेण = विशेषवन्तौ जन्मतन्मात्रानुबन्धौ दर्शनीयावुक्तौ। कार्यस्य जन्म ज्ञातव्यम् उक्तम्। जन्मनि हि ज्ञाते[२] कार्यस्य सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षाच् च सर्वस्माद् व्यावृत्तिर् ज्ञाता भवति। स्वभावस्य तन्मात्रानुबन्धो दर्शनीय उक्तः। तद् इति साधनम्। तद् एव तन्मात्रम्—साधनमात्रम्[३]। तस्यानुबन्धोऽनुगमनम्—साधनमात्रस्य[४] भावे भावः साध्यस्य। तन्मात्रभावित्वम् एव हि साध्यस्य तादात्म्यम्। साधनस्य [५]यदा स्वभावो ज्ञातो भवति, तदा स्वभावहेतोः सपक्ष एव सत्त्वम्, विपक्षाच् च सर्वस्माद् व्यावृत्तिर् ज्ञाता भवति। तद् एवं[६] सामान्यलक्षणं विशेषात्मकं ज्ञातव्यं नान्यथा। ततो विशेषलक्षणम् उक्तम्।

वह क्या है? जो (हेतु का सपक्ष) में ही होना और सभी विपक्षों से व्यावृत्ति है। ये दो रूप सामान्यतः कहे गये हैं।

सामान्यतः बतलाया हुआ भी (हेतु का रूप) समझा नहीं जा सकता, अतः उस हेतु के स्वरूप को (तद्) विशेष रूप में बतलाना आवश्यक था। इसीलिये फिर भी विशिष्ट प्रकार से उत्पत्ति का नियमतः अनुसरण तथा स्वरूप मात्र का अनुसरण दिखलाना होता है—यह कहा गया है। कार्य की उत्पत्ति ज्ञातव्य है, यह कहा गया है, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति के जान लेने पर उसका सपक्ष में ही होना तथा विपक्ष में सर्वथा न होना जान लिया जाता है। स्वभाव (रूप साध्य) का साधन-मात्र का अनुसरण करना दिखलाना होता है—यह कहा गया है। (तन्मात्र शब्द में, 'तद्' (वह) का अर्थ है—साधन। केवल वही = तन्मात्र अर्थात् केवल साधन उसका अनुबन्ध = अनुगमन (अनुसरण) अर्थात् केवल साधन के होने पर साध्य का होना। साधनमात्र के होने पर हो जाना ही साध्य का (हेतु के साथ) तादात्म्य है। जब साधन का स्वभाव ज्ञात हो जाता है तब स्वभाव हेतु का सपक्ष में ही होना तथा सभी विपक्षों में न होना जान लिया जाता है। इस प्रकार (हेतु का) सामान्य लक्षण विशेष रूप में ही जानना होता है, अन्य प्रकार से नहीं। इसीलिये (कार्य तथा स्वभाव हेतु का) विशेष लक्षण कहा गया है।

अभेदेन—सामान्येन; हेतु का साधारण लक्षण।

विशेषनिष्ठम्—कार्य और स्वभाव हेतु का विशेषलक्षण।

---

१. 'यत्' नास्ति B.C.D. २. विज्ञाते A.E H.P.
३. मात्रस्यानु० C.D., साधनमात्रम्। साधनमात्रस्यानुबन्धो० B.N.
४ मात्रभावे A.B.D.E.H.N.P. ५, यदा साधनस्य च C,
६. तदेव E,

किम् अतो यदि नामैवम् 'इत्याह—'तच् च सामान्यलक्षणं दर्शयितु-कामेन विशेषलक्षणं दर्शयतैवं' दर्शनीयम्-इति सम्बन्धः। यत्र धूमस्तत्राग्निः इति कार्यहेतोर्व्याप्तिर्दर्शिता। व्याप्तिश्च कार्यकारणभावसाधनात् प्रमाणात् निश्चीयते। ततो यथा महानस इति दर्शनीयम्। असत्यग्नौ न भवत्येव धूम इति व्यतिरेको दर्शितः। स च यथेतरस्मिन् इति दर्शनीयः। वह्निनिवृत्तिर्हि धूमनिवृत्तौ नियता दर्शनीया। सा च महानसाद् इतरत्रेति दर्शनीया।

यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वम्, इति स्वभावहेतोर्व्याप्तिर् दर्शिता। अनित्यत्वाभावे न भवत्येव कृतकत्वम् इति व्यतिरेको दर्शितः। व्याप्तेश्च

विशेषवन्तौ—कारण से उत्पत्ति का नियम कार्यहेतु की विशेषता है तथा साध्य से तादात्म्य होना, स्वभावहेतु की विशेषता है। अनुपलब्धि की विशेषता का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिये उसे पृथक् नहीं दिखलाया गया (मि०,धर्मो० प्र०, पृ० २३६)।

अनुबन्ध—नियम से अनुसरण करना।

किम् अत इति—यदि ऐसा है तो इसमें क्या प्रयोजन ? इस पर कहते हैं—तत् च इत्यादि। (हेतु का) सामान्य लक्षण दिखलाने के इच्छुक व्यक्ति को विशेष लक्षण बतलाते हुए इस प्रकार दिखलाना चाहिये; यह अभिप्राय है। (कैसे ?) जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है' इसके द्वारा कार्यहेतु की व्याप्ति दिखलाई गई है और कार्यकारणभाव को सिद्ध करने वाले प्रमाण द्वारा व्याप्ति निश्चित की जाती है, इसलिये जैसे—पाकशाला में, वह (दृष्टान्त) दिखलाना होता है। अग्नि के न होने पर धूम भी नहीं होना-यह व्यतिरेक दिखलाया गया है और वह जैसे (पाकशाला आदि सपक्ष से) भिन्न (सरोवर आदि विपक्ष) में इस प्रकार दिखलाना होता है। वस्तुतः अग्नि के अभाव को धूम के अभाव के साथ नियमपूर्वक रहने वाला (=नियत=अविनाभावी) दिखलाना है और वह (=अग्नि के अभाव) पाकशाला से भिन्न स्थल में दिखलाना होता है।

सम्बन्धः—अन्वय, तात्पर्य।

ततो यथा महानसे—क्योंकि कार्य-कारण-भाव को सिद्ध करने वाले प्रमाण द्वारा कार्यहेतु की व्याप्ति का निश्चय होता है और दृष्टान्त के बिना वह प्रमाण अपना कार्य नहीं करता; इसलिये व्याप्ति-प्रदर्शन मात्र से ही दृष्टान्त का प्रकटन हो जाता है।

इतरस्मिन्—अग्निमान् प्रदेश से भिन्न सरोवर आदि में।

सा—वह्निनिवृत्ति, अग्नि का अभाव।

यत्र कृतकत्वम् इति—'जहाँ कार्यत्व है, वहाँ अनित्यत्व है—यह स्वभावहेतु की व्याप्ति दिखलाई गई है। जहाँ अनित्यता नहीं होती वहाँ कार्यता भी नहीं होती।

१, तदित्याह E, २, तत्र A.B.E.H.P. ३. ०तैवं च B,

साधकं प्रमाणं 'साधर्म्य'[1] दृष्टान्ते दर्शनीयम् । प्रसिद्धव्याप्तिकस्य च हेतोः साध्य-निवृत्तौ निवृत्तिर्[2] दर्शनीया । तद् अवश्यं यथा घटे, यथा आकाशे चेति दर्शनीयम् ।

कस्माद् एवम् इत्याह-न हीति । यस्माद् अन्यथा सामान्यलक्षणरूपे सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वे यथोक्तप्रकारे इति नियते—सपक्ष एव सत्त्वम्, विपक्षेऽसत्त्वम् एवेति नियमो यथोक्तप्रकारः—ते न शक्ये दर्शयितुम् । विशेषलक्षणे हि दर्शिते यथोक्तप्रकारे[3] सदसत्त्वे दर्शिते भवतः । न च विशेषलक्षणम् अन्यथा शक्यं दर्शयितुम् ।

तस्य साध्यस्य कार्यम्—तत्कार्यं धूमः । तस्य भावस्तत्कार्यता । सैव

यह व्यतिरेक दिखलाया जाता है। क्योंकि व्याप्ति को सिद्ध करने वाला प्रमाण साधर्म्य दृष्टान्त में दिखलाना होता है और जिस हेतु की व्याप्ति सिद्ध हो जाती है. साध्य के अभाव में उसका अभाव दिखलाना होता है; इसलिये अवश्य ही 'जैसे घट में' साधर्म्य और जैसे आकाश में (वैधर्म्य) दृष्टान्त दिखलाना होता है ।

कस्माद् इति—ऐसा क्यों है ? इस पर कहते हैं—न हि इत्यादि । क्योंकि (हि=यस्माद्) दृष्टान्त के विना (=अन्यथा) यथोक्त स्वरूप वाले 'सपक्ष में होना और विपक्ष में न होना' (हेतु के) सामान्य लक्षण के उन दोनों रूपों को (=ते) दिखलाया नहीं जा सकता । यहां यथोक्तप्रकार वाले का अर्थ है—नियत; अर्थात् (हेतु का) सपक्ष में ही होना विपक्ष में सर्वथा न होना । क्योंकि (हि) विशेष लक्षण दिखलाने पर ही यथोक्त स्वरूप वाले (सपक्ष में) 'होना' और (विपक्ष में) न होना दिखलाये जाते हैं और विशेष लक्षण को (दृष्टान्त के विना) दिखलाया नहीं जा सकता ।

अन्यथा—अन्य प्रकार से, दृष्टान्त के विना ।

सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वे–यद्यपि हेतु के तीन रूप हैं तथापि 'सपक्ष में ही होना' तथा 'विपक्ष में सर्वथा न होना'—इन दोनों रूपों का ही यहाँ उल्लेख किया गया है; क्योंकि इन दोनों के प्रदर्शन से ही दृष्टान्त का प्रदर्शन हुआ करता है (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० २३६) ।

यथोक्तप्रकारे—यथोक्तः प्रकारः ययोस् ते तथोक्ते=नियते, अवधारणसहित ('एव' से युक्त) सपक्ष में ही (=एव) होना, विपक्ष में सर्वथा न होना—इस प्रकार के नियम से युक्त ।

विशेषलक्षण—कार्यहेतु तथा स्वभावहेतु का भिन्न २ लक्षण ।

तस्येति—उस साध्य (अग्नि) का कार्य अर्थात् धूम, उसका भाव तत्कार्यता । वही है नियम; क्योंकि उस अग्नि का कार्य होने से धूम अग्नि पर आश्रित (नियत) है।

---

१. साधर्म्य दृ० B. २. निवृत्तिर् नियता दर्शनीया C.T.
३. यथोक्तलक्षणे C.

नियमो यतस्तत्कार्यतया धूमो दहने नियतः। सोऽयं तत्कार्यतानियमो विशेषलक्षणरूपोऽन्यथा दर्शयितुम् अशक्यः। स्वभावलिङ्गस्य च स्वभावेन साध्येन व्याप्तिर् विशेषलक्षणरूपा न शक्या दर्शयितुम्। यस्मात् कार्यकारणभावः, तादात्म्यं च महानसे घटे च ज्ञातव्यम्; तस्माद् व्याप्तिसाधनं प्रमाणं दर्शयता 'साधर्म्यदृष्टान्तो[1] दर्शनीयः। वैधर्म्यदृष्टान्तस्तु प्रसिद्धे तत्कार्यत्वे कारणाभावे कार्याभावप्रतिपत्त्यर्थम्[2]। तत एव नावश्यं वस्तु भवति। कारणाभावे कार्याभावो वस्तुन्यवस्तुनि वा भवति। ततो वस्तु, अवस्तु वा वैधर्म्यदृष्टान्त इष्यते।

यह कार्यता का नियम जो (हेतु के) विशेषलक्षण के रूप में है, इसे दृष्टान्त के विना (=अन्यथा) दिखलाया नहीं जा सकता। इसी प्रकार स्वभावहेतु की स्वभाव रूप साध्य के साथ व्याप्ति जो हेतु के विशेषलक्षण के रूप में है, वह भी (दृष्टान्त के विना) नहीं दिखलाई जा सकती। क्योंकि कार्य-करण–भाव और तादात्स्य सम्बन्ध दोनों ही पाकशाला या घट आदि में ही जाने जाते हैं अतः व्याप्ति को सिद्ध करने वाले प्रमाण को दिखलाते हुए साधर्म्य दृष्टान्त दिखलाना होता है। कार्य-कारण-भाव के सिद्ध हो जाने पर कारण के अभाव में कार्य का अभाव बतलाने के लिये वैधर्म्य दृष्टान्त दिखलाना होता है। इसीलिये वह (वैधर्म्य दृष्टान्त) सदा यथार्थ (परमार्थसत्) वस्तु ही नहीं होता। कारण के न होने पर कार्य का न होना वस्तु या अवस्तु किसी में भी हो सकता है। अतः वस्तु या अवस्तु कोई भी वैधर्म्य दृष्टान्त हमें अभीष्ट है।

वस्तु अवस्तु वा वैधर्म्यदृष्टान्तः—वस्तु महाह्रद आदि, अवस्तु आकाशादि (धर्मो॰ प्र॰, पृ॰ २३८)। जैसा कि ऊपर (३.२६. सामर्थ्यात्' टि॰) कहा गया है, बौद्ध–न्याय में केवलान्वयी या केवलव्यतिरेकी हेतु नहीं माने जाते। इस पर नैयायिक का कथन है कि वह हेतु केवलान्वयी होता है, जिसमें व्यतिरेकी (वैधर्म्य) उदाहरण नहीं मिलता। बौद्ध द्वारा प्रस्तुत किया गया "अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्" —यह हेतु केवलान्वयी होगा। यदि इसमें आकाश को व्यतिरेकी दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया जाता है; अर्थात् जहाँ अनित्यत्व नहीं वहाँ कृतकत्व भी नहीं जैसे आकाश में—यह कहा जाता है तो यह वैधर्म्य दृष्टान्त ठीक न होगा; क्योंकि महायान बौद्ध के अनुसार तो प्रत्येक परमार्थसत् वस्तु ही अनित्य है अतः नित्य आकाश नाम की कोई परमार्थसत् वस्तु ही नहीं। इस प्रकार इसका वैधर्म्य दृष्टान्त नहीं हो सकता (द्र॰, न्या॰ वा॰, पृ॰ ४६.६ तथा न्या॰ वा॰ ता॰, पृ॰ १७२)। धर्मोत्तर का कथन यह है—यह आवश्यक नहीं कि वैधर्म्य दृष्टान्त परमार्थसत् वस्तु ही होती हो, अवस्तु अर्थात् कल्पित पदार्थ भी वैधर्म्य दृष्टान्त हो सकता है क्योंकि वैधर्म्य दृष्टान्त में तो साध्य का अभाव

---

1. साध्यदृष्टा॰ B. 2. ॰पत्त्यर्थः E.

तस्माद् दृष्टान्तम् अन्तरेण[1] न हेतोर् अन्वयो व्यतिरेको वा[2] शक्यो दर्शयितुम् । अतो हेतुरूपाख्यानाद् एव हेतोर् व्याप्तिसाधनस्य[3] प्रमाणस्य दर्शकः साधर्म्य दृष्टान्तः । प्रसिद्धव्याप्तिकस्य साध्याभावे [4]हेत्वभावप्रदर्शनाद् वैधर्म्य-दृष्टान्त उपादेय इति च दर्शितं भवति ।

अस्मिंश्चार्थे दर्शित दर्शिते एव दृष्टान्तो भवति । योऽयम् अर्थो व्याप्ति-साधनप्रमाणप्रदर्शनः[5] कश्चिद् उपादेयो निवृत्तिप्रदर्शनश्च[6]—इत्यस्मिन्नर्थे[7] दर्शिते दर्शितो दृष्टान्त [8]इत्याह—एतावन्मात्रं रूपं यस्य तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्माद् इति । एतावद् एव हि रूपं दृष्टान्तस्य, यद् उत व्याप्तिसाधनप्रमाणप्रदर्शकत्वं[9] नाम साधर्म्य दृष्टान्तस्य, प्रसिद्धव्याप्तिकस्य च[10] साध्यनिवृत्तौ साधननिवृत्तिप्रदर्शक-त्वम् इत्येतद् [11]वैधर्म्य दृष्टान्तस्य । [12]एतच्च हेतुरूपाख्यानाद् एवाख्यातम् इति किं दृष्टान्तलक्षणेन ? ॥१२२॥

होने पर हेतु का अभाव ही दिखलाना होता है। इस प्रकार उपर्युक्त हेतु में आकाश (अवस्तु) वैधर्म्य दृष्टान्त है (मि०, बु० लॉ० २, पृ० २३४ टि० ५)।

तस्माद् इति—इस प्रकार दृष्टान्त के बिना हेतु का अन्वय (सपक्ष में होना) या व्यतिरेक (विपक्ष में न होना) नहीं दिखलाया जा सकता। अतः हेतु के स्वरूप का वर्णन करने से ही हेतु की व्याप्ति को सिद्ध करने वाले प्रमाण का प्रदर्शक साधर्म्य दृष्टान्त देना होता है और जिस हेतु में व्याप्ति सिद्ध होती है, साध्य न होने पर उसका अभाव दिखलाने के लिये ही वैधर्म्य दृष्टान्त देना होता है—यह प्रकट होता है।

अस्मिन् चार्थे इति—इस विषय का निरूपण कर देने पर दृष्टान्त का भी निरूपण कर दिया गया अर्थात् व्याप्ति को सिद्ध करने वाले प्रमाण को दिखलाने वाला और (साध्य के अभाव में हेतु के) अभाव को दिखलाने वाला कोई पदार्थ दिखलाना होता है (उपादेयः); इस तथ्य का निरूपण कर देने पर दृष्टान्त भी दिखला ही दिया गया यह बतलाते हैं—एतावन् इत्यादि। केवल इतना ही है रूप जिसका, उसका भाव (एतावन्मात्ररूपत्वम्) उस हेतु से। क्योंकि दृष्टान्त का केवल इतना ही रूप है कि साधर्म्यदृष्टान्त तो व्याप्ति के साधक प्रमाण को दिखलाता है और वैधर्म्य दृष्टान्त साध्य का अभाव होने पर उस हेतु का अभाव दिखलाता है, जिसमें व्याप्ति सिद्ध है। यह (तथ्य) तो हेतु के स्वरूप-कथन से ही बतला दिया फिर दृष्टान्त के लक्षण से क्या लाभ है ? १२२॥

---

१. दृष्टान्तव्यतिरेकेण हे० A.E.H.N.P.
२. वा न शक्यो A.E.H.N.P.
३. ०साधकस्य E.
४. हेत्वभावदर्शन० C..D
५. प्रमाणदर्शिनः A.B.H.N.P.
६. ०प्रदर्शकश्च B.
७. प्रदर्शिते A.E.H.N.P.
८. कस्माद् इत्याह E.
९. ०प्रमाणदर्शनत्वं A.B.D.E.H.P.
१०. वा A.B.D.E.H.N.P.
११. 'वैधर्म्यदृष्टान्तस्य' नास्ति B.D.
१२. तद् A.D.E.H.N.P., 'एतत्' नास्ति B.

एतेनैव दृष्टान्तदोषा अपि निरस्ता भवन्ति ॥१२३॥

एतेनैव च हेतुरूपाख्यानाद् दृष्टान्तत्वप्रदर्शनेन दृष्टान्तदोषा[1] दृष्टान्ताभासाः कथिता भवन्ति । तथा हि–पूर्वोक्तसिद्धये य उपादीयमानोऽपि दृष्टान्तो[2] न समर्थः स्वकार्यं साधयितुं स दृष्टान्तदोष इति सामर्थ्याद् उक्तं[3] भवति ॥१२३॥

दृष्टान्ताभासान् उदाहरति—

यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्, कर्मवत् परमाणुवद् घटवद् इति[4] । एते दृष्टान्ताभासाः साध्यसाधनधर्मोभयविकलाः ॥१२४॥

यथा[5] 'नित्यः शब्द इति । '[6]शब्दस्य नित्यत्वे साध्येऽमूर्तत्वाद् इति हेतुः । साधर्म्येण कर्मवत् परमाणुवद् घटवद् इत्येते

हेतुरूपाख्यानादेव—इस प्रकार बौद्धन्याय में दृष्टान्त को साधन-वाक्य का पृथक् अवयव नहीं माना गया तथा हेतु के स्वरूप के अन्तर्गत ही दृष्टान्त का स्वरूप भी आ जाता है । अतः दृटान्त के स्वरूप का पृथक् निरूपण भी नहीं किया गया ।

२५. दृष्टान्तदोषों का विचार (क) साधर्म्यदृष्टान्त के दोष

एतेनैवेति

इस (कथन) से ही दृष्टान्त दोषों (दृष्टान्ताभासों के पृथक् निरूपण) का भी निराकरण हो जाता है ॥१२३॥

इससे ही अर्थात् हेतु के स्वरूप-कथन से ही दृष्टान्त का प्रदर्शन हो जाने के कारण दृष्टान्त के दोष अर्थात् दृष्टान्ताभास भी कह दिये गये । क्योंकि उपर्युक्त कार्य की सिद्धि के लिये दिया गया जो दृष्टान्त अपने कार्य को करने में समर्थ नहीं है, वह दृष्टान्त का दोष ही है, यह अर्थतः कह ही दिया गया ॥१२३॥

दृष्टान्तदोष=दुष्ट दृष्टान्त, दृष्टान्ताभास ।

दृष्टान्ताभास—दृष्टान्त का कार्य यह दिखलाना है कि हेतु के होने पर साध्य होता है तथा साध्य के न होने पर हेतु भी नहीं होता । जब कोई दृष्टान्त अपने इस कार्य को नहीं कर सकता तो अवश्य ही उसमें दोष होता है । फिर भी वह किसी रूप में दृष्टान्त सा दिखलाई देता है इसीलिये उसे दृष्टान्ताभास (दृष्टान्तवद् आभासमानः) कहते हैं (मि० धर्मो० प्र०, पृ० २८९) ।

दृष्टान्ताभासान् इति । दृष्टान्ताभासों के उदाहरण देते हैं–

जैसे–शब्द नित्य है; क्योकि वह अमूर्त है; कर्म के समान, परमाणु के समान तथा घट के समान । ये दृष्टान्ताभास साध्यधर्म साधनधर्म अथवा दोनों (धर्मों) से रहित हैं ॥१२४॥

'जैसे शब्द नित्य है' — यहां शब्द में नित्यता साध्य है, परिमित परिमाण वाला होना (मूर्तत्व) हेतु है । कर्म के समान, परमाणु के समान और घट के समान

---

१. दृष्टान्तस्य दोषाः A.E.H.N.P.
२. 'दृष्टान्तो' नास्ति B.
३. इत्येतद् उक्तं B.
४. ०दिति साध्य० B.E.H.N.P.
५. यथेति A.B.E.H.N.P.
६. इति नित्यत्वे साध्ये शब्दस्यामू० B.D.

दृष्टान्ता उपन्यस्ताः। एते च दृष्टान्तदोषाः साध्यं च साधनं चोभयं चेति[1] तैर्विकलाः। साध्यविकलं कर्म, तस्यानित्यत्वात्। साधनविकलः परमाणुः, मूर्तत्वात् परमाणूनाम्। 'असर्वगतद्रव्यपरिमाणं मूर्तिः। असर्वगताश्च द्रव्यरूपाश्च परमाणवः। नित्यास् तु वैशेषिकैर् इष्यन्ते। ततो न साध्यविकलः[3]। घटस् तूभयविकलः, अनित्यत्वात्, मूर्तत्वाच्च घटस्येति[4] ॥१२४॥

तथा सन्दिग्धसाध्यधर्मादयश्च। यथा-रागादिमान् अयं वचनाद् रथ्यापुरुषवत्। मरणधर्माऽयं पुरुषो रागादिमत्त्वाद् रथ्यापुरुषवत्। असर्वज्ञोऽयं रागादिमत्त्वाद् रथ्यापुरुषवद् इति ॥१२५॥

ये साधर्म्य-दृष्टान्त दिये गये हैं। किन्तु ये दुष्ट दृष्टान्त (दृष्टान्ताभास) हैं, क्योंकि ये (क्रमशः)साध्य और साधन तथा दोनों (साध्य और साधन)से रहित हैं। कर्म तो साध्य-धर्म (नित्यता) से रहित है, क्योंकि वह अनित्य है, परमाणु साधन-धर्म (अमूर्त्तत्व) से रहित है, क्योंकि परमाणु मूर्त होते हैं। जो सर्वत्र व्यापक नहीं होता (—परिमित, परिच्छिन्न) उस द्रव्य का परिमाण मूर्ति कहलाता है। परमाणु व्यापक (विभु) नहीं और वे द्रव्यरूप भी हैं (अतः साधनविकल दृष्टान्त है)। किन्तु वैशेषिक मतानुयायियों ने परमाणुओं को नित्य माना है अतः यह दृष्टान्त साध्य-धर्म—रहित नहीं। घट तो दोनों (साध्य और साधन) धर्मों से रहित (दृष्टान्त) है; क्योंकि घट अनित्य है और मूर्त भी है ॥१२४॥

अमूर्त—परिमित परिमाण वाला; मूर्ति उस परिमाण को कहते हैं जो सर्वव्यापक (विभु) द्रव्य में न रहता हो। (i) परमाणु विभु नहीं तथा द्रव्य भी है, इसलिये उसका परिमाण मूर्ति है और परमाणु मूर्त्त (मूर्तिमान्) है। वैशेषिक की दृष्टि परमाणु नित्य है किन्तु वह अमूर्त नहीं; इसलिये 'शब्द नित्य है, अमूर्त होने से से परमाणु के समान' यहाँ दृष्टान्त में साधन (अमूर्तत्व) नहीं रहता तथा यह साधनविकल दृष्टान्ताभास है। (ii) शब्द तो अमूर्त है ही; क्योंकि शब्द गुण है और मूर्त परिमाण भी गुण है तथा वैशेषिक के अनुसार गुणों में गुण नहीं रहते; अतः शब्द में मूर्त परिमाण नहीं, वह अमूर्त है।

तथेति—

उसी प्रकार जिनमें साध्य धर्म आदि सन्दिग्ध होते हैं, वे भी (दृष्टान्ताभास) हैं; जैसे—(१) यह राग आदि से युक्त है, क्योंकि यह बोलता है, साधारणजन (=रथ्यापुरुष) के समान; (२) यह पुरुष मरणशील है, क्योंकि यह राग आदि से युक्त है, साधारणजन के समान; (३) यह असर्वज्ञ है, क्योंकि यह राग आदि से युक्त है, साधारणजन के समान ॥१२५॥

---

१. 'इति'–नास्ति C. २. असर्वगतं द्र० A.B.H.N.P.
३. साध्यविकलाः C.D. ४. 'इति' नास्ति E.

तथा[1] सन्दिग्धः साध्यधर्मो यस्मिन् स सन्दिग्धसाध्यधर्मः । स आदिर्येषां ते तथोक्ताः । सन्दिग्धसाध्यधर्मः । सन्दिग्धसाधनधर्मः । सन्दिग्धोभयः[2] । उदाहरणम्—रागादिमान् इति रागादिमत्त्व साध्यम् । वचनाद् इति हेतुः । रथ्यापुरुषवद् इति दृष्टान्ते[3] रागादिमत्त्वं सन्दिग्धम् । मरणं धर्मोऽस्येति मरणधर्मा । तस्य भावो मरणधर्मत्वं साध्यम् । अयं पुरुष इति धर्मी । रागादिमत्त्वाद् इति हेतुः । रथ्यापुरुषे दृष्टान्ते सन्दिग्ध साधनम् । साध्य तु निश्चितं मरणधर्मत्वम् इति । असर्वज्ञ इति—असर्वज्ञत्वं साध्यम्, रागादिमत्त्वाद् इति हेतुः । तद् उभयमपि रथ्यापुरुषे दृष्टान्ते सन्दिग्धम् असर्वज्ञत्वं रागादिमत्त्वं चेति ॥१२५॥

[4]तथाऽनन्वयोऽप्रदर्शितान्वयश्च; यथा-यो वक्ता स रागादिमान्,

जिसमें साध्य-धर्म सन्दिग्ध है, वह सन्दिग्धसाध्यधर्मा कहलाता है। वह है आदि में जिनके वे सन्दिग्धसाध्यधर्मादि कहे गये हैं । इस प्रकार (i) जिसमें साध्यधर्म अनिश्चित है (ii) जिसमें साधनधर्म अनिश्चित है तथा (iii) जिसमें दोनों अनिश्चित हैं। (क्रमशः) उदाहरण है— (i) रागादिमान् इत्यादि—'यहाँ राग आदि से युक्त होना साध्य है, वचनात् (=बोलने से) यह हेतु है, साधारण जन (=रथ्यापुरुष) के समान; यह दृष्टान्त है—इसमें राग आदि से युक्त होना (साध्यधर्म) सन्दिग्ध है (अतः यह सन्दिग्ध-साध्यधर्मा है)। (ii) जिसका स्वभाव मरना है, वह मरणधर्मा (मरणशील) है । उसका भाव मरणधर्मत्व अर्थात् मरणशील होना—यह साध्य है। 'यह पुरुष'—यह पक्ष है । रागादि युक्त होने से—यह हेतु है । यहाँ 'रथ्यापुरुष' दृष्टान्त है, उसमें साधन अर्थात् रागादिमान् होना अनिश्चित है, मरणशील होना जो साध्य है, वह तो निश्चित ही है (अतः यह सन्दिग्धसाधनधर्मा है) । (iii) असर्वज्ञ इत्यादि; यहाँ सर्वज्ञ न होना साध्य है, रागादि से युक्त होना हेतु है। ये दोनों (असर्वज्ञता और रागादिमत्ता) ही रथ्यापुरुष जो दृष्टान्त है, उसमें सन्दिग्ध हैं (अतः यह सन्दिग्धोभय दृष्टान्ताभास है) ॥१२५॥

रथ्यापुरुष—सड़क पर चलने वाला मनुष्य (रथ्या=सड़क), साधारणजन सामान्यजन (Lay man)।

तदुभयमपि......सन्दिग्धम्—सर्वज्ञता और रागादिमत्ता दोनों अतीन्द्रिय हैं, किसी दूसरे मनुष्य में इनका होना या न होना निश्चित नहीं किया जा सकता । अतः दोनों सन्दिग्ध हैं ।

तथाऽनन्वय इति—

तथा जिसमें अन्वय (अर्थात् साध्य से व्याप्त हेतु) नहीं है और जिसमें

---

१. तथेति E. २. ०धोभयधर्मः C. ३. दृष्टान्तः A.B,D.E.H,N.P.
४. 'तथा' नास्ति B.E.H.N.P.

इष्टपुरुषवत् । अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवद् इति ॥१२६॥

तथाऽनन्वय इति । यस्मिन् दृष्टान्ते साध्यसाधनयोः सम्भवमात्रं दृश्यते, न तु साध्येन व्याप्तो हेतुः, सोऽनन्वयः । अप्रदर्शितान्वयश्च–यस्मिन् दृष्टान्ते विद्यमानोऽप्यन्वयो न प्रदर्शितो वक्त्रा सोऽप्रदर्शितान्वयः ।

अनन्वयम् उदाहरति--यथेति । यो वक्तेति वक्तृत्वम् अनूद्य स रागादिमान् इति रागादिमत्त्वं[1] विहितम् । ततो वक्तृत्वस्य रागादिमत्त्वे प्रतिनियमः । तेन व्याप्तिर् उक्ता । इष्टपुरुषवद् इति इष्टग्रहणेन प्रतिवाद्यपि संगृह्यते[2] वाद्यपि । तेन वक्तृत्वरागादिमत्त्वयोः सत्त्वमात्रम् इष्टे पुरुषे सिद्धम् । व्याप्तिस् तु न सिद्धा तेनाऽनन्वयो दृष्टान्त इति ।

अन्वय नहीं दिखलाया गया है, वह दृष्टान्त भी (दृष्टान्ताभास होता है) । जैसे—(१) जो वक्ता होता है, वह राग आदि से युक्त होता है, अमुक (इष्ट) पुरुष के समान ।

(२) शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कार्य है, घट के समान ॥१२६॥

तथाऽनन्वय इत्यादि । (१) जिस दृष्टान्त में साध्य और साधन का सहचारमात्र देखा जाता है, साध्य से व्याप्त हेतु नहीं होता, वह अनन्वय (दृष्टान्ताभास) है । (२) किन्तु जिस दृष्टान्त में विद्यमान होती हुई भी साध्य से हेतु की व्याप्ति (=अन्वय) वक्ता के द्वारा नही दिखलाई जाती, वह अप्रदर्शितान्वय है ।

अनन्वयोऽप्रदर्शितान्वयश्च—(१) अनन्वय नामक दृष्टान्ताभास वहाँ होता है जहाँ दृष्टान्त में हेतु की साध्य से व्याप्ति नहीं निश्चित की जाती, जैसे अमुक पुरुष में रागादिमत्त्व से व्याप्त वक्तृत्व है, यह निश्चित नहीं किया जा सकता । भाव यह है कि दृष्टान्त का कार्य है व्याप्तिसाधक प्रमाण का प्रदर्शन; किन्तु यह दृष्टान्त अपने इस कार्य को नहीं करता, अतः यह दृष्टान्ताभास है ।

(२) अप्रदर्शितान्वय नामक दृष्टान्ताभास में साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति वस्तुतः होती है; किन्तु वक्ता द्वारा दिखलाई नहीं जाती । प्रस्तुत उदाहरण में कृतकत्व हेतु अनित्यत्व का व्याप्य है; किन्तु अनुमान के प्रयोग में व्याप्ति नहीं दिखलाई गई, केवल साधर्म्य से ही शब्द की अनित्यता बतलाई गई है ।

अनन्वयम् इति (१) अनन्वय का उदाहरण देते हैं यथा इत्यादि । जो वक्ता है'—इस प्रकार वक्तृत्व को उद्देश्य करके वह रागादिमान् होता है—इस से रागादिमान् होने (रागादिमत्त्व) का विधान किया गया है । इसलिये वक्तृत्व की रागादिमत्त्व में व्याप्तता (प्रतिबद्धता) दिखलाई गई है । इससे व्याप्ति कही गई है । इष्टपुरुषवत्—यहाँ 'इष्ट' शब्द के ग्रहण से प्रतिवादी का ग्रहण होता है और वादी का भी । इससे वक्ता होना तथा रागादिमान् होना—इन दोनों की सत्तामात्र अभिमत पुरुष में सिद्ध होती है दोनों की व्याप्ति तो निश्चित नहीं होती । इस प्रकार यह दृष्टान्त अनन्वय (नामक दृष्टान्ताभास) है ।

---

१. ०मत्त्वे वि० A.

२. गृह्यते A.E.H.N.P.

अनित्यः शब्द इत्यनित्यत्वं साध्यम् । कृतकत्वाद् इति हेतुः । घटवद् इति[1] दृष्टान्ते न प्रदर्शितोऽन्वयः । इह यद्यपि कृतकत्वेन घटसदृशः शब्दस्तथापि नानित्यत्वेनापि सदृशः प्रत्येतुं शक्यतेऽतिप्रसङ्गात्[2] । यदि तु कृतकत्वम् अनित्यस्वभावं[3] विज्ञातं[4] भवत्येव[5] कृतकत्वाद् अनित्यत्वप्रतीतिः स्यात् । तस्माद् यत् कृतकं तद् अनित्यम् इति कृतकत्वम् अनित्यत्वे[6] नियतम् अभिधाय नियमसाधनायान्वयवाक्यार्थप्रतिपत्तिविषयो दृष्टान्त उपादेयः । स च प्रदर्शितान्वय एव । अनेन त्वन्वयवाक्यम् अनुक्त्वैव दृष्टान्त उपात्तः । ईदृशश्च साधर्म्यमात्रेणैवोपयोगी । न च साधर्म्यात् साध्यसिद्धिः । अतोऽन्वयार्थो दृष्टान्तः, तदर्थश्चानेन नोपात्तः । साधर्म्यार्थश्चोपात्तो निरुपयोग इति

प्रतिनियमः—प्रतिनियतत्व, प्रतिबद्धता; भाव यह है कि वक्तृत्व हेतु को रागादिमत्त्व साध्य का व्याप्य कहा गया गया है ।

सत्त्वमात्रम्—केवल होना, साहचर्यमात्र । दृष्टान्त में दोनों का साथ २ रहना दिखलाया गया है, व्याप्ति नहीं निश्चित की गई, क्योंकि यहाँ व्याप्तिसाधक कोई प्रमाण नहीं है (धर्मो० प्र०, पृ० २४१) ।

अनित्यः शब्द इति-(अप्रदर्शितान्वय का उदाहरण है) 'शब्द अनित्य है'-यहां अनित्यत्व साध्य है और कृतकत्व अर्थात् कार्य होना हेतु है । 'घट के समान' —इस दृष्टान्त में अन्वय (साध्य से हेतु की व्याप्ति)नहीं दिखलाई गई । यहां यद्यपि कार्य होने (की दृष्टि) से शब्द घट के समान है तथापि अनित्यता(की दृष्टि)से भी उसे घट के समान निश्चित नहीं किया जा सकता; क्योंकि इससे अतिप्रसङ्ग होने लगेगा । किन्तु यदि यह जान लिया जाये कि कृतकत्व अनित्यत्व स्वभाव वाला होता है (अर्थात् कृतकत्व का अनित्यत्व के साथ स्वभावप्रतिबन्ध है) तो कृतकत्व से अनित्यत्व की प्रतीति हो सकती है । इसलिये 'जो कार्य है वह अनित्य होता है' इस प्रकार कृतकत्व को अनित्यत्व का व्याप्त बतलाकर व्याप्ति की सिद्धि के लिये अन्वयवाक्य के अर्थ का प्रतिपादन करने वाला दृष्टान्त देना चाहिये, वही दृष्टान्त ऐसा होगा जिसमें अन्वय दिखलाया गया है । किन्तु इस(प्रस्तुत वक्ता) ने तो अन्वय वाक्य को कहे बिना ही दृष्टान्त दे दिया । ऐसा दृष्टान्त केवल साधर्म्य दिखलाने के लिये उपयोगी है । केवल साधर्म्य से तो साध्य की सिद्धि नहीं होती । इस प्रकार (अतः) दृष्टान्त अन्वय (दिखलाने) के लिये होता है । क्योंकि (=च) इस (वक्ता) ने अन्वय (दिखलाने) के लिये (दृष्टान्त) नहीं दिया है केवल साधर्म्य (दिखलाने) के लिये दिया है । इसलिये यह व्यर्थ है और वक्ता के दोष से यह दृष्टान्त का दोष हो जाता है । वस्तुतः वक्ता को यहाँ प्रतिवादी (परः) को समझाना है । इस प्रकार यद्यपि

---

१. इत्यत्र A.E.H.P. २. शक्योऽति० A.E.H.N.P.
३. अनित्यत्व० A.C.E.H.N.P. ४. ज्ञातं C.
५. ०त्येव C. ६. ०त्यत्वनिय० A.E.H.N.P.

वक्तृदोषाद् अयं दृष्टान्तदोषः। वक्त्रा ह्यत्र परः प्रतिपादयितव्यः। ततो यदि नाम न दुष्टं वस्तु तथापि वक्त्रा दुष्टं दर्शितम् इति दुष्टम् एव ॥१२६॥

तथा विपरीतान्वयः—यद् अनित्यं तत् कृतकम् इति ॥१२७॥

तथा विपरीतान्वयो यस्मिन् दृष्टान्ते स तथोक्तः। तम् एवोदाहरति—यद् अनित्यं तत् कृतकम् इति। कृतकत्वम् अनित्यत्वनियतं दृष्टान्ते[1] दर्शनीयम्। एवं कृतकत्वाद् अनित्यत्वगतिः स्यात्। अत्र त्वनित्यत्वं कृतकत्वे[2] नियतं

(दृष्टान्त रूपी) वस्तु दोषयुक्त नहीं तथापि वक्ता ने दोष-पूर्ण दिखलाई है अतः दोषयुक्त हो गई है ॥१२६॥

प्रत्येतुम् = निश्चेतुम्, निश्चय करने के लिये।

अतिप्रसङ्गात्—नियामकनिमित्ताभावात् सर्वसम्भवः अतिप्रसङ्गः = सर्वत्र प्रवृत्ति प्रसङ्गः (मि०, न्यायकणिका, पृ० २७.११ तथा २८.५) जब कोई नियामक हेतु नहीं होता, बिना नियम के ही किसी बात की सम्भावना हो सकती है तो अतिप्रसङ्ग कहा जाता है (मि०, बु०लॉ० २, पृ० २३६ टि० १)। 'इष्टं धर्मम् अतिक्रान्तः प्रसङ्गोऽतिप्रसङ्गः' (धर्मो० प्र०, पृ० २४२)। भाव यह है कि यदि शब्द में घट के साथ कृतकत्व रूप साधर्म्य मात्र से अनित्यत्व बतलाया जाता है तब तो शब्द को घट के समान मूर्त भी कहा जाने लगेगा।

अनित्यस्वभावम्—यहाँ स्वभाव का अर्थ है—अनिवार्य अङ्ग, अनित्यत्व का अविनाभावी, अनित्यत्व के साथ स्वभावप्रतिबन्ध वाला।

अन्वयवाक्य—'यत्कृतकं तद् अनित्यम्' इत्यादि साध्य से हेतु की व्याप्ति दिखलाने वाला वाक्य। इस प्रकार के वाक्य के अर्थ का प्रदर्शक दृष्टान्त होता है।

अन्वयार्थः—अन्वय है अर्थ (प्रयोजन) जिसका ऐसा (दृष्टान्त)।

तदर्थः = सोऽन्वयोऽर्थो यस्य सः (दृष्टान्तः), अन्वय दिखलाना ही जिसका प्रयोजन है।

तथा विपरीतान्वय इति—

तथा जिसमें विपरीत अन्वय होता है, (वह दृष्टान्ताभास होता है) जैसे—जो अनित्य है, वह कार्य है ॥१२७॥

तथा इत्यादि। उसी प्रकार विपरीत है अन्वय (साध्य से साधन की व्याप्ति) जिस दृष्टान्त में वह विपरीतान्वय कहा गया है। उसका उदाहरण है—'जो अनित्य है वह कार्य है। वस्तुतः दृष्टान्त में कृतकत्व (कार्य) को अनित्यत्व से व्याप्त दिखलाना है, तभी कृतकत्व से अनित्यता की की प्रतीति (गति) हो सकती है। किन्तु यहां अनित्यत्व को कृतकत्व से व्याप्त दिखला दिया है, कृतकत्व को तो अनित्यत्व में नियत (प्रतिबद्ध) नहीं दिखलाया। इस प्रकार जैसा अनित्यत्व में अप्रति-

१. दृष्टान्तेन E. २. ०कत्वनियतं D.

दर्शितम् । कृतकत्वं त्वनियतम्[1] एवानित्यत्वे[2] ततो यादृशम् इह कृतकत्वम् अनियतम् अनित्यत्वे [3]दर्शितं तादृशान्नास्त्यनित्यत्वप्रतीतिः ।

तथाहि—यद् अनित्यम् इत्यनित्यत्वम् अनूद्य तत् कृतकम् इति कृतकत्वं विहितम् । अतोऽनित्यत्वं नियतम् उक्तं कृतकत्वे, न तु कृतकत्वम् अनित्यत्वे । ततो यथाऽनित्यत्वाद् अनियतात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वे न प्रयत्नानन्तरीयकत्वप्रतीतिः, तद्वत् कृतकत्वाद् अनित्यत्वप्रतिपत्तिर् न स्याद्, अनित्यत्वेऽनियतत्वात् कृतकत्वस्य ।

यद्यपि च कृतकत्वं वस्तुस्थित्याऽनित्यत्वे नियतं [4]तथाप्यनियतं वक्त्रा [5]दर्शितम् । अतः [6]स्वयम् अदुष्टम् अपि [7]वक्तृदोषाद् दुष्टम् । तस्माद् विपरीतान्वयोऽपि वक्तुरपराधात्, न वस्तुतः (नः) । परार्थानुमाने च[8] वक्तुरपि दोषश् चिन्त्यत इति ॥१२७॥

बद्ध (अव्याप्त) कृतकत्व यहां दिखलाया गया है, उस से अनित्यत्व की प्रतीति नहीं होती ।

भाव यह है कि 'जो अनित्य है'—इससे अनित्यत्व को उद्देश्य करके 'वह कार्य है' इससे कृतकत्व का विधान किया गया है। अतः अनित्यत्व को कृतकत्व में व्याप्त (=नियत= अविनाभावी) बतलाया गया है, कृतकत्व को अनित्यत्व में नहीं । इसलिये जिस प्रकार अनित्यत्व प्रयत्नानन्तरीयकत्व में नियत (व्याप्त) नहीं है तथा उससे प्रयत्नानन्तरीयकत्व की सिद्धि नहीं होती ; उसी प्रकार कृतकत्व से भी अनित्यता की प्रतीति न होगी; क्योंकि कृतकत्व भी अनित्यत्व में नियत(=व्याप्त) नहीं कहा गया है ।

प्रयत्नानन्तरीयकत्व—प्रयत्न के अनन्तर उत्पत्ति । जो अनित्य है वह प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है—यह नियम नहीं है; क्योंकि विद्युत् भी अनित्य होती है किन्तु उसकी प्रयत्न से उत्पत्ति नहीं होती (द्र०, ऊपर ३.६७) ।

यद्यपि चेति– यद्यपि कृतकत्व वस्तुतः अनित्यत्व से व्याप्त है तथापि वक्ता ने उसे व्याप्त नहीं दिखलाया । अतः यह दृष्टान्त स्वयं दोषयुक्त न होकर भी वक्ता के दोष से दोषयुक्त हो गया है । इस प्रकार 'विपरीतान्वय' (नामक दृष्टान्त-दोष) भी वक्ता के अपराध से होता है, वस्तुतः नहीं (अथवा वस्तु के दोष से नहीं) और परार्थानुमान में वक्ता के दोष पर भी विचार किया जाता है ॥१२७॥

वक्तृदोषाद् दुष्टम्—यद्यपि (दृष्टान्त में कृतकत्व को अनित्यत्व में नियत (व्याप्त) देखा जाता है (जहाँ कृतकत्व होता है, वहाँ अनित्यत्व अवश्यम्भावी है) तथापि वक्ता ने इस व्याप्ति को विपरीत रूप में रख दिया है अतः यह दोष हो जाता है ।

१, एवोक्तमनित्यत्वे C.D. २. 'ततः कृतकत्वम् अनित्यत्वे नियतमेव,' इत्यधिकं E.
३. प्रदर्शितम् A.B.E.H.N.P. ४. 'तथाप्यनियतं' नास्ति B.
५. प्रदर्शितम् C. ६. अतस्तत् स्वयं न दुष्टम् A.B.E.H.N.P.
७. वक्तुर्दोषात् A.E.H.P. ८. 'च' नास्ति C.D.

साधर्म्येण [1]दृष्टान्तदोषाः ॥१२८॥

साधर्म्येण [2]नव दृष्टान्तदोषा उक्ताः ॥१२८॥

वैधर्म्येणापि [3]दृष्टान्तदोषान् [4]वक्तुम् आह—

वैधर्म्येणापि—परमाणुवत्, कर्मवद्, आकाशवद् इति साध्याद्यव्यतिरेकिणः ॥१२९॥

नित्यत्वे शब्दस्य साध्ये हेतावमूर्तत्वे [5]परमाणुः [6]वैधर्म्यदृष्टान्तः साध्याव्यतिरेकी, नित्यत्वात् परमाणूनाम् । कर्म साधनाव्यतिरेकि, अमूर्तत्वात् कर्मणः । आकाशम्—उभयाव्यतिरेकि, नित्यत्वाद् अमूर्तत्वाच्च । साध्यम् आदिर्येषां तानि साध्यादीनि साध्यसाधनोभयानि । तेषाम् अव्यतिरेको [7]निवृत्त्यभावः । स येषाम् अस्ति ते साध्याद्यव्यतिरेकिणः । ते चोदाहृताः ॥१२९॥

साधर्म्येणेति—

ये साधर्म्य से प्रयुक्त दृष्टान्त के दोष हैं ॥१२८॥

ये साधर्म्य से दिये गये दृष्टान्त के नौ दोष बतलाये गये हैं ॥१२८॥

(ख) वैधर्म्य दृष्टान्त में होने वाले दोष

वैधर्म्येणापीति—वैधर्म्य दृष्टान्त के (नौ) दोषों को बतलाते हुए कहते हैं—

इसी प्रकार वैधर्म्य दृष्टान्त भी साध्यधर्म आदि की निवृत्ति से रहित होते हैं; जैसे—(१) परमाणु के समान, (२) कर्म के समान, (३) आकाश के समान ॥१२९॥

शब्द की नित्यता सिद्ध करने के लिये (मीमांसक द्वारा दिये गये) अमूर्तत्व हेतु में (१) परमाणु वैधर्म्य दृष्टान्त है; जिसमें साध्य (नित्यता) का अभाव (व्यावृत्ति =निवृत्ति) नहीं है, क्योंकि (वैशेषिक आदि के मतानुसार) परमाणु नित्य हैं। (२) कर्म ऐसा (दृष्टान्त) है, जिसमें साधन (अमूर्तत्व) का अभाव नहीं है, क्योंकि कर्म अमूर्त है। (३) आकाश ऐसा दृष्टान्त है, जिसमें दोनों (साध्य और साधन) का अभाव नहीं है; क्योंकि वह नित्य है और अमूर्त भी है। साध्य है आदि में जिनके वे साध्य आदि हैं अर्थात् साध्य, साधन तथा ये दोनों एक साथ। उनका अव्यतिरेक= निवृत्ति न होना। वह जिन (दृष्टान्तों) में है वे साध्याद्यव्यतिरेकी (=जिनमें साध्य धर्म आदि का अभाव नहीं है)। उनके उदाहरण अभी दिये गये हैं ॥१२९॥

अव्यतिरेकिणः—नास्ति व्यतिरेकः व्यावृत्तिः येषां ते तथाभूताः । वैधर्म्य दृष्टान्त में, साध्य के अभाव से साधन का अभाव दिखलाया जाता है। किन्तु जिन

---

१. 'दृष्टान्तदोषाः' नास्ति B.E.H.N.P.
२. तद्दृष्टान्त० B.
३. नव दृ० A.E.H.N.P.
४. वक्तुकाम आह B.D.
५. परमाणुवद् A.E.H.P.
६. वैधर्म्येण C.
७. ०रेको वृत्य० A.H.N.P., ०रेको निवृत्ता (त्य) भावः B.

अपरान् उदाहर्तुम् आह—

तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकादयः। यथाऽसर्वज्ञाः कपिलादयोऽनाप्ता वा अविद्यमान-सर्वज्ञताप्तता-लिङ्गभूतप्रमाणातिशयशासनत्वाद् इति। अत्र [1]वैधर्म्योदाहरणम्—यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकम् उपदिष्टवान्; [2]यथा-[3]ऋषभवर्धमानादिरिति । [4]तत्रासर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोः सन्दिग्धो व्यतिरेकः ॥१३०॥

तथेति। साध्यस्य व्यतिरेकः साध्यव्यतिरेकः। सन्दिग्धः साध्यव्यतिरेको यस्मिन् स सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकः। स आदिर्येषां ते तथोक्ताः। सन्दिग्धः साध्यव्यतिरेकम् उदाहर्तुम् आह—यथेति । असर्वज्ञा इत्येकं साध्यम्। अनाप्ता अक्षीणदोषा इति द्वितीयम्। कपिलादय इति धर्मी । अविद्यमान-

---

वैधर्म्य दृष्टान्तों में साध्य या साधन अथवा दोनों का अभाव नहीं होता ऐसे वैधर्म्य-दृष्टान्त दोषयुक्त होते हैं।

नित्यत्वे शब्दस्य साध्ये—'शब्दो नित्यः अमूर्तत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा परमाणुः, कर्म, आकाशञ्च," शब्द नित्य है, क्योंकि वह अमूर्त है, जो नित्य नहीं वह अमूर्त भी नहीं जैसे परमाणु, कर्म तथा आकाश। यहाँ परमाणु आदि वैधर्म्य दृष्टान्त हैं।

साध्याव्यतिरेकी—साध्यस्याव्यतिरेकः=निवृत्त्यभावः सोऽस्यास्तीति तथोक्तः अर्थात् इसमें साध्य (नित्यत्व) का अभाव नहीं है।

अपरान् इति—दूसरे (दृष्टान्त दोषों) का उदाहरण देते हुए कहा है—

उसी प्रकार जिनमें साध्य आदि की निवृत्ति सन्दिग्ध होती है (ऐसे वैधर्म्या दृष्टान्त दोषयुक्त होते हैं); जैसे—कपिल इत्यादि असर्वज्ञ हैं या अनाप्त हैं; क्योंकि उनके उपदेश (शासन) में सर्वज्ञता और आप्तता के ज्ञापक होने वाले प्रमाण-विशेष नहीं हैं। इसमें वैधर्म्या-दृष्टान्त है—जो सर्वज्ञ या आप्त है, उसने नक्षत्रविद्या आदि का उपदेश दिया है, जैसे ऋषभ तथा वर्धमान इत्यादि ने। उस (वैधर्म्या दृष्टान्त) में असर्वज्ञता और अनाप्तता जो साध्य धर्म हैं, उनका न होना सन्दिग्ध है ॥१३०॥

तथा इत्यादि। साध्य का व्यतिरेक=साध्यव्यतिरेक (साध्य धर्म का अभाव)। सन्दिग्ध है साध्य धर्म का व्यतिरेक जिसमें, वह (दृष्टान्त) सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक कहलायेगा। वह है आदि में जिनके वे सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकादि। सन्दिग्ध साध्यव्यतिरेक (नामक दृष्टान्त) का उदाहरण देते हुए कहा है—यथा इत्यादि। यहाँ 'असर्वज्ञ' यह एक साध्य है। 'अनाप्त' अर्थात् जिसके (राग आदि) दोष क्षीण नहीं हुए हैं, वह दूसरा

---

१. वैधर्म्येणोदा० C.   २. तद्यथा–B.D.E.H.N.P.

३. वृषभ C.   ४. वैधर्म्योदाहरणादसर्व० C.

सर्वज्ञतेत्यादि हेतुः । सर्वज्ञता च आप्तता च तयोर् लिङ्गभूतः प्रमाणातिशयो लिङ्गात्मकः प्रमाणविशेषः । अविद्यमानः सर्वज्ञताप्ततालिङ्गभूतः प्रमाणातिशयो यस्मिन् तत् तथोक्तं शासनम् । तादृशं शासनं येषां ते तथोक्ताः । तेषां भावस् तत्त्वम् । तस्मात् । प्रमाणातिशयो ज्योतिर्ज्ञानोपदेश इहाभिप्रेतः । यदि हि कपिलादयः सर्वज्ञा आप्ता वा स्युस्तदा ज्योतिर्ज्ञानादिकं कस्मान् नोपदिष्टवन्तः न चोपदिष्टवन्तः । तस्मान्न सर्वज्ञा आप्ता वा ।

अत्र प्रमाणे वैधर्म्योदाहरणम्—यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकं सर्वज्ञताप्ततालिङ्गभूतम् उपदिष्टवान् । यथा ऋषभो वर्धमानश्च तावादी यस्य स ऋषभवर्धमानादिर् दिगम्बराणां शास्ता[1] सर्वज्ञश्च[2] आप्तश्चेति । तद् इह वैधर्म्योदाहरणाद् ऋषभादेर् असर्वज्ञत्वस्यानाप्ततायाश्च व्यतिरेको व्यावृत्तिः सन्दिग्धा । यतो ज्योतिर्ज्ञानं चोपदिशेद् असर्वज्ञश्च भवेद् अनाप्तो वा । कोऽत्र विरोधः ? नैमित्तिकम् एतज्ज्ञानं व्यभिचारि न सर्वज्ञत्वम् अनुमापयेत् ॥१३०॥

साध्य है,कपिल आदि पक्ष हैं । अविद्यमानसर्वज्ञता इत्यादि हेतु है । सर्वज्ञता और आप्तता दोनोंका गमक(बोधक,लिङ्ग) है–प्रमाणातिशय अर्थात् ज्ञापक प्रमाणविशेष । जिसमें सर्वज्ञता और आप्तता का बोधक प्रमाण-विशेष विद्यमान नहीं है, वह उस प्रकार का उपदेश(=शासन) । जिनका उस प्रकार का उपदेश है, वे उस प्रकार के (अविद्यमान-सर्वज्ञताप्ततालिङ्गभूतप्रमाणातिशयशासनाः) कहे गये हैं । उनका भाव (·········शासनत्व) उस हेतु से (तस्मात्=·········शासनत्वात्) । नक्षत्रविद्या का उपदेश यहाँ प्रमाणविशेष माना गया है । यदि कपिल इत्यादि सर्वज्ञ या आप्त थे तो उन्होंने नक्षत्रविद्या आदि का उपदेश क्यों नहीं किया । क्योंकि इनका उपदेश नहीं किया, इसलिये वे सर्वज्ञ या आप्त नहीं हैं ।

अनाप्ताः=अक्षीणदोषाः, जिनके राग आदि दोष क्षीण नहीं हुए ।

प्रमाणातिशय—यहाँ ज्योतिर्विद्या का ज्ञान प्रमाणातिशय (ज्ञानविशेष) कहा गया है, यही सर्वज्ञता यथा आप्तता का गमक (लिङ्ग) माना गया है । ज्योतिष विद्या या नक्षत्रविद्या का ज्ञान अतीन्द्रियविषयक ज्ञान का उपलक्षण है । भाव यह है कि कपिल आदि ने अपने शास्त्र में अतीन्द्रियविषयक ज्ञान का उपदेश नहीं दिया, अतः वे सर्वज्ञ नहीं ।

अत्र प्रमाणे इति—इस प्रयोग में वैधर्म्य दृष्टान्त है—जो सर्वज्ञ या आप्त है, उसने सर्वज्ञता तथा आप्तता की बोधक नक्षत्र विद्या आदि का उपदेश दिया है; जैसे ऋषभ और वर्धमान हैं आदि में जिनके ऐसे दिगम्बरों के उपदेष्टा सर्वज्ञ और आप्त हैं । यहाँ वैधर्म्य दृष्टान्त जो ऋषभ आदि है उससे असर्वज्ञता और अनाप्तता का व्यतिरेक=व्यावृत्ति (निवृत्ति) होना अनिश्चित है । क्योंकि (कोई व्यक्ति) नक्षत्र-विद्या का उपदेश करे तो भी असर्वज्ञ या अनाप्त हो सकता है । इसमें क्या विरोध है ? यह (नक्षत्रविद्या का) ज्ञान तो किसी निमित्त से होने वाला है । यह (सर्वज्ञता आदि के साथ) नियत सम्बन्ध रखने वाला नहीं, अतः यह सर्वज्ञता का अनुमान नहीं करा सकता ॥१३०॥

---

१. शास्ता साध्यव्यतिरेकः सर्व० C.　　२. 'च'–नास्ति A.B.E.H.N.P.

सन्दिग्धसाधनव्यतिरेको यथा—न त्रयीविदा ब्राह्मणेन ग्राह्यवचनः कश्चिद् 'विवक्षितः पुरुषो रागादिमत्त्वाद् इति। अत्र वैधर्म्योदाहरणम्—ये ग्राह्यवचना न ते रागादिमन्तः। तद् यथा[2] गौतमादयो धर्मशास्त्राणां[3] प्रणेतार इति। गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनधर्मस्य व्यावृत्तिः सन्दिग्धा ॥१३१॥

सन्दिग्धः साधनव्यतिरेको यस्मिन् स तथोक्तः। तम् उदाहरति—यथेति। ऋक्सामयजूंषि त्रीणि त्रयी तां वेत्तीति[4] त्रयीवित्। तेन न ग्राह्य

यथा ऋषभ······सर्वज्ञश्च आप्तश्च—जैन दर्शन में ज्योतिर्विद्या का उपदेश देने के कारण ऋषभ आदि को सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है (द्र०, अकलङ्कदेव, सिद्धि-विनिश्चय, पृ० ४१३)। यहाँ 'आदि' शब्द से पार्श्वनाथ, अरिष्टनेमि इत्यादि का ग्रहण है।

नैमित्तिकम्—निमित्त दर्शन से होने वाला। निमित्त को देखकर भावी चन्द्र-ग्रहण आदि का ज्ञान हो जाता है, उसका सर्वज्ञता से कोई सम्बन्ध नहीं। अथवा निमित्त=परम्परया, वर्धमान आदि ने परम्परागत ज्योतिर्ज्ञान आदि का उपदेश दिया है उससे उनकी सर्वज्ञता नहीं सिद्ध होती (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० २४६)।

व्यभिचारि—(१) ज्योतिर्ज्ञान का सर्वज्ञता से नियत सम्बन्ध (अविनाभाव) नहीं है। विना सर्वज्ञता के भी आधुनिक ज्योतिषियों को चन्द्रग्रहण आदि का ज्ञान होता है। अथवा (२) निमित्त दर्शन से भावी वस्तु का जो ज्ञान होता है, वह सदा यथार्थ ही नहीं होता, इसलिये ज्योतिर्ज्ञान व्यभिचारी (विसंवादी) भी हो सकता है तथा उससे उपदेष्टा की सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० २४६)।

सन्दिग्धसाधनेति—

वह (वैधर्म्यदृष्टान्त) जिसमें साधन की व्यावृत्ति (न होना) सन्दिग्ध है; जैसे—अमुक पुरुष ऐसा नहीं है, जिसका वचन तीनों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण के द्वारा ग्रहण किया जाने योग्य हो, क्योंकि वह राग आदि से युक्त है। इसमें वैधर्म्य दृष्टान्त है—जिनके वचन ग्राह्य होते हैं, वे रागादिमान् नहीं होते, जैसे धर्मशास्त्रों के प्रणेता गौतम इत्यादि। यहाँ रागादिमान् होना, जो साधन धर्म है, उसकी गौतम आदि से व्यावृत्ति सन्दिग्ध है ॥१३१॥

सन्दिग्ध है साधन का न होना (=व्यतिरेक=व्यावृत्ति) जिसमें, वह सन्दिग्ध-साधन-व्यतिरेक कहा जाता है। उसका उदाहरण दिया है—यथा इत्यादि। ऋक्, साम और यजुष् ये तीनों ही त्रयी कहलाते हैं, जो उसको जानता है वह 'त्रयीवित्' है। उस (त्रयीवित्) के द्वारा ग्राह्य नहीं है वचन जिसका वह (न ग्राह्य-वचनः)—यह साध्य है। विवक्षित अर्थात् कोई पुरुष कपिल आदि पक्ष है। राग

---

१. 'विवक्षितः'—नास्ति B.E.H.P.　　२. गौतमा० D.
३. धर्मशास्त्रप्रणेता० इति C.　　४. 'इति'—नास्ति A.B D.E.H.N.P.

वचनं यस्येति साध्यम् । विवक्षित इति कपिलादिः, धर्मी । रागादिमत्त्वाद् इति हेतुः । अत्र प्रमाणे वैधर्म्योदाहरणम् । साध्याभावः साधनाभावेन 'यत्र व्याप्तो दर्श्यते तद् वैधर्म्योदाहरणम् । ग्राह्यं वचनं येषां ते ग्राह्यवचना इति साध्य-निवृत्तिम् अनूद्य न ते रागादिमन्त इति साधनाभावो विहितः । गौतम आदि-र्येषां ते तथोक्ता मन्वादयः, धर्मशास्त्राणि स्मृतयः, तेषां कर्तारः । त्रयीविदा हि ब्राह्मणेन ग्राह्यवचना धर्मशास्त्रकृतो वीतरागाश् च । त इतीह 'धर्मी व्यतिरेकविषयो गौतमादय इति । गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनस्य निवृत्तिः सन्दिग्धा । यद्यपि ते ग्राह्यवचनास्त्रयीविदः ।' तथापि किं सरागा उत वीतरागा इति सन्देहः ॥१३१॥

आदि से युक्त होने के कारण—यह हेतु है । इस अनुमान के प्रयोग में वैधर्म्य दृष्टान्त है—ये ग्राह्यवचना इत्यादि । जहाँ साध्य के अभाव को साधन के अभाव से व्याप्त दिखलाया जाता है, वह वैधर्म्य दृष्टान्त होता है । (प्रस्तुत वैधर्म्य दृष्टान्त में) ग्राह्य है वचन जिनका वे (व्यक्ति) 'ग्राह्यवचन'—इस (शब्द) से साध्य के अभाव को उद्देश्य करके; 'वे राग आदि से युक्त नहीं होते' (इस वाक्यांश) से साधन के अभाव का विधान किया गया है । गौतम है आदि में जिनके वे वैसे (=गौतमादि) कहे गये हैं; अर्थात् मनु इत्यादि । धर्मशास्त्र=स्मृतियाँ, उनके कर्ता । तीनों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण द्वारा उन (गौतम आदि) का वचन ग्राह्य है, वे धर्मशास्त्र के प्रणेता हैं तथा वीतराग (राग-मुक्त) हैं । वे (=ते)—यह धर्मी यहाँ व्यावृत्ति (निवृत्ति) का विषय है (अर्थात् इसमें राग आदि की व्यावृत्ति दिखलाई जा रही है); इसका अर्थ है—गौतम इत्यादि । किन्तु रागादिमान् होना (=रागादिमत्त्व) जो साधन है उसकी गौतम आदि से निवृत्ति निश्चित नहीं । यद्यपि तीनों वेदों के ज्ञाता (ब्राह्मण) के द्वारा उनका वचन ग्राह्य है तथापि वे राग-युक्त हैं या राग-रहित हैं—यह सन्देह है ॥१३१॥

गौतमादि—गौतम=अक्षपाद, न्यायसूत्र का प्रणेता या धर्मशास्त्र का आचार्य । आदि शब्द से मनु आदिस्मृतिकारों का ग्रहण होता है ।

कपिलादि—यहाँ कपिल इत्यादि का वचन वेदविद् ब्राह्मण के द्वारा अग्राह्य क्यों कहा गया है, यह विचारणीय है । कपिल को तो वेद का प्रामाण्य मानने वालों ने अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान दिया है, जैसे—ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्'- (श्वेताश्व० ५.२); सिद्धानां कपिलो मुनिः—(श्रीमद्भगवद्गीता १०.२६) ।

---

१. ०भावेन व्याप्तो यत्र दर्श्यते A.E.H P.

२. धर्मिव्य० C.D., इति धर्मी A.H.N.P., इति धर्मिव्य० E.

३. त्रयीविदा A.E.H.N.P.

सन्दिग्धोभयव्यतिरेको, यथा—अवीतरागाः कपिलादयः, परिग्रहाग्रहयोगाद् इति । अत्र वैधर्म्योदाहरणम्—यो वीतरागो न तस्य परिग्रहाग्रहः, यथर्षभादेरिति[1] । ऋषभादेर् अवीतरागत्वपरिग्रहाग्रहयोगयोः साध्यसाधनधर्मयोः सन्दिग्धो व्यतिरेकः ॥१३२॥

सन्दिग्ध उभयोर्व्यतिरेको यस्मिन् स तथोक्तः । तम् उदाहरति—यथेति । अवीतरागा इति रागादिमत्त्वं साध्यम् । कपिलादय इति धर्मी । परिग्रहो लभ्यमानस्य स्वीकारः प्रथमः । स्वीकाराद् ऊर्ध्वं यद् गार्ध्यं मात्सर्यं स आग्रहः। परिग्रहश्च आग्रहश्च ताभ्यां योगात् । कपिलादयो लभ्यमानं स्वीकुर्वन्ति स्वीकृतं न मुञ्चन्ति—इति ते रागादिमन्तो गम्यन्ते । अत्र प्रमाणे वैधर्म्योदाहरणम्, यत्र साध्याभावे साधनाभावो दर्शयितव्यः । यो वीतराग इति साध्याभावम् अनूद्य, न तस्य परिग्रहाग्रहाविति साधनाभावो विहितः । यथर्षभादेः इति दृष्टान्तः । एतस्माद् ऋषभादेर्दृष्टान्ताद् अवीतरागत्वस्य साध्यस्य परिग्रहाग्रहयोगस्य[2] च साधनस्य [3]निवृत्तिः सन्दिग्धा । ऋषभादीनां

सन्दिग्धोभयव्यतिरेक इति—

वह (वैधर्म्य दृष्टान्त) जिससे दोनों (साध्य और साधन) की व्यावृत्ति सन्दिग्ध है; जैसे—कपिल आदि वीतराग नहीं; क्योंकि वे परिग्रह और आग्रह से सम्बन्ध रखते हैं। इसमें वैधर्म्य दृष्टान्त है—जो वीतराग है उसका परिग्रह और आग्रह से सम्बन्ध नहीं, जैसे ऋषभ इत्यादि का। यहाँ ऋषभ इत्यादि से 'वीतराग न होना' इस साध्यधर्म की तथा 'परिग्रह और आग्रह से सम्बन्ध होना' इस साधनधर्म की व्यावृत्ति सन्दिग्ध है ॥१३२॥

अनिश्चित (सन्दिग्ध) है दोनों (साध्यधर्म और साधनधर्म की) व्यावृत्ति जिससे वह वैसा (सन्दिग्धोभयव्यतिरेक) कहा गया है। उसका उदाहरण दिया है—यथेत्यादि । 'वीतराग नहीं'—यहाँ राग आदि से युक्त होना साध्य है । कपिल आदि पक्ष है । प्राप्त होने वाली वस्तु की प्रथम स्वीकृति परिग्रह है । स्वीकार करने के बाद जो उस वस्तु के प्रति लोभ या मात्सर्य है, वह आग्रह है । परिग्रह और आग्रह दोनों से सम्बन्ध होने के कारण । (भाव यह है) कपिल आदि प्राप्त होने वाली वस्तु को स्वीकार करते हैं और स्वीकृत वस्तु को नहीं त्यागते हैं; इससे वे रागादियुक्त प्रतीत होते हैं। इस अनुमान के प्रयोग में वैधर्म्यदृष्टान्त यह है, जिसमें साध्य का अभाव होने पर साधन का अभाव दिखलाना है। 'जो वीतराग है'—इससे साध्य के अभाव का कथन करके 'उसका परिग्रह तथा आग्रह से सम्बन्ध नहीं'—इससे साधन का अभाव बतलाया (विधान किया) गया है। जैसे ऋषभ आदि का'—यह (वैधर्म्य) दृष्टान्त है । इस ऋषभ आदि दृष्टान्त से 'रागादि युक्त होना'—इस साध्य की तथा 'परिग्रह और आग्रह से सम्बन्ध होना'—इस साधन

---

१. 'इति' नास्ति C. २. ०योगत्वस्य A_2
३. व्यावृत्तिः B.C.

हि परिग्रहाग्रहयोगोऽपि सन्दिग्धो वीतरागत्वं च । यदि नाम तत्सिद्धान्ते वीतरागाश्च निष्परिग्रहाश्च [1]पठ्यन्ते तथापि सन्देह एव ॥१३२॥

[2]अपरानपि त्रीन् उदाहर्तुम् आह—

अव्यतिरेको यथा—अवीतरागोऽ[3]यं वक्तृत्वात् । [4]वैधर्म्येणोदाहरणम्-[5]यत्राऽवीतरागत्वं नास्ति, [6]न स वक्ता; यथा उपलखण्ड इति । यद्यप्युपलखण्डाद् उभयं [7]व्यावृत्तं तथापि सर्वो वीतरागो न वक्तेति व्याप्त्या व्यतिरेकासिद्धेर् अव्यतिरेकः ॥१३३ ।

अविद्यमानो व्यतिरेको यस्मिन् सोऽव्यतिरेकः । अवीतराग इति रागादिमत्त्वं साध्यम् । वक्तृत्वाद् इति हेतुः । इह व्यतिरेकम् आह–यत्रावीतरागत्वं

की व्यावृत्ति निश्चित नहीं । वस्तुतः ऋषभ आदि का परिग्रह और आग्रह से सम्बन्ध होना भी निश्चित नहीं और रागरहित होना भी । यद्यपि उनके सम्प्रदाय में वे (ऋषभ आदि) वीतराग तथा निष्परिग्रह बतलाये गये हैं तथापि इसमें सन्देह ही है ॥१३२॥

परिग्रह—किसी प्राप्त होने वाली वस्तु की स्वीकृति परिग्रह कहलाता है ।

आग्रह—मेरी स्वीकृत वस्तु मुझ से अन्य के पास न जाये–इस प्रकार की भावना मात्सर्य या आग्रह है (धर्मो० प्र०, पृ० २४८) ।

मुञ्चन्ति—अन्यस्मै ददति दूसरे को देते हैं । (वही, पृ० २४८) ।

अपरानपीति—अन्य भी (वैधर्म्य दृष्टान्त के) तीन (दोषों) का उदाहरण देते हुए कहते हैं—

जिस (वैधर्म्य दृष्टान्त) में व्यतिरेक न हो (वह दृष्टान्ताभास है); जैसे—वह रागादि रहित (वीतराग) नहीं; क्योंकि वह वक्ता है । इसमें वैधर्म्य दृष्टान्त है—जिसमें अवीतरागता नहीं है (अर्थात् जिसमें रागादिमत्ता नहीं), वह वक्ता भी नहीं; जैसे पाषाणखण्ड ।

यद्यपि पाषाणखण्ड (वैधर्म्यदृष्टान्त) से दोनों (साध्य तथा साधन) की व्यावृत्ति हो रही है तथापि "सभी वीतराग वक्ता नहीं होते" इस प्रकार की व्याप्ति द्वारा यहां व्यतिरेक (विपक्ष में हेतु का सर्वथा न होना) निश्चित नहीं होता, अतः अव्यतिरेक (नामक दृष्टान्ताभास) है ॥१३३॥

नहीं है व्यतिरेक जिसमें वह अव्यतिरेक (वैधर्म्यदृष्टान्त का दोष) है । 'अवीतराग' इत्यादि में रागादि से युक्त होना (रागादिमत्ता) साध्य है । वक्ता होने से

---

१. परिपठ्यन्ते D. २. अपराण्यपि त्रीण्युदा० D.
३. 'अयं'--नास्ति B.D.E.H.N.P.
४. 'वैधर्म्योदाहरणम्' B.E.H.N.P., त्वात् । यत्रावी० C.
५. यत्र वीत० B.E.H P ६. नास्ति स वक्ता B.E H.P., नास्ति स न वक्ता C.
७. व्यावृत्तया सर्वो B.H.P., व्यावृत्तं यो सर्वो० E., ०वृत्तं तथा सर्वो० C.

नास्तीति साध्याभावानुवादः। तत्र वक्तृत्वम् अपि नास्ति—इति साधनाभाव-विधिः। तेन साधनाभावेन साध्याभावो व्याप्त उक्तः। 'दृष्टान्तो यथोपलखण्ड' इति।

कथम् अयम् अव्यतिरेको यावतोपलखण्डाद् उभयं[1] निवृत्तम्? किम् अतः? 'यद्यप्युपलखण्डाद् उभयं व्यावृत्तं सरागत्वं च वक्तृत्वं च, तथापि व्याप्त्या[1] व्यतिरेको यस्तस्यासिद्धेः कारणाद् अव्यतिरेकोऽयम्। कीदृशी पुनर्व्याप्तिर् इत्याह–सर्वो वीतराग इति साध्याभावानुवादः। न वक्तेति साधनाभावविधिः। तेन साध्याभावः साधनाभावनियतः[1] ख्यापितो[1] भवतीति[1]। ईदृशी व्याप्तिः। तया व्यतिरेको न सिद्धः। अस्य चार्थस्य प्रसिद्धये दृष्टान्तः। तत् स्वकार्याऽकरणाद् दुष्टः ॥१३३॥

(वक्तृत्वात्)—यह हेतु है। यहाँ व्यतिरेक (=वैधर्म्य प्रयोग) बतलाया है—'जहाँ रागादिमत्ता नहीं है,' यह साध्याभाव का उद्देश्य रूप में कथन (अनुवाद) है; 'वहाँ वक्तृत्व (वक्ता होना) भी नहीं है'–यह साधन के अभाव का विधान किया गया है। इस प्रकार साधनाभाव से साध्याभाव को व्याप्त बतलाया गया है। जैसे पाषाणखण्ड—यह दृष्टान्त है।

व्यतिरेकम् आह—(१) व्यतिरेक=विपक्ष में हेतु का सर्वथा न होना (२) वैधर्म्यप्रयोग; इनमें दूसरा अर्थ प्रासङ्गिक है जो यहाँ लिया गया है।

अवीतरागत्वम्—रागादिमत्ता:, वीतरागः=रागरहित, न वीतरागः=अवीत-रागः=रागादिमान्, तस्य भावः।

कथम् अयम् इति—(प्रश्न) जब पाषाणखण्ड में (साध्य और साधन दोनों का अभाव है तो यह दृष्टान्त व्यतिरेक-रहित कैसे है? (उत्तर) इससे क्या? यद्यपि पाषाणखण्ड में रागादिमत्ता और वक्तृता दोनों का अभाव है तथापि व्याप्ति के द्वारा व्यतिरेक (अर्थात विपक्ष में हेतु का सर्वथा अभाव) का निश्चय न होने के कारण यह (दृष्टान्त) व्यतिरेक-रहित है। वह व्याप्ति कैसी है? यह बतलाते हैं—सर्व इत्यादि। 'सभी वीतराग'—यह साध्याभाव का उद्देश्य रूप में कथन किया गया है; 'वक्ता नहीं'—यह साधनाभाव को विधेय रूप में कहा गया है (विधिः)। इस प्रकार साध्याभाव साधनाभाव का व्याप्त है, यह प्रकट हो जाता है; इस प्रकार की व्याप्ति बतला दी गई है। उस व्याप्ति से यहाँ व्यतिरेक की सिद्धि नहीं होती। और, इस कार्य की सिद्धि के लिये ही दृष्टान्त दिया गया है। इसलिये (=तत्=तस्मात्) अपने कार्य को न करने के कारण (दृष्टान्त) दोषयुक्त है ॥१३३॥

---

१. अत्र दृष्टा० D.　　२. ०खण्डेति A.B.H.P.
३. उभयमपि नि० D.　　४. यद्युपल० A.B.E.H.P.
५. व्याप्तो० C.　　६. साधनाभावे नि० D., साधानाभावो नि० C.
७. स्यापितो०　　८. 'इति' नास्ति B.D.

अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा—अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद् आकाशवद् इति वैधर्म्येण[1] ॥१३४॥

अप्रदर्शितो व्यतिरेको यस्मिन् स तथोक्तः। अनित्यः शब्दः इत्यनित्यत्वं साध्यम्। कृतकत्वाद् इति हेतुः। आकाशवद् इति वैधर्म्येण दृष्टान्तः।

इह परार्थानुमाने परस्माद् अर्थः प्रतिपत्तव्यः। स शुद्धोऽपि स्वतो यदि परेणाशुद्धः ख्याप्यते स तावद् यथा प्रकाशितस्तथा न युक्तः। यथा युक्तस् तथा न प्रकाशितः। प्रकाशितश् च हेतुः। अतो वक्तुर् अपराधाद् अपि परार्थानुमाने हेतुर् दृष्टान्तो वा दुष्टः स्याद् अपि। न च सादृश्याद् असादृश्याद् वा साध्यप्रतिपत्तिः, अपि तु साध्यनियताद् हेतोः। अतः साध्यनियतो हेतुः,

---

व्याप्त्या व्यतिरेकः—यहाँ व्यतिरेक का अर्थ है—'हेतु का विपक्ष में सर्वथा न होना'। व्याप्ति है 'जो वीतराग होता है वह वक्ता नहीं होता'। इस प्रकार की व्याप्ति से यहाँ व्यतिरेक का निश्चय नहीं होता; क्योंकि 'वीतराग वक्ता नहीं होता' यह वादी प्रतिवादी के ज्ञान का विषय नहीं है।

अस्य चार्थस्य—साधनाभावे साध्याभावनियतलक्षणस्यार्थस्य (धर्मो० प्र०, पृ० २४८), साधनाभाव में साध्याभाव नियत (=व्याप्त, प्रतिबद्ध) है, यह सिद्ध करने के लिये वैधर्म्य दृष्टान्त दिया जाता है।

अप्रदर्शितेति—

जिस (वैधर्म्य दृष्टान्त) में व्यतिरेक नहीं दिखलाया जाता (वह दोषयुक्त है); जैसे—शब्द अनित्य है, कार्य होने से, आकाश के समान यह वैधर्म्य दृष्टान्त है ॥१३४॥

नहीं दिखलाया गया है व्यतिरेक (विपक्ष में हेतु का सर्वथा न होना) जिसमें वह वैसा (अप्रदर्शितव्यतिरेक) कहा गया है। 'शब्द अनित्य है'—यहाँ अनित्यता साध्य है, 'कार्य होने से—यह हेतु है; 'आकाश के समान'—यह वैधर्म्य दृष्टान्त है।

इस परार्थानुमान में दूसरे व्यक्ति (के कथन) से अर्थ (=हेतु) को जानना होता है। वह स्वयं शुद्ध होते हुए भी यदि दूसरे के द्वारा अशुद्ध रूप में बतलाया जाता है तब तो वह जिस प्रकार प्रकट किया जाता है, उस रूप में साध्य-सिद्धि के उपयुक्त नहीं होता और जिस प्रकार से उपयुक्त होता है, उस प्रकार से प्रकट नहीं किया जाता। किन्तु हेतु तो प्रकट किया हुआ ही होता है। इसलिये वक्ता के दोष से भी परार्थानुमान में हेतु या दृष्टान्त दोषयुक्त हो जाता है। वस्तुतः (=च) केवल साधर्म्य या वैधर्म्य से साध्य की सिद्धि नहीं होती अपि तु साध्य में व्याप्त हेतु के द्वारा होती है। इसलिये साध्य में नियत (=व्याप्त) हेतु को अन्वय वाक्य द्वारा अथवा व्यतिरेक वाक्य द्वारा कहना होता है। इसके बिना वह किसी साध्य का

---

१. 'वैधर्म्येण' नास्ति E.N. वैधर्म्येणापि B.D.H.P.

अन्वयवाक्येन व्यतिरेकवाक्येन [1]वा वक्तव्यः। अन्यथा गमको नोक्तः स्यात्। स तथोक्तो दृष्टान्तेन[2] सिद्धो दर्शयितव्यः। तस्माद् दृष्टान्तो नामान्वयव्यतिरेकवाक्यार्थप्रदर्शनं[3]। न चेह व्यतिरेकवाक्यं प्रयुक्तम्। अतो वैधर्म्यदृष्टान्त इहासादृश्यमात्रेण[4] साधक उपन्यस्तः। न च तथा साधकः। व्यतिरेकविषयत्वेन स साधकः। न च तथोपन्यस्त इति[5]—अयम् अप्रदर्शितव्यतिरेको वक्तुर् अपराधाद् दुष्टः ॥१३४॥

विपरीतव्यतिरेको [6]यथा-यद् अकृतकं तन्नित्यं भवतीति ॥१३५॥

विपरीतो व्यतिरेको यस्मिन् वैधर्म्यदृष्टान्ते स तथोक्तः। तम् उदाहरति-[7]यथा यद् अकृतकम् इत्यादि। इहान्वयव्यतिरेकवाक्याभ्यां[8] साध्यनियतो

निश्चायक नहीं हो सकता। वह उस प्रकार का (साध्य में व्याप्त) हेतु दृष्टान्त के द्वारा सिद्ध (=निश्चित, प्रमाणित) दिखलाना होता है। इसलिये दृष्टान्त अन्वय वाक्य तथा व्यतिरेक वाक्य के अर्थ को प्रदर्शित करने वाला होता है। क्योंकि (=च) यहाँ(प्रस्तुत अनुमान प्रयोग में) व्यतिरेक वाक्य का प्रयोग नहीं किया गया। अतः यहाँ वैधर्म्य दृष्टान्त को केवल असादृश्य के द्वारा साधक बतलाया गया है। किन्तु वह इस प्रकार (=तथा=असादृश्यमात्रेण) हेतु (=अर्थ) की सिद्धि करने वाला नहीं होता। वह तो व्यतिरेकवाक्यविषयक होने से (अर्थात् उसके अर्थ को प्रदर्शित करने के कारण) अर्थ का साधक होता है। उस प्रकार से (दृष्टान्त को) प्रस्तुत नहीं किया गया है; इसलिये यह अप्रदर्शितव्यतिरेक नामक दृष्टान्त वक्ता के दोष से दूषित हो जाता है ॥१३४॥

अर्थः=हेतुलक्षणः (धर्मो० प्र०, पृ० २५०)।

न युक्तः—नोपयुक्तः साध्यसिद्धौ (वही, पृ० २५०)।

तथोक्तः—साध्यनियत उक्तः (वही; पृ० २५१)।

व्यतिरेकविषयत्वेन—व्यतिरेकप्रतिपत्तिविषयत्वेन (वही, पृ० २५२); क्योंकि वैधर्म्य दृष्टान्त में साध्याभाव होने पर साधनाभाव दिखलाया जाता है; इसलिये वह हेतु का साधक होता है।

विपरीतेति—

जिसमें व्यतिरेक विपरीत होता है (वह वैधर्म्य-दृष्टान्त दोषयुक्त होता है); जैसे—जो कृतक (कार्य) नहीं, वह नित्य होता है ॥१३५॥

विपरीत है व्यतिरेक जिस वैधर्म्य दृष्टान्त में वह वैसा (विपरीतव्यतिरेक) कहा गया है। इसका उदाहरण देते हैं—जैसे जो अकृतक है-इत्यादि। यहाँ (=इह =इस अनुमान प्रयोग में) अन्वयवाक्य (=साधर्म्य प्रयोग) और व्यतिरेक-वाक्य

---

१. च—A.B.E.H.N.P.		२. दृष्टान्तेनासिद्धो— B.
३. प्रदर्शनार्थे C.D.		४. इहासादृश्यभावेन A.B.H.N.P.
५. इति। अतोऽप्र० A.E.H.N.P., इति। अप्र० C.		६. 'यथा' नास्ति D.
७. 'यथा' नास्ति A.B.E.H.N.P.		८. ०व्यतिरेकाभ्यां C.T.

हेतुर्दर्शयितव्यः । यदा च साध्यनियतो हेतुर्दर्शयितव्यस् तदा व्यतिरेकवाक्ये साध्याभावः साधनाभावे नियतो दर्शयितव्यः । एवं हि हेतुः साध्यनियतो दर्शितः स्यात् । यदि तु साध्याभावः साधनाभावे नियतो नाख्यायते साधन-सत्तायाम् अपि साध्याभावः सम्भाव्येत[1] । तथा च साधनं साध्यनियतं न प्रतीयेत[2] । तस्मात् साध्याभावः साधनाभावे नियतो वक्तव्यः । विपरीतव्यतिरेकेच साधनाभावः साध्याभावे नियत उच्यते, न साध्याभावः साधनाभावे । तथा हि– यद् अकृतकम् इति साधनाभावम् अनूद्य तन्नित्यम् इति साध्याभावविधिः । ततोऽयम् अर्थः—अकृतको नित्य एव । तथा च सति अकृतकत्वं नित्यत्वे साध्याभावे नियतम् उक्तम्, न नित्यत्वं साधनाभावे । ततो न साध्यनियतं हेतुं व्यतिरेकवाक्यम् आह । तथा च विपरीतव्यतिरेकोऽपि वक्तुर् अपराधाद् दुष्टः ॥१३५॥

(=वैधर्म्य प्रयोग) के द्वारा साध्य से व्याप्त हेतु दिखलाना होता है । और, जब साध्य से व्याप्त हेतु दिखलाना है तो वैधर्म्य वाक्य में साध्याभाव को साधनाभाव से व्याप्त दिखलाना चाहिये । इस प्रकार हेतु साध्य का व्याप्त है, यह प्रकट हो जाता है । किन्तु यदि साध्याभाव को साधनाभाव से व्याप्त नहीं बतलाया जाता, तो साधन के होने पर भी साध्य के न होने की सम्भावना हो सकती है । और, इस प्रकार साधन साध्य से व्याप्त (प्रतिबद्ध) है—यह निश्चित नहीं होगा । इसलिये साध्याभाव साधनाभाव से व्याप्त है, यह बतलाना चाहिये । किन्तु (च=तु) विपरीतव्यतिरेक में साधन के अभाव को साध्य के अभाव से व्याप्त बतलाया जाता है, साध्याभाव को साधन.भाव से व्याप्त नहीं । क्योंकि (तथा हि) वहाँ 'जो कार्य नहीं'— इसके द्वारा साधनाभाव को उद्देश्य करके 'वह नित्य है'—इससे साध्याभाव का विधान किया गया है । इसलिये यह अर्थ होता है– जो कार्य नहीं, वह नित्य ही है । ऐसा होने पर यहाँ अकृतकत्व को साध्य के अभाव अर्थात् नित्यत्व से व्याप्त कहा गया है, नित्यत्व (साध्याभाव) को साधनाभाव (अकृतकत्व) से व्याप्त नहीं । इसलिये यहाँ व्यतिरेक वाक्य (वैधर्म्य प्रयोग) हेतु को साध्य से व्याप्त नहीं बतलाता । इस प्रकार विपरीतव्यतिरेक भी वक्ता के अपराध से दोषयुक्त होता है ॥१३५॥

न प्रतीयेत=न निश्चीयेत (बु० लॉ० २; पृ० २५० टि० १) ।

अकृतकम्=कारणैः न कृतम् । (वही; पृ० २५० टि० २) ।

तथा च सति—साधनसत्तायामपि साध्याभावसम्भावनाप्रसारे (धर्मो० प्र०; पृ० २५२); यदि साधन के न होने पर भी साध्य के अभाव की सम्भावना हो सकती है ।

व्यतिरेकवाक्यम् आह—यहाँ व्यतिरेक वाक्य कर्ता है; इसका कर्म हेतुम् है ।

---

१. सम्भाव्यते B. २. प्रतीयते B.C.

दृष्टान्तदोषान् उदाहृत्य दुष्टत्वनिबन्धनत्वं दर्शयितुम् आह—

न ह्येभिर् दृष्टान्ताभासैर्हेतोः सामान्यलक्षण सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षे च सर्वत्रासत्त्वम् एव निश्चयेन शक्यं दर्शयितुं विशेषलक्षणं वा। तद् अर्थापत्त्यैषां निरासो[1] द्रष्टव्यः ॥१३६॥

न ह्येभिरिति। साध्यनियतहेतुप्रदर्शनाय हि दृष्टान्ता वक्तव्याः। एभिश्च हेतोः सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षे च सर्वत्रासत्त्वम् एव यत् सामान्यलक्षणं तत् निश्चयेन न शक्यं दर्शयितुम्।

ननु च सामान्यलक्षणं विशेषनिष्ठम् एव प्रतिपत्तव्यं न स्वत एवेत्याह—विशेषलक्षणं वा। यदि विशेषलक्षणं प्रतिपादयितुं शक्येत स्याद् एव सामान्यलक्षणप्रतिपत्तिः। विशेषलक्षणम् एव तु न शक्यम् एभिः प्रतिपादयितुम्। तस्माद् अर्थापत्त्या सामर्थ्येन[2] एषां निराकरणं द्रष्टव्यम्। साध्यनियतसाधनप्रतीतये[3] उपात्ताः। तदसमर्था दुष्टाः, स्वकार्याकरणाद्[4] इति सामर्थ्यम्[5] ॥१३६॥

दृष्टान्तदोषान् इति=दृष्टान्त दोषों का उदाहरण देकर दोष के निमित्त को दिखलाते हुए कहा है—

इन दृष्टान्ताभासों के द्वारा हेतु का सामान्यलक्षण अर्थात् सपक्ष में अवश्य होना तथा विपक्ष में कहीं न होना निश्चित रूप से नहीं दिखलाया जा सकता। न विशेष लक्षण (कार्यहेतु और स्वभावहेतु का व्यक्तिगत लक्षण) ही दिखलाया जा सकता है। इसलिये अर्थापत्ति से इन (दृष्टान्ताभासों) का निराकरण समझना चाहिये ॥१३६।

न ह्येभिः इत्यादि। हेतु को साध्य से व्याप्त दिखलाने के लिये ही दृष्टान्त देने होते हैं। किन्तु इन (दोषयुक्त दृष्टान्तों) के द्वारा 'सपक्ष में अवश्य होना' तथा 'विपक्ष में सर्वत्र न होना' जो हेतु का सामान्य लक्षण है वह निश्चित रूप से नहीं दिखलाया जा सकता।

शङ्का हो सकती है (ननु) कि सामान्य लक्षण तो विशेष रूप में स्थित होकर ही जाना जा सकता है, अपने रूप से नहीं। इस पर कहते हैं—अथवा विशेषलक्षण। यदि इन (दोषयुक्त दृष्टान्तों) के द्वारा विशेषलक्षण का प्रतिपादन किया जा सकता तो भी सामान्यलक्षण का बोध हो ही जाता। किन्तु विशेषलक्षण भी तो इनके द्वारा प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। इसलिये अर्थापत्ति अर्थात् सामर्थ्य से इनका निराकरण जानना चाहिये। सामर्थ्य यह है (इति सामर्थ्यम्) कि वे (दृष्टान्त) साध्य से व्याप्त साधन की प्रतीति कराने के लिये दिये जाते हैं। वे उस कार्य को करने में असमर्थ हैं, अतः दोषयुक्त हैं, क्योंकि वे अपना कार्य नहीं करते ॥१३६॥

---

१. निरासो वेदितव्यः B.D.E.H.N.P.

२. सामर्थ्येनेति न तेषां A.B.P., सामर्थ्येनेति तेषां–E.H. सामर्थ्येन तेषां D.

३. ०प्रतिपत्तये B.   ४. स्वकार्यकरणात् A.B.H.P.

५. इति असामर्थ्यम् T. 'असामर्थ्यम्' इति संशोधितम् C.D.

इयता साधनम् उक्तम् ।

दूषणं वक्तुम् आह—

दूषणा [1]न्यूनताद्युक्तिः ॥१३७॥

[2]दूषणा का द्रष्टव्या ? न्यूनतादीनाम् उक्तिः । उच्यतेऽनयेत्युक्तिः = वचनम्; [3]न्यूनतादेर्वचनम् ॥१३७॥

दूषणं विवरीतुम् आह—

ये पूर्वं न्यूनतादयः साधनदोषा उक्तास्तेषाम् उद्भावनं दूषणम् । तेन परेष्टार्थसिद्धिप्रतिबन्धात् ॥१३८॥

अर्थापत्त्या = सामर्थ्येन = परम्परया, 'अर्थापत्त्या' इत्यस्य व्याख्यानं सामर्थ्येन सामान्यविशेषलक्षणाप्रतिपादनलक्षणेन (धर्मो० प्र०, पृ० २५३)। क्योंकि वे हेतु के सामान्य या विशेष लक्षण को नहीं दिखला सकते—इस सामर्थ्य से। अथवा कहिये कि अपना कार्य नहीं करते, इस सामर्थ्य से।

निराकरणम्—दृष्टान्त रूप में निराकरण; अर्थात उन दृष्टान्ताभासों को दृष्टान्त नहीं कहा जा सकता।

इयतेति—यहाँ तक के प्रकरण से (=इयता) साधन (=हेतु अपने मन्तव्य की सिद्धि का उपाय) बतलाया गया है।

इयता०—इस वाक्य के द्वारा धर्मोत्तर ने न्यायबिन्दु के प्रतिपाद्य विषय का विभाजन दिखलाया है। भाव यह है कि 'त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्' ३.१' इस वचन से लेकर यहाँ तक (१३६ वें सूत्र तक) आचार्य धर्मकीर्ति ने अपने मन्तव्य की सिद्धि के उपाय (=साधन, हेतु) का वर्णन किया है। साधन के प्रतिपादन के लिये ही पक्ष, हेत्वाभास तथा दृष्टान्तदोष आदि का विचार किया गया है।

२६. दूषणा-निरूपण

दूषणमिति—अब दूषणों (दूसरे की स्थापना को दूषित करने के उपाय) को बतलाते हुए कहते हैं—

न्यूनता आदि का कथन दूषणा कहलाता है ॥१३७॥

दूषणा क्या समझनी चाहिये ? न्यूनता (हेतु के असामर्थ्य) आदि का कथन। जिससे कहा जाता है वह उक्ति होती है, अर्थात् वचन। न्यूनता आदि का (शब्दों द्वारा) कथन दूषणा है ॥१३७॥

दूषणों की व्याख्या करते हुए कहा है—

जो पहले न्यूनता इत्यादि साधन के दोष कहे गये हैं, उनको प्रकट करना दूषण कहलाता है। क्योंकि उससे प्रतिपक्षी (=पर) के अभीष्ट मन्तव्य की सिद्धि रुक जाती है ॥१३८॥

---

१. न्यूनतायुक्तिः B.H.P., दूषणानि न्यू० E. २. दूषणानि कानि द्रष्टव्यानि E.

३. न्यूनतादिवचनम् A.B.H.P., न्यूनतादिवचनम् E.N.

ये पूर्वं न्यूनतादयोऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिका उक्तास् तेषाम् उद्भावकं यद् वचनं तद् दूषणम् ।

ननु च न्यूनतादयो न विपर्ययसाधनाः, तत् कथं दूषणम् इत्याह--तेन न्यूनतादिवचनेन परेषाम् इष्टश्चासावर्थश्च तस्य सिद्धिः=निश्चयः, तस्याः प्रतिबन्धात् । नावश्यं विपर्ययसाधनाद् एव दूषणं विरुद्धवत्, अपि तु परस्याभिप्रेतनिश्चय[1]-निबन्धान्-निश्चयाभावो भवति निश्चयविपर्यय इत्यस्त्येव[2] विपर्ययसिद्धिः, इति ॥१३८॥ [3]उक्ता [4]दूषणा ।

दूषणाभासास्तु जातयः ॥१३९॥

दूषणाभासा इति । [5]दूषणवद् आभासन्त इति दूषणाभासाः । के ते ? जातयः, इति[6] । जातिशब्दः सादृश्यवचनः । उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि[7] । उत्तरस्थानप्रयुक्तत्वाद् उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि ॥१३९॥

तद् एवोत्तरसादृश्यम् उत्तरस्थानप्रयुक्तत्वेन दर्शयितुम् आह—

जो पहले न्यूनता इत्यादि अर्थात् असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक हेत्वाभास कहे गये हैं उनको प्रकट करने वाला जो वचन होता है, वह दूषण कहलाता है ।

शङ्का हो सकती है (ननु) कि न्यूनता इत्यादि तो विपरीत अर्थ की सिद्धि करने वाले नहीं होते, फिर वे दूषण कैसे हैं । इस पर कहते हैं—तेन इत्यादि । क्योंकि उस न्यूनता आदि के कथन से दूसरे (प्रतिपक्षी)का अभीष्ट जो अर्थ उसकी सिद्धि अर्थात् निश्चय, रुक जाता है । किञ्च, विरुद्ध (नामक हेत्वाभास) के समान केवल विपरीत अर्थ का साधन होने से ही कोई दूषण नहीं होता, अपि तु प्रतिपक्षी के अभीष्ट निश्चय में बाधा हो जाने के कारण जो निश्चय का अभाव हो जाता है वह निश्चय के विपरीत है इसलिये विपरीत अर्थ की सिद्धि भी है ही ॥१३८॥

इस प्रकार दूषणा कही गई है ।

२७. दूषणाभासों का निरूपण

दूषणाभासा इति—

दूषणाभास तो जातियाँ हैं ।

दूषणाभास इत्यादि । जो दूषण के समान भासित होते है, वे दूषणाभास कहलाते हैं । वे कौन से हैं ? जिन्हें जाति कहते हैं । यहां 'जाति' शब्द सादृश्य अर्थ को कहता है । अतः जो उत्तर जैसे (लगते) हैं, वे जात्युत्तर कहलाते हैं । क्योंकि जात्युत्तर उत्तर के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं, इसलिये वे उत्तर के समान समझे जाते हैं ॥१३९॥

तद् एवेति—उत्तर के स्थान पर प्रयुक्त होने के कारण ही जात्युत्तरों में उत्तर की समानता है, यह दिखलाने के लिये कहते हैं—

---

१. निश्चय विबन्ध० T. निश्चयप्रतिबन्ध० E.
२. 'एव'--नास्ति A.E.H.P.
३. उक्तं दूषणम् E.
४. 'दूषणा'—नास्ति A.B.H.P.
५. दूषणावत् B.
६. 'इति' नास्ति A.B.E.H.N.P.
७. ०राणीति A.E.H.P.

[1]अभूतदोषोद्भावनानि जात्युत्तराणीति ॥१४०॥

॥ [2]तृतीयपरिच्छेदः समाप्तः ॥

॥ न्यायबिन्दुः समाप्तः[3] ॥

अभूतस्यासत्यस्य दोषस्य, उद्भावनानि । उद्भाव्यत एतैः, [4]इत्युद्भावनानि वचनानि । तानि जात्युत्तराणि । जात्या सादृश्येनोत्तराणि जात्युत्तराणि ॥१४०॥

कतिपयपदवस्तुव्याख्यया यन्मयाप्तम्,

कुशलममलमिन्दोरंशुवन्न्यायबिन्दोः ।

पदमजरमवाप्य ज्ञानधर्मोत्तरं यज्

जगदुपकृतिमात्रव्यापृतिः[5] स्यामतोऽहम् ॥

आचार्यधर्मोत्तरविरचितायां[6] न्यायबिन्दुटीकायां

तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥[7]

अविद्यमान दोषों की उद्भावना जात्युत्तर है ॥१४०॥

॥ तृतीय परिच्छेद समाप्त ॥

॥ न्यायबिन्दु समाप्त ॥

अभूतस्येति—अभूत अर्थात् असत्य=अविद्यमान दोष का प्रकटीकरण (=कथन)। जिनसे उद्भावित (=प्रकट) किया जाता है वे उद्भावन कहलाते हैं, अर्थात् वचन। वे ही जात्युत्तर हैं। जाति अर्थात् सादृश्य से उत्तर (=उत्तरसदृश) ही जात्युत्तर कहलाते हैं ॥१४०॥

अभूतदोष०—इस कथन से दूषणा तथा दूषणाभास का अन्तर स्पष्ट होता है। प्रतिपक्षी के हेतु में विद्यमान दोष का कथन दूषणा है (भूतदूषणोद्भावना दूषणा; धर्मो० प्र०, पृ० २५४)। किन्तु यदि प्रतिपक्षी के हेतु में वस्तुतः दोष न हो फिर भी उसमें दोष दिखलाया जाये तो वह दोष-कथन दूषणाभास होगा। इस प्रकार के कथन में अविद्यमान दोषों की उद्भावना की जाती है अतः वे वस्तुतः उत्तर नहीं होते अपि तु उत्तर से प्रतीत होते हैं। इसीलिये उन्हें जात्युत्तर कहते हैं।

कतिपयेति—न्यायबिन्दु के कतिपय पदों और अर्थों (वस्तु) की व्याख्या द्वारा मैंने (धर्मोत्तर ने) जो इन्दु की रश्मियों के सदृश निर्मल पुण्य (कुशल) प्राप्त किया है इससे (अतः) मैं ज्ञान और धर्म से परे जो अजर पद है, उसे प्राप्त करके जगत् का उपकार मात्र करने वाला हो जाऊं।

आचार्य धर्मोत्तर-रचित न्यायबिन्दु टीका में

तृतीय परिच्छेद समाप्त हुआ।

---

१. अनुभूत B.H.P. २. 'तृतीयपरिच्छेदः समाप्तः'—नास्ति C.D,

३. लघुधर्मोत्तरसूत्रं समाप्तम् इति इत्यधिकम् ॥ T.

४. 'इति'—नास्ति C. ५. व्यापृतः C.D.

६. समाप्तेयं न्यायबिन्दुटीका कृतिराचार्यधर्मोत्तरस्य ॥ A., ०रपादविरचितायां B.D.

७. (अग्रिपृष्ठे)

कतिपय०—श्लोक का अन्वय इस प्रकार है—न्यायबिन्दोः कतिपयपद-वस्तु-व्याख्यया मया इन्दोः अंशुवत् यद् अमलं कुशलम् आप्तम् अतः अहं यत् ज्ञानधर्मोत्तरम् अजरं पदं (तद्) अवाप्य जगदुपकृतिमात्र-व्यापृतिः स्याम् ।

यह पद्य ध्वनिकाव्य का अच्छा उदहरण है; इसमें अर्थशक्त्युद्भव (अभिधा-मूलक) ध्वनि दृष्टिगोचर होती है (मि० ध्वन्यालोक २.२२); बु० लॉ० २; पृ० २५३ टि० १।

कुशलम् = पुण्य, पर्याप्तिक्षेमपुण्येषु कुशलम्-अमरकोश। सुकृतम् (धर्मो० प्र०, पृ० २५७)।

ज्ञानधर्मोत्तरम्—ज्ञानं च धर्मश्च ताभ्याम् उत्तरं श्रेष्ठम। ज्ञान हेय तथा उपा-देय का उपायसहित बोध। धर्म = अदृष्ट (मि०, धर्मो० प्र०, पृ० २५७)। तिब्बती अनुवाद के अनुसार ज्ञान = ye-ses अर्थात् परमार्थज्ञान = तत्त्वज्ञान (transcendental knowldge) बु० लॉ० २, पृ० २५३ टि० १।

०उपकृतिमात्रव्यापृतिः = उपकारमात्र करने वाला, उपकृतिमात्रं व्यापृतिः यस्य तथाभूतः। यहाँ बौद्ध दर्शन के उस सिद्धान्त की ओर संकेत किया गया है, जिसके अनुसार करुणार्द्र सम्यक् सम्बुद्ध जीवन्मुक्त होकर भी जीवों के उपकार के लिये प्रयत्न-शील रहते हैं (द्र०, प्रमाणवार्तिक, परि० १.१९५–२०१)।

---

*सहस्रमेकं श्लोकानां तथा शतचतुष्टयम् ।

सप्तसप्ततिसयुक्तं निपुणं परिपिण्डितम् ॥ A. B.

०पिण्डितम् ॥ १४७७ ॥ मङ्गलं महा श्री ॥ D.

समाप्तम् इति ॥ सम्वत् १४९० वर्षे मार्गशिर सुदि ३ रवौ श्रीखरतरगच्छ श्रीजिनराजसूरिपट्टे, श्रीश्रीजिनभद्र सूरिराज्ये परीक्षगूर्जरसुतधरणाकेन लिखापितं। ॥ शुभं भवतु कल्याणमस्तु ॥ न्यायविन्दुसूत्रवृत्ति..................पुरोहितहरीयाकेन लिखितम् ॥ C.

*यहाँ (धर्मोत्तर ने) एक सहस्र चार सौ सतहत्तर (१४७७) श्लोकों (= ३२ अक्षर) से परिमित ग्रन्थ कुशलतापूर्वक ग्रथित किया है (श्लोक का अभिप्राय—है ३२ अक्षर)।

—०—

उत्तरप्रदेशस्थमयराष्ट्रमण्डलान्तर्गत–रसूलपुरग्रामनिवासिनां
श्रीचन्द्रभानुनम्बरदारमहोदयानाम्
आत्मजेन विविधबुधजनचरणाधिगतविद्येन
श्रीनिवासशास्त्रिणा कृता हिन्दीव्याख्या समाप्ता।

———

परिशिष्ट १

न्यायबिन्दुटीका-विशेषनामानुक्रमणिका

परिशिष्ट २

नाम तथा विशेष विषयों की अनुक्रमणिका

